**MASO-03**

# वर्धमान महावीर खुला विश्वविद्यालय, कोटा

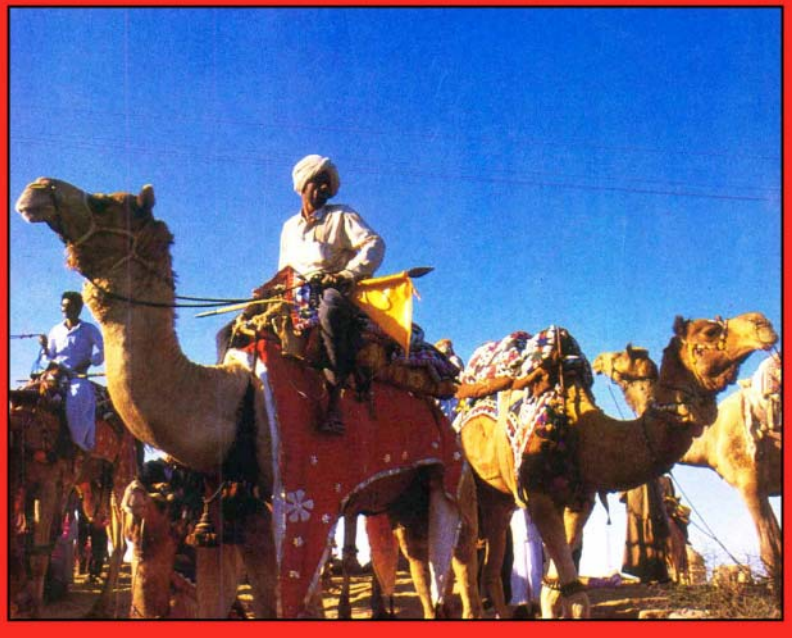

# भारतीय सामाजिक व्यवस्था

MASO - 03

# वर्धमान महावीर खुला विश्वविद्यालय, कोटा

# भारतीय सामाजिक व्यवस्था

## पाठ्यक्रम अभिकल्प समिति

**अध्यक्ष**

**प्रो. (डॉ) नरेश दाधीच**

**कुलपति**

वर्धमान मावीर खुला विश्वविद्यालय, कोटा (राज.)

## संयोजक / समन्वयक

**डॉ. जे. के. शर्मा**

सह-आचार्य, अर्थशास्त्र

वर्धमान महावीर खुला विश्वविद्यालय,

कोटा (राज.)

## सदस्य

1. **प्रो. के. एल. शर्मा**
   आचार्य, समाजशास्त्र विभाग (सेवानिवृत्त)
   जवाहर लाल नेहरू विश्वविद्यालय
2. **प्रो. (डा.) इन्दु माथुर**
   आचार्य, समाजशास्त्र विभाग (सेवानिवृत्त)
   राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर
3. **डा. आई. पी. मोदी**
   सह-आचार्य, समाजशास्त्र विभाग
   राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर
4. **डॉ. जे. एन. चौधरी**
   आचार्य, समाजशास्त्र विभाग (सेवानिवृत्त)
   राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर
5. **प्रो. राजीव गुप्ता**
   आचार्य, समाजशास्त्र विभाग
   राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर
6. **डा. (श्रीमती) रीता दाधीच**
   सहायक आचार्य, समाजशास्त्र
   वैदिक कन्या पी.जी. महाविद्यालय, जयपुर
7. **डॉ. (श्रीमती) अलका शर्मा**
   सहायक आचार्य, समाजशास्त्र
   राजकिय फ़िजी मविद्यालय दौसा

**सम्पादन एवं पाठ लेखन**

**सम्पादक**

**प्रोशर्मा .एल .एस .**

**आचार्य**

**राजस्थान विश्वविद्यालय जयपुर**

| लेखक | इकाई संख्या |
|---|---|
| **डॉ बी. एल. बीजारणियाँ**<br>सहायक आचर्य समाजशास्त्र<br>श्रीमती मानबरी देवी पी.जी. महाविद्यालय, चनाना (झुंझुन) | **(1)** |
| **डॉ. निर्मला अडवाणी**<br>आचार्य, समाजशास्त्र (सेवानिवृत)<br>राजकीय पी.जी महाविद्यालय, कोटा (राज.) | **(2,6,16,19)** |
| **डा. अलका शर्मा**<br>साहयक आचार्य, समाजशास्त्र<br>राजकीय पीजी महाविद्यालय, दौसा | **(3)** |
| **प्रो. एस. के राजौरा**<br>आचार्य, समाजशास्त्र विभाग<br>कोटा महाविद्यालय, कोटा | **(4)** |
| **डॉ. सीमा अग्रवाल**<br>साहयक आचार्य, मानवशास्त्र विभाग<br>राजस्थान विश्वविद्यालय<br>जयपुर | **(5)** |
| **डॉ. मंजुलता**<br>सहायक आचार्य, समाजशास्त्र<br>आर. जी. डिग्री कॉलेज,<br>मेरठ | **(7)** |
| **डा. पुष्पेन्द्र सुराणा**<br>आचार्य, समाजशास्त्र विभाग (सेवानिवृत)<br>जय नारायण व्यास विश्वविद्यालय जिधपुर | **(8)** |
| **प्रो. हरिश दोषी**<br>आचार्य, समाजशास्त्र विभाग (सेवानिवृत)<br>वीर नर्मदा साऊथ गुजरात विश्वविद्यालय<br>सूरत (गुजरात) | **(9)** |
| **डा. मधु नागला**<br>आचार्य, समाजशास्त्र विभाग<br>महर्शि दयानन्द विश्वविद्यालय रोहतक (हरियाणा) | **(8)** |
| **प्रो. सी. एल. शर्मा**<br>आचार्य, समाजशास्त्र विभाग (सेवानिवृत)<br>मोहन लाल सुखाडिया विश्वविद्यालय, उदयपुर | **(11)** |

**डा. ज्योति सिडाना** **(12)**
साहयक आचार्य, समाजशास्त्र
जे. डी. बी. महिला महाविद्यालय, कोटा

**डॉ. फतेह सिंह चारण** **(13)**
सह आचार्य, समाजशास्त्र
राजकीय आर. डी बालिका महाविद्यालय, भटतपुर

**श्री घनश्याम सैनी** **(14)**
आर. टी. ए.
वर्धमान महावीर खुला विश्वविद्यालय,कोटा (राज.)

**डॉ. रीता पचहरा** **(15)**
सहायक आचार्य, समाजशास्त्र
अग्रवाल पी.जी महाविद्यालय, जयपुर

**डॉ. सुमित्रा शर्मा** **(17)**
समाजशास्त्र विभाग
मोहन लाल सुखाडिया विश्वविद्यालय, उदयपुर

**प्रो. बी.के. नागला** **(18)**
आचार्य, समाजशास्त्र विभाग (सेवानिवृत)
म.द. विश्वविद्यालय, रोहतक (हरियाणा)

**डॉ. पी.सी. जैन** **(20)**
आचार्य, समाजशास्त्र विभाग
जे.आर.एन. राजस्थान विद्यापीठ विश्वविद्यालय,
उदयपुर (राज.)

## अकादमिक एवं प्रशासनिक व्यवस्था

**प्रो. (डॉ) नरेश दाधीच**
कुलपति
वर्धमान महावीर खुला विश्वविद्यालय, कोटा

**प्रो. एम.के. घड़ोलिया**
निदेशक (अकादमिक)
वर्धमान महावीर खुला विश्वविद्यालय, कोटा

**योगेन्द्र गोयल**
प्रभारी, प्रभारी पाएवं वितरण विभाग .उ.सा.
वर्धमान महावीर खुला विश्वविद्यालय, कोटा

## पाठ्यक्रम उत्पादन

**योगेन्द्र गोयल**
सहायक उत्पादन अधिकारी,
वर्धमान महावीर खुला विश्वविद्यालय, कोटा

**उत्पादन : सितम्बर ISBN 13/978-81-8496-284-0**

इस सामग्री के किसी भी अंश को व. म. खु. वि., कोटा की लिखित अनुमति के बिना किसी भी रूप मे 'मिमियोग्राफी' (चक्रमुद्रण) द्वारा या अन्यत्र पुनः प्रस्तुत करने की अनुमति नहीं है।

**व. म. खु. वि., कोटा के लिये कुलसचिव वर्धमान महावीर खुला विश्वविद्यालय, कोटा कोटा (राज.) द्वारा मुद्रित एवं प्रकाशित**

MASO-03

# वर्धमान महावीर खुला विश्वविद्यालय, कोटा

## अनुक्रमणिका

**भारतीय सामाजिक व्यवस्था**


| इकाई सं. | इकाई का नाम | पृष्ठ संख्या |
|---|---|---|
| **खण्ड I** | **भारातीय समाज की आधारभूत संस्थाएं - I** | |
| 1. | भारातीय समाज : एकता, बाहुल्यता एवं विविधता | 7–19 |
| 2. | परिवार: अवधारणा,स्वरूप एवं परिवर्तन | 20–47 |
| 3. | विवाह: अवधारणा, स्वरूप एवं परिवर्तन | 48–62 |
| 4. | नातेदारी: अवधारणा स्वरूप एवं परिवर्तन | 63–75 |
| **खण्ड II** | **भारतीय समाज की आधारभूत संस्थाएँ -II** | |
| 5. | जनजाति: अवधारणा, संरचना एवं परिवर्तन | 76–93 |
| 6. | जाति: अवधारणा,स्वरूप एवं परिवर्तन | 94–127 |
| 7. | वर्ग: अवधारणा, संरचना एवं परिवर्तन | 128–139 |
| 8. | सामाजिक स्तरीकरण के उभरते नवीन आयाम | 140–152 |
| **खण्ड III** | **भारतीय समाज में परिवर्तन की प्रक्रियाएँ** | |
| 9. | सामाजिक परिवर्तन और विकास | 153–168 |
| 10. | संस्कृतिकरण तथा पश्चिमीकरण: अवधारणा, प्रक्रिया एवं प्रभाव | 169–176 |
| 11. | आधुनिकरण एवं धर्मनिरपेक्षण: अवधारणा, प्रभाव एवं प्रक्रिया | 177–196 |
| **खण्ड IV** | **भारतीय समाज से संबंद्ध मुद्दे** | |
| 12. | नगरीकरण एवं औद्योगीकरण: अवधारणा, प्रक्रिया एवं प्रभाव | 197–210 |
| 13. | भारतीय समाज में जातिवाद एवं संबंधित मुद्दे | 211–220 |
| 14. | क्षेत्रवाद | 221–233 |
| 15. | साम्प्रदायिकतावाद | 234–251 |
| 16. | लैंगिक असमानता | 252–269 |
| 17. | संस्कृति: अवधारणा, संरचना एवं स्वरूप (वैश्वीकरण एवं भारतीय समाज में परिवर्तन के सन्दर्भ में) | 270–282 |
| **खण्ड V** | **वैश्वीकरण एवं भारतीय समाज में परिवर्तन** | |
| 18. | वैश्वीकरण: भारतीय समाज में परिवर्तन के संदर्भ में | 283–293 |
| 19. | नागरीकीय समाज | 294–312 |
| 20. | आर्थिक प्रणाली(वैश्वीकरण एवं भारतीय समाज के संदर्भ में) | 313–327 |

# इकाई - 1

# भारतीय समाज एकता, बाहुल्यता एवं विविधता

**इकाई की रूपरेखा**

1.0 उद्देश्य
1.1 प्रस्तावना
1.2 भारतीय समाज की अवधारणा
1.3 भारतीय समाज की विशेषताऐं
1.4 भारतीय समाज में विविधता एवं बाहुल्यता
1.5 भारतीय समाज में विभिन्नताओ में एकता
1.6 सारांश
1.7 शब्दावली
1.8 अभ्यासार्थ प्रश्न
1.9 अभ्यासार्थ प्रश्नों के उत्तर
1.10 संदर्भ ग्रंथ

## 1.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन पश्चात आप -

- भारतीय समाज का अर्थ एवं उसकी अवधारणा को समझ सकेगें।
- भारतीय समाज की विशेषताओं की जानकारी प्राप्त कर सकेगें।
- भारतीय समाज में विविधता एवं बाहुल्यता के तत्वों को समझ सकेगें।
- भारतीय समाज में विविधता में एकता के तत्वों की जानकारी प्राप्त कर सकेगें।
- भारतीय समाज एवं संस्कृति के उन तत्वों को जान पायेगें जिनकी वजह से आज भी यह हजारों साल बीत जाने पर जीवित है।

## 1.1 प्रस्तावना

भारतीय समाज का इतिहास अति-प्राचीन व गौरवपूर्ण है। वास्तव में किसी भी समाज की संस्थाओं का स्वरूप और उसका संगठन उस समाज की संस्कृति द्वारा निर्धारित होता है।

अत: किसी भी समाज की संरचना और संस्कृति में एकता और विविधता का सिंहावलोकन करने के लिए उसकी सांस्कृतिक विशेषताओं का अध्ययन अनिवार्य होता है। इस दृष्टिकोण से जब हम भारतीय समाज और संस्कृति को देखते है तो ज्ञात होता है कि भारतीय संस्कृति की मूल विशेषता उसकी सहिष्णुता व ग्रहणशीलता और गत्यात्मक प्रकृति है। इस प्रकृति का विशाल स्रोत विविधता में एकता है।

भारतीय समाज में अनेक प्रजातियों के sलोग समय-समय पर यहाँ की संस्कृति के रंग में रंगतें हुए राष्ट्रीय धारा में समा गये। इतना ही नहीं बल्कि विश्व की विभिन्न संस्कृतियों,

विचारों, दर्शनों, धर्मो, भाषाओं, प्रथाओ एवं परम्पराओ के प्रति सहनशीलता का परिचय देते हुए उन्हें अपने में समाहित किया है। फलत: भारतीय समाज एवं संस्कृति विभिन्नताओं की एक लीलाभूमि बन गया है।

भारतीय समाज और संस्कृति का बाह्य स्वरूप अनेक विभिन्नताओं का पुंज है किन्तु इसका आन्तरिक स्वरूप मौलिक व अखण्ड रूप में एक है। इस इकाई में हम इन्ही बातों पर विचार करेगें और यह देखने का प्रयास करेगें कि भारतीय समाज तथा संस्कृति में किस तरह की बहुल्यता एवं विविधतापूर्ण एकता बनी हुई है।

## 1.2 भारतीय समाज की अवधारणा

भारतीय समाज एवं संस्कृति मानव समाज की एक अमूल्य निधि है। यदि संसार की कोई संस्कृति अमर कही जा सकती है तो निस्सन्देह वह भारतीय संस्कृति ही है जो अपनी समस्त आभा और प्रतिभा के साथ चिरकाल से स्थायी है। अपने सुदीर्ध इतिहास में भारतवासियों ने एक ऐसी समाज व्यवस्था एवं संस्कृति का विकास किया जो अपने आप में मौलिक, अनूठी और विश्व की अन्य संस्कृतियों एवं समाज-व्यवस्थाओं से भिन्न है। इस देश के महापुरूर्षो तीर्थ स्थलों, प्राचीन कलाकृतियाँ, धर्म, दर्शन और सामाजिक संस्थाऐं भारतीय समाज एवं संस्कृति के सजग प्रहरी रहे है,। इस देश की संस्कृति को अजर-अमर बनाने में इन्होने महत्वपूर्ण योगदान दिया है।

## 1.3 भारतीय समाज की विशेषताएँ

हम यहाँ भारतीय समाज की उन निम्नलिखित विशेषताओं का उल्लेख करेंगे, जिसके कारण हजारों साल बीत जाने पर वह आज भी जीवित है।

**1. प्राचीनता एवं स्थायित्व -**

भारत की संस्कृति एवं समाज व्यवस्था विश्व की प्राचीनतम संस्कृतियों एवं समाज व्यवस्थाओं में से एक है। समय के साथ-साथ मिस्र, युनान, रोम आदि प्राचीन संस्कृति नष्ट हो गई और उसके अवशेष मात्र ही बचे हैं, किन्तु हजारों वर्ष बीत जाने के बाद भी भारत की आदि संस्कृति व समाज व्यवस्था आज भी जीवित है। आज भी हम भारत में वैदिक धर्म को मानते है, पवित्र वैदिक मंत्रो का उच्चारण किया जाता है तथा विवाह भी वैदिक रीति से सम्पन्न होता है।

**2. समन्वयवादी दृष्टिकोण -**

जनजातिय, हिन्दू मुस्लिम, शक, हूण, ईसाई तथा विभिन्न प्रजनजातियों समूहों आदि सभी संस्कृतियों के प्रभाव से भारतीय संस्कृति नष्ट नहीं हुई वरन् उनसे समन्वय एवं एकता ही स्थापित हुई है। मुसलमानों का सूफी सम्प्रदाय भारत के आध्यात्मकवाद, योग, साधन और रहस्यवाद का संस्करण है। राम और रहीम, कृष्ण और करीम की एकता स्थापित कर महापुरूषों द्वारा हिन्दू और इस्लाम धर्म, में समन्वय करने का प्रयत्न किया गया है। इसी प्रकार से बौद्ध धर्म, हिन्दू धर्म का ही अगं बन गया है। भारतीय समाज एवं संस्कृति में समन्वय की महान शक्ति है, जो निरन्तर गतिमान रही है और आज तक विद्यमान है।

**3. आध्यात्मवाद -**

धर्म और आध्यात्मिकता भारतीय समाज व संस्कृति की आत्मा है। भारतीय संस्कृति में भौतिक सुख और भोग-लिप्सा को कभी भी जीवन का ध्येय नहीं माना गया। यहाँ आत्मा और ईश्वर के महत्व को स्वीकार किया गया है और शारीरिक सुख के स्थान पर मानसिक एवं आध्यात्मिक आनन्द को सर्वोपरि माना गया है। इसमें भोग और त्याग का सुन्दर समन्वय पाया जाता है।

**4. धर्म की प्रधानता-**

भारतीय समाज के जनजीवन पर वेदों, उपनिषेदो, पुराण, महाभारत, रामायण, भागवद् गीता, कुरान एवं बाइबिल का अत्यधिक गहरा प्रभाव है। इन महान् ग्रन्थों ने यहाँ के लोगों को आशावादी, आस्तिकता, त्याग, तप संयम आदि का पाठ पढ़ाया है। भारत के लोग सूर्योदय से सूर्यास्त तक तथा जन्म से मृत्युपर्यन्त अनेक धार्मिक कार्यो की पुर्ति करतें है।

**5. सैहिष्णुता-**

भारतीय समाज एवं संस्कृति की एक महान् विशेषता सहिष्णुता है। भारत में सभी सम्प्रदायों, जातियों, प्रजातियों एवं समुदायों के प्रति उदारता, सहिष्णुता एवं प्रेमभाव पाया जाता है। हमारे यहाँ समय-समय पर अनेक विदेशी संस्कृतियों का आगमन हुआ और सभी को फलने-फूलने का अवसर दिया गया। हमारे द्वारा असहिष्णु होकर कभी भी विदेशियों एवं अन्य संस्कृति के लोगों पर बर्बर अत्याचार नहीं किये गये।

**6. अनुकूलनशीलता-**

भारतीय संस्कृति को अमर बनाने में इसकी अनुकूलनशील प्रवृत्ति का महान योगदान है। भारतीय संस्कृति - अपने दीर्घ जीवन के लिए समय चक्र और प्रस्थितियों के अनुसार सदैव समाज के साथ सामन्जस्य करती रही है, जिसके परिणामस्वरूप यह आज तक बनी रही है। भारतीय परिवार, जाति, धर्म एवं संस्थाएँ समय के साथ अपने को परिवर्तित करते रहे हैं।

**7. विचार और आदर्श**

भारतीय संस्कृति में कुछ ऐसे तत्व है, जो युग-युगान्तर एक व्यक्ति के अस्तित्व के आधार होते है। 'सादा जीवन उच्च विचार' का सिद्धांत अपरिग्रह को श्रेष्ठता प्रदान करता है। इसी प्रकार इस आर्दश और विचारधारा से प्रेरणा प्राप्त करने वाला प्रत्येक प्राणी विश्व कुटुम्ब का सदस्य होता है। वह विश्व को एकता का पाठ पढाता है तथा सबको एक सूत्र (वसुधेव कुटुम्बकम) में बांधता है। भारतीय समाज एवं संस्कृति के ऐसे आदर्श और विचार सदैव एकता को बनाये रखने का प्रयत्न करते हैं।

**8. वर्णाश्रम-**

वर्ण एवं आश्रमों की व्यवस्था भारतीय समाज में श्रमविभाजन हेतु चार वर्णो- बाहमण, क्षैत्रिय, वैश्य एवं शूद्र वर्ण की रचना की गयी। ब्राहमण समाज में बुद्धि और शिक्षा के प्रतीक हैं, क्षत्रिय, शक्ति का कार्य तथा वैश्य भरण-पोषण एवं अर्थ- व्यवस्था का संचालन करते हैं जबकि शूद्र समाज की सेवा करते हैं। वर्ण व्यवस्था के साथ-साथ प्राचीन मनीषियों ने मनुष्य की आयु सौ वर्ष मानकर उसको चार आश्रमों- ब्रहमचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास में विभाजन किया

था। आश्रमों का उद्देश्य मानव के चार पुरूषार्थो-धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की पूर्ति करना है जो कि व्यक्ति का सामाजिक और व्यावहारिक जीवन सम्भव बनाते हैं। भारतीयों की वर्णाश्रम व्यवस्था विश्व इतिहास को एक अद्वितीय देन है।

**9. कर्म एवं पुनर्जन्म का सिद्धान्त -**

भारतीय संस्कृति में कर्म को अत्यधिक महत्व दिया गया है। यह माना जाता है कि अच्छे कर्मो का फल अच्छा और बुरे कर्मो का फल बुरा मिलता है। श्रेष्ठ कर्म करने वाले को उच्च योनि में जन्म और सुखी जीवन व्यतीत करने का अवसर मिलता है जबकि बुरे कर्म करने वाले को निम्न योनि में जन्म लेना होता है तथा अनेक प्रकार के कष्ट उठाने पड़ते हैं। अत: कर्म और पुनर्जन्म के सिद्धान्त द्वारा भारतीयों को सदैव अच्छे कर्म करने की प्रेरणा दी गयी है।

**10. सर्वागीणता -**

भारतीय समाज की एक विशेषता यह है कि इसका सम्बन्ध किसी एक जाति, वर्ण, धर्म, या किसी व्यक्ति विशेष से न होकर समाज के सभी पक्षों से है। और इसके निर्माण में राजा, किसान, मजदूर, शूद्र, ब्राह्मण आदि सभी का योगदान रहा है। भारतीय संस्कृति में कहा गया है 'सर्वेभवन्तु सुखिनै अर्थात सभी सुखी हों।

**11. पुरूषार्थ -**

पुरुषार्थ भी भारतीय समाज की एक महत्त्वपूर्ण विशेषता है। पुरुषार्थ सिद्धान्त में व्यक्ति के जीवन के चार आधार माने गये हैं। ये चार आधार धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष हैं। धर्म नैतिक दायित्वों के निर्वाह से सम्बन्धित हैं जो व्यक्ति की आवश्यकताओं की पूर्ति करते हैं। 'काम' जीवन के आनन्द से सम्बन्धित हैं और मोक्ष तीनों पुरुषार्थो के पश्चात् आता हैं जिसका अर्थ 'पूर्ण संतुस्टी' से लिया जा सकता हैं। इसमें व्यक्ति जीवन-मरण के बन्धन से मुक्त होकर परमानन्द की प्राप्ति करता हैं। सभी पुरुषार्थ व्यक्ति को समाज में अनुशासन में रहने व अपने दायित्वों के निर्वाह की प्रेरणा देते हैं। इस रुप में ये भारतीय संस्कृति की गौरवमयी निधि कहे जा सकते हैं।

**12. ऋण तथा यज्ञ -**

हिन्दू जीवन-व्यवस्था में व्यक्ति पर पाँच प्रकार के ऋण माने गये हैं-देव-गण, ऋषि-ऋण, पितृ-ऋण, अतिथि-ऋण एवं नृ-ऋण। मनुष्य अपने दायित्वों का भली-भाँति निर्वाह करके इन ऋणों से मुक्ति पा सकता है। यह भारतीय संस्कृति की विशेषता है जो अन्य किसी संस्कृति में नहीं मिलती। इसी प्रकार पंच-महायज्ञों की व्यवस्था भी कर्तव्य-निर्वाह के दृष्टिकोण से की गई है जो व्यक्ति को त्यागमय जीवन व्यतीत करने की प्रेरणा देती है जो भारतीय समाज की अद्वितीय विशेषता कही जा सकती है।

**13. संस्कार -**

भारतीय समाज में व्यक्ति को सामाजिक प्राणी बनने तथा उसके व्यक्तित्व का चतुर्मुखी विकास करने के उद्देश्य से 16 संस्कारों की व्यवस्था की गई हैं। उनका उद्देश्य समय-समय पर व्यक्ति का परिष्कार करना तथा उसे अपने पारिवारिक एवं सामाजिक कर्तव्यों का

ज्ञान कराना होता हैं। ये 16 संस्कार क्रमशः - गर्भाधान, पुंसवन, सीमन्तोन्नयन, जातकर्म, नामकरण, निष्क्रमण, चूडाकर्म, कर्ण-वेध, विधारम्म उपनयन, वेदारम्भ, के शान्त अथवा गोदान, समावर्तन, विवाह एवं अच्येष्टि हैं जो व्यक्ति के जन्म के पूर्व से प्रारम्भ होकर मरणोपरान्त चलते हैं। भारतीय समाज में इन सभी संस्कारों का विशेष महत्व हैं। क्योंकि ये सभी संस्कार व्यक्ति की नैसर्गिक प्रवृतियों को समाजोपयोगी बनाते है व उसे नैतिकता की ओर प्रवृत करते हैं।

**14. जाति-व्यवस्था -**

भारतीय समाज विभिन्न जातियों में विभक्त है और प्रत्येक जाति के अपने-अपने व्यवसाय रीति-रिवाज, रहन-सहन के तरीकें एवं कर्तव्य निश्चित हैं। जाति-व्यवस्था के अलग नियम होते है, जाति पंचायतें होती है, विवाह सम्बन्ध आदि के अलग-अलग तरीके है, जिनका उल्लंघन करने पर दण्ड की व्यवस्था की गई है। जाति-व्यवस्था भारतीयों के जीवन कों अनेक रुपों में प्रभावित करती हैं। यह जाति व्यवस्था भारतीय संस्कृति का प्रमुख लक्षण मानी जा सकती है जिसने व्यावसायिक प्रतिस्पर्धा और सामुदायिक संघर्षो से मुक्त रहकर सामाजिक व्यवस्था को बनाए रखा हैं। भारतीय समाज में जाति का महत्व इस रुप में भी है कि इसमें सदस्यता जन्म पर आधारित हैं तथा विवाह एवं व्यवसाय भी निश्चित होता हैं। इस रुप में भारतीय समाज में जाति व्यवस्था का महत्वपूर्ण स्थान माना जा सकता हैं।

**15. संयुक्त-परिवार -**

संयुक्त-परिवार भी भारतीय समाज की एक महत्वपूर्ण विशेषता कही जा सकती हैं। संयुक्त-परिवार से आशय उस परिवार से है जिसमें 3-4 या अधिक पीढ़ियों के सदस्य एक साथ निवास करते हैं और घर के सबसे बड़े सदस्य (मुखिया) के अधीन रहते हैं। सम्पति पर सभी का समानाधिकार होता है। प्राचीन समय में जब अर्थव्यवस्था कृषि पर आधारित थी तब संयुक्त-परिवारों का महत्व अधिक था। आज इस व्यवस्था में परिस्थितियों के परिणामस्वरुप परिवर्तन आ रहें हैं किन्तु फिर भी यह भारतीय समाज की अद्वितीय विशेषता कही जा सकती है।

**16. विविधता में एकता -**

विविधता में एकता' भारतीय समाज की एक महत्त्वपूर्ण विषेशता हैं। भारतवर्ष एक विशाल देश है। कश्मीर से कन्याकुमारी तक यहाँ भाषाएँ, धर्म, व्यवसाय, रीति-रिवाज, रहन-सहन, जनसंख्या, भौगोलिक पर्यावरण आदि के आधार पर अनेक भिन्नताएँ दृष्टिगोचर होती है लेकिन इन विविधताओं के उपरान्त भी सम्पूर्ण भारतीय समाज की संस्कृति एक है जिसके कारण ही वह आज जीवित है।

उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट है कि भारतीय समाज की अपनी कुछ मौलिक विशेषताएँ है। उन्ही के कारण भारतीय समाज और संस्कृति में सदैव एकता रही है।

## 1.4 भारतीय समाज में विभिन्नता एवं बाहुल्यता

भारत एक विभिन्नताओं का देश हैं। भारतीय समाज के विभिन्न पक्षों में सर्वत्र अनेकता के दर्शन होते हैं। क्षेत्रगत, भाषागत, जातिगत, प्रजातिगत तथा धार्मिक विभिन्नता

सम्पूर्ण समाज में व्याप्त हैं। इसी कारण भारतीय समाज एवं संस्कृति को एक रंगीन साड़ी नही वरन् बहु-रंगी चुनरी की संज्ञा दी जाती हैं। इस कथन का तात्पर्य यह है कि भारतीय संस्कृति में विभिन्न प्रकार के सांस्कृतिक तत्वों का एक अनुपम समन्वय देखने को मिलता हैं। भारतीय समाज में सैकड़ों जातियाँ और उपजातियाँ पायी जाती हैं। विभिन्न भाषा-भाषी लोग भी यहाँ मौजूद हैं। साथ ही अनेक धर्मो का जन्म-स्थल भी हैं। यहाँ कोई हिन्दू है तो कोई मुसलमान, कोई ईसाई है तो कोई बौद्ध, सिक्स आदि। यह देश भौगोलिक दृष्टि से भी अनेक क्षेत्रों में बँटा हुआ है। यहाँ जलवायु सम्बन्धी भिन्नताएँ भी कम नही हैं। साथ ही हम लोगों के रहन-सहन, खान-पान और वेशभूषा में भी कई प्रकार की भिन्नताएँ दिखाई पड़ती हैं। हम यहाँ इन विविधताओं को इस प्रकार प्रस्तुत कर सकते हैं।

**1. भौगोलिक दशाओं में विभिन्नताएँ -**

भारत एक विशाल देश हैं। इसी विशालता के कारण सम्पूर्ण भारतीय समाज विभिन्न क्षेत्रों में बँटा हुआ है। भारत में यदि एक ओर हिम से ढंकी हुई व आकाश को छूती पर्वतों की चोटियाँ और हिमालय की लम्बी व ऊँची पर्वत श्रेणियाँ हैं। तो दूसरी ओर समुद्र के लहरों से खेलते हुए विस्तृत उपजाऊ मैदान हैं। यदि एक और राजस्थान का शुष्क मरूस्थल हैं। जहाँ मीलों मानव का नामोनिशान नहीं हैं। तो दूसरी और सिन्दु-गंगा का मैदान भी हैं। जहाँ विशाल मानव-जीवन हिलोरे ले रहा हैं। यहाँ दोमट औंर कछारी, काली और लाल विभिन्न प्रकार की मिट्टियाँ पायी जाती हैं। किसी क्षेत्र की जमीन सोना उगलती हैं, तो किसी क्षेत्र की जमीन में बबूल भी नहीं उगता। इस भौगोलिक विभिन्नता का प्रभाव यहाँ के निवासियों के रंग, बनावट, रहन-सहन, खान-पान, वेश-भूषा, साज-सज्जा, भाषा, धर्म और विधि-विधानों पर पड़ता हैं।

**2. जलवायु की विभिन्नताएँ-**

भारत की जलवायु में भी बड़ी भिन्नता देखने को मिलती है। भारत को भोगोलिक दृष्टि से पाँच बड़े प्राकृतिक खण्डों में विभाजित किया गया है -

(1) उतर का पर्वतीय प्रदेश

(2) उतरी भारत का बड़ा मैदान

(3) दक्षिण का पठारी प्रदेश

(4) राजस्थान का मरुस्थल तथा

(5) समुद्रतटीय मैदान ।

इन विभिन्न क्षेत्रों में जलवायु सम्बन्धी काफी भिन्नता देखने को मिलती है। मैदानी क्षेत्रों में ऋतु एवं तापमान में परिवर्तन आता रहता है। पहाड़ी क्षेत्रों में अधिकाशंत: सर्दी का मौसम रहता है तो दूसरी ओर रेगिस्तानी प्रदेशों में गर्मी का। कई प्रदेशों में भारी वर्षा होती है तो कई क्षेत्रों में साल भर में मुश्किल से दो-चार इंच वर्षा होती है। अत: विभिन्न स्थानों की सांस्कृतिक भिन्नता का एक कारण जलवायु सम्बन्धी भिन्नता भी है।

**3. धार्मिक विभिन्नताएँ -**

भारत विभिन्न धर्मो की लीला भूमि है। मूलत: भारतवर्ष नौ धर्मो का संगम स्थल रहा है, किन्तु कालान्तर में विभिन्न संस्कृतियों के लोगों के आगमन के फलस्वरूप यहां अन्य धर्मो

का भी प्रसार हुआ जिससे धार्मिक विभिन्नता और भी बढ़ती गयी। यहाँ विभिन्न धर्मो को मानने वाले लोगों की संख्या का प्रतिशत इस प्रकार है- हिन्दू 82.41 प्रतिशत, मुसलमान 11.67 प्रतिशत, ईसाई 2.32 प्रतिशत, सिक्ख1.99 प्रतिशत, बौद्ध 0.77 प्रतिशत, जैन 0.4। प्रतिशत, तथा अन्य 0.43 प्रतिशत। हिन्दू धर्म में अनेक देवी-देवताओं की पुजा-अर्चना की जाती है। धार्मिक उत्सव, दान, व्रत, हवन, यज्ञ, तीर्थ-यात्रा आदि का विशेष महत्व है। बौद्ध धर्म में सद्दृष्टि, सद्भभाव, सद्भाषण, सदप्रयत्न, सदनिर्वाह और सद्ध्यान इन सात संयमों पर बल दिया जाता है। जैन धर्म में त्याग और अहिंसा पर बल दिया हैं। इस्लाम धर्म एकेश्वरवादी धर्म है। सिक्ख धर्म एकेश्वरवादी व मूर्तिपूजा विरोधी है, धर्मो की विभिन्नता भारत की अपनी रोचक विशेषता हैं।

**4. भाषा सम्बन्धी विभिन्नताएँ -**

मानवीय अभिव्यक्ति का सर्वोतम साधन मानव की भाषा होती है। भाषा के माध्यम से ही विभिन्न सांस्कृतिक तत्वों को एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को हस्तान्तरित करती है। भारत विभिन्न भाषायी लोगों का देश है। हमारे देश में 189 भाषाएँ तथा 544 बोलियाँ प्रचलित हैं। यद्यपि भारतीय संविधान में 18 भाषाओं को मान्यता दी गयी हैं। इन 18 भाषाओं के अतिरिक्त मालवी, मैथिली, मारवाड़ी, भोजपुरी, पहाड़ी, राजस्थानी आदि भाषाएँ भी यहाँ महत्वपूर्ण हैं जिनका प्रयोग सामान्य लोग बोल-चाल में करते है। भाषायी भिन्नता पृथकतावाद के लिए उतरदायी हैं।

**5. प्रजातीय विभिन्नताएँ -**

भारत प्रजातियाँ प्राचीन काल से अनेक निवास कर रही है। यहाँ प्रमुखत: नीग्रिटो, प्रोटोआस्ट्रेलाइड, नार्डिक, भूमध्यसागरीय, मंगोल और आर्य भाषा-भाषी प्रजाति जैसे अल्पाइन, दीनारिक अमीनियाई आदि पाई जाती हैं। यह कहा जाता है कि स्मरणातीत युगों से भारत परस्पर विरोधी प्रजातियों और सभ्यताओं का संगम स्थल रहा हैं और इसमें आत्मसातकरण तथा समन्वय की प्रकियाएँ चलती रही हैं । सभी प्रजातियों में शारीरिक विभिन्नताओं के साथ-साथ रहन-सहन, खान-पान, वेष-भूषा, रीति-रिवाज एवं प्रथा परम्पराओं सम्बन्धी भिन्नताएँ भी पायी जाती है।

**6. जनसंख्यात्मक विभिन्नताएँ -**

इस देश में जनसंख्या की दृष्टि से अनेक भिन्नताएँ पायी जाती हैं। यहाँ विभिन्न जनजातीय समूहों की कुल जनसंख्या वर्तमान में कुल जनसंख्या का 8 करोड़ से कुछ ही अधिक है। प्रत्येक जनजातीय समूह की जीवन की एक विशिष्ट पद्धति है जो अन्य जनजातियों की जीवन- पद्धति से भिन्न हैं। भारत की जनसंख्या में संख्यात्मक एवं गुणात्मक दोनों ही प्रकार के परिवर्तन हो रहे हैं। यही 1901 में देश की जनसंख्या करीब 23 करोड़ थी जो 2001 में 102.70 करोड़ हो चुकी है। यहाँ पुरुषों की तुलना में स्त्रियों का अनुपात कम हैं। वर्तमान में देश में 1000 पुरुषों पर 933 स्त्रियाँ है। देश के विभिन्न भागों में जनघनत्व में भी काफी अन्तर पाया जाता है। पूरे देश का जनघनत्व 324 व्यक्ति प्रति किलोमीटर है। यहाँ 72.22 प्रतिशत लोग गाँवों में तो 27.78 प्रतिशत लोग नगरी में निवास करते है। इस देश के विभिन्न

भागों में साक्षरता का प्रतिशत भी भिन्न- भिन्न है। देश की कुल जनसंख्या में 65.38 प्रतिशत लोग साक्षर हैं। पुरुषों में साक्षरता का प्रतिशत 75.85 और स्त्रियों में 54.16 हैं। राजस्थान में साक्षरता का कुल प्रतिशत 61.3 है जिसमें पुरुषों में 76.46 तथा महिलाओं में 44.34 प्रतिशत हैं।

**7. सांस्कृतिक विभिन्नताऐं -**

भारत के विभिन्न प्रदेशों में भाषा, रहन-सहन, खान-पान, वेश-भूषा, कला, संगीत तथा नृत्य, लोकगीत, लोकगाथा, विवाह-प्रणाली तथा जीवन संस्कारो में हमें अनेक रोचक व आकर्षक भेद देखने को मिलते है। ग्रामीण और नगरीय लोगों की, हिन्दू और मुसलमानो की परम्परावादी और आधुनिक कहे जाने वाले लोगो की वेश-भूषा और खान-पान में विविधता है। यहाँ विभिन्न नृत्य शैलियों के अतिरिक्त तुर्की, इरानी, भारतीय व पाश्चात्य चित्रकला, मूर्तिकला तथा वास्तुकला के विविध रूप देखने को मिलते है। यहाँ मंदिरो, मस्जिदों, गिरजाघरो, स्तुपों आदि में कला की भिन्नताओ का सरलता से पता लगाया जा सकता है।

उपर्युक्त सभी विभिन्नताओ के बावजूद भारत के विभिन्न भागो में एक-दुसरे के साथ निकट का सम्बन्ध है, उसी प्रकार का सम्बन्ध है जिस प्रकार का सम्बन्ध शरीर और उसके विभिन्न अंगो के बीच पाया जाता है। इस सम्बन्ध में फिलिप मेसन का कथन है-लोगो में सम्बन्धो की विविधता तथा अन्य समुदायों के प्रति जागरूकता ने भारतीयों में विविधता में एकता के विचार को पनपाया।

## 1.5 भारतीय समाज में विविधताओं में मौलिक एकता

भारतीय समाज के अन्तर्गत पायी जाने वाली उपर्युक्त विभिन्नताओं को देखते हुए कहा जाता है कि भारतीय समाज अनेक क्षेत्रो में विभक्त विभिन्न प्रजातियों, भाषाऔं, जनजातियों, तथा विभिन्न धर्मो कें अनुयायों का एक विशाल अजायबघर है, जिसमे विभिन्नता दिखलाई पड़ती है। इसके एक छोर से दूसरे छोर के मध्य थोड़ी-थोड़ी दुरी पर भाषागत, जातिगत, रहन-सहन, खान-पान, वेश-भूषा, विधि-विधान, रीति-रिवाज, सम्बन्धी अन्तर पाये जाते है।

यदि हम भारतीय समाज के जनजीवन का गहराई से अध्ययन करें तो ज्ञात होगा कि इन विभिन्नताओं और विषमताओं के पीछे आधारभूत कारण अखण्ड मौलिक एकता भारतीय समाज में व्याप्त है।

विभिन्नताओं के होते हुए भी सम्पूर्ण राष्ट्र में एकता के दर्शन होते है। इस सन्दर्भ में हर्बर्ट रिजले ने उचित ही लिखा है- भारत में धर्म, रीति-रिवाज और भाषा तथा सामाजिक और भौतिक विभिन्नताओं के होते हुए भी जीवन की एक विशेष एकरूपता कन्याकुमारी से लेकर हिमालय तक देखी जा सकती है वास्तव में भारत का एक विशिष्ट चरित्र एवं व्यक्तित्व है जिसकी अवहेलना नहीं की जा सकती है। भारत की विभिन्नता में एकता के दर्शन जिन क्षेत्रों में किए जाते है वे इस प्रकार है -

**1. भौगोलिक विविधता में एकता -**

यद्यपि भारतवर्ष को भौगोलिक दृष्टिकोण से कई क्षेत्र में विभक्त किया गया है फिर भी भारत एक सम्पूर्ण भौगोलिक इकाई है। प्रायदीप का सीमा क्षेत्र दुर्गम हिमाच्धदित पर्वतो, सागरो का बना है। जो इस देश के लोगो को अन्य देशो व वहाँ की संस्कृतियो से पृथक तो करता ही है, साथ ही इस भू-भाग में बसने वालो को राष्ट्रीय स्वरूप भी प्रदान करता है। यहाँ की पर्वत मालायें, नदियाँ, कछार, पठार, मैदान तथा सागर तट एक दुसरे के पूरक होकर जनजीवन को प्रभावित करते है तथा किसी एक भू-भाग पर आक्रमण अथवा अतिक्रमण होने पर समुचा देश उद्वेलित हो उठता है।

**2. विभिन्न धर्मो में एक ही स्वरूप -**

देश में विभिन्न धर्मावलम्बी हैं जो अपनी पद्धत्ति के अनुसार पूजा उपासना करते हैं। ये धर्म व्यत्ति के सभी क्षेत्रो में विभिन्न धर्मावलम्बियों के तीर्थस्थल है। आध्यात्म, मत-मतान्तर एवं साहित्य ने एक दूसरे धर्म से बहुत कुछ अंगीकार किया है। ओर जनजीवन पर गंगा-जमुना ने बहुरंगी छवी छोड़ी है। धार्मिक सहिष्णुता का पराक्रम ऐसा रहा है कि सभी धर्म एक ही रंग में रंग से रंगे गये है।

**3. सामाजिक सांस्कृतिक विविधता में एकता -**

भारत के विभिन्न क्षेत्रों में बसे लोगों के परिवार, विवाह, रीति-रिवाज, वेष भूषा आदि में भी पर्याप्त मित्रता के बावजूद भारतीय समाज-व्यवस्था में सांस्कृतिक एकता के दर्शन होते हैं। संयुक्त परिवार प्रणाली, जाति प्रथा, ग्राम-पंचायत, गौत्र व वश-व्यवस्था भारतीय समाज के आधार रहे है। रक्षाबन्धन, दशहरा, दीपावली, होली, ईद, मोहर्रम आदि त्यौहारों का फैलाव समूचे भारत में है। इसी प्रकार सारे देश में जन्म-मृत्यु के संस्कार व विधियाँ, विवाह-प्रणालियाँ, शिष्टाचार, आमोद-प्रमोद, उत्सव, मेलों, सामाजिक रूढियों और परम्पराओं में पर्याप्त समानता देखने को मिलती है।

**4. प्रजातीय विविधता में एकता -**

यह सच है कि भारतीय समाज विभिन्न प्रजातियों का एक अजायबघर है। यहाँ विश्व की तीन प्रमुख प्रजातियाँ जिसमें श्वेत, पीत और श्याम वर्ण तथा इनकी उप शाखाओं के लोग निवास करते है। प्रजातीय भिन्नता होने पर भी अमेरिका एवं अफ्रीका की भाँति यहाँ प्रजातीय संघर्ष एवं टकराव रंगभेद के आधार पर नही वरन पारस्परिक सदभाव और सहयोग ही पनपा है। बाहर से आयी आर्य, द्रविड़, शक, हूण, तुर्क, पठान, मंगोल आदि प्रजातियाँ हिन्दू समाज में इतनी घुल मिल गई है कि इनका पृथक अस्तित्व आज पहचानना कठिन है।

**5. जातीय विविधता में एकता -**

भारत में विभिन्न जातियाँ पायी जाती हैं, जिनकी अपनी संस्कृति, प्रथाएँ और रीति-रिवाज हैं। फिर भी वे सभी हिन्दू-जाति व्यवस्था की ही अंग रही हैं और साथ ही जजमानी प्रथा द्वारा एक दूसरे पर निर्भर रही हैं। विभिन्न जातियों के लोग भारत की धरा पर रहते हुए एकता के सूत्र में बंधे रहते हैं और उनमें जातिगत पृथक्ता होने पर भी आन्तरिक एकता पायी जाती हैं। उस एकता का प्रत्यक्ष दर्शन युद्ध जैसी संकटकालीन स्थिति में होता है जब सब संकट का सामना करने के लिए एक साथ उठ खड़े होते हैं।

**6. राजनीतिक विविधता में एकता-**

इसमें सन्देह नही कि भारत में सदैव अनेक राज्य बनते बिगड़ते है, किन्तु राजनीतिक दृष्टिकोण से भारत सदैव एक रहा हैं। भारत के सभी महत्वाकांक्षी सम्राटों का ध्येय सम्पूर्ण भारत पर अपना एकछत्र साम्राज्य स्थापित कर चक्रवती बनने का रहा है और इसी ध्येय से राजसूर्य, वाजपेय, अश्वमेध यज्ञ किए जाते थे तथा राजाधिराज, चक्रवती आदि उपाधियों से सम्राट अपने को विभूषित करके यह व्यक्त करते थे कि भारत का विस्तृत भूखण्ड राजनीतिक तौर पर वास्तव में एक है। मध्य युग के कई मुसलमान बादशाहों जैसे अलाउद्दीन, अकबर, औरंगजेब द्वारा सम्पूर्ण भारत पर राज्य करने के प्रयत्न किए गए वे इसमें सफल भी हुए। स्वतंत्रता के बाद सम्पूर्ण देश में एक ही प्रजातंत्रीय सरकार की स्थापना हुई। राजनीतिक एकता और राष्ट्रीय भावना के आधार पर ही राष्ट्रीय आन्दोलनों व स्वतंत्रता संग्राम में देश के विभिन्न प्रान्तों के निवासियों ने खुलकर सक्रिय भाग लिया। इस राष्ट्रीय एकता की परख चीन एवं पाकिस्तान के आक्रमण के दौरान सामने आई।

**7. ऐतिहासिक विविधता में एकता-**

प्राचीन काल से ही भारत में विभिन्न धर्मो एवं प्रजातियों के लोग आते रहे है। उनकी संस्कृति में पृथक्ता होना स्वाभाविक है, किन्तु जब वे भारत में स्थायी रुप से बस गये तो उन्होंने एक समन्वित संस्कृति एवं समान परम्पराओं व इतिहास की रचना की। तात्पर्य यह है कि ऐतिहासिक दृष्टिकोण से भी भारतीय समाज व संस्कृति में सदैव एकता विधमान रही है।

**8. भाषाई विविधता में एकता-**

भारत वर्ष में भाषाओं की बहुलता है, परन्तु रोचक तथ्य तो यह है कि वे सभी एक ही साँचे में ढली हुई हैं। अधिकांश भाषाओं की वर्णमाला एक ही है व उन सभी पर संस्कृत भाषा का प्रभाव देखने को मिलता है। कतिपय शताब्दी पश्चात् संस्कृत जैसी एक अन्य भाषा ने इस उप-महाद्वीप के दूरस्थ कोनों में भी अपना प्रभाव जमा लिया। त्रिभाषा फार्मूले के अन्तर्गत शिक्षण संस्थाओं में छात्रों को हिन्दी, अंग्रेजी व एक अन्य प्रान्त की भाषा सिखायी जाती है। इससे विभिन्न भाषा-भाषियों के बीच एकता के भाव पैदा हुए हैं। समस्त देश के विद्वानों ने समाज को एक सूत्र में पिरोने का काम पहले प्राकृत व संस्कृत भाषा द्वारा किया, बाद में अंग्रेजी एवं आज हिन्दी द्वारा कर रहे हैं।

**9. कलात्मक विविधता में एकता-**

भारतीय जीवन में कला की एकता भी कम उल्लेखनीय नही है स्थापत्य कला, मूर्तिकला, चित्रकला, नृत्य, संगीत आदि के क्षेत्र में हमें अखिल भारतीय समानता देखने को मिलती है। देश के विभिन्न भागों में बने मन्दिरों मस्जिदों, गिरजाघरों, आवास भवनों तथा इमारतों में भी कला के अपूर्व संयोजन का आभास होता है। दरबारी, ध्रुपद, भजन, टप्पा, गजल यहाँ तक कि पाश्चात्य धुनों का भी विस्तार सारे भारतवर्ष में हैं। इसी प्रकार भारतनाट्यम, कथकत्ती, कत्थक आदि नृत्य भारत के सभी भागों में प्रचलित हैं। अत: कला के क्षेत्र में भी भारत में अखण्ड एकता हैं।

**निष्कर्षत :** यह कहा जा सकता है कि यदपि देश में अनेक आक्रमण हुए, राजवंश परिवर्तित हुए, सभ्यताएँ नष्ट हुई किन्तु अनेक संघर्षो के उपरान्त भी भारतीय समाज की सांस्कृतिक एकता, धार्मिक, भाषायी, भौगोलिक, कला एवं साहित्यिक आदि सभी क्षेत्रों में एकता आज भी अक्षुण्ण है।

## 1.6 सारांश

इस सम्पूर्ण इकाई में आपने यह जाना हैं कि भारतीय समाज की क्या विशेषताऐं हैं। इसमें विविधता के कौन-कौन से तत्व हैं तथा विभिन्न विभिन्नताओं के होते हुए भी इसमें मौलिक एकता को बनाये रखने वाले कौन-कौन से तत्व काम कर रहे हैं।

बाहरी तोर पर भारतीय समाज में विभिन्नताएँ दिखलाई देने पर भी भारत एक हैं, मौलिक एवं अखंड रूप में एक हैं। एक ही इसकी संस्कृति, धर्म, भाषा, विचार और राष्ट्रीयता है इसकी एकता को नष्ट नहीं किया जा सकता है। हजारो वर्षो की अग्नि-परीक्षा और विदेशी अनुभवों ने इस सत्य को उजागर किया हैं। रविन्द्रनाथ टैगोर द्वारा रचित एक कविता के भावार्थ के अनुसार भारत महान मानवता के लिए एक पुण्य तीर्थ के समान हैं। किसी को भी ज्ञात नही कि किसके आहान पर मनुष्यों की इतनी धाराएं (प्रजातियाँ) दुगुने वेग से बहती हुई कहीं-कहीं से आई और महासमुन्द्र रूपी इसी भारत में समाकर धुल मिल गई। समय-समय पर जो लोग रक्त की धारा बहाते हुए, उन्माद और उत्साह में विजय के गीत गाते हुए रेगिस्तानों और पर्वतो को लाधकर इस देश में आए वे सब के सब एक होकर भारत मां की गोद में विद्यमान है।

अत: भारतीय समाज की विशेषताओं विविधताओं एवं मौलिक एकता को जानकर समूचे भारतीय सामाजिक व्यवस्था को जाना जा सकता है।

## 1.7 शब्दावली

संस्कृति - संस्कृति हमारे रहन-सहन तथा सोचने-समझने की शैली में, हमारे प्रतिदिन की बातचीत में, कला, साहित्य, धर्म, मनोरंजन तथा अमोद-प्रमोद में हमारे स्वभाव की अभिव्यक्ति है। संस्कृति जीवन जीने की एक विधि है जिसमें मानव द्वारा निर्मित भौतिक एवं अभौतिक वस्तुओं को शामिल किया जाता है जिसका संचार, औपचारिक अथवा अनौपचारिक सीखने अथवा प्रशिक्षण की प्रक्रियाओं द्वारा होता है।

सहिष्णुता - सहिष्णुता का अर्थ उदारता एवं प्रेम-भाव से है। जिसका प्रयोग भारतीय संस्कृति की विशेषता के विशेष संदर्भ में किया जाता है क्योंकि भारत में सभी धर्मो, जातियों, प्रजातियों एवं सम्प्रदायों के प्रति उदारता, प्रेम-भाव एवं सहिष्णुता पाया जाता है। किसी के प्रति कठोर या द्वेष भाव नही।

आध्यात्मवाद - आध्यात्मवाद का अर्थ है आत्मा एवं ईश्वर के महत्व को स्वीकार करना। भारतीय संस्कृति की यह एक विशेषता है कि यहाँ शारीरिक सुख के स्थान पर मानसिक एवं आध्यात्मिक आनन्द को सर्वोपरि माना है। धर्म

और आध्यात्मिकता भारतीय समाज एवं संस्कृति की आत्मा है।

अनुकूलनशीलता - समय के साथ परिवर्तित होने की अद्भुत क्षमता ही अनुकूलनशीलता है। भारतीय संस्कृति, परिवार, जाति, धर्म एवं संस्थाएं समय के साथ अपने आप को अनुकूल बनाती रहती है। यही कारण है कि उनका विघटन और पतन होने की अपेक्षा रुप परिवर्तित होता रहा और वह नष्ट होने से बच गयी है।

सर्वागीणता - सभी का उदय एवं कल्याण सर्वागीणता है। भारतीय संस्कृति का सम्बन्ध किसी जाति, वर्ग, धर्म या व्यक्ति विशेष से नही है वरन् समाज के सभी पक्षो से है और इसके निर्माण में राजा, किसान व मजदुर शूद्र व ब्राहमण, शिक्षित और अशिक्षित देशी एवं विदेशी सभी लोगो तथा विभिन्न धर्मो एवं महापुरुषों सभी का योगदान रहा है। भारतीय संस्कृति 'सर्वे भवन्तु सुखिनः' की भावना पर आधारित है।

आश्रम व्यवसथा - हिन्दू धर्म शास्त्रकारों ने मानव जीवन की सौ वर्ष की अवधि की कल्पना की है। इस जीवनावधि को उन्होंने चार विश्राम स्थलों या पड़ावों में बाटा है ताकि जीवन के आन्नद का भोग करते हुए जीवन के अंतिम लक्ष्य मोक्ष को निर्विघ्न रुप में प्राप्त किया जा सके। इन पड़ावों या विश्राम स्थलों को ही 'आश्रम' का नाम दिया गया है। ये चार- आश्रम जीवन की चार अवस्थाओं या चरणों का संकेत देते है। जीवन के इन चार चरणों को ब्रहमचर्याश्रम, गृहस्थाश्रम, वानप्रस्थाश्रम और संन्यासाश्रम कहा गया है।

पुरुषार्थ - हिन्दु जीवन के चार ध्येय धर्म, अर्थ, काम, और मोक्ष रखे गये है जिन्हें 'पुरुषार्थ' कहा जाता है। ये आश्रम व्यवस्था के काफी निकट है क्योंकि इनके बिना आश्रम व्यवस्था की पूर्ण व्यवस्था नही की जा सकती है। ये व्यक्ति को समाज में अनुशासित जीवन व्यतीत करने की प्रेरणा देते है।

समनव्य - यह एक ऐसी प्रकिया है, जिसके द्वारा एक व्यक्ति अथवा समुह अपने भौतिक अथवा सामाजिक पर्यावरण के साथ सामंजस्यपूर्ण तथा स्वस्थ सम्बन्ध स्थापित करता है। यह समाजशास्त्रीय अवधारणा की अपेक्षा एक मनोवैज्ञानिक अवधारणा अधिक है।

संयुक्त परिवार - संयुक्त परिवार एक ऐसा घर है जिसमें नाभिक परिवारों की अपेक्षा अधिक पीढ़ियों सामान्यत: तीन या अधिक के व्यक्ति रहते है और जिसमें सदस्य सम्पति, आय, पारस्परिक अधिकार एवं कर्त्तव्यों द्वारा एक-दूसरे से आबद्व होते है।

जाति - एक जाति समान पारम्परिक पेशे वाला एक ऐसा अन्तर्विवाही सामाजिक समूह है जिसकी सदस्यता जन्म से निश्चित होती है तथा जिसके सदस्य सामाजिक व्यवहार, खान-पान, सामाजिक धार्मिक संस्कार आदि के मामले में कुछ निश्चित प्रतिबंधों का पालन करते है। जाति भारतीय सामाजिक व्यवस्था की कठोर प्रतिबंधित मापदंडो पर आधारित एक प्रमुख किन्तु

जटिल संस्था है।

## 1.8 अभ्यासार्थ प्रश्न

1. 'भारतीय समाज में विविधता में भी एकता निहित है'। इस कथन की पुष्टि कीजिए।
2. 'भारतीय समाज में एकता और विविधता' पर एक लेख लिखिए।
3. भारतीय समाज की प्रमुख विशेषताओं का उल्लेख कीजिए।
4. भारत में विभिन्नता के विभिन्न तत्वों पर प्रकाश डालिए।

## 1.9 अभ्यासार्थ प्रश्नों के उत्तर

प्रश्न संख्या 1 के उत्तर के लिए देखें 01.5 भारतीय समाज में विभिन्नताओं में एकता-पृष्ठ संख्या 7,8,

प्रश्न संख्या 2 के उत्तर के लिए देखें 01.4 भारतीय समाज में विविधता एवं बाहुल्यता तथा 01.5 भारतीय समाज में विभिन्नताओं में एकता-पृष्ठ संख्या 5,6,7,6,9

प्रश्न संख्या 3 के उत्तर के लिए देखें 01.3 भारतीय समाज की विशेषताऐं- पृष्ठ संख्या 2,3,4,5

प्रश्न संख्या 4 के उत्तर के लिए देखे 01.4 भारतीय समाज में विविधता एवं बाहुल्यता- पृष्ठ संख्या 5,6,7

## 1.10 सन्दर्भ ग्रंथ


1. आहुजा, राम, 1993, इण्डियन सोशल सिस्टम, रावत पब्लिकेशन, जयपुर।
2. भारत, 2000, भारत सरकार प्रकाशन, नई दिल्ली।
3. फिलिस, मसन, 1967, युनिटी एण्ड डावरसिटी, इण्डिया एण्ड सैमलान।
4. गुप्ता, मोतीलाल, 2००3, भारत में समाज, राजस्थान हिन्दी ग्रंथ अकादमी, जयपुर।
5. शर्मा, डी.डी एवं गुप्ता एम. एल.,1993, भारतीय समाज एवं सामाजिक संस्थाएं, साहित्य भवन, आगरा।
6. शर्मा, विरेन्द्र प्रकाश, 2005, भारतीय समाज, पंचशील प्रकाशन, जयपुर।

# इकाई - 2

# परिवार, अवधारणा, स्वरूप एवं परिवर्तन

**इकाई की रूपरेखा**


2.0 उद्देश्य

2.1 प्रस्तावना

2.2 परिवार के अध्ययन के परिप्रेक्ष्य

2.3 परिवार की अवधारणा

2.4 परिवार का अर्थ

2.5 वैश्विक स्तर पर परिवार के प्रकार

2.6 भारत में परम्परागत संयुक्त परिवार

2.7 परम्परागत परिवार की प्रकृति

2.8 परम्परागत परिवार की विशेषताएँ

2.9 परिवार का बदलता स्वरूप

2.10 अन्त पारिवारिक सम्बन्धात्मक प्रतिमान में परिवर्तन

2.11 उदीयमान प्रवृतियाँ

2.12 अन्य उदीयमान प्रवृतियाँ

2.13 भारतीय परिवार एवं इकीसंवी सदी की चुनौतियाँ

2.14 परिवर्तन के कारक

2.15 सारांश

2.16 अभ्यासार्थ प्रश्न

2.17 संदर्भ ग्रंथ


## 2.0 उद्देश्य

इकाई के अध्ययन के पश्चात् आप -

- समाजशास्त्रीय दृष्टि से परिवार के अध्ययन के परिपेक्ष्य जान सकेंगे।
- परिवार की अवधारणा एवं अर्थ का समाजशास्त्रीय विश्लेषण जान सकेंगे।
- भारत में परिवार की प्रकृति एवं विशेषताओं से अवगत होंगे।
- भारत में परिवार के बदलते स्वरूपों का विश्लेषण करना।
- परिवार में नवीन उदीयमान प्रवृतियों का समाजशास्त्रीय आधार पर विश्लेषण ज्ञात कर पायेंगे।

## 2.1 प्रस्तावना

मानव समाज के इतिहास से प्रतीत होता है कि परिवार एक सार्वभौमिक संस्था है। प्राचीनकाल से यह किसी न किसी रूप में विद्यमान है सांस्कृतिक विकास के प्रत्येक स्तर पर परिवार रहा है और संसार का कोई ऐसा समाज नहीं है जहाँ पर इसका अस्तित्व न हो।

सभी समाजों में परिवार पाया जाता है। यही कारण है कि मानव के जीवन में परिवार का स्थान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण होता है। एक व्यक्ति परिवार में ही जन्म लेता है, परिवार में अनेक प्रकार की शिक्षाओं को ग्रहण करता है, परिवार में ही वह अपना संपूर्ण जीवन व्यतीत करता है। यह मानव जीवन के लिए अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। इसी कारण सी० एच० कूल ने परिवार को ऐसा प्राथमिक समूह माना है जो बच्चों के सामाजिक जीवन में आदर्श होता है। जब बच्चा जन्म लेता है तो वह एक जैविकीय प्राणी होता है। उसका अपना कोई अस्तित्व नहीं होता। परिवार उसे पालन-पोषण करके इस योग्य बनाता है कि वह अपने पैरों पर खड़ा हो सके और जीवन पथ पर अग्रसर हो सके। अगर यह कहा जाए कि परिवार मानव का निर्माता है तो इसमें कोई अतिशयोक्ति न होगी।

अरस्तू का कहना है कि परिवारों के संगठन से समुदाय का निर्माण होता है। इस प्रकार परिवार को समुदाय की मूल इकाई कहा जा सकता है। इसी प्रकार मैकाईवर ने भी परिवार को अन्य सामाजिक संगठनों का केन्द्र कहा है। वास्तविकता यही है कि परिवार मानव जीवन में प्राचीन काल से आज तक महत्वपूर्ण भूमिका अदा करता आ रहा है। परिवार मानव जीवन का केन्द्र बिन्दु है। अर्थात् परिवार के इर्द-गिर्द मानव का जीवन घूमता रहता है। संभवत: इसीलिए बीसन्ज एवं बीसन्ज ने लिखा है, "परिवार मौलिक और सार्वभौम संस्था है, उस पर प्रत्येक समाज का अस्तित्व निर्भर है।

## 2.2 परिवार के अध्ययन के परिप्रेक्ष्य

परिवार के मूल्यांकन में तीन उपागमों को मुख्य रुप से प्रयोग किया गया है -

1. प्रकार्यवादी
2. संरचनावादी
3. अन्तक्रियावाद।

**(1) प्रकार्यवादी -** प्रकार्यवादी विद्वान परिवार का निम्न बिन्दुओं के आधार पर आकलन करते हैं: (अ) उन कार्यो के आधार पर जो परिवार सम्पादित करता है तथा पूर्ण सामाजिक व्यवस्था को बनाए रखने में इसका योगदान, (ब) समाज व्यवस्था के अन्य अवयावो तथा परिवार के बीच प्रकार्यात्मक सम्बन्ध. और (स) व्यक्तिगत सदस्यों के प्रति परिवार के कार्य।

**(2) संरचनावादी परिप्रेक्ष्य:** में परिवार को प्रस्थितियो तथा भूमिकाओं की संरचना के संदर्भ में तथा इसका अपने सदस्यों के प्रति सुगठित अधिकारों व दायित्वों के अन्त: सम्बन्धों की संरचना के रूप में देखा जाता है।

**(3) अन्र्तक्रियावादी परिप्रेक्ष्य:** के अन्तर्गत परिवार के सदस्यों के बीच के अन्तक्रियात्मक प्रतिमान देखा जाता है अन्र्तक्रियावादी परिवार में विविध स्थितियों को परिभाषित करते हैं और यह जानने की कोशिश करते हैं कि परिवार का सदस्य किस प्रकार अन्य सदस्यों की भाषा, तौर तरीकों व संकेतों को समझता है जो उसके व्यवहार को तथा दूसरों के साथ उसकी अन्तःक्रिया को प्रभावित करते हैं। अन्र्तक्रियावादी परिवार में व्यक्तिगत तथा वैवाहिक सामन्जस्य की प्रक्रिया की भी व्याख्या करते हैं, अर्थात् परिवार में उत्पन्न तनाव की स्थितियों से मुक्त होने के तरीकों पर भी विचार करते हैं।

भारतीय परिवार के विश्लेषण का आधार संरचनात्मक एवं अन्तर्क्रियावादी दोनों ही हैं। यह मूल्यांकन मुख्य रुप से जिन समाजशास्त्रियों के अध्ययनों पर आधारित हैं वे हैं: आई.पी.देसाई, के.एम.कापड़िया, एलिन डी.रॉस, एम.एस.गोरे, ए.एम.शाह, सच्चिदानन्द, आदि। इरावती कर्वे के ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य का सन्दर्भ भी हिन्दु परिवार के परम्परागत ढाँचे तथा संगठन को समझने में सहायक हो सकता है। परन्तु हिन्दू या भारतीय परिवार के विश्लेषण से पूर्व हम परिवार की सामान्य धारणा अर्थ व इसके प्रकारों का विवेचन करेंगे।

## 2.3 परिवार की अवधारणा

प्रजनन या जैविक इकाई के रूप में एक परिवार वह समूह है जिसमें स्त्री व पुरुष को यौन सम्बन्धों की स्थापना व सन्तान पैदा करने के लिए समाज की स्वीकृति प्राप्त होती है। सामाजिक इकाई के रुप में परिवार स्त्री-पुरुष का एक समूह है जो विवाह सम्बन्धों से या रक्त सम्बन्धों से या गोद लेने से बंधा होता है तथा जो आयु, लिंग व अन्य सम्बन्धों पर आधारित भूमिकाओं को अदा करता है और सामाजिक दृष्टि से एक घर या उप-घर के रुप में पहचाना जाता है।

मुर्डाक ने परिवार की परिभाषा करते हुए कहा है कि परिवार एक ऐसा सामाजिक समूह है जिसका एक सामान्य निवास होता है, आर्थिक सहयोग होता है तथा जिसमें प्रजनन क्रिया पायी जाती है।

ए.डी.रॉस की परिभाषा में पारिवारिक जीवन के शारीरिक, सामाजिक व मनोवैज्ञानिक तत्व सम्मिलित हैं।

रॉस के अनुसार परिवार बन्धन के आधार पर एक दूसरे से जुड़े लोगों का समूह है जो एक घर में रहते हैं और जिनमें अधिकारों, कर्त्तव्यों, भावनाओं एवं आधिपत्य का एक निश्चित आदर्श प्रदान करने से ही एकता का भाव बना रहता है। उन्होंने पारिवारिक संरचना के चार उप स्वरूपों को बताया है -

(i) पारिस्थितिकी उप-संरचना,(ii) अधिकार और कर्त्तव्यों की उप-संरचना (iii) शक्ति व सत्ता: की उप संरचना, (iv) भावनाओं की उप संरचना, अर्थात् पति पत्नी के बीच तथा भाई-भाई व भाई-बहन आदि के बीच सम्बन्ध।

## 2.4 परिवार का अर्थ

समाजशास्त्र में परिवार की अवधारणा का विशिष्ट, सुनिश्चित और सीमित अर्थ लगाया जाता है। परिवार की विभिन्न विद्वानों की परिभाषाएँ निम्नलिखित हैं-

(1) मैकाइवर और पेज "परिवार पर्याप्त निश्चित यौन-सम्बन्ध द्वारा परिभाषित एक ऐसा समूह है जो बच्चों के जनन एवं लालन-पालन की व्यवस्था करता है।" आपने परिभाषा में तीन लक्षण बताए हैं (i) परिवार यौन-सम्बन्ध पर आधारित समूह है, (ii) बच्चों का जन्म, तथा (iii) बच्चों का पालन-पोषण। परिवार इन लक्ष्यों के अतिरिक्त और बहुत कुछ है, जैसे -आवास, उत्तरदायित्व, स्नेह, कर्त्तव्य आदि।

(2) ऑगबर्न तथा निमकॉफ के अनुसार - बच्चों-सहित तथा बच्चों-रहित एक पति-पत्नी के या किसी एक पुरुष या एक स्त्री के अकेले ही बच्चे सहित एक थोड़े- बहुत स्थायी संग को परिवार कहते हैं।" इन्होंने एक और सरल तथा विस्तृत परिभाषा दी है। यह निम्न है, "परिवार लग-नग एक स्थायी समिति है जो पति-पत्नी से निर्मित होती है। चाहे उनके सन्तान हों या नहीं हों। परिवार किसी एक पुरुष या एक स्त्री के अकेले का भी हो सकता है बशर्ते कि उसके अपने बच्चे साथ हों।"

(3) श्यामाचरण दुबे की परिभाषा, "परिवार में स्त्री और पुरुष दोनों को सदस्यता प्राप्त होती है, उनमें से कम-से-कम दो विपरीत यौन व्यक्तियों के यौन-सम्बन्धों की सामाजिक स्वीकृति रहती है और उनके संसर्ग से उत्पन्न सन्तान मिलकर परिवार का निर्माण करते हैं।"

(4) लूसी मेयर की परिभाषा, "परिवार एक गृहस्थ समूह है जिससे माता-पिता और सन्तान साथ-साथ रहते हैं। इसके मूल रूप में दम्पत्ति और उसकी सन्तान रहती है।"

उपर्युक्त परिभाषाओं के आधार पर परिवार की व्याख्या निम्न प्रकार से की जा सकती है।

(i) परिवार एक समूह है। सभी ने परिवार को एक समूह बताया है लेकिन परिवार एक ऐसा समूह है जिसके सदस्य बन्धुत्व सम्बन्धों से सम्बन्धित होते हैं।

(ii) सम्बन्ध मान्यता प्राप्त होते हैं - परिवार के सदस्य समाज द्वारा मान्यता-प्राप्त विवाह, रक्त और गोद सम्बन्धों से सम्बन्धित होते हैं। विवाह, रक्त और गोद सम्बन्ध होना सब कुछ नहीं है। उनका समाज के प्रतिमानों, जैसे-जनरीति प्रथा, संस्था, कानून, धर्म आदि के द्वारा मान्य होना आवश्यक है।

(iii) परिवार की संरचना - परिवार की संरचना बन्धुत्व सम्बन्धों द्वारा बनती है। एकाकी परिवार की संरचना में पति-पत्नी और उनकी अविवाहित सन्तानें होती है। संयुक्त-परिवार में इनके अतिरिक्त और सम्बन्धी भी होते हैं जिनके अनुसार संयुक्त-परिवार के विभिन्न प्रकार की संरचना बनती है। एकाकी- परिवार में आठ नातेदारी सम्बन्ध होते हैं।

(iv) प्रकार्यात्मक पक्ष- प्रकार्यात्मक दृष्टि से परिवार के कार्य-यौन सम्बन्ध की व्यवस्था, सन्तानोत्पत्ति, शिशुओं का पालन-पोषण, समाजीकरण, शिक्षा देना, तथा आर्थिक, सांस्कृतिक, मानसिक संरक्षण देना, सामाजिक नियन्त्रण आदि हैं।

उपर्युक्त विवेचना के आधार पर यह कहा जा सकता है कि परिवार व्यक्तियों का समूह है जो विशिष्ट बन्दुत्व सम्बन्धों (विवाह, रक्त और गोद) से सम्बन्धित होते हैं जो समाज द्वारा मान्यता-प्राप्त होते हैं, वे साथ-साथ अथवा अलग-अलग भी रह सकते हैं, सदस्यों में परस्पर यौन-सम्बन्धों की व्यवस्था, प्रजनन, सामाजीकरण, सामाजिक नियन्त्रण, कर्त्तव्य और अधिकार, भावना एवं सत्ता के प्रतिमान आदि से सम्बन्धित सम्बद्धता होती है।

## 2.5 वैश्विक स्तर पर परिवार के प्रकार

परिवार के वर्गीकरण के अनेक आधार हैं जैसे पति-पत्नि की संख्या परिवारों में सदस्यों तथा पीढ़ियों की संख्या, वैवाहिक दम्पतियों की संख्या, स्थान या आवास, अधिकार या सत्ता, वंश परम्परा, विवाह के प्रकार, परिवार में कर्त्ता की स्थिति और भूमिका आदि। प्रमुख वर्गीकरण निम्न हैं -

**(1) सदस्यों की संख्या के आधार पर -**

भारत सरकार की 1951 की जनगणना के आधार पर चार प्रकार के परिवार बताये गये हैं -

| सदस्यों की संख्या | परिवार का प्रकार |
|---|---|
| 1 - 3 | छोटा परिवार |
| 4 - 6 | मध्यम परिवार |
| 7 - 9 | बड़ा परिवार |
| 10 - या उससे अधिक | बहुत बड़ा परिवार |

**(2) दम्पतियों की संख्या के आधार पर -**

चट्टोपाध्याय ने तीन प्रकार के परिवार बताए है : (i) साधारण (ii) मिश्रित तथा (iii) संश्लिष्ट। 'साधारण' परिवार में पति पत्नि तथा उनके अविवाहित बच्चे सम्मिलित होते हैं। कभी-कभी ऐसा होता है कि बच्चे के जन्म के बाद एक जीवन-साथी की मृत्यु हो जाती है तब दूसरा पुनर्विवाह कर लेता है। ऐसी स्थिति में बच्चों के दो प्रकार के समुच्चयों की इकाई को 'साधारण' परिवार नहीं कहा जा सकता।

दोनों ही इकाइयों में दो 'साधारण' परिवार हैं। चट्टोपाध्याय ने दोनों ही परिवारों को 'मिश्रित' परिवार की श्रेणी में रखा है। यह 'साधारण' परिवार से इस अर्थ में भिन्न है कि इसमें बच्चों के दो समुच्चय (सेट) हैं - एक मृत साथी से और दूसरा उस जीवित साथी से जिससे पुनर्विवाह हुआ है किन्तु बच्चों के दो समुच्चयों में एक माँ या बाप समान है। कभी-कभी एक साथी अपने साथी के जीवित रहते भी पुनर्विवाह कर लेता है, अर्थात् या तो एक पुरुष के दो पत्नियाँ हैं या एक स्त्री के दो पति। ऐसे प्रत्येक मामले में भी दो साधारण परिवार सम्मिलित हैं। चट्टोपाध्याय ने ऐसे परिवारों को मिश्रित बहु पत्नी परिवार कहते हैं जिसमें एक पुरुष की दो पत्नियाँ और दो प्रकार की सन्तान हो: जबकि वे एक ऐसे परिवार को जिसमें एक स्त्री अपने दो

पत्तियों के साथ दो प्रकार के बच्चों के साथ (दोनों पतियों से) रहती हो 'मिश्रित' बहुपति परिवार कहते हैं।

बहु विवाह से जुड़ने वाले एकाकी परिवार 'बहु विवाही' परिवार कहलाते है तथा माता-पिता व बच्चे के सम्बन्धों से जुड़े हुए परिवार या 'विस्तारित' परिवार कहलाते है यह विस्तार क्षैतिज या उदग्र दोनों ही हो सकता है। संयुक्त परिवार में समरेखीय रुप से जुड़े एकाकी परिवार एक साथ रहते हैं और सामान्य आधिपत्य में कार्य करते हैं। इस प्रकार 'संयुक्त परिवार' एक ही घर में रहने वाले दो या दो से अधिक समरेखीय रूप से जुड़े पुरुषों उनकी पत्नियों और सन्तानों से मिलकर बना होता है जो एक ही व्यक्ति के अधिपत्य में होते हैं।

**(3) सत्ता आधिपत्य का आधार -**

पति सत्तामूलक पत्नी सत्तामूलक तथा समतावादी। ऐसा समतावादी परिवार जिसमें पति पत्नी मिलकर अधिकांश निर्णय लेते हों, उसे 'समन्वयवादी परिवार' कहते हैं, और ऐसा परिवार जिसमें दोनों जीवन साथियों को अलग-अलग बराबर के निर्णय सौंप दिये जाते हैं, उसे स्वायत्तावादी परिवार कहते हैं।

**(4) नातेदारी के बन्धनों का आधार -**

परिवारों को 'वैवाहिक' तथा 'रक्तमूलक' में वर्गीकृत किया गया है। प्रथम प्रकार के परिवार में वैवाहिक बन्धनों को महत्व दिया जाता है और दूसरे में रक्त सम्बन्धों को। अमेरिका की परिवार प्रणाली में स्वतंत्रा एकाकी परिवार 'वैवाहिक' परिवार का उदाहरण है। इसके विपरीत, भारतीय परिवार प्रणाली में वैवाहिक संबंधों के स्थान पर सन्तान भ्रातृक और भाई-बहन के सम्बन्धों पर बल दिया जाता है।

**(5) व्यक्तियों के व्यवहार का आधार -**

बर्जेस और लॉक परिवारों का वर्गीकरण संस्थागत तथा सहचारिता के रुप में किया है। 'संस्थात्मक' परिवार में सदस्यों के व्यवहार पर रुढ़ियों/लोकाचार व जनमत द्वारा नियंत्रण किया जाता हैं जबकि सहचारिता परिवार में सदस्यों का व्यवहार आपसी स्नेह और मतैक्य से बनता है। बर्जेस का मत है कि अमेरिकन परिवार संस्थात्मक परिवार से सहचारिता परिवार के रुप में परिवर्तित हो रहा है।

नातेदारी के बन्धनों का आधार - परिवारों को 'वैवाहिक' तथा 'रक्तमूलक' में वर्गीकृत किया गया है। प्रथम प्रकार के परिवार में वैवाहिक बन्धनों को महत्व दिया जाता है और दूसरे में रक्त सम्बन्धों को। अमेरिका की परिवार प्रणाली में स्वतंत्र एकाकी परिवार 'वैवाहिक' परिवार का उदाहरण है। इसके विपरीत, भारतीय परिवार प्रणाली में वैवाहिक संबंधों के स्थान पर सन्तान भ्रातृक और भाई-बहन के सम्बन्धों पर बल दिया जाता है।

**(6) जिमरमैन के अनुसार - तीन प्रकार के परिवार दिये हैं -**

**(i) न्यासधारी :** इस परिवार में व्यक्ति के अधिकारों का कोई स्थान नहीं होता क्योंकि परिवार का प्रत्येक सदस्य ट्रस्टी की इच्छाओं को मानने के लिए बाध्य होता है। परिवार के मुखिया का अधिकार निरंकुश नहीं होता, बल्कि उसे ट्रस्टी के रुप में परिवार के उत्तरदायित्वों के निर्वाह के लिए भूमिका अदा करने हेतु प्राप्त होता है।

**(ii) गृहस्थ :** यह परिवार न्यासधारी व आणविक परिवारों के बीच का परिवार है जिसमें इन दोनों परिवारों की विशेषताएँ समाहित होती हैं। यह परिवार औपचारिकता और व्यक्तिवाद के बीच सन्तुलन बनाए रखता है।

**(iii) 'आणविक' :** इस परिवार में रूढ़िगत लोकाचारों का महत्व समाप्त हो जाता है और प्रत्येक सदस्य की स्वेच्छा महत्वपूर्ण होती है। इस में परिवार का अपने सदस्यों पर कम से कम नियन्त्रण होता है।

## 2.6 भारत में परम्परागत संयुक्त परिवार

भारत में परम्परागत संयुक्त परिवार की अवधारणा की व्याख्या प्रत्येक समाजशास्त्री ने अलग अलग प्रकार से की है, किसी ने सामान्य निवास किसी ने सामान्य रसोई तो अन्य किसी ने सामान्य सम्पत्ति को विवेचना का प्रमुख आधार माना है जो निम्न है -

(i) सहनिवास - इरावती कर्वे

(ii) सह निवास एवं सहभोजन - बी0एस0 कोहेन, एस0 सी0 दूबे, हैराल्ड गूल्ड, पॉलिन कोलेण्डा एवं आर.के. मुकर्जी।

(iii) संयुक्त सम्पत्ति स्वामीत्व - एफ.जी.बेली, एवं टी.एन.मदान

(iv) नातेदारी सम्बन्ध तथा परिवारिक दायित्वों को निभाना - आई.पी.देसाई

इरावती कर्वे ने परम्परागत संयुक्त परिवार की पांच विशेषताएँ बताई हैं - सह निवास, सह-रसोई, सह-सम्पत्ति, सह पूजा तथा नोतेदारी सम्बन्ध। इस आधार पर कर्वे ने संयुक्त परिवार को परिभाषित किया है। एक ऐसे व्यक्तियों का समूह जो आमतौर पर एक ही छत के नीचे रहते हैं, एक ही चूल्हे का भोजन करते हैं, साझी सम्पत्ति रखते हैं, परिवार की सहपूजा में भाग लेते हैं, तथा एक दूसरे से एक विशेष प्रकार के नातेदारी सम्बन्धों से जुड़े होते हैं"

आई. पी. देसाई ने सह निवास एवं सह रसोई को संयुक्त परिवार की परिसीमा के लिये आवश्यक नहीं माना है उनका मानना है कि जब एक एकाकी परिवार किसी कारणवश संयुक्त परिवार से अलग हुआ है परन्तु यदि वह एक ही व्यक्ति के अधिकार क्षेत्र में काम कर रहा है तो वह संयुक्त परिवार होगा ऐसे परिवार को आई0पी0 देसाई ने प्रकार्यात्मक संयुक्त परिवार का नाम दिया है आवास के आधार पर यदि कम से कम तीन पीढ़ियां साथ न रह रही हो तब तक उन्हें, परम्परात्मक संयुक्त परिवार नहीं कहा जा सकता है देसाई ने संयुक्त परिवार के तीन आधार माने हैं - पीढ़ी की गहराई, अधिकार एवं दायित्व तथा सम्पत्ति।

रामकृष्ण मुखर्जी में पांच प्रकार के सम्बन्ध बताये हैं - (i) वैवाहिक (ii) माता पिता - पुत्र पुत्री, (iii) भाई-भाई व भाई-बहिन (iv) समरेखीय (v) विवाह मूलक। संयुक्त परिवार उसे कहा जा सकता है जिसमें प्रथम तीन सम्बन्धों में से एक या अधिक या समरेखीय या विवाहमूलक या दोनों सम्बन्ध पाये जाते हैं।

## 2.7 परम्परागत परिवार की प्रकृति

**आई.पी.देसाई -** अन्य परिवारों के साथ सम्बन्धों तथा संयुक्ता की सीमा के आधार पर देसाई ने परिवारों को पांच प्रकार से वर्गीकृत किया है : (i) एकाकी परिवार, जो कि कार्य तथा

निवास की दृष्टि से अलग होता है (ii) प्रकार्यात्मक संयुक्त परिवार, जो आवासीय अर्थ में एकाकी होता है, किन्तु अन्य परिवारों के साथ पारस्परिक दायित्वों की पूर्ति के अर्थ में संयुक्त होता है, (iii) प्रकार्यात्मक और सत्तासूचक संयुक्त परिवार, जो कि आवासीय दृष्टि से एकाकी होता है परन्तु सम्पत्ति, कार्य की दृष्टि व पारस्परिक उत्तदायित्वों की पूर्ति की दृष्टि से संयुक्त होता है, (iv) सीमान्त संयुक्त परिवार, जो आवास, सम्पत्ति व कार्य में संयुक्त होता है किन्तु उसमें दो ही पीढ़ियों तक की सीमा होती है; (v) परम्परागत संयुक्त जो कि सीमान्त संयुक्त परिवार की तरह आवास, सम्पत्ति व कार्य में संयुक्त होता है, लेकिन तीन या अधिक पीढ़ियों के सदस्यों का होता है। निम्न चित्र परम्परागत संयुक्त परिवार तथा सीमान्त संयुक्त परिवार के पांच उप-प्रकार दर्शाता है।

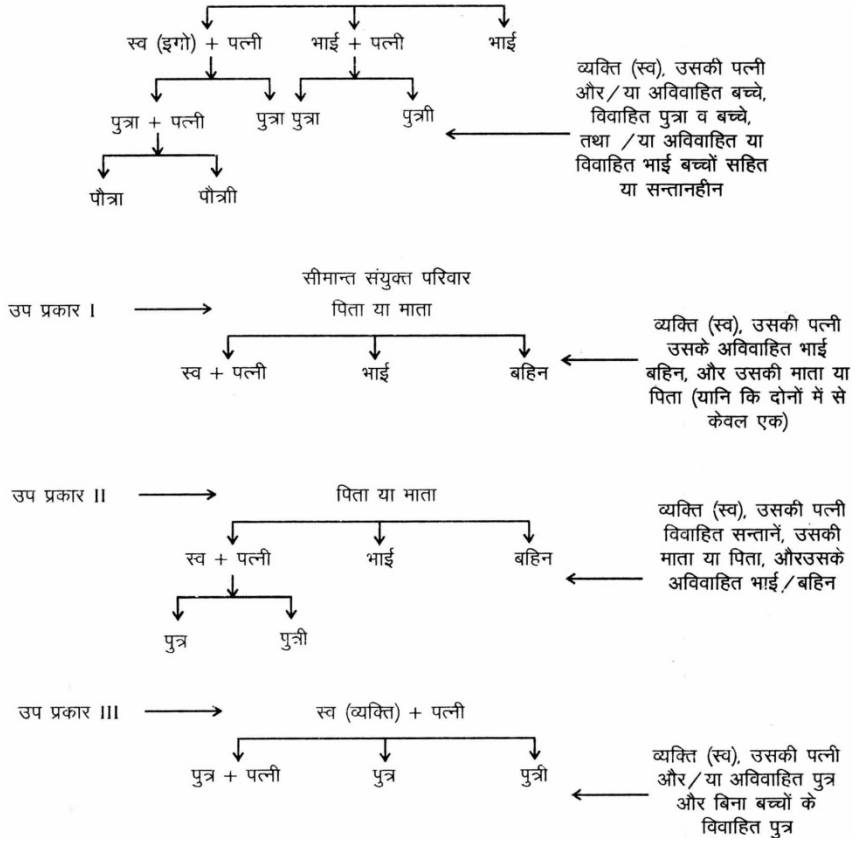


**के. एम**. कपाड़िया ने पांच प्रकार के परिवार बताए हैं. (1) एकाकी परिवार अविवाहित पुत्रों के साथ (2) एकाकी परिवार पुत्रों के साथ (3) समरेखीय संयुक्त परिवार (4) भिन्न शाखाई संयुक्त परिवार और (5) विधवा बहिन के साथ और/या उसके बच्चों के साथ (यानि कि आश्रितों के साथ) परिवार।

**ए.डी. रॉस** ने चार प्रकार के परिवार बताए है: (1) बड़ा संयुक्त परिवार जिसमें तीन या चार पीढ़ियाँ एक साथ, एक ही घर में रहती हों, एक ही रसोई में भोजन बनाती हों, साझी सम्पत्ति की मालिक हों, और सभी के खर्चे के लिए आमदनी इकट्ठी हो, (2) लघु संयुक्त परिवार जिसमें माता-पिता, विवाहित पुत्र व अविवाहित बच्चे या दो भाई अपनी पत्नी व बच्चों

के साथ रहते हों; (3) एकाकी परिवार जिसमें माता या पिता दोनों अविवाहित बच्चों के साथ रहते हों; और (4) एकाकी परिवार के आश्रितों के साथ, यानि कि माता-पिता, उनकी अविवाहित सन्तान और एक या अधिक आश्रित सदस्य। रॉस ने लघु संयुक्त परिवार के तीन उप प्रकार बताए है:

(i) एक व्यक्ति, उसकी पत्नी, अविवाहित बच्चे व विवाहित पुत्र बिना बच्चों के,

(ii) एक व्यक्ति, उसकी पत्नी, उसके माता-पिता, उसके अविवाहित बच्चे, और उसके विवाहित पुत्र बिना बच्चों के

(iii) दो विवाहित भाई, उनकी पत्नियाँ व बच्चे

आई. पी. देसाई के वर्गीकरण में तीसरे प्रकार के सीमान्त संयुक्त परिवार को (यानि कि व्यक्ति (स्व), पत्नी, अविवाहित सन्तान, और बिना सन्तान के विवाहित पुत्र) को कापड़िया ने एकाकी परिवार कहा है। उनकी मान्यता है कि वह परिवार एकाकी होता है जिसमें व्यक्ति, उसकी पत्नी, और उनके विवाहित या अविवाहित बच्चे हों, अर्थात् यह परिवार माता-पिता और उनके विवाहित या अविवाहित बच्चों का समूह है बशर्ते कि विवाहित बच्चों के अपने बच्चे न हों। यदि विवाहित बच्चों के भी बच्चे हों तो वह परिवार संयुक्ता परिवार में बदल जायेगा।

**के. एम. कापड़िया** द्वारा दर्शाए गए उपरोक्त वर्गीकरण में दूसरे प्रकार का एकाकी परिवार (जिसे देसाई ने सीमान्त संयुक्त परिवार कहा है) ऐलिन रास के द्वारा ल संयुक्त परिवार कहा गया है ।

**एम. एस. गोरे :** इन्होंने दो प्रकार के मूल परिवार तथा एकाकी और संयुक्त और प्रत्येक के तीन उप-प्रकारों की ओर संकेत किया है। एकाकी परिवार के तीन उप भेद हैं (i) पति, पत्नि व अविवाहित बच्चे (ii) पति, पत्नि, बच्चे और अविवाहित (बिना कमाने वाले) भाई (iii) पति, पत्नि, बच्चे, तथा विधवा माता या अन्य आश्रित जो सह सम्पत्ति भागी नहीं हैं संयुक्त प्रकार के तीन उप भेद इस प्रकार हैं: (i) पति, पत्नि, विवाहित व अविवाहित बच्चे (समरेखीय संयुक्त परिवार) (ii) पति, पत्नि, विवाहित अविवाहित बच्चे व अविवाहित भाई (भ्रातृक संयुक्त परिवार) (iii) पति, पत्नि, विवाहित पुत्र, विवाहित भाई और उनके परिवार (समरेखीय और भ्रातृक संयुक्त परिवार)। वास्तव में भारतीय परिवार का संरचनात्मक आदर्श पश्चिमी परिवार के आदर्श से बिल्कुल भिन्न है। भारत में चूंकि आदि परिवार की संरचना वही थी जिसे आज "संयुक्त परिवार" कहा जाता है, अत: हमें इस परिवार को मूल परिवार की इकाई के रुप में समझना चाहिए और इसे "परम्परागत" परिवार की संज्ञा देनी चाहिए।

भारतीय समाज में सामान्य प्रथा यह है कि नव दम्पत्ति एक स्वतंत्रा आत्मनिर्भर घर में वैवाहिक जीवन प्रारम्भ नहीं करते, बल्कि पति के माता-पिता के साथ प्रारम्भ करते हैं। इसके विपरीत पश्चिमी समाज में भले ही पुरुष व उसकी पत्नी दोनों में से किसी के भी माता-पिता के साथ एक ही छत के नीचे वैवाहिक जीवन प्रारम्भ करें (जो कि मकानों की कमी के कारण कभी-कभी होता है), लेकिन इसको वे लोग आपातकालीन व्यवस्था मानकर ही स्वीकार करते हैं

और इस व्यवस्था को वे अस्थाई ही मानते हैं। जैसे ही सम्भव होता है वे अपना स्वतंत्र "घर" स्थापित कर लेते हैं।

संरचना के उपरोक्त आदर्श के आधार के कारण परिवार के वर्गीकरण का हमारा आधार न तो घर के सदस्यों की संख्या ही होना चाहिए (जैसा बोमैन ने किया था) और न ही व्यक्तिगत सदस्यों की क्रियाओं का अभिमुखीकरण (जैसी आई.पी.देसाई ने किया था) बल्कि निवास, निर्भरता और नातेदारी सम्बन्धों की विस्तृति को एक साथ मानकर ही परिवारों का वर्गीकरण करना चाहिए।

डा0 राम आहुजा - इन्होंने परिवारों को उपर्युक्त बहुकारकों के आधार पर दो समूहों में वर्गीकृत किया है -

(i) "परम्परात्मक" और "विखण्डित"। प्रथम समूह को तीन उप विभागों में वर्गीकृत किया जा सकता है:

विस्तृत परिक्षेत्र का नातेदारी परिवार

(ii) मध्यम परिक्षेत्र का नातेदारी परिवार

(iii) लघु परिक्षेत्र का नातेदारी परिवार। द्वितीय समूह को आश्रित परिवार और अनाश्रित परिवार में विभाजित किया जा सकता है।

विखण्डित अनाश्रित परिवार वह है, जिसमें पति, पत्नी और उनके अविवाहित बच्चे होते हैं, जिसमें परिवार का मुखिया न तो किसी रिश्तेदार के अधिकार पर आश्रित है और न ही उन पर आर्थिक रुप से आश्रित होता हैं; और विखण्डित आश्रित परिवार वह होता है जहाँ सदस्य (पति, पत्नी, और अविवाहित पुत्र व पुत्रियां) अलग घर में रहते हैं, लेकिन या तो कार्यो की दृष्टि से या सम्पत्ति की दृष्टि से अपने नातेदारों (पिता, भाई, दादा, आदि) पर निर्भर रहते हैं। यह इकाई एक जीवित कुलपिता की सत्ता के आधीन भी होती है।

परम्परागत परिवारों में विस्तृत परिक्षेत्र के नातेदारी परिवार में चार प्रकार के स्वजन/नातेदार होते हैं: प्राथमिक, द्वितीयक, तृतीयक तथा दूरस्थ।

प्राथिमक - पति / पत्नि / पिता / माता / भाई / बहिन / पुत्र / पुत्री

द्वितीयक - पिता का पिता / पिता के भाई / भाई के लड़के / पुत्र के लड़के /भाई की पत्नी / पुत्र की पुत्री / पिता की बहिन

तृतीयक-पिता के पिता के पिता/पिता के पिता के भाई/पिता के भाई के पुत्र भाई के पुत्र, के पुत्र/पुत्र के पुत्र के पुत्र

दूरस्थ- पिता के पिता के भाई का पुत्र/पिता के पिता के भाई के पुत्र का पुत्र

मध्यम परिक्षेत्र के नातेदारी परिवार में तीन प्रकार के स्वजन/नातेदार होते हैं: प्राथमिक, द्वितीयक तथा तृतीयक।

लघु परिक्षेत्र के नातेदारी परिवार में केवल दो प्रकार के नातेदार होते हैं प्राथमिक और द्वैतीयक। इसे यों भी कहा जा सकता है कि इसमें एक ही पीढ़ि के दो सम्बधित परिवार होते हैं जैसे - दो भाईयों का परिवार।

इस प्रकार परिवारों के इस वर्गीकरण में पीढियों का विस्तार महत्त्वपूर्ण नहीं है। एक या दो पीढ़ियों के परिवार भी संयुक्त परिवार हो सकते हैं।

## 2.8 परम्परागत परिवार की विशेषताएँ

**(1) सत्तात्मक संरचना**

सत्तात्मकता का यहाँ अर्थ है कि निर्णय तथा निश्चय करने की शक्ति एक व्यक्ति में होती है जिसकी आज्ञा का पालन बिना चुनौती के होना चाहिए। प्रजातंत्रीय परिवार में सत्ता जबकि एक या एक से अधिक लोगों में निहित होती है जिसका आधार दक्षता और योग्यता होता है, सत्तात्मक परिवार में परम्परा से सत्ता आयु एवं वरिष्ठता के आधार पर सबसे बड़े पुरुष के पास ही होती है।

**(2) पारिवारिक संगठन**

इसका अर्थ है कि व्यक्ति के हितों का पूरे परिवार के हितों के सामने कम महत्व होता है, अर्थात परिवार का लक्ष्य ही व्यक्ति का लक्ष्य होना चाहिए। परिवारवाद को व्यक्तिवाद से अधिक महत्व दिया जाता है।

**(3) आयु और संबंधों के आधार पर सदस्यों की प्रस्थिति का निर्धारण-**

परिवार के सदस्यों की प्रस्थिति का निर्धारण उनकी आयु और संबंधों द्वारा निश्चित होता है। पति का पद पत्नी से ऊंचा होता है। दो पीढ़ियों में ऊंची पीढ़ी वाले व्यक्ति की प्रस्थिति निम्न पीढ़ी के व्यक्ति की प्रस्थिति से अधिक ऊंची होती है।

**(4) सन्तान तथा भ्रातृक संबंधों की दाम्पत्य संबंधों पर वरीयता -**

रक्त सम्बन्धों को वैवाहिक सम्बन्धों की अपेक्षा वरीयता दी जाती है। दूसरे शब्दों में पति-पत्नी के सम्बन्धों को पिता-पुत्र या भाई-भाई सम्बन्धों की अपेक्षा कम महत्त्व दिया जाता है।

**(5) संयुक्त दायित्वों के आदर्श पर परिवार का कार्य संचालन -**

संयुक्ता परिवार सामूहिक उत्तरदायित्वों के आदर्शो के आधार पर कार्य करता है। यदि पिता अपनी पुत्री के विवाह के लिए ऋण लेता है तो पुत्रों का भी यह दायित्व हो जाता है कि वह उसकी वापसी का प्रयत्न करें।

**(6) सभी सदस्यों के प्रति समान बर्ताव-**

परिवार के सभी सदस्यों पर समान ध्यान दिया जाता है। कम या अधिक आय के आधार पर पक्षपात नहीं किया जाता है

**(7) वरिष्ठता के सिद्धान्त के आधार पर सत्ता-**

निर्धारण परिवार में (स्त्री-पुरुषों, पुरुषों-पुरुषों, स्त्रियों-स्त्रियों के) बीच के सम्बन्धों का निर्धारण वरीयता क्रम के अनुसार निर्धारित होता हैं यद्यपि सबसे बड़ी आयु का पुरुष (या स्त्री) किसी दूसरे को सत्ता सौंप सकते हैं, लेकिन यह भी वरीयता के सिद्धान्त पर ही होगा जिससे व्यक्तिवाद की भावना विकसित न हो सके।

## 2.9 परिवार का बदलता स्वरूप

अब हम यह देखेंगे कि हमारे समाज में संयुक्त परिवार में किस प्रकार परिवर्तन हो रहा है हम परिवार की संरचना एवं सम्बन्धात्मक प्रतिमान का विशेलेषण करेंगे।

**संरचना में परिवर्तन**

भारत में परिवार की संरचना में परिवर्तनों के विश्लेषण में किए गए अध्ययनों में से हम यहां कतिपय प्रसिद्ध विद्वानों जैसे आई.पी.देसाई, के.एम.कापड़िया, एलिन रास, एम.एस.गोरे, ए.एम. शाह और सच्चिदानन्द आदि के अध्ययनों की ही विवेचना करेंगे।

**आई. पी. देसाई** ने गुजरात के महुवा नगर के 423 परिवारों का अध्ययन किया जिसके निष्कर्ष इस प्रकार थे - 4.02% परिवार एक पीढ़ी के एकाकी परिवार थे, 57.45% दो पीढी के एकाकी परिवार थे, 32.86% तीन पीढ़ी के संयुक्त परिवार थे और 5.67% चार या उससे अधिक पीढ़ी के। उन्होने पाया कि 61.47% परिवार एकाकी और 38.53% संयुक्ता थे। ये आकड़े यह प्रकट करते हैं कि संयुक्तता की अपेक्षा एकाकिता अधिक मौजूद है। लगभग आधे परिवार निवास, सम्पत्ति तथा कार्य प्रणाली के आधार पर संयुक्त थे, जब कि एक तिहाई केवल कार्य प्रणाली के आधार पर ही संयुक्त थे। इस प्रकार देसाई ने नगरीय परिवारों में परिवर्तन के विषय में तीन प्रकार के निष्कर्ष दिए

(1) आवासीय एकाकिता बढ़ रही है और आवासीय संयुक्तता घट रही है।

(2) व्यक्तिवाद की भावना नहीं पनप रही है क्योंकि जो परिवार आवासीय व संगठनात्मक रुप से एकाकी हैं, उनमें से 50% से कुछ कम परिवार उसी नगर में रहने वाले या नगर से बाहर रहने वाले परिवारों से सक्रिय रुप से संयुक्त है।

(3) वंशीय आधार पर तीन पीढ़ि और भिन्न शाखाई आधार पर दो पीढ़ि तक नातेदारी सम्बन्ध पाये जाते हैं

**के. एम. कापड़िया** ने भी 1955-56 में ग्रामीण व नगरीय परिवारों में परिवर्तनों का तुलनात्मक अध्ययन किया था। उन्होंने गुजरात में सूरत जिले के एक नगर "नवसारी" और इस नगर के आस-पास के 15 ग्रामों का अध्ययन किया था।

नगर एवं ग्रामीण दोनों क्षेत्रों के परिवारों की संरचना का विश्लेषण करते हुए कापड़िया ने पाया कि-

(i) 49.1% परिवार एकाकी थे और 50.9% संयुक्त थे।

(ii) ग्रामीण समुदाय में संयुक्त परिवारों का अनुपात (49.7%) एकाकी परिवारों के समान (50.3%) ही हैं।

(iii) नगरीय समुदाय में एकाकी परिवारों (43.5%) की अपेक्षा संयुक्त परिवार (56.5%) अधिक हैं। यह तथ्य उस पूर्व धारणा के विपरित है जिसमें कहा जाता है कि बड़े नगरों में एकाकी परिवार में अधिक लोग रहते हैं तथा परिवार की संरचना के विघटन में शहरों का अधिक प्रभाव होता हैं।

उपर्युक्त आकड़ों के प्रकाश में कापड़िया ने दो महत्वपूर्ण निष्कर्ष निकाले (1) संयुक्त परिवार का ढाँचा एकाकी परिवार की ओर नहीं झुक रहा है (2) ग्रामीण व नगरीय परिवारों के स्वरूप में अन्तर जाति प्रथा में आर्थिक कारकों द्वारा हो रहे परिवर्तन के परिणास्वरुप आया है।

एलिन रास ने बंगलौर नगरीय क्षेत्र में उच्च व मध्यम वर्गीय परिवारों में परिवर्तन के स्वरूप का अध्ययन किया था। इसमें सूचना दाता से उनके बचपन काल का तथा साक्षात्कार के समय पूछे गये प्रश्नों के उत्तरों का विश्लेषण से प्रतीत होता है कि बचपन में 12.1% वृहत संयुक्त एवं 28% लघु संयुक्त परिवार थे।

परिवारों की संरचना 5.1% वृहत संयुक्त परिवार के रुप में थी, 3.6% लघु संयुक्त परिवार के रुप में, 43.3% एकाकी परिवार के रुप में, और 21.0% आश्रितों सहित एकाकी परिवार के रुप में थी।

उपरोक्त आंकड़ो के आधार पर रास ने निष्कर्ष निकाला कि: (1) भारत में आज परिवारों की प्रवृत्ति परम्परागत संयुक्त परिवार से विखण्डन (break away) व एकाकी परिवार की ओर है; (2) लघु संयुक्त परिवार भारत में अब पारिवारिक जीवन का एक विशिष्ट मानक है;

(3) पिता और पितामह की अपेक्षा वर्तमान पीढ़ी के लिए दूर के रिश्तेदार कम महत्वपूर्ण होते हैं।

(4) नगर में रहने वाला पुत्र अपने सभी सम्बंधियों से काफी दूर हो गया है।

**ए.एम.शाह** ने गुजरात के एक गांव (राधवानाज) में 28.3 घरों का अध्ययन किया।

संरचना की दृष्टि से शाह ने इन परिवारों को दो समूहों में बाँटा: सरल व जटिल। “सरल परिवार” उसे माना गया जिसमें पितृ-परिवार सम्पूर्ण या उसका कुछ अंश सम्मिलित हो, जबकि “जटिल परिवार” वह हुआ जिसमें दो या दो से अधिक पितृ-परिवार या उनके अंश सम्मिलित हों।

उक्त वर्गीकरण के आधार पर शाह ने बताया कि 68.0% परिवार उस गांव में सरल थे व 32.0% जटिल। चूंकि शाह का सरल परिवार एकाकी परिवार का तथा जटिल परिवार संयुक्त परिवार का प्रतिनिधित्व करता है, यह माना जा सकता है कि शाह का अध्ययन भी ग्रामीण भारत में संयुक्त प्रणाली का टूटना दर्शाता है।

**राम कृष्ण मुखर्जी** ने पश्चिमी बंगाल में 1960-61 में 4,210 परिवारों का अध्ययन किया और इस निष्कर्ष पर पहुंचे कि संयुक्ता परिवार की संरचना समय के साथ एकाकी परिवारों में बदल रहीं है

**एडविन ड्राइवर** ने महाराष्ट्र राज्य के नागपुर जिले में एक सर्वेक्षण किया था। 2,314 परिवारों के विश्लेषण ने दर्शाया कि नगर में 22.9% परिवार संयुक्त थे और 77.1% एकाकी, कस्बे में 24.9% संयुक्त और 75.1% एकाकी, और गांव में 37.0% संयुक्त तथा 63.0% एकाकी थे। तीनों क्षेत्रों को (नगर, कस्बों और गांव) एक साथ लेने पर पता चलता है कि 30.0% संयुक्त परिवार तथा 70.0% एकाकी परिवार थे। अत: यह कहा जा सकता है कि नगरीय क्षेत्र में एकाकी परिवार अधिक हैं और ग्रामीण क्षेत्र में संयुक्त परिवार।

**सच्चिदानन्द** ने 1970 में बिहार के शाहाबाद जिले के 30 ग्रामों के 720 परिवारों का अध्ययन किया। अध्ययन किये गये कुल परिवारों में से 25.8% एकाकी तथा 74.2% संयुक्त थे (एकाकी परिवारों में आश्रित भी शामिल थे)। सच्चिदानन्द ने परिवार के प्रकार तथा विविध चरों जैसे जाति, शिक्षा, भुमि-आकार, व परिवार के आकार के बीच सम्बन्धों का विश्लेषण किया। उन्होंने पाया कि यद्यपि तीनों प्रकार की जातियों में संयुक्त परिवारों की संख्या अधिक थी - उच्च जातियों में 70.0%, मध्य जातियों में 76.0% तथा अनुसूचित जातियों में 89.0% - किन्तु आशा के विपरीत एकाकी परिवारों की संख्या उच्च जातियों में (30.0%) मध्यम जातियों (24.0%) तथा अनुसूचित जातियों (11.0%) की तुलना में अधिक थीं।

**पालिन कोलेण्डा** ने 1950 व 1970 के दशकों के बीच किये गये 26 अध्ययनों के आधार पर घरों की संरचना से संबंधित परिमाणात्मक तथ्यों (सह-निवास व सह-भोजन इकाइयों) का प्रयोग किया। इन अध्ययनों में नौ ग्रामीण, दस अलग-अलग जातियों तथा सात जिलों का सर्वेक्षण सम्मिलित था। उन्होंने पाया कि (i) यद्यपि अधिक संख्या में लोग संयुक्त व पूरक एकाकी परिवारों में रहते हैं, लेकिन संरचना की दृष्टि से अधिक परिवार एकाकी ही होते हैं; (ii) संयुक्त परिवारों के अनुपातों में क्षेत्रीय भेद स्पष्ट होते हैं; (iii) संयुक्त परिवार उच्च और भूस्वामी जातियों की एक विशेषता है अपेक्षाकृत निम्न व भूमिहीन जातियों के; (iv) जाति-पद संयुक्त परिवारों के आकार व अनुपात से अधिक संबंधित है।

## 2.10 अन्त: पारिवारिक सम्बन्धात्मक प्रतिमान में परिवर्तन

परिवार की संरचना में परिवर्तन अन्त: पारिवारिक तथा पारस्परिक पारिवारिक सम्बन्धों को प्रभावित करता हैं। हम यहां इन सम्बन्धों का विश्लेषण करेंगे।

**माता पिता एवं बच्चों के सम्बन्ध -**

परम्परागत परिवार में पिता व पुत्र के बीच के सम्बन्ध स्नेह की अपेक्षा भय तथा आदर पर अधिक आधारित थे। पिता के प्रति ये भाव इतने प्रबल होते थे कि एक प्रभावी बन्धन स्वयं बन जाता था। आज इस सम्बन्ध को इन बिन्दुओं के प्रकाश में देखा जा सकता है. (i) सत्ता-अधिकार, (ii) समस्याओं पर विचार विमर्श की स्वतंत्रता, (iii) बच्चों द्वारा माता-पिता का विरोध, और (iv) दण्ड देने के तरीके।

परम्परागत परिवार में शक्ति और सत्ता के बीच विपरीत सम्बन्ध था। सत्ता पीढ़ी, लिंग व सापेक्ष आयु पर आधारित होती थी और पुरानी पीढ़ी के वृद्ध पुरूष के हाथों में होती थी। परिवार की सब से बड़ी महिला के पास भी इतनी शक्ति होती थी कि कई मामलों में उसका निर्णय अन्तिम होता था; उदाहरणार्थ गृह- प्रबन्धन में। कैथलीन गफ के तन्जोर ग्राम का अध्ययन, मैकिम मैरियट और मैंडलबॉम का विशलेषण भी इस तथ्य की पुष्टि करता है। लेकिन ऐसा प्रतीत होता है कि आज के शहरी व शिक्षित परिवारों में दादा की सत्ता कम होती जा रही है।

सत्ता का हस्तान्तरण अब कुल-पिता से बच्चों के पिता में होता जा रहा है जो अपने बच्चों से हर मामलें में, निर्णय लेने के पूर्व सलाह लेते हैं।

एम.एस. गोरे ने पाया कि बहुत अधिक मामलों में बच्चे निर्णय लेने के लिए स्वतंत्र नहीं हैं। इस आधार पर गोरे ने कहा कि यह तथ्य स्पष्ट होता है कि परिवार के जिन सदस्यों के बारे में निर्णय लिया जाता है, उनमें से थोड़े से सदस्य निर्णय अपने हाथ में रखते हैं, फिर चाहे वह निर्णय व्यवसाय, शिक्षा या जीवन-साथी के चयन से सम्बंधित ही क्यों न हो।

तथापि, बच्चे अपनी समस्याओं पर अपने माता-पिता से बहस अवश्य करते हैं। गोरे ने एक सौ उत्तरदाताओं के अतिरिक्त निदर्शन में पाया कि 63% बच्चे अपनी समस्याओं पर अपने माता-पिता से खुलकर विचार-विमर्श कर लेते थे, 11% बिल्कुल नहीं करते थे, और 19% बातचीत करते तो थे, लेकिन अन्तिम निर्णय परिवार के सबसे बड़े पुरुष पर छोड़ते थे।

के.एम.कापड़िया ने किशोर छात्रों के अध्ययन में पाया कि 58% उत्तरदाता भोजन के समय या अन्य किसी समय अपने माता-पिता से स्वतंत्रतापूर्वक बातचीत करते थे। अपनी समस्याओं पर खुलकर बातचीत करने की स्वतंत्रता ग्रामीण क्षेत्रों के बच्चों की अपेक्षा शहरी क्षेत्रों में अधिक मिलती है।

मार्गरेट कारमैक ने भी 500 छात्रों के अध्ययन में पाया कि आज के बच्चे अधिक स्वतंत्र है। वे अपने बड़ों के सामने खुलकर बोलते हैं, अपनी इच्छानुसार पैसे खर्च करते हैं, उपने वस्त्रा स्वयं चुनते हैं तथा बिना किसी के साथ भी बाहर चले जाते हैं। आज बच्चे न केवल अपनी समस्याओं पर अपने माता-पिता से बातचीत करते हैं, बल्कि जब कभी उनकी विचारधारा का टकराव होता है तो वे उनका विरोध भी करते हैं। कारमैक ने इस सम्बन्ध में पाया कि 55% छात्र कभी-कभी अपने माता-पिता का विरोध करते थे, 6% अक्सर, 33% कभी नहीं। आई.पी.देसाई (1953) ने भी पूना के हाई स्कूल के छात्रों के अध्ययन में पाया कि समकालीन परिवार में माता-पिता व बच्चों के सम्बन्ध काफी तनावपूर्ण हैं।

पुरानी व नयी पीढ़ी के बीच संघर्ष के कारण थे: (i) युवा पीढ़ी मैं इस विश्वास के कारण कि बड़े लोग उनसे अधिकारवादी अन्यायपूर्ण, तथा अनुचित व्यवहार करते हैं: (ii) युवा पीढ़ी में इस बढ़ते विश्वास के कारण कि वे लोग अपने माता-पिता से सांस्कृतिक रुप से अधिक आगे हैं; (iii) युवा पीढ़ी के इस विश्वास के कारण कि बड़ों की तुनुकमिजाजी, स्वभाव की कठोरता, बल प्रयोग व अवैध माँग के कारण उनकी व्यक्तिगत स्वतंत्रता को दबाया जा रहा है; (iv) इस विश्वास के कारण कि उनकी आकांक्षाएं बड़े लोग पूरी नहीं करते हैं; (v) सामाजिक रीतियों और धार्मिक विश्वासों के प्रति अभिवृत्तियों में अन्तर के कारण।

सम्भवत: परिवर्तित हो रहे सम्बन्धों के कारण ही आजकल माता-पिता अपने बच्चों को दण्डित करने के लिए पुराने तरीकों को नहीं अपनाते। इस सन्दर्भ में कारमैक (1969) ने पाया कि आजकल माता-पिता अपने बच्चों को दण्डित करने के जो तरीके अपनाते हैं वे हैं: डांट-फटकार, पिटाई, बाहर जाने से रोकना, मिठाई या खिलौने न दिलाना, या कमरे में अकेला छोड़ देना, आदि। रॉस ने पाया कि माता-पिता बच्चों के डांट फटकार, तर्क या थप्पड़ के द्वारा दण्डित करते हैं। आधुनिक युग में यह मनोवैज्ञानिक आधार लेता जा रहा है।

माता-पिता व बच्चों के सम्बन्धों में इन सामान्य परिवर्तनों के अलावा आजकल माता व पुत्री के सम्बन्धों में उल्लेखनीय परिवर्तन आया है, क्योंकि पुत्री का विवाह अल्पायु में नहीं होता और वह अपनी माँ के साथ काफी लम्बे समय तक रहती है। पुत्री और पुत्र को समान आधार पर पाला जा रहा है।

माता-पिता व बच्चों के बीच सम्बन्धों में इन परिवर्तनों के बावजूद भी बच्चों का मानस इस प्रकार का है कि वह केवल स्वयं की भलाई, सुख, प्रस्थिति व एकान्तता के बारे में न सोचकर अपने परिवार के सन्दर्भ में ही सोचता है। आज भी युवावर्ग बड़ों के प्रति आदर दर्शाता है। उनका दृष्टिकोण भय से अधिक आदर से प्रेरित होता है। दो पीढ़ियों में सौहार्द बना हुआ है। समकालीन परिवार में बड़ों का स्वामित्व भाव कम प्रतीत होता है। वे चाहते है कि उनकी मन्त्रणा ली जाये व उनकी राय को यथा सम्मान दिया जाये। एलिन रास भी कहती हैं कि अतीत की तरह विवाद के बाद, नयी पीढ़ी पुरानी पीढ़ी के प्रभुत्व को स्वीकार नहीं करती।

डॉ0 आहूजा के अनुसार माता-पिता और सन्तान के सम्बन्धों में जो कुछ भी परिवर्तन हुए हैं, उनका कुछ समाजशास्त्रीय अर्थ व संकेत हैं पहला, बच्चे के सामाजीकरण की प्रक्रिया प्रभावित हुई है। दूसरा, आज परिवार के हित के बजाय व्यक्ति की योग्यता एवं दक्षता उसकी जीवन-दिशा को निर्धारित करती हैं तीसरा, अधिक स्वच्छन्दता के कारण आज बच्चे काम के लिए अधिक प्रेरणा और आकांक्षाओं को पूरा करने के लिए अधिक अवसर पाते हैं।

**पति पत्नी के बीच के सम्बन्ध -**

पुरातन परिवार में पति-पत्नी के बीच के सम्बन्ध संस्थात्मक दृष्टि से कमजोर होते थे। पत्नी को बाहरी समझा जाता था, जिसके साथ घनिष्ट स्नेह परिवार के लिए घातक सिद्ध हो सकते थे।

आजकल पति-पत्नी के बीच का सम्बन्ध निश्चित रुप से परिवर्तित हुआ है। समकालीन भारतीय परिवार की हमारी परिकल्पना पति-पत्नी के सम्बन्धों के सन्दर्भ में इन विशिष्टताओं को दर्शाती है: (i) पति की सत्तात्मक भूमिका में पत्नी को स्थान्तरित करके नहीं, अपितु उसके साथ सहभागिता से कुछ कमी आई है; (ii) पति-पत्नी के बीच अभिव्यक्तिमूलक भूमिका में सहयोग की मात्रा में वृद्धि हुई है; (iii) पति की साधमूलक-भूमिका में कमी जो कि पत्नी को देकर नहीं, अपितु उसके साथ सहभागी बन कर बांटी जाती है; (iv) शहरी शिक्षित परिवारों में सीमित रुप में सहचारिता की भावना उत्पन्न हुई है, जो ग्रामीण परिवार में बिल्कुल नहीं पायी जाती। पति-पत्नि के सम्बन्धात्मक प्रतिमान का विश्लेषण निम्न आधार पर करेंगे - (i) शक्ति आवण्टन या निर्णय लेने का अधिकार (ii) निकटता

**शक्ति आवण्टन -**

भारतीय परिवार में जिस प्रमुख परिवर्तन की आज चर्चा है वह है एक तरफा पुरुष-सत्ता से पति-पत्नी में सत्ता की हिस्सेदारी में परिवर्तन। यह परिवर्तन इस कारण महत्वपूर्ण है क्योंकि इससे एक ओर विवाह में उनकी भूमिका प्रभावित हुई है और दूसरी ओर उनके सम्बन्धों के अन्य पहलुओं पर भी प्रभाव पड़ा है।

परिपाटी के अनुसार परिवार में पति ही मनमाने रुप से निर्णय करने वाला व्यक्ति माना जाता है और वही परिवार की नीतियों का निर्देशक भी होता है। पति की इस उच्च स्थिति का पता किसी भी पत्नी के तीन प्रश्नों के उत्तरों से चलता है (i) तुम और तुम्हारे पति में से कौन अधिक प्रभावशाली है; (ii) तुम में से परिवार में कौन अधिक महत्वपूर्ण है? (iii) पारस्परिक हित के मामलों में निर्णय कौन करता है? श्रेष्ठता के इस क्षेत्र में लगभग सभी पत्नियां अपने पति को ही श्रेय देती हैं। लेकिन जब प्रश्न आता है कि (i) परिवार-व्यय का बजट कौन बनाता है, (ii) बच्चों को अनुशासित कौन बनाता है और कौन उन्हें मार्ग दर्शन देता है तो अधिकतर प्रकरणों में यद्यपि श्रेष्ठता का नहीं तो बराबर की भूमिका का पता चलता है।

**निकटता -**

पति-पत्नी सम्बन्धों में परिवर्तनों का एम.एस.गोरे (1968:178) ने सबसे अच्छा विश्लेषण किया है। उन्होने पाया कि शहरों में शिक्षित परिवारों में पति अपनी पत्नी के अधिक निकट होता है, अपेक्षाकृत ग्रामीण अशिक्षित परिवार के। परम्परागत परिवार में पत्नी की तुलना में माता के साथ सम्बन्ध अधिक मौलिक व प्रधान होते हैं। ग्रामीण व शहरी क्षेत्रों में पति, पत्नी व माता के सम्बन्धों की तुलना करते हुए उन्होंने पाया कि अपेक्षा अनुसार शहरों में गांवों की अपेक्षा मां से निकटता कम थी, लेकिन आश्चर्य यह था कि ग्रामीण क्षेत्रों में नगरीय क्षेत्रों की अपेक्षा पत्नी के प्रति लगाव अधिक था। मां और पत्नी के प्रति बराबर की निकटता ग्रामीण क्षेत्रों की तुलना में शहरी क्षेत्रों में अधिक थी।

पति-पत्नी के बीच सम्बन्धों के परिवर्तन का एक कारण यह है कि आधुनिक काल में विवाह के समय लड़की अपरिपक्व नहीं होती। अधिक आयु होने के कारण वह अपनी इच्छा को जताने एवं पति पर अपने दावे को दृढ़ता से कहने के लिए सक्षम है।

इस परिवर्तन के बावजूद भी हम यह नहीं मान सकते कि भारतीय परिवारों में पति-पत्नी के सम्बन्ध पश्चिमी स्वरुप पर विकसित हो रहे है। हमारे समाज में पति-पत्नी सम्बन्धों पर परम्परागत दृष्टिकोण अभी भी इतना मजबूत है कि हम पितृसत्तात्मक परिवारों से समतावादी परिवारों में परिवर्तन की बात सोच भी नहीं सकते हैं। जैसा कि ऊपर कहा गया है, हमारा परिवार आज भी मूलत: पति-प्रभुत्व परिवार हैं अधिक संख्या में स्त्रियां आज भी अपनी प्रस्थिति को अपने पति की प्रस्थिति से अधीनस्थ मानती है और उसके श्रेष्ठ ज्ञान व निर्णय को आदर की दृष्टि से देखती है।

**श्वसुर-बहू के बीच सम्बन्ध -**

सास-ससुर व बहु के सम्बन्धों में भी माता-पिता व सन्तान और पति-पत्नि के सम्बन्धों की भांति परिवर्तन आए हैं। ससुर व बहू के बीच के वर्तमान सम्बन्ध दर्शाते हैं कि आज बहू अपने श्वसुर से कम पर्दा करती हैं कुछ स्त्रियाँ अपने ससुर से मुक्त वार्तालाप भी करती हैं। किसी बडे बूढे के साथ बातचीत के समय साडी के पल्लू से मुंह ढंकने को बहुत कम आदर्शगत समर्थन प्राप्त है। जहाँ तक ससुर के साथ उन्मुक्त वार्तालाप का सम्बन्ध है, शिक्षित परिवारों में स्त्रियां मुक्त रुप से बात करती है, लेकिन ग्रामीण परम्परागत परिवारों में कम आजादी है। वास्तव में, परिवार का स्वरुप भी ससुर-बहू के सम्बन्धों को प्रभावित करता है। यह सम्बन्ध

इस बात पर निर्भर करता है कि परिवार संयुक्त है या एकाकी, जिसमें ससुर कभी-कभी आता है, या फिर सास जिन्दा है या नहीं। एकाकी परिवार में ये सम्बन्ध इतने औपचारिक व रुढ़िवादी नहीं होते, जितने संयुक्त परिवार में। एकाकी परिवारों में संयुक्त परिवारों की अपेक्षा (ससुर-बहू के सम्बन्धों मे) प्रथागत दूरी कम पायी जाती है।

**स्त्रियों के पारस्परिक सम्बन्ध -**

परम्परागत परिवार में सास-बहू का सम्बन्ध यद्यपि बड़ा प्रबल था किन्तु संस्थागत रुप से यह बड़ा कष्टप्रद था। बहू के ऊपर सास की सत्ता लगभग पूर्ण व निरंकुश थी। उसकी प्रबल इच्छा होती थी कि उसका बेटा विवाह विच्छेद कर ले और बहू को उसके घर वापस भेज दे। दो महिलाओं के बीच वास्तव में सम्बन्धों में प्रेम, स्नेह, सद्भावना व अनुभाव कम होता था और बहू अपनी सास से घृणा करने लगती थी। आज यद्यपि कुछ परिवर्तन आ रहा है लेकिन यह (परिवर्तन) ससुर-बहू सम्बन्धों से कम सार्थक है। इसका कारण विशुद्ध समाजशास्त्रीय कम व सामाजिक-मनोवैज्ञानिक अधिक है। माँ अपनी "पहचान की इच्छा" की पूर्ति के लिए पुत्र पर अधिक समय देती है। वह उसके लिए अपने ऐश, सुख व आराम का बलिदान भी करती हैं। इसके बदले में पुत्र सभी महत्वपूर्ण मामलों में माँ की सलाह लेता है। लेकिन विवाह के बाद पत्नी के प्रति शारीरिक आकर्षण एवं नैतिक उत्तरदायित्वों के कारण वह अपनी मां की अपेक्षा पत्नी को अधिक महत्व देना शुरु कर देता है।

इस प्रकार सास-बहू के बीच परस्पर अविश्वास, खींचातानी, द्वेधवृति, व उभयभाविता न केवल परम्परागत परिवार में ही पाई जाती हैं, बल्कि आज के परिवार में भी विद्यमान है। आज सास-बहू के सम्बन्धों में कुछ परिवर्तन दिखाई देता है। अधिकतर माताएं अपनी बहुओं का चुनाव बड़ी सावधानीपूर्वक करती हैं और अधिकतर समझौता करने वाली तथा समझदार होती हैं। अधिकतर नव-विवाहित लड़कियां भी विवाह को सफल बनाने के लिए समन्वय के लिए इच्छुक होती हैं।

## 2.11 उदीयमान प्रवृत्तियाँ

उपरोक्त सभी अध्ययनों (देसाई, कापड़िया, रास, शाह, मुखर्जी, गोरे, ड्राइवर, बम्बई विश्वविद्यालय, सच्चिदानन्द, कोलेण्डा और आहूजा) को एक साथ दृष्टिगत करने पर हमारे देश में परिवार संरचना के परिवर्तन से सम्बद्ध निम्नलिखित निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं:

(1) विखण्डिन परिवारों की संख्या बढ़ती जा रही है, अर्थात् पुत्र अपने माता-पिता से अलग रहना पसन्द करते हैं, लेकिन उनके प्रति परम्परागत दायित्वों का निर्वाह करना जारी रखते हैं।

(2) परम्परागत समुदायों में संयुक्तता अधिक है और बाहरी प्रभावों से प्रभावित समुदायों में एकाकिता अधिक है।

(3) परम्परागत परिवारों (अर्थात् सह-निवासी व सह-भोजी नातेदारी इकाई) का आकार छोटा हो गया हैं

(4) हमारे समाज में प्रकार्यात्मक प्रकार का संयुक्त परिवार तब तक बना रहेगा जब तक यह सांस्कृतिक आदर्श बना रहेगा कि एक पुरुष को अपने माता-पिता व अल्प आयु भाई-बहनों की देखभाल करनी है।

स्पष्ट रुप से यह तो बताना-सम्भव नहीं है कि भारतीय परिवार में परिवर्तन कब प्रारम्भ हुए। वास्तव में परिवार व्यवस्था कभी भी स्थिर नहीं रही है और बीसवीं शताब्दी में परिवर्तन धीरे-धीरे होता रहा है। बीसवीं शताब्दी के तीसरे दशक के अन्त तक ऐसी कोई भी राजनैतिक, सामाजिक, या औद्योगिक शक्ति नहीं थी जो भारतीय परिवार के स्वयं लागू किए गए एकाकीपन को शेष विश्व के परिवारों से तोड़ सके। वस्तुत: 20 वीं शताब्दी के चौथे दशक से, विशेषत: स्वतंत्राता के पश्चात से, परिवर्तन स्पष्ट दृष्टिगोचर होने लगे।

अब यह कहा जा सकता है कि "परम्परागत" से "संक्रमणशील" परिवार में होने वाले परिवर्तन की प्रवृत्तियाँ इस प्रकार है (1) नव-स्थानीय आवास (2) प्रकार्यात्मक संयुक्तता (3) व्यक्तियो में समानता (4) महिलाओं के लिए समान दर्जा (5) संयुक्ता जीवन-साथी चुनाव (6) परिवार के आदर्शो/प्रतिमानों का कमजोर होगा।

**नव-स्थानीय आवास-**

विवाह के बाद कुछ बच्चे अपने माता-पिता के साथ रह सकते हैं लेकिन शीघ्र ही वे अलग रहना पसन्द करते हैं। नव दम्पत्ति एवं उनके परिवार अपने कार्य-स्थान के अनुरुप अपने आवास का निर्धारण करते हैं। अत: नव-स्थानीय आवास अधिक से अधिक सामान्य होते जा रहे हैं।

**प्रकार्यात्मक संयुक्तता -**

नव-स्थानीय आवास से तृतीयक तथा दूर के नातेदारी से सम्बन्ध कमजोर तो होते हैं, किन्तु पृथक रहने वाले प्राथमिक व द्वितीयक नातेदारों से नहीं। विवाहित पुत्र अपने माता-पिता एवं भाई-बहनों के प्रति अपने कर्त्तव्यों का निभाना जारी रखते हैं। उनके ये सम्बन्ध न केवल कर्त्तव्यों के निर्वहन मात्रा के लिए बने रहते हैं, बल्कि उनके प्रति श्रद्धा व स्नेह के कारण भी। नव स्थानीय परिवारों की यह विशेषता रहती है कि वे अपने प्राथमिक व द्वितीयक रिश्तेदारों के साथ आवश्यकता पड़ने पर (बीमार, बुढ़ापा, बेरोजगारी, आदि में) आपसी सहयोग एवं आर्थिक सहयोग करते रहते हैं।

**व्यक्तियों में समानता**

पति, पत्नी एवं अन्य सदस्यों को समान व्यवहार देना बड़े स्तर पर वैचारिक परिवर्तन का ही एक भाग है। व्यक्तिवाद का विचार लगभग समस्त विश्व में बढ़ता जा रहा है। अत: परिवार में कुलपिता व माता-पिता अपनी सत्ता को बच्चों पर थोपते नहीं हैं, बल्कि बच्चों को अपने साधनों व लक्ष्यों के चुनाव की पूर्ण स्वतंत्रता प्रदान करते है।

**महिलाओं के लिए समान दर्जा -**

संयुक्त परिवारों को महिलाओं की आधीनता से जोड़ा जाता है। नये उभरते हुए परिवार इसमें परिवर्तन लाने का प्रयास कर रहे हैं। महिलाएं अब कुछ शक्ति प्राप्त कर रहीं हैं। इसके

साथ सम्बद्ध तथ्य यह है कि बाल विवाह का स्थान वयस्क विवाह ने ले लिया है और लड़कियों में शिक्षा प्रसार भी तेजी से हो रहा है। ऐसे परिवारों में पुरूष स्त्रियों को समान व्यवहार देने लगे हैं। यद्यपि कामकाजी महिलाओं के परिवारों में महिलाओं के लिए समान अधिकार का विचार जोर पकड़ता जा रहा है, परन्तु गैर-कामकाजी महिलाओं के परिवारों में यह सब चर्चा नहीं होती है। महिलाएं क्योंकि परिवार में कोई आर्थिक योगदान नहीं देती हैं, अत: इन परिवारों में पुरूष उनसे अधिक सम्मान की अपेक्षा करते हैं। जब तक घर का कामकाज व बच्चों का लालन-पालन महिला का उत्तरदायित्व रहेगा, तब तक कोई भी परिवार व्यवस्था महिलाओं को पूर्ण बराबरी का दर्जा प्रदान नहीं करेगी।

**संयुक्त जीवन-साथी चुनाव -**

"परम्परागत" परिवार में बच्चों के विवाह उनके माता-पिता द्वारा बच्चों से सलाह लिए बिना ही तय कर दिये जाते थे। लेकिन "संक्रमणशील" (transitional) परिवार में जीवन साथी के चुनाव में बच्चे व माता-पिता संयुक्त रुप से निर्णय करते हैं।

**पारिवारिक प्रतिमानों का कमजोर होना -**

भारतीय परम्परागत परिवार की संरचना अति विशिष्टतावादी सिद्धान्त पर आधारित की गयी थी। विशिष्टवाद व्यक्ति की परिवार में सदस्यता के अनुसार अवसरों एवं पुरस्कारों के वितरण की व्याख्या करता है, न कि व्यक्ति के विशिष्ट गुणों या योग्यताओं के आधार पर। इसके विपरीत आधुनिक औद्योगिक अर्थव्यवस्था में सार्वभौमिक कसौटी के प्रयोग की आवश्यकता है। "सार्वभौमिक" में विशिष्ट दीक्षा व कुशलता के आधार पर अवसरों का प्रदान किया जाना निहित है तथा इसमें परिवार और अन्य सम्बन्धों पर ध्यान नहीं दिया जाता। "प्रकार्यात्मक विशिष्टता" में श्रम का विभाजन सम्मिलित है।

जैसे-जैसे भारत में आधुनिकीकरण प्रारम्भ हुआ, परिवार व्यवस्था की विशिष्टतावादी आवश्यकताएँ व्यावसायिक व्यवस्था की बढ़ती हुई सार्वभौमिक आवश्यकताओं से टकराने लगीं। जो उद्योगों के मालिक थे या उनके प्रबन्ध में लगे थे, उन्हें द्विविधा का सामना करना पड़ा। यदि वे परम्परागत प्रतिमानों का पालन करते तो उन्हें व्यापार में हानि होती और यदि वे सार्वभौमिक कसौटी का पालन करते तो वे दायित्वों का उल्लंघन करते और उनके परिवारों को कष्ट होता। अत: लम्बे अन्तराल के बाद परिवार को ही औद्योगीकरण की मांग के सामने झुकना पड़ा।

## 2.12 अन्य उदीयमान प्रवृत्तियाँ

पाश्चात्य समाजों से प्रभावित भारतीय समाज में विवाह पूर्व उन कई अभिवृतियों का प्रचलन हुआ है जो भारतीय समाज में निषेध माने जाते है जैसे डेटिंग, साथ रहना - 'लिव इन टुगेदर' एवं समलैंगिक विवाह आदि। हम इनकी विस्तृत व्याख्या करेंगे।

**विवाह पूर्व सह-आवास -** विवाह पूर्व साथ रहने की अभिवृति अमेरिका के समाज में प्रचलित है। भारतीय समाज में शिक्षित एवं महानगरों में इसका प्रचलन बढ़ता जा रहा है। इस

अभिवृति के कुछ समाजशास्त्रीय पक्षों का विश्लेषण समय-समय पर इससे सम्बन्धी सेमिनार आदि के माध्यम से हुआ है जो निम्न है -

(i) यह संयुक्त सहवास का समझौता है।

(ii) संयुक्त सहवास अच्छे सांमजस्य की गांरटी नहीं है यह कुछ ही समय के लिये ही होता है। और अस्थायी होता है।

(iii) परम्परागत विवाह में नव विवाहित दम्पति को इस सच्चाई का ज्ञान होता है कि उन्हें जीवन भर साथ रहना है और एक दूसरे का साथ निभाना है नवदम्पति एक दूसरे के प्रति समर्पित होते हैं सांमजस्य को ध्यान में रखते हैं एक दूसरे का परीक्षण नहीं करते। जब की संयुक्त सहवासियों की सोच अलग होती है।

(iv) आदतों को बदलना सरल नहीं हैं लिव-इन-टुगेदर में संविदात्मक सहवास का अनुसरण किया जाता है। इस अवधि में यदि यह सोचा जाय कि विवाहोपरान्त सब सामान्य हो जायेगा तो इस प्रकार की सोच गलत है

(v) लिव इन टुगैदर निश्चित रूपसे विवाह विच्छेद की संख्या को कम करता है क्योंकि विवाह पूर्व ही इस तथ्य से अवगत हो जाते हैं कि उनका साथ रहना सम्भव है अथवा नहीं।

(vi) विवाह के बाद आने वाले संघर्षो से बचा जा सकता है।

(vii) विवाह विच्छदो की संख्या को कम करता है।

आधुनिक काल में 'लिव इन दुगेदर' के साथ-साथ समलैंगिक विवाह भी उदीयमान प्रवृति के रूप में उभर कर आ रहे हैं।

समलैंगिक विवाह - यह एक ऐसी अवधारणा है जिसे न केवल हिन्दु समाज बल्कि भारतीय दंड संहिता भी मान्यता नहीं देती है। हम इस प्रकार के व्यवहार, इससे सम्बन्धित कानून और जनमत की व्याख्या करेंगे।

समलैंगिक्ता एवं एन्टी सोडोमी कानून -

(i) इसको लॉर्ड मैकाले के समय सन् 1860 में लागू किया गया और भारतीय दंड संहिता के अन्तर्गत इसे अपराध माना गया है।

(ii) भारतीय दंड संहिता में अनुच्छेद 377 समलैंगिकता को एक ऐसा अपराध मानता है जो प्रकृति के विरोध में किया गया समाज विरोधी व्यवहार है।

(iii) यह अप्राकृतिक अपराध है, जिसे प्रकृति स्वीकार नहीं करती है।

अमेरिका में इसके विरोध में आन्दोलन किये गये। 23 जुलाई 2008 में 'गे कप्लस' ने रेली निकाली जिसका अमेरिका के श्रम मंत्री ने भी समर्थन किया। संयुक्त राष्ट्र अमेरिका के 50 राज्यों में से छः राज्यों ने इसका समर्थन किया है समर्थन देने वाले राज्य अधिकतर पूर्वी तट के हैं जैसे मैसचूटस आयोवा केंटकी आदि। यूरोप में नीदरलैंड और बैलजियम में इसे सन् 2001 से मान्यता प्राप्त है।

भारत में नाज एन.जी.ओ. की तरफ से 2002 में इसके समर्थन में जनहित याचिका जारी की गई। 2006 में महान् अर्थशास्त्री अमृत्यसेन और विक्रम सेठ ने इसका समर्थन किया। जुलाई 2008 में इसके समर्थन में 'गे रेली' निकाली और इस कानून की पुर्नवीक्षा की मांग की।

जुलाई 2009 में पुन: इस मामले को न्यायालय में उठाया गया और दिल्ली के उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश अजित प्रकाश शाह ने 105 पृष्ठों का फैसला सुनाया कि अनुच्छेद 377 समानता के मूल अधिकार अनुच्छेद 14 का उल्लंघन करता है इसलिये ऐसे विवाहों को मान्यता मिलनी चाहिये। इस संदर्भ में कई टी.वी. सेमिनार हुई जिनमें यह माना गया कि इस प्रकार का व्यक्ति सामान्य व्यक्ति की तरह अनुशासित होता है उसे अपराधी नहीं कहा जाता है। परन्तु मुरलीधर ने इस तरह के विवाहों का विरोध करते हुए कहा कि इनको सामाजिक और विधिक मान्यता नहीं दी जा सकती है।

समाजशास्त्रीय दृष्टि कोण से इस प्रकार के विवाहों के आधार पर कई प्रश्न उठते हैं।

(i) परिवार का स्वरूप क्या होगा?

(ii) बच्चों को किस प्रकार गोद लिया जायेगा या गोद लेन का कानून क्या होगा?

(iii) माता और पिता की भूमिका किस प्रकार सम्पादित होगी?

(iv) सम्पत्ति पर किस का अधिकार होगा?

(v) वंश किसके आधार पर चलेगा?

इन सब विषयों पर गहन अध्ययन की आवश्यकता है

## 2.13 भारतीय परिवार एवं इकीसवीं सदी

भारतीय परिवार तीन अवस्थाओं से गुजर रहा है. (i) प्रथम चरण में वह परम्परागत (संयुक्त) परिवार था जिसमें कई पीढ़ियों के लोग साथ-साथ रहते थे। वह उत्पादन की एक इकाई था जिसमें सभी सदस्य एक टीम के रुप में काम करते थे, अर्थात् व्यवसाय में, सम्पत्ति के स्वामित्व में, कार्य में, तथा सामाजिक दायित्वों के निर्वाह में। इस प्रकार का परिवार 19 वीं शताब्दी तक चलता रहा; (ii) द्वितीय चरण में परिवार 19 वीं शताब्दी के अन्त में औद्योगिक क्रान्ति से प्रारम्भ हुआ तथा 20 वीं शताब्दी के चौथे और पाँचवें दशक तक अपनी चरम सीमा तक पहुँच गया। बड़े संयुक्त परिवार दो या तीन पीढ़ियों वाले लघु संयुक्त परिवार होकर रह गए। परिवार एक उत्पादक इकाई के रुप में भी न रह पाया क्योंकि सदस्यों की एक बड़ी संख्या ग्रामीण क्षेत्रों से शहरी क्षेत्रों में अथवा एक शहर से दूसरे शहर में कार्यालयों, फैक्टरियों या दैनिक मजदूरी पर कार्य करने चली गई। (iii) तृतीय चरण का परिवार, जो कि विखण्डित निर्भर परिवार रह गया, 1960 के दशक में उदय हुआ। निवास की दृष्टि से यह परिवार पितृ परिवार से पृथक रहता है, किंतु कार्य की दृष्टि से यह उस पर (पिता व भाई पर) निर्भर रहता है। इस प्रक्रिया ने विखण्डित परिवार को गरीबी और असुरक्षा से मुक्ति प्रदान की है। इससे प्राथमिक नातेदारी बन्धन भी बने रहे और सामाजिक दायित्वों की पूर्ति भी होती रही। इस परिवार में वैवाहिक बन्धन मजबूत है, पति-पत्नि के सम्बन्ध सहयोगी एवं साहचर्य के होते है, तथा अवकाश का समय अधिकांशत: घर के सदस्यों के साथ बिताया जाता है।

इकीसवी सदी में भारतीय परिवार किस प्रकार का होगा। उसमें किस प्रकार की नवीन अभिवृतियाँ जन्म ले रही हैं इससे सम्बंधित गहन समाजशास्त्रीय अध्ययन हुए हैं।

प्रोफेसर सुसन ने भुवनेवश्वर के 24 हिन्दु परिवारों की तीन पीढ़ियों का अध्ययन किया जिसमें आधुनिक पीढ़ी के 132 बच्चों का साक्षात्कार किया जिसके निष्कर्ष निम्न हैं -

प्रस्तुत अध्ययन के आधार पर यह कहा जा सकता है कि तीन पीढ़ियों के अध्ययन से यह स्पष्ट है कि पुरानी पीढ़ी परम्परावादी होते हुए भी परिवर्तन को थोड़ा बहुत स्वीकार करती है मध्य पीढ़ी संक्रमण की स्थिति में है इसलिये सावधानी और समझदारी से नयी पीढ़ी के साथ सामंजस्य स्थापित करती है। आधुनिक युग की नयी युवा पीढी आधुनिक नवीन मूल्यों के साथ परम्परावादी मूल्यों को भी स्वीकार करती है बड़ों को सम्मान और साहर्चय को भी महत्त्व देती है।

परिवार व्यवस्था में परिवर्तन की प्रकृति, दिशा व कारकों के परीक्षण के बाद हम इस निष्कर्ष पर पहुँच सकते हैं कि यद्यपि भारतीय परिवार की परम्परागत संयुक्तता (यानि कि निवास, कार्य व सम्पत्ति में संयुक्तता) आवासीय एकाकिता को स्थान दे रही है, किन्तु चूंकि प्रकार्यात्मक संयुक्तता ग्रामीण एवं शहरी दोनों ही क्षेत्रों में अभी भी विद्यमान है, अत: यह इस बात का संकेत है कि भावना तथा साँस्कृतिक लक्ष्य के रुप में संयुक्तता आने वाली दशाब्दियों में भी बनी रहेगी।

महिलाओं को परिवार एवं समाज में सम्मान जनक स्थिति प्राप्त हो रही हैं इस प्रकार का परिवर्तन अचानक नहीं हुआ है संयुक्ता परिवार इन परिवर्तनों के साथ सामजस्य स्थापित कर रहा है एकाकी परिवार भी साहर्चायता का रूप लेता जा रहा है।

परन्तु आवासीय एकाकीपन के कारण परिवारों में अर्न्तक्रिया की कमी होती जा रही है। बच्चों के अलग आवास के कारण संयुक्त एवं एकाकी दोनों परिवारों को अकेलेपन का संकट झेलना पड़ रहा है। दैनिक जीवन में माता पिता एवं दूर रहने वाले बच्चों के परिवार में खालीपन, असुरक्षा की भावना, नैराश्य जैसी भावनाएं बढ़ती जा रही हैं।

हैदराबाद में सम्पादित सितम्बर 2009 की सेमिनार ने भी इस तथ्य को स्वीकर किया है कि परिवार में बच्चों की सीमित संख्या ने भारत में जनसंख्या पर नियंत्रण पाया है परन्तु कई सामाजिक और मनोवैज्ञानिक समस्याओं को जन्म दिया रिश्ते कम होते जा रहे हैं परिवारों में रिश्तों की घनिष्ठता, अपनापन गर्माहट, हम की भावना कम होती जा रही है।

इस सेमिनार में इस बात पर जोर दिया है कि भारत को संयुक्त परिवार का पर्याय ढूंढना होगा अन्यथा आत्महत्या नैराश्य जैसी घटनाएं बढ़ती जायेंगी।

## 2.14 परिवर्तन के कारक

परिवार में परिवर्तन लिए कई कारक उत्तरदार्या है। औद्योगीकरण और उसके सार्वभौमिक मापदण्ड जो निरन्तर विस्तृत क्षेत्र को प्रभावित कर रहे हैं, व्यक्तिवाद के आदर्श, समानता और आजादी, तथा वैकल्पिक जीवन पद्धति की सम्भावना जैसे कारणों के सम्मिलन से ही " संक्रमणकालीन" परिवार का उदय हुआ है। मिल्टन सिंगर (1968 : 434) ने परिवार में परिवर्तन के लिए चार कारकों को उत्तरदायी माना है: आवासीय गतिशीलता, व्यावसायिक गतिशीलता, वैज्ञानिक तथा तकनीकी शिक्षा और द्रव्यीकरण राम आहुआ ने ऐसे पांच कारकों की पहचान की है जिन्होंने परिवार को बहुत अधिक प्रभावित किया है। ये है: शिक्षा, नगरीकरण,

औद्योगीकरण, विवाह संस्था मे परिवर्तन (आयु के सन्दर्भ में), तथा वैधानिक उपाय। ए.डी.रॉस ने शिक्षा, औद्योगिकरण, नगरीकरण को प्रमुख माना है जबकि इलियट एवं मैरिल ने भी जीवन शैली, उच्च जीवन स्तर औद्योगिकरण एवं नगरीकरण जैसे कारकों को महत्त्वपूर्ण माना है। हम इनकी विवेचना करेंगे।

**शिक्षा -**

शिक्षा ने परिवार को कई प्रकार से प्रभावित किया है। शिक्षा से न केवल व्यक्तियों की अभिवृत्तियाँ, विश्वास, मूल्य एवं आदर्श विचारधाराएँ बदली हैं, बल्कि इसने व्यक्तिवादिता की भावना को भी उत्पन्न किया हैं भारत में शिक्षा न केवल पुरुषों में बढ़ रही है, बल्कि स्त्रियों में भी। पुरूष साक्षरता की दर में वृद्धि 1901 से 1931 तक 9.8 से 15.6 तक हुई। इसी अवधि में छात्रों के प्रवेश की संख्या 240 लाख से बढ़कर 1320 लाख हो गई। सन् 2001 में साक्षरता दर के साथ स्त्री पुरुषों की उच्च शिक्षा की दर में भी वृद्धि हुई है। शिक्षा की दर में इस प्रकार की वृद्धि स्त्री पुरुषों के न केवल जीवन-दर्शन में परिवर्तन करती है, बल्कि स्त्रियों को रोजगार के नये आयाम भी उपलब्ध कराती है। आर्थिक स्वतंत्रता प्राप्त करने के पश्चात स्त्रायां पारिवारिक मामलों में मताधिकार की मांग करती हैं और अपने ऊपर किसी का भी प्रभुत्व स्वीकार करने से इन्कार करती हैं। यह दर्शाता है कि शिक्षा किस प्रकार परिवारिक सम्बन्धों में परिवर्तन लाती है जो कि बाद में संरचनात्मक परिवर्तन भी लाती है।

आई.पी.देसाई ने बताया है कि शिक्षा संयुक्त परिवार के विरुद्ध दो प्रकार से कार्य करती है प्रथम तो व्यक्तिवाद पर बल देकर यह लोगों के सामने परिवार के स्वरुप की वह धारणा प्रस्तुत करती है जो वर्तमान संयुक्त - परिवार की धारणा के विपरीत है, तथा दूसरे यह लोगों को उन व्यवसायों के लिए तैयार करती है जो उनके अपने मूल स्थान में नहीं होते जिसके फलस्वरुप वे अपने पैतृक परिवार से पृथक होकर ऐसे क्षेत्रों में रहने लगते हैं जो उनकी शिक्षा के अनुकूल उन्हें व्यवसाय के अवसर प्रदान करते हैं। कालान्तर में इन लोगों का सम्पर्क पैतृक परिवार से टूट जाता है और जीवन तथा विचार के नये तरीकों को अपनाते हैं जो कि संयुक्त परिवार की भावनाओं के विरुद्ध तथा एकाकी परिवार के अनुकूल होते हैं। इकीसवी सदी में तो इस प्रकार की प्रवृति ने पति-पत्नि के आवास स्थान अलग कर दिये है।

ए.डी.रॉस ने कहा है कि वर्तमान व्यवसाय इस प्रकार के हैं कि उनके लिए विशेष शिक्षा, दक्षता एवं ट्रेनिंग की आवश्यकता होती है। अत: अपन से ऊपर अपने बच्चों के जीवन स्तर को ऊंचा उठाने हेतु माता-पिता उन्हें उच्च शिक्षा देने के लिए सदा उत्सुक व महत्वाकांक्षी रहते हैं, विशेष रुप से शहरों के मध्यवर्गीय एवं उच्च वर्गीय परिवार के लोग। कुछ गरीब मां-बाप तो इतने महत्वाकांक्षी होते हैं कि वे अपने को कष्ट में डाल कर बड़े से बड़ा त्याग करके अनेक दुःख, वेदना व पीड़ा सहन करते हुए भी अपने पुत्रों को उच्चतम शिक्षा दिलाने का प्रयास करते है।

महिलाएँ भी शिक्षा प्राप्त करने के बाद अपने पति, बच्चों व परिवार के प्रति भिन्न दृष्टिकोण अपना लेती हैं और अपनी रुढिवादी सास से संघर्ष में आकर पृथक घर में रहने की जिद करती हैं। यह सब परिवार के स्वरुप पर शिक्षा के प्रभाव को दर्शाता है। जैसे-जैसे शिक्षा

का स्तर उठता है, वैसे-वैसे एकाकी परिवार के पक्ष में प्रतिशत बढ़ता जाता है और संयुक्त परिवार में जीवन व्यतीत करने (व्यवहार में) के पक्षधर लोगों का प्रतिशत कम होता जाता है। और एकाकी परिवार की संस्कृति और मूल्य अधिकाधिक एकाकी और व्यक्तिवादी होते जा रहे।

**नगरीकरण -**

गत कुछ दशकों में हमारे देश की शहरी जनसंख्या में तीव्र दर से वृद्धि हुई है। बीसवीं शताब्दी में समूचे देश की जनसंख्या 1901 में 23.8 करोड़ से बढ़कर 2001 में 102.7 करोड़ हो गई, शहरों में रहने वालों की संख्या में बहुत अधिक वृद्धि हुई।

नगरीय परिवार ग्रामीण परिवारों से न केवल संरचना में बल्कि विचारधारा में भी भिन्न होते हैं। यह पहले ही कहा जा चुका है कि शहरी क्षेत्रों में एकाकी परिवार, गैर-शहरी एकाकी परिवार से अपेक्षाकृत छोटा होता है और शहर में रहने वाला व्यक्ति एकाकी परिवार का चयन अधिक करता है, अपेक्षाकृत ग्रामवासी के। एम.एस.गोरे की मान्यता है कि नगरीय परिवार अपने दृष्टिकोण, भूमिका-परिप्रेक्ष्य तथा व्यवहार में संयुक्त परिवार के मानदण्डों से हट रहे हैं। उदाहरणार्थ, निर्णय लेने के मामले में ग्रामीण परिवारों के विपरीत नगरीय परिवारों में बच्चों से संबंधित निर्णय परिवार का सबसे बुजुर्ग व्यक्ति ही नहीं परन्तु उनके माता-पिता लेते हैं।

आई.पी.देसाई इस विचार से सहमत नहीं है कि नगरीकरण संयुक्त परिवार व्यवस्था के विघटन के लिए उत्तरदायी हैं संयुक्तता पर नगरीकरण के प्रभाव का विश्लेषण करते हुए उन्होंने पाया कि परम्परागत संयुक्तता तथा शहरी क्षेत्र में परिवार के रहने की अवधि के बीच महत्वपूर्ण सम्बन्ध है। उनका अनुमान था कि शहरी क्षेत्र में परिवार जितनी लम्बी अवधि तक ठहरेगा, संयुक्तता की मात्रा में भी उतनी कमी आयेगी। परन्तु उन्होंने पाया कि "बहुत पुराने" (50 या अधिक वर्षो तक शहर में रहने वाले) और "पुराने" (25 से 50 वर्षो तक शहर में रहने वाले) परिवारों में "नये" परिवारों (25 या इससे कम वर्ष तक शहर में रहने वाले) की अपेक्षा संयुक्तता अधिक मिलती है।

डा० आहुजा का विचार है कि परिवार व्यवस्था के परिवर्तन में नगरीकरण का विशेष महत्व है। शहरी जीवन संयुक्त परिवार के स्वरुप को कमजोर बनाता है तथा एकाकी परिवारों को दृढ़ बनाता है। नगरों में उच्च शिक्षा व नये व्यवसायों के चुनने के लिए अधिक अवसर होते हैं। वे लोग जो अपने परिवार के परम्परागत व्यवसाय को छोड़कर नये व्यवसाय अपनाते हैं अपने विचारों और अभिवृत्तियों में उन लोगों की अपेक्षा बड़ा परिवर्तन दर्शाते हैं।

**औद्योगीकरण -**

औद्योगीकरण ने हमारे समाज में सामान्य रुप से आर्थिक व सामाजिक-साँस्कृतिक परिवर्तन तथा विशेष रुप से परिवार में परिवर्तन किया है। आर्थिक क्षेत्र में इसके ये परिणाम हुए हैं: कार्य विशेषज्ञता, व्यावसायिक गतिशीलता, अर्थ व्यवस्था का द्रव्यीकरण, तथा व्यावसायिक संरचनाओं व नातेदारी के बीच के सम्बन्धों का टूट जाना। सामाजिक क्षेत्र में इसका परिणाम हुआ है: ग्रामीण क्षेत्र से शहरी क्षेत्रों में आगमन, शिक्षा का प्रसार और एक मजबूत राजनैतिक ढाँचा। सांस्कृतिक क्षेत्र में इससे (औद्योगीकरण से) धर्म निरपेक्षता के विचार का विकास हुआ है।

पारिवारिक संगठन पर औद्योगीकरण के जो तीन मुख्य प्रभाव हुए हैं, वे हैं:-

(1) परिवार जो कि उत्पादन की एक प्रधान इकाई थी, अब उपभोग की इकाई के रुप में बदल गया है।

(2) फैक्ट्रियों में नौकरी के कारण युवक अपने पैतृक परिवारों पर सीधे निर्भर नहीं रहते। वेतन मिलने से क्योंकि वे आर्थिक रुप से स्वतंत्रा हैं, अत: परिवार के मुखिया की सत्ता: में और भी कमी आई है।

(3) बच्चे अब आर्थिक रुप से आस्ति न होकर देय बन गये हैं। यद्यपि वैधानिक दृष्टि से बाल-श्रम वर्जित है, फिर भी बच्चों की श्रमिकों के रुप में नियुक्ति तथा उनके साथ दुर्व्यवहार में वृद्धि हुई है।

**विवाह व्यवस्था में परिवर्तन -**

हमारी परिवार व्यवस्था को विवाह की आयु में परिवर्तन, जीवन-साथी चुनाव की स्वतंत्रता तथा विवाह के प्रति दृष्टिकोण में परिवर्तन ने भी प्रभावित किया हैं जो बच्चे देर से विवाह करते हैं वे न तो अपने माता-पिता की सत्ता को मानते हैं और न ही सबसे बड़ी आयु के पुरूष को निर्णय लेने वाला मुख्य व्यक्ति समझते हैं। जीवन-साथी के चुनाव की स्वतंत्रता ने अन्तर्जातीय विवाह को प्रोत्साहित किया है जिससे पारिवारिक सम्बन्धों की संरचना प्रभावित हुई है।

**वैधानिक उपाय -**

1856 द्वारा विधवा पुनर्विवाह की अनुमति, बाल-विवाह निषेध तथा बाल-विवाह निवारक अधिनियम, 1929 के द्वारा कम से कम विवाह की आयु का निर्धारण एवं हिन्दू विवाह अधिनियम 1955, ने शिक्षा की अवधि को बढ़ाया है और विवाह के बाद युगल के नयी परिस्थितियों में सामंजस्य को योगदान किया है। जीवन-साथी के चुनाव की स्वतंत्रता, किसी भी जाति व धर्म में माता-पिता की सहमति बिना विवाह, जिसे विशेष विवाह अधिनियम, 1954 के अन्तर्गत अनुमति प्रदान की गयी है, विधवा विवाह अधिनियम, हिन्दू विवाह अधिनियम, 1955 के अनुसार विवाह-विच्छेद की अनुमति, तथा हिन्दु उत्तराधिकार अधिनियम, 1956 के अन्तर्गत पुत्रियों को माता-पिता की सम्पत्ति में हिस्सा- इन सभी अधिनियमों ने न केवल अर्न्तव्यक्ति सम्बन्धों एवं परिवार संरचना को बल्कि संयुक्ता परिवार की स्थिरता को भी प्रभावित किया है।

## 2.15 सारांश

इस इकाई में आपने जाना कि

- समाजशास्त्रीय दृष्टि से परिवार क्या हैं इसके अध्ययन के परिप्रेक्ष्य क्या हैं।
- भारतीय परम्परागत परिवार का स्वरूप क्या है तथा इसमें किस प्रकार के परिवर्तन आ रहे हैं।
- भारतीय परिवार में नवीन प्रवृतियां और उनका प्रभाव।
- भारतीय परिवार को इकीसवीं सदी में किन चुनौतियां का सामना करना पड़ रहा हैं।

- परिवार में परिवर्तनों के कारक किस तरह इसकी संरचना एवमं सम्बन्धों को प्रभावित कर रहे हैं।

## 2.16 अभ्यासार्थ प्रश्न

1. समाजशास्त्रीय दृष्टि से परिवार का विश्लेषण कीजिये।
2. विभिन्न समाजशास्त्रीय शोध अध्ययनों के आधार पर परम्परात्मक भारतीय परिवार की विशेषताएँ लिखिये।
3. भारत में परिवार के अन्तर्सम्बन्धात्मक प्रतिमान में क्या परिवर्तन हो रहे हैं? विस्तार से लिखिये।
4. भारत में परिवार के संदर्भ में नवीन उदीयमान प्रवृतियों की विवेचना कीजिये।
5. संयुक्त परिवार में परिवर्तन के कारकों की व्याख्या कीजिये।

## 2.17 संदर्भ ग्रन्थ


1. चटोपाध्याय, के.पी.ऑन डेफीनेशन ऑफ फेमिली - संदर्भ आर एन सक्सेना - (सम्पा.) सोशोलिजी सोशल रिर्सच एवं सोशल प्रोबल्मस इन इंडिया. एशिया पबलिशिंग हाउस, बम्बई 1961
2. कॉरमैक, मार्गरेट, शी हू राईडस ए पिकोक 1969.
3. देसाई, आई.पी., सम आसपेक्टस ऑफ फेमिली इन महुआ, एशिया पबलिशिंग हाउस, बॉम्बे, 1964.
4. देसाई, आई.पी द जोईन्ट फेमिली इन इंडिया: एन एनालिससि सोशोलोजिकल बुलेटिन, वाक्यूम 5, नम्बर 2, सितम्बर 1956, पेज 144-156.
5. ड्राईवर एडविन, "फेमिली स्ट्रकचर एंड सोशियो इकनोमिक स्टेटस इन सैन्ट्रल इंडिया," सोशोलाजिकल बुलेटिन, वाल्यूम 11,1962 पेज 112 - 120.
6. गोरे, एम.एस., अरबनाईजेशन एंड फेमिली चेंज, पॉपुलर प्रकाशन, मुंबई, 1968.
7. कपाडिया, के एम., मैरिज एड फेमिली इन इंडिया, आक्सफोर्ड यूनीवर्सिटी प्रेस, बम्बई 1966.
8. कपाड़िया के.एम.. द फैमिली इन ट्रांसीशन, सोशोलोजिकल बुलेटिन, वालयूम 4,A55, थि पेज - 111 - 126.
9. कपाड़िया के.एम., मैरिज एंड फैमिली इन इंडिया, आक्सफोर्ड यूनीवर्सीटी प्रेस, बम्बई 1966.
10. कर्वे इरावती, किनशीप ऑरगनाईजेशन इन इंडिया, डेक्कन कॉलेज, मोनोग्राफ, पूना, 1953.
11. कोलिन्डा पॉलिन एम, रिलीजिअन, कास्ट एण्ड फैमिली स्ट्रकचर ए कम्पेरेटिव स्टडी ऑफ द इंडीयन जाईन्ट फेमिली इन मिलटन सिंगर एंड बनार्ड कोहेन, अेडलाईन पबलिशिंग कम्पनी, शिकागो, 1968.
12. मैंडलवॉम, द फैमिली इन इंडिया, हारपर एंड ब्रदर्स, न्यूर्याक, 1949.
14. मुराडॉक, जोर्ज पी., सोशल स्ट्रकचर, मैकमिलन कम्पनी, न्यूयोर्क, 1949.

15. नारायण धीरेन्द्र - एकसप्लोरेशन इन द केमिली एड अदर ऐसेस ठक्कर एड कम्पनी, बम्बई, 1975.
16. रॉस एलिन डी., द हिन्दु फेमिली इन द इटस अरबन सैटिंग, ऑक्सफोर्ड यूनीवर्सिटी प्रेस टोरन्टो, 1961.
17. सचिदानन्द, रूरल फेमिली इन वेस्ट बिहार, जनरल ऑफ सोशल एंड इकोनोमिक स्टडीज, पटना, सितम्बर 1977.
18. शाह, बी. बी., सोशल चेन्ज एंड कॉलेज स्ट्रटेन्ट ऑफ गुजरात, एम एस यूनीवर्सिटी ऑफ बड़ौदा 1964.
19. सिंह, योगेन्द्र, मॉडरनाइजेशन ऑफ इंडियन ट्रेडीशन, थॉमस प्रेस, न्यू दिल्ली 1973.
20. जिमरमैन, काले सी., फेमिली एण्ड सिवीलाइजेशन हारपर एंड ब्रदर्स, न्यूयार्क 1949.
21. सूसन -वॉमेन, फेमिली एंड चाईल्ड केयर इन इंडिया, ए वर्ल्ड इन ट्रांसीशन, कैस्वीज यूनीवर्सिटी प्रेस, 2004.
22. शर्मा, दिनेश - चाईल्डहुड फेमिली एंड सोशियो-कलचरल चेन्ज इन इंडिया, रीइनटरप्रीटिंग द वर्ल्ड, आक्सफोर्ड यूनीवसीर्टी प्रेस - 2004.
23. येल, गोटिलड वीमेन लॉ एंड सोशल चेंज, महिला पंचायत नेटवर्क 2007.

# इकाई - 3

# विवाह : अवधारणा स्वरूप एवं परिवर्तन

**इकाई की रूपरेखा**

3.0 उद्देश्य
3.1 प्रस्तावना
3.2 विवाह की अवधारणा
3.3 हिन्दू विवाह
3.4 हिन्दू विवाह के स्वरूप
3.5 विवाह के प्रकार
3.6 हिन्दू विवाह में जीवन साथी चुनाव के क्षेत्र
3.7 मुस्लिम विवाह
3.8 मुस्लिम विवाह के प्रकार
3.9 विवाह-विच्छेद
3.10 तलाक के प्रकार
3.11 ईसाई विवाह
3.12 विवाह में परिवर्तन
3.13 सारांश
3.14 अभ्यासार्थ प्रश्न
3.15 संदर्भ ग्रंथ

## 3.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् आप समझ पायेगें कि -

- विवाह की अवधारणा क्या है?
- हिन्दू विवाह का अर्थ, स्वरूप एवं प्रकार को समझ सकेंगे।
- मुस्लिम विवाह का अर्थ एवं तलाक के प्रकारों की जानकारी प्राप्त सकेंगे।
- ईसाई विवाह को समझ सकेंगे।
- विवाह में होने वाले परिवर्तनों की जानकारी प्राप्त कर सकेंगे।

## 3.1 प्रस्तावना

विवाह स्त्री और पुरूष के बीच स्थाई और निकटतम यौन सम्बन्ध पर आधारित एक कानूनी या समाज स्वीकृत सम्बन्ध है, जो नातेदारी का विस्तार करता है। यह कानूनी, सामाजिक, भावनात्मक धार्मिक आदि कई कारणों से सम्पन्न होता है। विवाह के द्वारा ही स्त्री और पुरूष एक-दूसरे की जैविकीय, मनोवैज्ञानिक और आध्यात्मिक आवश्यकतायें पूरी करते है। इसी संस्था से एक नाभिकीय इकाई परिवार, पारिवारिक दायित्व और बच्चों को कानूनी संरक्षण.

प्राप्त होता है। विभिन्न संस्कृतियों में विवाह के विविध रूप प्रचलित हैं। किसी भी व्यक्ति के जीवन में वैवाहिक भूमिका अत्यधिक महत्वपूर्ण है क्योंकि इसमें प्राथमिक सम्बन्ध सम्मिलित होते हैं। यह सम्बन्ध असीमित, विशिष्ट एवं भावात्मक होते है। लेकिन आज के विवाह के उद्देश्य एवं स्वरूपों आदि में परिवर्तन आ रहा है। वैवाहिक सम्बन्ध दो महत्वपूर्ण कार्य करते हैं। (1) आवश्यकता पूर्ति (2) सामाजिक नियन्त्रण। अत: प्रस्तुत इकाई में आप विवाह के अर्थ, स्वरूप एवं परिवर्तन को विस्तार से समझ सकेंगे।

## 3.2 विवाह अवधारणा

विवाह एक सामाजिक समझौता है, जिसके द्वारा स्त्री और पुरूष एक दूसरे की जैवकीय, मनोवैज्ञानिक और आध्यात्मिक आवश्यकतायें पूरी करने और एक परिवार बनाकर रहने का निश्चय करते हैं। इनमें यौन सम्बन्ध और सन्तानोत्पत्ति को सामाजिक मान्यता प्राप्त होती है1 विवाह की अवधारणा को मानवशास्त्रियो समाजशास्त्रियो एवं कानून वेताओं में भिन्न-भिन्न रूप से परिभाषित किया गया है। लेवी, मरडॉके, और वेस्टरमार्क मानवशास्त्रियो ने स्त्री और पुरूष के इस संयोग में सामाजिक स्वीकृति को महत्वपूर्ण मानते हैं तथा विवाह में होने वाले विभिन्न संस्कारो व समारोह के रूप पर प्रकाश डालते हैं, जबकि लांज और स्नाइडर, बोमन, बाबर और बर्जेस जैसे समाजशास्त्रियो ने विवाह को प्राथमिक-सम्बन्धों को भूमिकाओं की व्यवस्था के रूप में परिभाषित किया है। प्रसिद्ध इतिहासकार, दार्शनिक और साहित्यिक, निबन्धकार थॉमस डे ने विवाह को दो व्यक्तियों के आपसी सद्भाव के रूप में परिभाषित किया है।

वेस्टरमार्क : "'विवाह एक या अधिक पुरूषों का एक या अधिक स्त्रियो के साथ होने वाला वह सम्बन्ध है जो प्रथा या कानून द्वारा स्वीकृत होता है और उसमें इस संयोग में सम्मिलित होने वाले दोनों पक्षों तथा उनमें उत्पन्न बच्चों के अधिकारों और कर्त्तव्यों का समावेश होता है।"

कूस के अनुसार विवाह जनक और जनन परिवार के बीच खींची गई एक रेखा हैं। जनक परिवार में यह भूमिकाएँ शैशव, बचपन और किशोरावस्था के रूप में परिवर्तित होती है जिसमें उत्तरदायित्व का अधिक बोध नहीं होता जबकि दूसरी और जनन परिवार में विवाह के पश्चात, पति, पिता, धनोपार्जन कर्त्ता, पितामह, अवकाश प्राप्त व्यक्ति आदि की परिवर्तन होती हुई भूमिकायें देखी जा सकती हैं जो कि विविध अपेक्षाओं और दायित्व वाली होती है, जिसमें सन्तुलन आवश्यक है। यह पति और पत्नी दोनों से त्याग की अपेक्षा करता हैं। इस प्रकार विवाह के स्थायित्व के लिए पति-पत्नी का भूमिका निर्वाह परम आवश्यक हैं। अत: समाजशास्त्रियो के द्वारा विवाह का अध्ययन करते समय इसमें पाए जाने वाले प्राथमिक सम्बन्धों का ही विश्लेषण नहीं किया जाता अपितु इसमें भोजन धनोपार्जन, बच्चों के पालन पोषण आदि से सम्बन्धित विभिन्न भूमिकाओं का विश्लेषण भी किया जाता है। जिनका अभाव विवाह सम्बन्धों के टूटने या परिवारिक विघटन का कारण होता हैं।

अत: कहा जा सकता है कि विवाह व्यक्ति की जैविक (यौन आवश्यकता) मनोवैज्ञानिक (स्नेह और सहानुभूति) और आर्थिक (भोजन, वस्त्र, निवास) की आवश्यकताओं की पूर्ति करता हैं।

### 3.2.1 विवाह की उत्पत्ति

उद्विकासवादियों के अनुसार प्रारम्भ में समाज में विवाह नामक कोई संस्था नहीं थी और समाचार की व्यवस्था में स्त्री-पुरूष के यौन सम्बन्धों पर किसी प्रकार की रोकथाम नहीं थी। इस आदिम स्थिति से विवाह संस्था क्रमश: विकसित होकर 19वीं शताब्दी में एक विवाह की स्थिति तक पहुँच गयी है। प्रसिद्ध मानवशास्री मार्गन ने इसी समाचार से एक विवाह तक विवाह की उत्पत्ति को स्पष्ट किया हैं।

दूसरी ओर यह मान्यता भी प्रचलित है कि प्रारम्भिक काल में व्यक्ति जीवन यापन की समस्या के कारण विवाह करता था। जैसे आर्थिक कार्यो में बच्चों के सहयोग वृद्धावस्था में बच्चों की सहायता, खेती-बाड़ी के कार्यो में स्त्रियो की आवश्यकता विवाह की अभिप्रेरणाओं के रूप में देखे जा सकते हैं। लेकिन इन व्यावहारिक कारणों का अभिप्राय यह कदापि नहीं है कि विवाह में प्रेम और सहयोग नहीं था। जैसा कि बोमैन यौन सन्तुष्टि, घर और बच्चों की इच्छा, मित्रता, सामाजिक स्थिति और सम्मान, तथा आर्थिक सुरक्षा एवं संरक्षण आदि को विवाह के मूलभूत उद्देश्यों के रूप में स्पष्ट करते हैं।

इसी प्रकार से मजूमदार यौन आवश्यकताओं की पूर्ति को विवाह का मूल कारण मानते हैं और साथ ही ने विवाह के उद्देश्यों में सन्तानोत्पति और बच्चों के लालन-पालन, आर्थिक आवश्यकताओं पूर्ति एवं सम्पति व उत्तराधिकार को भी सम्मिलित करते हैं।

## 3.3 हिन्दू विवाह

विश्वभर की विवाह संस्थाओं में हिन्दू विवाह का अपना विशिष्ट स्थान हैं। यद्यपि विवाह को स्त्री-पुरूष के बीच यौन सम्बन्ध या एक सामाजिक समझौता माना गया है परन्तु हिन्दू विवाह की यह परिभाषा पर्याप्त नहीं हैं, क्योंकि इसकी अपनी कुछ विशेषताएँ हैं। जिसे निम्न प्रकार से समझा जा सकता है।

के.एम.कापड़िया के अनुसार "हिन्दू विवाह एक धार्मिक संस्कार है, जिसमें विवाह के उददेश्य धर्म, प्रजा (सन्तान) तथा रति (आनन्द) बतलाए गए हैं।"

इस प्रकार कापड़िया की परिभाषा के आधार पर यह कहा जा सकता है कि हिन्दू विवाह धर्म के निर्वाह के लिए किया जाता है यद्यपि यौन सम्बन्ध विवाह का एक महत्वपूर्ण कार्य है परन्तु हिन्दू विवाह में इसे सबसे निम्न स्थान दिया गया है। सन्तान उत्पादन परिवार तथा समुदाय के हित में एक कर्तव्य माना गया है। अर्थात् पुत्र प्राप्ति या सन्तानोत्पत्ति ही विवाह का सर्वोच्च उद्देश्य नहीं था। अत: इसे दूसरा प्रमुख धर्म माना गया है। हिन्दू विवाह न तो केवल यौन सम्बन्ध के लिए और न ही सन्तोत्पत्ति के लिए किया जाता है जितना कि धार्मिक कृत्यों के लिए किया जाता है। हिन्दू विवाह को धार्मिक संस्कार माने जाने के कई कारण हैं। (1) धार्मिक संस्कारों को पूरा करना जैसे यज्ञ, कन्यादान, पाणिग्रहण, सप्तपदी आदि। (2) अग्नि की

साक्षी एवं ब्राह्मण द्वारा वेदों के मन्त्रोचारण (3) विवाह को अटूट बन्धन मानना अर्थात् जीवन पर्यन्त विवाह सम्बन्ध बना रहना। जिसमें गृहस्वामी का यह कर्त्तव्य होता है कि वह पंच महायज्ञ में अपनी पत्नी के साथ नित्य आहुति प्रदान करे। इन दायित्वों की समाप्ति गृहस्वामी की मृत्यु पर होती थी। पत्नी की मृत्यु हो जाने पर इन कार्यो में होने वाले व्यवधान को समाप्त करने हेतु गृहस्वामी के लिए तुरन्त दूसरी पत्नी का विधान था। अत: विवाह का प्रमुख उद्देश्य धर्म था। (4) पुरूष के समान विवाह स्त्री के लिए भी अत्यन्त आवश्यक था क्योंकि स्त्रियो के लिए यही एक संस्कार था। (5) इसमें स्त्रियो के कौमार्य और पुरूषों की वफादारी पर बल दिया जाता था। (6) चूँकि विवाह को धार्मिक दृष्टि से एक पवित्र संस्कार माना गया था अत: यह अटूट बन्धन था। अर्थात् वर-वधू को अपनी इच्छा से विवाह विच्छेद की अनुमति नहीं थी। इसका अभिप्राय है कि हिन्दू विवाह में पति-पत्नि के विचारों में मतभेद होने पर भी एक दूसरे से अलग होने के स्थान पर वे अपनी-अपनी रूचि, स्वभाव एवं हितों को एक दूसरे के अनुकूल बनावें। अत: दोनों में त्याग की भावना को महत्व दिया गया इस दृष्टिकोण से हिन्दू विवाह एक साधारण कार्य नहीं है। यह परिवार तथा समुदाय के प्रति सामाजिक कर्त्तव्य था जिसमें व्यक्तिगत हित की कोई भावना नहीं थी।

उपरोक्त आधार पर कहा जा सकता है कि हिन्दू विवाह के तीन प्रमुख उद्देश्य हैं -

1. धर्म
2. प्रजा
3. रति

## 3.4 हिन्दू विवाह के स्वरूप

भारतीय धर्म-शास्त्रों में विवाह के आठ प्रकार माने गये हैं। जिनमें से चार को श्रेष्ठ और वांछनीय समझे जाते है। यह विवाह पिता/परिवार की अनुमति से सम्पन्न होते थे वहीं चार अन्य अधर्म्य अवांछनीय है क्योंकि इन्हें पिता या परिवार की स्वीकृति प्राप्त नहीं थी।

धर्म-शास्त्रों में स्वीकृत प्रथम विवाह में ब्राह्म, दैव, आर्ष और प्रजापत्य विवाह थे जबकि शेष चार अवांछनीय विवाह में असुर, राक्षस, गान्धर्व और पैशाच विवाह सम्मिलित थे।

**1. ब्रह्म विवाह -**

यह विवाह माता-पिता द्वारा निश्चित किया जाता हैं। इस विवाह का आधार कानूनी न होकर धार्मिक है। जिसमें पिता द्वारा वस्त्र और अलंकारों से सुसज्जित कन्या का दान विद्वान और शीलवान वर को किया जाता है। ब्राह्म विवाह ब्राह्मण द्वारा सम्पन्न किया जाता है, जिसमें होम, पाणिग्रहण और सप्तपदी जैसे धार्मिक कार्य सम्मिलित होते हैं।

**2. दैव विवाह -**

विवाह के इस स्वरूप में भी कन्यादान का महत्व था, जिसमें कन्या के पिता द्वारा यज्ञ की व्यवस्था की जाती है तथा उस यज्ञ कार्य को जो ब्राह्मण उचित ढंग से करता था उसे वस्त्र एवं अलंकारों सुसज्जित कन्या का दान दिया जाता था।

**3. आर्ष विवाह -**

आर्ष विवाह में ऋषि से एक गाय और बैल का जोड़ा भेंट लेकर कन्या को पत्नी के रूप में सौंप दिया करता था। यह भेंट मात्र एक संस्कार के रूप में थी कि अर्थात् यह ऋषि के गृहस्थ जीवन बिताने की इच्छा की सूचक थी।

**4. प्रजापत्य विवाह -**

इस विवाह में भी कन्या के माता-पिता की अनुमति आवश्यक थी परन्तु इसमें कोई विशेष संस्कार सम्पन्न नहीं होते थे। प्रजापत्य विवाह में तुम दोनों मिलकर गृहस्थ धर्म का आचरण करो कहकर विधिवत वर की पूजा करते हुए वर को पिता कन्या का दान करता था।

**5. असुर विवाह -**

यह विवाह एक प्रकार का आर्थिक अनुबन्ध था जिसमें कन्या मूल्य दिया जाता था। अर्थात् विवाह का इच्छुक व्यक्ति अपनी इच्छा से कन्या के पिता को धन देकर विवाह करता था।

**6. गान्धर्व विवाह -**

यह विवाह वर और कन्या कि इच्छा से सम्पन्न होता है अत: कुछ लोग इसे अच्छा भी मानते हैं। गान्धर्व विवाह में माता-पिता की अनुमति की आवश्यकता नहीं थी और न ही संस्कारों या दान-दहेज की। इस विवाह का आधार प्रेम और यौन सन्तुष्टि है। धर्म का महत्व कम होने के कारण ही इसे अवांछनीय माना जाता है।

**7. राक्षस विवाह -**

प्राचीन समय में ऐसे विवाह को अधिक महत्व दिया जाता था। अर्थात् युद्ध में जीतने वाले राजा, पराजित राज्यों से सुन्दर कन्याओं का हरण कर या कन्या के माता-पिता की अनुमति के बिना छीनकर अथवा कपट से विवाह कर लेते थे। इस विवाह में कन्या युद्ध का पारितोषिक मानी जाती थीं।

**8. पैशाच विवाह -**

मनु ने पैशाच विवाह को अधर्म और पापिष्ठ कहा है, जिसमें सोई हुई, उन्मत्त, मदिरा पान या राह में अकेली जाती हुई लडकी से कोई व्यक्ति बलपूर्वक कुकृत्य कर लेता है और बाद में संयोग की पवित्रता और सामाजिक व्यवस्था को बनाए रखने के लिए जब उससे विवाह कर लिया जाता है तो उसे पैशाच विवाह कहा जाता है।

विवाह के उपरोक्त आठ स्वरूपों में से ब्राह्म विवाह ही सर्वोत्तम समझा जाता है। इस विवाह में कन्या को. योग्य वर को दान दिया जाता है।

## 3.5 विवाह के प्रकार

मानव समाज के विकास को देखा जाए तो विवाह के अनेक प्रकार दिखाई देते हैं। जिन्हें पति-पत्नी की संख्या के आधार पर निम्न प्रकार से रेखांकित किया जा सकता है।

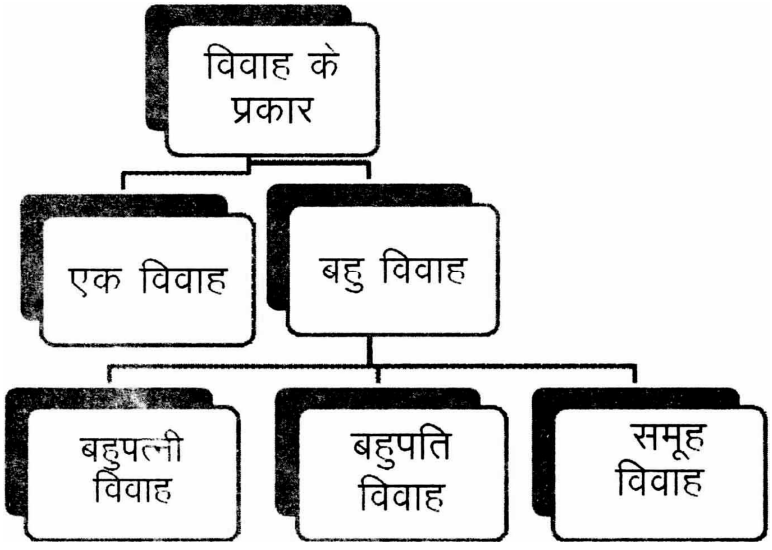


**एक विवाह -** एक विवाह में न केवल एक पुरूष एक स्त्री से ही विवाह करता है अपितु दोनों में से किसी एक की मृत्यु हो जाने पर दूसरा पक्ष अन्य विवाह नहीं करता। वर्तमान में एक विवाह को ही सर्वश्रेष्ठ और आदर्श विवाह कहा जाता है। मार्गन के विवाह के उद्विकास में भी एक विवाह को ही सर्वश्रेष्ठ विवाह के रूप में स्पष्ट किया है।

**बहु विवाह -** जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है इस विवाह में या तो पुरूषों की संख्या एक से अधिक होती है या स्त्रियो की। बहु विवाह के प्रकारों में बहुपत्नी, बहुपति और समूह विवाह सम्मिलित हैं।

**बहु पत्नी विवाह -** एक समय में एक से अधिक स्त्रियो से विवाह करने को बहुपत्नी विवाह कहा जाता है। विवाह का यह प्रकार प्राचीन काल से प्रचलित रहा है। यह धनी, शासक, और अभिजात वर्ग में सामान्य था। बहुपत्नी विवाह सशर्त या अप्रतिबन्धित भी हो सकता है। इस विवाह के कारणों में स्त्री के बाँझ होने, पुत्र प्राप्ति की कामना, स्त्री के विद्रोही, झगड़ालू या कठोर स्वभाव को सम्मिलित किया गया है। महाभारत में कहा गया है कि जो व्यक्ति अकारण ही दो बार विवाह करता है वह ऐसा पाप करता है जिसका कोई प्रायश्चित नहीं है।

वर्तमान में "'बहुपत्नी' विवाह वैद्यानिक रूप से निषेधित है। मोक्ष की धारणा व पुत्रेच्छा का विचार कम होने, अधिक पत्नियों से पारिवारिक तनाव एवं स्त्रियों का आर्थिक रूप से आत्म निर्भर होने जैसे कारणों ने वर्तमान में बहुपत्नी विवाह के प्रचलन को कम कर दिया है।

बहुपति विवाह इस विवाह का अभिप्राय एक स्त्री के साथ कई पुरूषों के विवाह से है। महाभारत काल में पांच पाण्डवों के साथ द्रोपदी का विवाह इस विवाह का महत्वपूर्ण उदाहरण है। वर्तमान में दक्षिण भारत के हिन्दुओं में "नायर" में यह प्रथा प्रचलित है।

बहुपति विवाह के दो रूप पाए जाते हैं (1) भ्रातृ बहुपति विवाह (2) अभ्रातृबहुपति विवाह।

भ्रातृ बहुपति विवाह में दो या दो से अधिक भाई मिलकर किसी एक ही से विवाह करते हैं यह प्रथा भारत में खासी और टोड़ा जनजातियों में प्रचलित है जबकि अभ्रातृ बहुपति विवाह में एक स्त्री के पति परस्पर भाई नहीं होते। यह प्रथा टोडा और नायरों में पाई जाती है। इन

विवाहों का सबसे बड़ा कारण लिंग अनुपात का असन्तुलित होना है। इसके अतिरिक्त गरीबी, कम पैदावार, कृषि योग्य भूमि का अभाव, वधू मूल्य आदि भी बहुपति विवाह के कारण हैं।

**समूह विवाह -** इस विवाह में पुरूषों के एक समूह का विवाह स्त्रियो के एक समूह से होता है और समूह के प्रत्येक स्त्री-पुरूष एक-दूसरे के पति-पत्नी होते हैं। उद्विकासवादियों के अनुसार यह विवाह की प्रारम्भिक अवस्था थी।

इस प्रकार समाज में विवाह के विविध प्रकारों को देखा जा सकता है जिनके पीछे कई सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक और जनांकिकी कारक उत्तरदायी रहे हैं। वर्तमान में भारतीय समाज एक विवाह को ही कानूनी रूप से स्वीकृति प्रदान की गई है।

## 3.6 हिन्दू विवाह में जीवन साथी चुनाव के क्षेत्र

हिन्दू विवाह में विवाह साथी चुनाव की व्याख्या मुख्यत: तीन दृष्टिकोणों से निम्न प्रकार से की जा सकती है।

**चुनाव का क्षेत्र -** अर्थात् धर्म, जाति, वर्ग और नातेदारी में किन लोगों में विवाह स्वीकृत है और किनमें अस्वीकृत।

**चुनाव करने वाला पक्ष -** अर्थात् जीवन साथी का चुनाव कौन करेगा।

**चुनाव का आधार -** अर्थात् वर-कन्या के गुण तथा व्यक्ति और परिवार की जानकारी।

वर-वधू चुनाव के क्षेत्र में हिन्दू समाज ने तीन अवधारणाओं को आधार मान इसे सीमित किया हैं।

(1) अन्तर्विवाह

(2) बहिर्विवाह

(3) अनुलोम विवाह

हिन्दू समाज अनेक जातियों में विभक्त है और यह जातियों कई उपजातियों एवं शाखाओं में विभाजित हैं।

(1) **अन्तर्विवाह -** हिन्दू समाज में जिन सामाजिक नियमों के अनुसार व्यक्ति का अपने ही वर्ग अथवा जाति में विवाह करने या जीवन साथी के चुनाव की आज्ञा प्राप्त होती है तो उसे अन्तर्विवाह कहा जाता है। जाति के साथ-साथ यह नियम जीवन साथी के चुनाव को उपजाति तक भी सीमित करता है, कई बार समूहों की बहुलता के कारण वर एवं वधू के चुनाव का क्षेत्र बहुत सीमित हो जाता है।

जातीय अन्तर्विवाह का उल्लंघन करने पर पर व्यक्ति को जाति से अलग कर दिया जाता है चुँकि जाति का अपने सदस्यों पर बहुत अधिक प्रभाव होता है अत: जाति से बहिष्कृत व्यक्ति को विवाह, दाह संस्कार के अवसर पर जब सहयोग की अत्यधिक आवश्यकता होती है कई समस्याओं का सामना करना पड़ता है।

अन्तर्विवाह के पीछे छिपे कारणों में जाति की एकता की भावना और वैवाहिक समायोजन में आसानी आदि हैं। लेकिन वहीं दूसरी ओर यह विवाह का दायरा सीमित होने से दहेज, बाल विवाह जैसी समस्याओं को उत्पन्न करने में भी सहायक होता है।

बहिर्विवाह :- हिन्दू विवाह के इस सामाजिक नियम के अनुसार जीवन साथी का चुनाव कुछ समूहों में निषिद्ध होता है। अर्थात जीवन साथी का चुनाव कुछ समूहों के बाहर किया जाता है। बहिर्विवाह के दो स्वरूप है

(1) गोत्र बहिर्विवाह

(2) सपिंड बहिर्विवाह।

गोत्र का अभिप्राय व्यक्तियों के ऐसे समूह से है जो किसी एक ही कल्पित ऋषि से अपनी उत्पत्ति मानते हैं अत: उनमें विवाह सम्बन्ध निषिद्ध माना जाता हैं। जबकि सपिण्ड का तात्पर्य उस व्यक्ति से है जिसमें एक ही शरीर के कण विधमान हैं। अर्थात यह एक ही पूर्वज से सम्बन्धित होते हैं, और उन्हें रक्त-सम्बन्धी माना जाता है। अत: सपिण्ड बहिर्विवाह में माता तथा पिता की ओर से कुछ पीढ़ियों में विवाह का निषेध है।

बहिर्विवाह का कारण स्त्रियो की कमी, कुल और गोत्र में यौन अनैतिकता को रोकने, तथा एक साथ पालन-पोषण के कारण व्यक्तियों में यौन आकर्षण नहीं होना है। इसी प्रकार से जैवीकीय दोषों को आने वाली सन्तानों में आने से रोकने के लिए भी बहिर्विवाह का प्रचलन बढ़ा।

अब हिन्दू विवाह से सम्बन्धित अधिनियमों में गोत्र बहिर्विवाह के प्रतिबन्ध तो हटा दिए गए है लेकिन फिर भी यदा-कदा गोत्र में विवाह कर लेने पर हिंसा को देखा जा सकता है। इसी प्रकार से रक्त सम्बन्धियों की कोई सीमा नहीं होती अत: वैद्यानिक दृष्टि से पितृ पक्ष की पाँच तथा मातृ पक्ष की तीन पीढ़ियों में विवाह को निषिद्ध माना गया है।

भारतीय समाज की विशेषताओं में वर्ण एवं जाति व्यवस्था भी सम्मिलित हैं इस आधार पर जीवन साथी के चुनाव को लेकर अनुलोम और प्रतिलोम विवाह को स्पष्ट करना भी अनिवार्य है। हिन्दू समाज में अनुलोम विवाह, विवाह की वह सामाजिक प्रथा है जिसमें उच्च जाति या वर्ण के लड़के का विवाह निम्न जाति या वर्ण की कन्या से होता है। इसके विपरीत यदि लड़की का कुल, वंश, गोत्र, जाति या वर्ण लड़के से उच्च होता है तो ऐसे विवाह को प्रतिलाम कहा जाता है।

एम.के.कापड़िया के अनुसार, हिन्दू समाज में जाति संरचना में विवाह के स्वरूपों की तुलना में अनुलोम और प्रतिलोम विवाह का अधिक महत्व हैं।

अन्त में कहा जा सकता है कि हिन्दुओं में विवाह एक संस्कार है जिसमें कन्या दान का विशेष महत्व है इस कारण स्त्री को अपने वर के चुनाव में इच्छा या स्वतन्त्र चुनाव की कोई गुंजाइश नहीं थी, तथा वर- वधू का चुनाव पिता द्वारा किया जाता था।

**मुस्लिम के विवाह-**

मुस्लिम विवाह को निकाह कहा जाता है। मोहम्मद साहब के समय में अरब लोगों में बहुपत्नी विवाह का प्रचलन था, हिन्दुओं के विवाह के समान मुस्लिम विवाह एक पवित्र संस्कार न होकर एक अनुबन्ध है। जिसमें दो साक्षियों की उपस्थिति अनिवार्य है। इस अनुबन्ध अथवा समझौते का प्रतिफल मेहर है अर्थात यह एक प्रकार की रकम है जो वधू को भेंट दी जाती है, लेकिन यह कानून द्वारा निर्धारित नहीं होती अत: घटती-बढ़ती रहती है। मेहर को वधूमूल्य भी

नहीं कहा जा सकता क्यों कि मुस्लिम विवाह में वधू की स्वीकृति विवाह का एक आवश्यक अंग है और स्त्री को खरीदने या स्त्री को सम्पत्ति के रूप में मानने जैसी कोई भावना ही पाई जाती है। अत: मेहर का सम्बन्ध विवाह की पूर्णता से भी है। अर्थात् वास्तविक रूप से अथवा कानूनी रूप से पति-पत्नी के एक-दूसरे से अलग हो जाने की स्थिति में मेहर पर पत्नी का पूरा-पूरा अधिकार होता है।

**मुस्लिम विवाह के तीन प्रमुख लक्ष्य हैं -**

- यौन नियंत्रण।
- गृहस्थजीवन को व्यवस्थित करना।
- सन्तानोत्पत्ति एवं बच्चों का पालन-पोषण।

रौलेण्ड विल्सन :- मुस्लिम विवाह यौन समागम को वैधानिक बनाना और बच्चों को जन्म देना मात्र है।

यद्यपि मुस्लिम विवाह का प्रमुख लक्ष्य यौन आवश्यकताओं की पूर्ति एवं सन्तानोत्पत्ति बताया गया है परन्तु साथ ही यह धार्मिक कर्त्तव्य भी है अर्थात् यह 'इबादत' की क्रिया है जिसे मुस्लिम व्यक्ति एक धार्मिक कृत्य मानकर करता है और उसे परलोक में पुरस्कार मिलता है।

मुस्लिम विवाह की प्रमुख विशेषताएँ। (शर्ते) -

मुस्लिम विवाह की प्रमुख विषेशताएँ निम्न (शर्ते) प्रकार से है।

1. विवाह हेतु किसी भी एक पक्ष द्वारा विवाह का प्रस्ताव रखना।
2. दोनों पक्षों की स्वतन्त्र स्वीकृति।
3. विवाह की स्वीकृति हेतु दोनों पक्ष न तो अल्पवयस्क हों और न ही पागल हों।
4. अल्पवयस्क होने स्थिति में उनके संरक्षकों द्वारा विवाह की स्वीकृति।
5. समझौते के प्रतिफल के रूप में कुछ धन (मेहर)।
6. दो पुरूष गवाहों की उपस्थिति।
7. मौलवी की उपस्थिति आदि।

## 3.8 मुस्लिम विवाह के प्रकार

मुस्लिम में विवाह के मुख्य रूप से तीन प्रकार निम्न है।

1. **सही/वैध विवाह -** जिस विवाह में विवाह की सभी शर्तो का पालन किया गया हो। जो स्थाई एवं मुस्लिम रीति-रिवाजों के अनुसार सम्पन्न हो सही या वैध विवाह कहलाता है।
2. **मुताह विवाह** - इसे अस्थायी विवाह भी कहते हैं। मुस्लिम समाज 'शिया' और 'सुन्नी' दो श्रेणियों में विभक्त हैं। जिनमें शिया मुसलमानों में मुताह विवाह भी प्रचलित है। इस विवाह में सहवास का काल एवं मेहर दो आवश्यक शर्ते होती हैं, तथा अवधि समाप्त होने पर यह विवाह स्वत: समाप्त हो जाता है।

3. **अनियमित विवाह (फासिद) -** इस प्रकार के विवाह में कुछ बाधाएँ होती हैं जिन्हें दूर कर विवाह को पुन: नियमित किया जा सकता है। अर्थात् यह विवाह अवैधानिक (बातिल) नहीं होता। 'फासिद' एवं 'बातिल' विवाह में अन्तर यह है कि 'फासिद' विवाह की रूकावटों को दूर कर सही विवाह में बदला जा सकता है, जबकि 'बातिल' विवाह में परिवर्तन असम्भव है।

**मेहर -** मुस्लिम में विवाह को एक अनुबन्ध माना गया है जिसका प्रतिफल मेहर है। जो कि एक प्रकार का धन या सम्पत्ति है लेकिन कानून द्वारा निर्धारित नहीं होने के कारण मेहर की राशि घटती-बढ़ती रहती है। मुस्लिम नियम के अनुसार मेहर पति पर एक कर्त्तव्य है, जिसकी राशि विवाह से पहले, विवाह के बाद या विवाह के समय निश्चित की जा सकती है। इस प्रकार मेहर चार प्रकार का होता है।

1. निर्दिष्ट मेहर - जब विवाह के समय या विवाह से पूर्व दोनों पक्ष मिलकर मेहर की राशि तय कर लेते है तो उसे निश्चित या 'निर्दिष्ट' मेहर कहा जाता है।
2. उचित मेहर - विवाह के समय मेहर की राशि निश्चित न कर पति या उसके परिवार की आर्थिक स्थिति को अथवा महिला के परिवार की अन्य स्त्रियों को दिए गए मेहर को ध्यान में रखकर जो मुनासिब राशि तय की जाती है उसे उचित मेहर कहते हैं।
3. सत्वर मेहर - माँग किए जाने पर दिया जाने वाला मेहर सत्वर मेहर कहलाता है।
4. स्थगित मेहर - जो मेहर विवाह विच्छेद के बाद दिया जाता है, उसे स्थगित मेहर कहते हैं।
5. इस प्रकार मेहर का सम्बन्ध विवाह की पूर्णता से है जिस पर स्त्री का पूरा-पूरा अधिकार होता है।

## 3.9 विवाह-विच्छेद

मुस्लिम विवाह एक अनुबन्ध या समझौता है अत: दोनों पक्षों में से कोई भी पक्ष जब इस समझौते का पालन नहीं करता। तो ऐसी स्थिति में दोनों में विवाह-विच्छेद हो जाता है। मुस्लिम कानून के अनुसार विवाह विच्छेद बिना अदालत के अथवा अदालती कार्यवाही के बाद किया जा सकता है। तलाक या विवाह-विच्छेद की घोषणा हो जाने के पश्चात भी स्त्री तीन माह अर्थात तीन मासिक धर्मो की अवधि तक स्वतन्त्र नहीं हो सकती। प्रतीक्षा की इस अवधि को 'इद्दत'' की अवधि कहा जाता है। इसके पीछे सबसे बड़ा कारण यह है कि यह पता लगाया जा सके कि कहीं स्त्री गर्भवती तो नहीं है। इसके साथ ही पति को यह अधिकार भी प्राप्त होता है कि वह तलाक शुदा अपनी पत्नी को पुन: बिना किसी रस्मों-रिवाज के पत्नी के रूप (प्राचीन अरबी कानून में इस्लाम द्वारा तीन मास की प्रतीक्षा के पीछे दूसरा बड़ा कारण यह भी रहा कि इस बीच पति को अपनी भावनाओं को दबाने और क्रोध में लिए गए निर्णय पर पुन: विचार करने का अवसर मिल जाता था। अत: इद्दत की अवधि ने शीघ्रता या आवेश में दिए गए तलाक पर नियंत्रणकारी प्रभाव डालना।) लेकिन यहाँ उल्लेख करना होगा कि मोहम्मद साहब परिवार में स्थिरता लाना चाहते थे अत: विवाह-विच्छेद के पक्ष में नहीं थे। अत: विवाह-विच्छेद की

अनुमति तभी दी जाती थी जब दोनों पक्षों के बीच यह आशंका उत्पन्न हो जाती थी वे ईश्वरीय सीमा के अन्दर नहीं रह सकते।

## 3.10 तलाक के प्रकार

मुस्लिम कानून में कोई भी स्वस्थ मस्तिष्क वाला पुरूष बिना कारण बताए अपनी पत्नी को तलाक दे सकता है। न्यायिक प्रक्रिया द्वारा मुस्लिम विवाह अधिनियम 1939 के अन्तर्गत या 'मुस्लिम कानून' ' के अन्तर्गत तलाक का प्रावधान है । अत: तलाक निम्नलिखित तरीकों से दिया जा सकता है।

1. **तलाक ए अहसन** - इस तलाक में पति, पत्नी के 'तुहर' (मासिकधर्म) के समय एक बार तलाक की घोषणा करता है और उसके पश्चात इद्दत की अवधि तक यौन सम्बन्ध स्थापित नहीं करता, इस अवधि की समाप्ति पर दोनों पक्षों में तलाक मान लिया जाना है।
2. **तलाक ए हसन -** इसमें लगातार तीन मासिक धर्म या तुहर की अवधि में पति तलाक की घोषणा करता है और सहवास नहीं करता तो इस अवधि की समाप्ति के बाद तलाक मान लिया जाता है।
3. **तलाक-उल-बिद्दत -** तलाक के इस प्रकार में पति, पत्नी के किसी भी मासिक धर्म के दौरान थोड़े-थोड़े समय से तीन बार तलाक की घोषणा करता है और उनमें तलाक हो जाता है।
4. **इला -** पति यौन परिपक्वता प्राप्त करने के पश्चात शपथ लेकर यह घोषणा करता है कि वह चार माह या एक निश्चित अवधि तक अपनी पत्नी के साथ यौन सम्बन्ध स्थापित नहीं करेगा तो दोनों मे तलाक हो जाता है।
5. **जिहर -** दो साक्षियों के समक्ष अपने होशो-हवास में यदि पति अपनी पत्नी की तुलना किसी ऐसी स्त्री से कर दे जिसमें विवाह निषेध है तो पत्नी तलाक की मांग कर सकती है।
6. **लियान -** यदि पति अपनी पत्नी पर व्यभिचार का आरोप लगाता है तो पत्नी को यह अवसर मिल जाता है कि या तो उसका पति इस आरोप को सिद्ध करे अथवा इस आरोप को वापस ले अन्यथा वह अदालत से तलाक की मांग करती है।
7. **खुला -** इस तलाक में पहल पत्नी की होती है और वह मांग करती है कि यदि उसका पति उसे इस विवाह बन्धन से मुक्त कर दे तो वह मेहर की राशि लौटा देगी।
8. **मुबारत -** यह तलाक पति-पत्नी दोनों की सहमति से होता है।

इस प्रकार हिन्दु और मुस्लिम विवाह में बहु पत्नी विवाह और बाल-विवाह का प्रचलन है लेकिन फिर भी विवाह के उद्देश्य, वैवाहिक प्रक्रिया, स्वरूप, दहेज और मेहर, विवाह के स्थायित्व, जीवन साथी के चुनाव के क्षेत्र, आदि के आधार पर अन्तर पाया जाता है।

## 3.11 ईसाई विवाह

मानवतावादी दृष्टिकोण समानता एवं बंधुत्व के विचारों के कारण ईसाई धर्म ने भारतीय समाज में अपना विशिष्ट स्थान बना लिया है। ईसाइयों के जीवन में धर्म का महत्वपूर्ण स्थान है इसी कारण इनके विवाह और परिवार पर धर्म का स्पष्ट प्रभाव दिखाई देता है। ईसाई धर्म कैथोलिक और प्रोटेस्टेन्ट दो समूहों में विभाजित है लेकिन दोनों में परस्पर विवाह की अनुमति नहीं है। इस धर्म की मान्यता है कि विवाह ईश्वर की इच्छा से सम्पन्न होता है। अर्थात् अनुचित यौन सम्बन्धों को रोकने के लिए स्त्री और पुरूष के बीच विवाह अनिवार्य है इस प्रकार ईसाई विवाह के तीन प्रमुख उद्देश्य हैं.

1. सन्तान उत्पत्ति।
2. बिना विवाह के यौन सम्बन्धों पर नियन्त्रण।
3. पारस्परिक सहयोग व सान्त्वना।

अत: विवाह न केवल जैविकीय सम्बन्ध अपितु मानसिक और धार्मिक सम्बन्ध भी स्थापित करता है। इस प्रकार कहा जा सकता है कि "ईसाई विवाह एक पुरूष और स्त्री के बीच यौन सम्बन्ध, पारस्परिक साहचर्य व परिवार की स्थापना के लिए एक अनुबंध है, जो सामान्यत: पूरे जीवन के लिए होता है।"

**जीवन साथी का चुनाव**

ईसाई विवाह में जीवन साथी का चुनाव अधिकांशत: माता-पिता के द्वारा ही किया जाता है लेकिन कभी-कभी लड़का और लड़की स्वयं भी अपने जीवन-साथी का चुनाव कर लेते हैं। जीवन साथी का चुनाव रक्त-सम्बन्धियों में नहीं होता। सामान्यतया जीवन-साथी के चुनाव में परिवार, शिक्षा, चरित्र आदि का ध्यान रखा जाता है। जीवन साथी के चुनाव के पश्चात इस विवाह में सबसे बड़ा कार्य सगाई का सम्पन्न किया जाता है, तत्पश्चात गिरजे की सदस्यता का प्रमाण पत्र, चरित्र प्रमाण पत्र, विवाह की निश्चित तिथि के तीन सप्ताह पूर्व चर्च में विवाह हेतु प्रार्थना पत्र प्रस्तुत करने जैसी औपचारिकताएँ पूरी की जाती है। इस बीच चर्च में पादरी के द्वारा एक निश्चित अवधि तक विवाह के विरूद्ध लिखित में आपत्ति न आने पर वर-वधू की स्वतन्त्र स्वीकृति लेते हुए गवाहों के समक्ष विवाह की घोषणा कर विवाह सम्पन्न करवाया जाता है।

अन्त में कहा जा सकता है कि ईसाई विवाह में एक विवाह आदर्श विवाह माना जाता है लेकिन विवाह-विच्छेद, न्यायिक पृथक्करण, एवं विधवा पुनर्विवाह को भी यह धर्म स्वीकृति प्रदान करता है। लेकिन ईसाइयों में मेहर या दहेज का प्रचलन नहीं है। अर्थात् यह स्त्री और पुरूष के बीच एक ऐसा समझौता है जिसमें यौन सम्बन्धों की अपेक्षा आपसी सहयोग और सहायता पर अधिक बल दिया जाता है।

## 3.12 विवाह में परिवर्तन

इस अध्याय में आपने अब तक हिन्दु-मुस्लिम और ईसाई विवाह के बारे में पढ़ा। विवाह एक ऐसी संस्था है जो विश्व के सभी भागों में अनिवार्य रूप से पाई जाती है तथा इस

व्यवस्था का आधार यह परिवार एवं नातेदारी है। वास्तव में यह एक जीवन-विधि है। जिसकी सफलता पति-पत्नी दोनों के समायोजन पर निर्भर है। इसी कारण आज प्रेम विवाह को भी सामाजिक रूप से स्वीकार किया जाने लगा है। हिन्दू विवाह में होने वाले परिवर्तन के पीछे मुख्य रूप से विवाह सम्बन्धी अधिनियम हैं। जिनमें प्रमुख, हिन्दू विवाह अधिनियम, 1955 बाल विवाह निरोधक अधिनियम, 1929, हिन्दू विधवा पुनर्विवाह अधिनियम, 1856 और दहेज निरोधक अधिनियम, 1961 है। अत: हिन्दू विवाह पद्धति में होने वाले परिवर्तन को मुख्य रूप से सात क्षेत्रों में देखा जा सकता है।

1. हिन्दू विवाह का प्रमुख उद्देश्य धार्मिक के स्थान पर सहयोगी जीवन साथी के रूप में दिखाई देने लगा है।
2. बहु विवाह के स्थान पर एक-विवाह की और परिवर्तन।
3. अन्तर्जातीय विवाह को स्वीकृति अर्थात् जीवन साथी का चुनाव स्वयं वर-वधू व्यक्तिगत रूप से कर रहे है जिसमें जाति कोई बंधन नहीं है।
4. बाल विवाह की अपेक्षा युवा होने पर विवाह को प्रोत्साहन दिया जाने लगा है।
5. हिन्दू विवाह में कानूनी रूप से तलाक को स्वीकार कर विवाह के स्थायित्व में परिवर्तन दिखाई देने लगा है।
6. विवाह के आर्थिक पहलू में परिवर्तन।
7. विधवा पुनर्विवाह।

हिन्दू विवाह में प्रमुख परिवर्तन विवाह सम्बन्धी कानून के फलस्वरूप हैं। कानून वास्तव में जनता की आवश्यकताओं के अनुरूप होना चाहिये और चूंकि सामाजिक आवश्यकताएँ परिवर्तनशील है अत: कानून में भी समयनुसार बदलाव आवश्यक है। सामाजिक विधानों या कानून का वास्तविक कार्य समाज में व्यवस्था बनाए रखना है ताकि पुराने नियमों (प्रथाओं) और आधुनिक आवश्यकता के बीच खाई को कम से कम या समाप्त किया जा सके। इसी कारण विवाह सम्बन्धित अधिनियम से सर्वाधिक परिवर्तन इसके दृष्टिकोण में आया है।

बालविवाह निग्रह अधिनियम, 1926 और उसमें सुधार कर 1978 में लड़के और लड़की की आयु क्रमश: 21 और 18 वर्ष की गई जिसके लिए दण्ड का प्रावधान भी रखा गया है। लेकिन यदि विवाह का एक वर्ष का समय बीत चुका हो तो अपराधी के लिए कोई कार्यवाही नहीं की जा सकती।

हिन्दू विवाह में गोत्र और प्रवर सम्बन्धी निषेध को समाप्त कर ऐसे विवाह को वैध माना में गया है, इसी प्रकार से विभिन्न जातियों, धर्मो एवं उपजातियों के बीच विवाह को भी कानूनी रूप से वैध माने जाने पर यह सामाजिक दृष्टि से भी स्वीकृत होने लगे हैं।

अब तक हिन्दू विवाह को एक धार्मिक संस्कार माना जाता रहा है लेकिन हिन्दू विवाह अधिनियम 1955, न्यायिक पृथ्थकरण एवं विवाह निरस्त की अनुमति भी देता है। अर्थात् कोई भी पक्ष दो वर्ष तक निरन्तर त्याग, निर्दयी व्यवहार, कोढ़ एवं व्यभिचार चार-आधारो पर न्यायिक पृथ्थकरण ले सकता है। अत: पत्नी भी उक्त आधारों पर तलाक की मांग करने लगी है। लेकिन विवाह-विच्छेद की डिक्री को एक वर्ष समाप्त नहीं होने तक विवाह-विच्छेदित पक्ष

पुनर्विवाह नहीं कर सकता। इस पृथ्थकरण के पश्चात् न केवल पत्नी बल्कि पति भी गुजारा भत्ता का दावा कर सकता है।

स्मृति काल के बाद से विधवा पुनर्विवाह की अनुमति नहीं थी लेकिन जन कल्याण एवं उच्च आदर्शो को प्रोत्साहन देने की दृष्टि से सन् 1856 में विधवा स्त्रियों के विवाह में आने वाली अड़चनों को दूर किया गया और समाज में इस विवाह को स्वीकृति मिलने लगी लेकिन इस विवाह में अल्प वयस्क विधवा स्त्री के विवाह में उसके निकटतम सम्बन्धियों की सहमति आवश्यक है। तथा यह अधिनियम विवाह के पश्चात प्रथम पति की सम्पत्ति में से निर्वाह अधिकार से स्त्री को वंचित करता है।

सहशिक्षा, औद्योगीकरण चलचित्र आदि के कारण न केवल प्रेम विवाह को प्रोत्साहन मिला है। बल्कि पति-पत्नी को समाज में समान स्तर मिला है जिससे समाज में उसकी प्रतिष्ठा बढ़ी है। दहेज या विवाह के दौरान खर्च को कम करने की दृष्टि से समूह विवाहों का आयोजन होने लगा है।

विवाह के क्षेत्र में यह परिवर्तन हिन्दुओं के समान ही मुस्लिम और ईसाई विवाह में भी दिखाई देता है। मुस्लिम विवाह में शिक्षा के प्रसार के साथ-साथ पर्दा प्रथा में कमी आई है, जिसमें उनमें भी अन्तर्जातीय विवाह होने लगे हैं लेकिन यह संख्या अभी बहुत कम है।

मुस्लिम विवाह-विच्छेद अधिनियम 1939 के अनुसार स्त्रियों को भी तलाक का अधिकार प्राप्त हुआ है। पाश्चात्य संस्कृति के प्रभाव, औधोगीकरण नगरीकरण शिक्षा, जागरूकता और कानून आदि के कारण बाल-विवाह में भी कमी आने लगी है वहीं बहुपत्नी विवाह के स्थान पर एक-विवाह को बढ़ावा मिलने लगा है। जिससे मुस्लिम विवाह का परम्परागत स्वरूप बदलने लगा है, पुरूषों की स्वेच्छा चारित पर अंकुश लगा और स्त्रियो को विवाह, परिवार एवं सम्पति के क्षेत्र में अधिकार प्राप्त हुए हैं।

इस क्षेत्र में विशेषकर शिक्षित मुसलमानों ने विवाह के सम्बन्ध में सामाजिक कानून व धार्मिक नियमों में परिवर्तन चाहा है, लेकिन वहीं दूसरी ओर परम्परागत विचारधारा कुरान की व्याख्या या धार्मिक नियमों में हस्तक्षेप को नापसन्द करती है।

औधोगीकरण नगरीकरण भौतिकवादी दृष्टिकोण, व्यक्तिवादिता आदि कारणों से ईसाई विवाह के आदर्शो में भी परिवर्तन आने लगा है जिसमें मुख्य रूप से विवाह की परम्परागत मान्यताओं में धार्मिक पक्ष कमजोर होता प्रतीत हो रहा है। उच्च शिक्षा, आर्थिक स्वतन्त्र विचारधारा, से पति-पत्नी में पारस्परिक सामंजस्यता की कमी के कारण विवाह-विच्छेद की संख्या बढती जा रही है।

अन्त में कहा जा सकता है। कि शिक्षा के प्रसार, परिवार, जाति व्यवस्था में परिवर्तन, व्यावहारिक गतिशीलता, स्त्रियों की बढ़ती हुई आर्थिक स्वतन्त्रता, सह-शिक्षा, और पब्लिक स्कूलों में शिक्षा ने विवाह के उद्देश्य, स्वरूप, जीवन साथी के चुनाव की प्रक्रिया विवाह सम्बन्धी कानून ओर स्थायित्व में परिवर्तन लाने में महत्वपूर्ण भूमिका अदा की है। आज युवा धार्मिक कृत्यों के लिए नहीं अपितु मित्रता के लिए विवाह करते हैं।

## 3.13 सारांश

विवाह दो विषम लिंगियों की पारिवारिक जीवन में प्रवेश करने की सामाजिक, धार्मिक या कानूनी स्वीकृति है। यह एक जीवन विधि है, जिसकी सफलता पति-पत्नी दोनों के समायोजन पर है। प्रारम्भिक काल में विवाह में प्रेम सहयोग और व्यावहारिक कारण भी महत्वपूर्ण था। जिसमें हिन्दुओं में धर्म, प्रजा और रति विवाह के उद्देश्य थे। धर्म के निर्वाह के लिए विवाह होने के हिन्दू विवाह एक धार्मिक संस्कार था। जिसमें जीवन साथी के चुनाव के क्षेत्र के व प्रतिलोम विवाह में अन्तर्विवाह बहिर्विवाह, अनुलोम विवाह, विवाह की आधारभूत अवधारणाएँ हैं। जबकि मुस्लिम विवाह एक कानूनी समझौता है। मुसलमानों में विवाह को निकाह कहा जाता है जिसमें दो साक्षियों की उपस्थिति अनिवार्य है। इस विवाह का प्रमुख उद्देश्य यौन संतुष्टि और सन्तानोत्पत्ति है। हिन्दुओं के समान ही ईसाई विवाह में भी धर्म का महत्वपूर्ण स्थान है। जिसमें में एक विवाह को ही आदर्श विवाह माना गया है। ईसाई विवाह में यौन सम्बन्धों की अपेक्षा आपसी सहयोग और सहायता पर अधिक बल दिया जाता है। गत कुछ दशकों में विवाह में अनेक परिवर्तन आए हैं। पारिणामस्वरूप अब विवाह अटूट बन्धन नहीं है। आधुनिक समाजों में विवाह का उद्देश्य मित्रता या सहयोग प्राप्ति होता जा रहा है।

## 3.14 अभ्यासार्थ प्रश्न

1. हिन्दू विवाह को स्पष्ट करते हुए इसके स्वरूपों की विवेचना कीजिए।
2. मुस्लिम विवाह पर एक निबन्ध लिखिए।
3. विवाह में होने वाले परिवर्तनों की चर्चा कीजिए।

## 3.15 सन्दर्भ ग्रन्थ


1. आहूजा राम, भारतीय समाजिक व्यवस्था, रावत पब्लिकेशन्स, जयपुर, 1995;
2. अली, सैयद अमीर, पर्सनल ली ऑफ मोम्डन्स, 1880;
3. कापडिया के.एम., भारत में विवाह और परिवार, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, दिल्ली 1972;

# इकाई - 4

# नातेदारी : अवधारणा, स्वरूप एवं परिवर्तन

**इकाई की रूपरेखा**


4.0 उद्देश्य

4.1 प्रस्तावना

4.2 नातेदारी का अर्थ एवं परिभाषा

4.3 नातेदारी का श्रेणियां

4.4 नातेदारी शब्दावली

4.5 नातेदारी का स्वरूप

4.5.1 पितृवंशीय स्वरूप

4.5.2 मातृवशींय स्वरूप

4.6 भारत में क्षेत्रीय भिन्नता एवं नातेदारी

4.7 नातेदारी में परिवर्तन

4.8 सारांश

4.9 शब्दावली

4.10 अभ्यासार्थ प्रश्न

4.11 अभ्यासार्थ प्रश्नों के उत्तर

4.12 सन्दर्भ ग्रंथ


## 4.0 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने पर आप समझ पायेंगे कि :

- नातेदारी की अवधारणा क्या है?
- नातेदारी की प्रमुख श्रेणियों को समझ सकेगे।
- जिस शब्दावली का प्रयोग नातेदार को सम्बोधित करने के लिए किया जाता है उसे समझेंगे।
- नातेदारी के दो प्रमुख स्वरूपों के बारे में जान पायेंगे।
- भारतीय समाज में क्षेत्रीय भिन्नता के आधार पर नातेदारी के स्वरूपों की भिन्नता को समझ पायेंगे।
- नातेदारी व्यवस्था मैं होने वाले परिवर्तनों को समझ सकेंगे।

## 4.1 प्रस्तावना

हम यह तो जानते है कि किसी भी सामाजिक व्यवस्था में परिवार समाज की एक महत्वपूर्ण इकाई होती है। परिवार की संरचना में मात-पिता एवं सन्तान होती है यदि परिवार में दो से अधिक पीढ़ी के सदस्य है तो दादा-दादी भी होते है, चाचा-चाची, ताऊ-ताई भी हो सकते हैं। अर्थात परिवार के सदस्य एक दूसरे से सम्बन्धित होते हैं इन्हीं सम्बन्धों को नातेदारी

सम्बन्ध कहा जाता है। परिवार के सदस्यों के आपसी सम्बन्ध दो प्रकार के होते है: प्रथम प्रकार रक्त होता है और दूसरा प्रकार विवाह होता है। अर्थात नातेदारी का आधार यदि रक्त है तो इसे हम रक्त सम्बन्धी नातेदारी कहते है, जैसे भाई-बहिन, पिता-पुत्र, पुत्री, दादा-पौत्र, पौत्री चाचा–ताऊ आदि। दूसरी ओर यदि नातेदारी का प्रकार विवाह है तो इसे हम विवाह सम्बन्धी नातेदारी कहते है। जैसे माता-पिता, चाची, ताई, फूफा, साला, साली, जीजा आदि। इनका सम्बन्ध विवाह होने के आधार पर बनता है। इस प्रकार हम देखते है कि परिवार में दो प्रकार के नातेदार होते हैं-रक्त सम्बन्धी नातेदार एवं विवाह सम्बन्धी नातेदार। हम यह भी जानते है कि भारत सांस्कृतिक विभिन्नता वाला देश है यहाँ की समाज व्यवस्था भी क्षेत्रीय आधार पर भिन्न है फलस्वरूप नातेदारी के स्वरूपों में भी भिन्नताएं है इन सभी को हम समझने का प्रयास करेगे।

## 4.2 नातेदारी का अर्थ एवं परिभाषा

नातेदारी व्यवस्था को समझने के लिए सामाजिक मानवशास्त्रियों एवं समाजशास्त्रियों ने अध्ययन किये है। भारत में इरावती कर्वे ने नातेदारी व्यवस्था पर जो अध्ययन किया उसे हम उनकी पुस्तक 'किनशिप आरगेनाइजेशन इन इण्डिया' के द्वारा समझ सकेगें। इसी प्रकार के अध्ययन टी०एन० मदन, ए०सी मेयर तथा आई०पी० देसाई ने भी किये है। नातेदारी व्यवस्था के अध्ययन करने में भिन्नता हो सकती है, लेकिन नातेदारी के अर्थ और परिभाषा में कोई भिन्नता नहीं है। अर्थात नातेदारी का आधार परिवार है और परिवार के सदस्यों के बीच सम्बन्ध नातेदारी व्यवस्था को बनाते हैं। एक परिवार 'जनक' परिवार कहलाता है जिसमें व्यक्ति का जन्म होता है तथा उसका पालन पोषण होता है। दूसरा परिवार 'जनन परिवार' होता है। जिसकी स्थापना व्यक्ति स्वंय विवाह के द्वारा करता है नातेदारी व्यवस्था इन दो एकांकी परिवारों की व्यक्तिगत सदस्यता से निर्मित होती है। अत: नातेदारी व्यवस्था जनक परिवार एवम् जनन परिवार के सदस्यों के आपसी सम्बन्धों का परिणाम है।

**परिभाषा -**

थीओडरसन एवं थीओडरसन ने नातेदारी को परिभाषित करते हुए लिखा है कि वह सामाजिक सम्बन्ध जो परिभाषित सम्बद्धता पर आधारित हो तथा नातेदारी समूह वह समूह है जो रक्त अथवा विवाह सम्बन्धों से बंधा हो।

थीओडरसन ने नातेदारी व्यवस्था की परिभाषा में स्पष्ट किया कि यह प्रस्थिति और भूमिकाओं की एक प्रथानुगत व्यवस्था है। जो उन लोगों के व्यवहार को संचालित करती है। जो एक दूसरे से था तो विवाह के आधार पर था। एक सामान्य पूर्वज की सन्तान होने के नाते सम्बद्ध होते है।

मारडॉक ने नातेदारी व्यवस्था को सम्बन्धों की एक संरचनात्मक व्यवस्था के रूप में परिभाषित किया है जिसमें नातेदार एक दूसरे से बड़े जटिल अन्त: गठबन्धनों से बंधे हो।

## 4.3 नातेदारी की श्रेणियां

नातेदारी की श्रेणियां सम्बन्धियों के पारस्परिक सम्बन्धों की निकटता, घनिष्टता एवं सहयोग पर निर्भर है एक सम्बन्धी की अन्य सम्बन्धियों के साथ निकटता का मूल्यांकन

विभिन्न सामाजिक अवसरो पर उनकी भूमिका द्वारा किया जा सकता है। सामाजिक अवसरो पर जिन नातेदारो के महत्वपूर्ण उत्तर दायित्व है वे अधिक निकट के सम्बन्धों होते है। जिन नातेदारो के पास इन अवसरो पर सामान्य अर्थात कम महत्व के दायित्व होते है उन्हे साधारण नातेदार कहा जाता है। एक व्यक्ति की अन्य नातेदारो के साथ निकटता अथवा दूरी नातेदारी की श्रेणी के अनुसार देखी जाती हैं। नातेदारी की चार श्रेणियाँ पाई जाती हैं।

1 प्राथमिक 2. द्वितीयक 3. तृतीयक तथा 4. दूरस्थ नातेदार

अब हम प्रत्येक श्रेणी को समझने का प्रयास करेंगे।

**1. प्राथमिक श्रेणी -**

इसके अन्तगर्त प्राथमिक नातेदार आते है। जिनका आपसी सम्बन्ध प्रत्यक्ष होता है। प्रत्यक्ष सम्बन्ध का आधार रक्त होता है अथवा विवाह। ये नातेदार या तो एक ही वंशानुक्रम समूह के होते है य विवाह समूह से। वंशानुक्रम समूह या रक्त समूह के प्राथमिक नातेदार पिता-पुत्र, माता-पुत्री, पिता-पुत्री, माता-पुत्र, भाई-बहन और बहिन-बहिन होते है। विवाह के आधार पर केवल पति-पत्नी ही प्राथमिक श्रेणी के नातेदार है।

**2. द्वितीयक श्रेणी -**

इसमें वे नातेदार आते है जो व्यक्ति (स्व) से प्रत्यक्ष। सीधे सम्बन्धित न होकर व्यक्ति (स्व) के प्रथम श्रेणी के नातेदार के माध्यम से सम्बन्धित होते है। अर्थात प्राथमिक (स्व) नातेदार का प्राथमिक नातेदार जैसे एक व्यक्ति के लिए उसका चाचा द्वितीयक नातेदार है। व्यक्ति का अपने पिता के साथ सीधा प्राथमिक श्रेणी का सम्बन्ध है इसी प्रकार उस व्यक्ति के पिता का अपने भाई (व्यक्ति का चाचा) के साथ सीधा प्राथमिक सम्बन्ध है। लेकिन उस व्यक्ति का अपने चाचा के साथ सम्बन्ध उसके पिता के माध्यम से है इसलिए उस व्यक्ति के लिए उसका चाचा द्वितीयक श्रेणी नातेदार है। ये नातेदारी 33 प्रकार के होते है।

**3. तृतीयक श्रेणी -**

वे नातेदार जो एक व्यक्ति (स्व) के प्राथमिक नातेदार का द्वितीयक नातेदार है। अर्थात व्यक्ति के साथ अप्रत्यक्ष सम्बन्ध भी दो माध्यम से है। दूसरे शब्दों में एक व्यक्ति (स्व) के द्वितीयक नातेदार का प्राथमिक सम्बन्धी। जैसे व्यक्ति (स्व) के पिता, उनके भाई अर्थात व्यक्ति का चाचा और उनका लड़का अर्थात व्यक्ति के चाचा का लड़का उस व्यक्ति का तृतीयक श्रेणी नातेदार है।

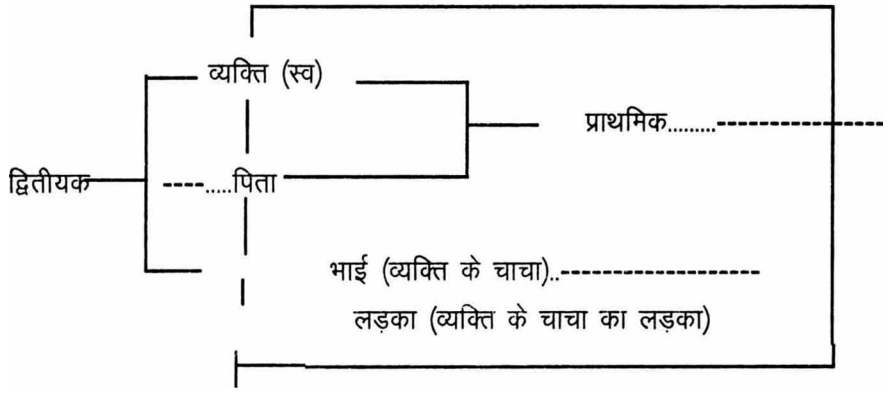

तृतीयक नातेदार 151 प्रकार के होते है ।

**4. दूरस्थ -**

तृतीयक श्रेणी नातेदारी के क्रम को जब आगे विस्तारित किया जाता है तो यह दूरस्थ श्रेणी कहलाती है। अर्थात व्यक्ति के तृतीयक नातेदार का प्राथमिक नातेदार उस व्यक्ति के लिए दूरस्थ नातेदार होगा। जैसे एक व्यक्ति (स्व) के पिता का भाई- (भाई) अर्थात व्यक्ति के चाचा का लड़का-चाचा के लड़के की पत्नी या पुत्र-पुत्री उस व्यक्ति (स्व) के लिए दूरस्थ नातेदार है। दूरस्थ नातेदारो की श्रेणी संख्या बहुत बड़ी होती है।

## 4.4 नातेदारी शब्दावली

नातेदारी व्यवस्था में एक स्वजन दूसरे स्वजन को जिस शब्द द्वारा सम्बोधित करता है उसे हम नातेदारी शब्दावली कहते है। सम्बोधन में कहीं तो व्यक्तिगत नाम का प्रयोग किया जाता है और कहीं नातेदारी शब्दावली का प्रयोग किया जाता है जैसे मोहन, लता व्यक्तिगत नाम है तथा चाचा, मामी नातेदारी शब्द है। कही पर नातेदार को सम्बोधित करने के लिए व्यक्तिगत नाम और नातेदारी शब्द को संयुक्त रूप से मिश्रित करके प्रयोग किया जाता है। टाइलर इसे 'टेक्मोनिमी' कहते है जैसे मोहन के पिता, लता की माता आदि।

लुई डयूमों ने द्रविण भाषाओ की नातेदारी शब्दावली का निर्माण किया। नातेदारी शब्दावली का वर्गीकरण भी किया गया है। मरडाक के अनुसार नातेदारी शब्दो को तीन आधारो पर वर्गीकृत किया जा सकता है-

**1. नातेदारी शब्दो के प्रयोग का तरीका -**

इसके अन्तगर्त ऐसे नातेदारी शब्दो का प्रयोग किया जाता है जो प्रत्यक्ष सम्बोधन के रूप में होते है। जिन्हे सम्बोधन शब्द कहा जाता है। अथवा ये शब्द अप्रत्यक्ष सन्दर्भ में उपयोग किया जाता है इसे सन्दर्भ शब्द कहा

जाता हैं। कहीं-कहीं सम्बोधन शब्द और सन्दर्भ शब्द मे अन्तर होता हैं। जैसे 'पिता' का प्रयोग सन्दर्भ शब्द के रूप में किया जाता है और सम्बोधन के लिए 'बाबा' का प्रयोग किया जाता हैं। 'माता' शब्द का प्रयोग सन्दर्भ शब्द के रूप में 'माँ' के लिए किया जाता है और 'अम्मा' शब्द को सम्बोधन के लिए प्रयोग किया जाता है सम्बोधन शब्दो में कई बार एक से अधिक सन्दर्भ भी होते है। जैसे अंग्रेजी भाषा में 'अंकल एक सम्बोधन शब्द है इसका प्रयोग पिता के भाई अर्थात चाचा माँ का भाई अर्थात मामा, पिता का बड़ा चचेरा भाई तथा अन्य के लिए भी किया जा सकता है। इसी प्रकार 'भाई' शब्द का प्रयोग सगे भाई के साथ चचेरे, मोसेरे, ममेरे, फुफेरे भाइयो तथा अन्य के लिए भी होता है

**2. भाषाई संरचना के आधार पर -**

इस आधार पर नातेदारी शब्दो को तीन प्रकार से स्पष्ट किया जा सकता है:

(a) प्रारम्भिक शब्द, इसमें हम उन शब्दो का सम्मिलित करते है जिन्हे तोड़ा नहीं जा सकता जैसे माता, पिता, चाचा, ताऊ, बहिन आदि।

(b) यौगिक शब्द, इनका निर्माण प्रारम्भिक शब्दों के साथ मिलाकर किया जाता है जैसे पितामह, प्रपितामह, दौहिन मौसा, बहनोई आदि।

(c) वर्णात्मक शब्द, वे शब्द जो दो या दो से अधिक प्रारम्भिक शब्दो को जोड़कर किसी नातेदार के लिए प्रयोग किये जाते है। जैसे 'पत्नी की बहिन', फुफेरा भाई, मौसेरी बहन, आदि।

**3. प्रयोग का परिश्रेत्र-**

नातेदारी शब्द का प्रयोग जब किसी एक ही श्रेणी को इंगित करता है। माता, पिता, भाई, बहिन, पत्नी आदि। अर्थात इन शब्दो का प्रयोग एक ही रिश्ते के लिए किया जाता है तथा इनका निर्धारण पीढ़ी, लिंग, एवं वंशवृक्ष सम्बन्धों से होता है। इन शब्दो को संकेतात्मक शब्द कहा जाता है। इसी प्रकार ऐसे नातेदारी शब्द जो दो या अधिक नातेदारी श्रेणियों के स्वजनों को इंगित करते है। जैसे पितामह शब्द का प्रयोग एक व्यक्ति अपने पिताजी के पिता के लिए करता है साथ ही वही व्यक्ति पितामह शब्द का प्रयोग अपनी माँ के पिता के लिए भी करता है ।

## 4.5 नातेदारी का स्वरूप

हम भारतीय समाज में नातेदारी व्यवस्था की विवेचना कर रहे हैं। इस व्यवस्था के स्वरूपों को भी समझना आवश्यक है। जिन समाजशास्त्रियों ने इसके स्वरूपो का अध्ययन किया है उन्होने मोटे तौर पर दो उपागमों का प्रयोग किया।

1. प्राचीन ग्रन्थ 2. मानवशास्त्रीय दृष्टिकोण

जैसे के॰ एम॰ कयाडिया पी॰ एन॰ प्रभु, इरावती कर्वे, और जी॰ एस॰ धूर्ये नातेदारी के अध्ययन में प्राचीन ग्रन्थों का उपयोग किया हैं। नातेदारी की निरंतरता को समझने में प्राचीन ग्रन्थ सहायक हैं।

मानवशास्त्रीय दृष्टिकोण भी नातेदारी व्यवस्था के अध्ययन में उपयोगी रहा हैं। इस दृष्टिकोण में नातेदारी के स्वरूप को समझने में वंश क्रम उपागम और विवाह सम्बन्धी उपागम उल्लेखनीय हैं।

**वंशानुगत उपागम-**

इस उपागम से जिस मानवशास्त्रियों ने नातेदारी का अध्ययन किया हैं उनका कहना है कि हमें दिन-प्रतिदिन के कार्यो में अपने रक्त सम्बन्धियों से सहायता मिलती हैं। ऐसे रक्त सम्बन्धी माता पिता व बच्चे होते हैं। जब इन रक्त सम्बन्धियो को समान वंशक्रम के आधार पर मान्यता दी जाती है या उसकी व्यवस्था की जाती है। तब इन्हे वंशक्रम समूह कहते हैं।

**वंशक्रम समूह के स्वरूप -**

वंशक्रम समूह के छः स्वरूप हैं।

1. **पितृवंशीय -** यहां वंशक्रम का निर्धारण पुरूष के आधार पर किया जाता हैं। अर्थात वंश परम्परा पिता से पुत्र द्वारा चलता हैं।
2. **मातृवंशीय -** इस वंशक्रम में वंश का निर्धारण माँ से पुत्री की परम्परा में चलता हैं।

3. **दोहरा वंश क्रम -** इसमें वंशक्रम का निर्धारण विभिन्न प्रयोजनो के लिए पिता के वंश और माता के वंश दोनो से होता हैं। ऐसे वंशक्रम को द्विवंश परम्परागत या द्विपरम्परागत भी कहते हैं।
4. **उदयवक्षीय वंशक्रम -** वह समूह जो माता और पिता की मिश्रित नातेदारी से बना हो तथा इस समूह की सदस्यता पितृ तथा मातृ वंश दोना ही से मिलती हैं।
5. **सामानान्तर वंश क्रम -** यह वंशक्रम बहुत दुर्लभ हैं। इसमें वशंक्रम लिंग के आधार पर होता हैं। इस वशक्रम की सदस्यता पुरूषो द्वारा पुत्र को मिलती हैं और स्त्रियों द्वारा पुत्रियों को मिलती हैं।
6. **वैकल्पिक वंशक्रम -** यह वंशक्रम भी बहुत कम पाया जाता हैं। इसमें पुरूष से उसकी पुत्रियो का और स्त्री से उसके पुत्र का वंश माना जाता हैं।

**विवाह सम्बन्धी उपागम -**

नातेदारी के स्वरूप का अध्ययन विवाह सम्बन्धी उपागम द्वारा भी किया जाता हैं। भारत में नातेदारी के अध्ययनों में से दो समूहों के बीच विवाह सम्बन्ध के रूप में विवाह पर ध्यान केन्द्रित किया गया हैं। ऐसे अध्ययनों में नातेदारी शब्दावली का विवेचन विवाह सम्बन्ध के स्वरूप को अभिव्यक्त करने के लिए किया गया है। लुई डयूमों ने दक्षिण भारत में नातेदारी के क्षेत्र के विवाह की भूमिका पर जोर दिया हैं। उन्होने नातेदारी की संरचनात्मक प्रणाली का प्रयोग किया हैं। उनके अध्ययन से दक्षिण भारतीय नातेदारी पद्वति में पीढियों के दौरान अन्तविवाह की पुनरावृत्ति प्रकाश में आती हैं। नातेदारी के अध्ययन में विवाह सम्बन्ध से उत्पन्न रिश्तेदारों को महत्व देने से वधू-पक्ष व वर-वक्ष के बीच अंतर की व्याख्या करने में सहायता मिलती हैं।

### 4.5.1 पितृवंशीय स्वरूप

किसी भी समाज की नातेदारी व्यवस्था उस समाज की सामाजिक-सांस्कृतिक दशाओं से जुडी होती हैं। वास्तविकता यह है कि उत्तर भारत में पितृवंशीय परिवार हैं। तथा दक्षिण भारत के केरल के कुछ क्षेत्रों में मातृवंशीय परिवार हैं। सामाजिक-सांस्कृतिक संन्दर्भ में ही नातेदारी के पितृवंशीय स्वरूप को देखा जा सकता हैं।

इरावती कर्वे ने अपनी पुस्तक में लिखा हैं कि भारतीय समाज को समझने के लिए भाषा और परिवार बहुत महत्वपूर्ण हैं। यह संस्कृति के अंग हैं। भारत का उत्तरी क्षेत्र उत्तर में हिमालय और विंध्याचल पर्वत के बीच का क्षेत्र हैं। इस क्षेत्र की भाषाएँ इण्डो-आर्यन भाषा परिवार की हैं। इस परिवार की ग्यारह भाषाए हैं। जिनमें भोजपुरी, असमी, बंगला, पंजाबी आदि मुख्य हैं। भाषा कि इस संस्कृति में इस क्षेत्र को एक ही नातेदारी पद्धति दी हैं। जिसे हम पितृवंशीय नातेदारी व्यवस्था कहते हैं।

जैसा अब तक के विवेचन से स्पष्ट हो गया है कि पितृवंश उत्तर भारत के नोतदारो में मुख्य समूह हैं। पितृवंश के साथ स्वत: गोत्र, जाति और उपजाति जुड़े होते हैं। उत्तर भारत में एकल वंशीय परंपरा हैं। जब वंश का पता केवल एक वंश परंम्परा के माध्यम से होता हैं तो

उसे एकल वंशीय परम्परा कहते हैं। पितृवंशीय परम्परा पिता से पुत्र को दी जाती है। लेविस, मिनटर्न, हिचकाक डेरेमन और निकालस आदि के अध्ययन यह दर्शाते है कि धर्म विधियों में पितृवंशीय समूह के सदस्य एक-दूसरे की सहायता करते हैं।

परिवार की सम्पति में पितृवश के सदस्य आर्थिक और कानूनी रूप से अपना योगदान देते है इसी प्रकार सम्पति का हस्तान्तरण भी पितृवश परम्परा पर आधारित होता हैं।

### 4.5.2 मातृवंशीय स्वरूप

नातेदारी के मातृवंशीय स्वरूप में स्त्रियों के एक-दूसरे से सम्बन्ध पुत्री, माँ, बहिन, नानी, मौसी, व भान्नी, के मिलते हैं। ये सभी सम्बन्ध महिलाओ का पारस्परिक नातेदारी सम्बन्ध होता हैं। इसी प्रकार महिलाओ की पुरूषों से नातेदारी में वे भाई, मामा व भान्ते के रूप में सम्बद्ध होते हैं। यह सभी रिश्ते रक्त सम्बन्धों पर आधारित होते है। तथा इनमें विवाह द्वारा सम्बन्ध नहीं मिलते हैं। इस प्रकार की व्यवस्था में पति परिवार में कभी-कभी मिलने जाता हैं। यह भी ज्ञात होता है कि पति व पत्नी व पिता और बच्चों के बीच सहयोगिता का अभाव रहता हैं, स्त्रियाँ अपने पति की आय में से कुछ नही लेती और अपनी आय तथा जीविका के लिए स्वंतत्र होती हैं। मातृवंशीय स्वरूप के आधार पर दक्षिण भारत के कुछ परिवार उत्तर भारत के परिवारो से भिन्न होते हैं।

भारत के उत्तर-पूर्व में भी मातृवंशीय नातेदारी व्यवस्था पाई जाती हैं। यह व्यवस्था खासी और गारो दोनो जनजातियों में पाई जाती हैं। इनमें गोत्र का महत्वपूर्ण स्थान हैं। गारो जनजाति में विवाह का नियम हैं कि मामा, बूआ, के बच्चों में विवाह कि अनुमति हैं। लेकिन पत्नी कि बहिन से भाई का विवाह तथा पति की बहिन से भाई का विवाह निषेध हैं। अपने गोत्र में भी विवाह वर्जित हैं। यहा पर दामाद को ससुराल में नये वातावरण में रहने के लिए जाना पड़ता हैं। जिस प्रकार उत्तर भारत में पितृवंशीय परिवार में बहू की स्थिति होती है वैसी ही स्थिति गारो जनजाति में दामाद की होती हैं।

नातेदारी का मातृवंशीय स्वरूप खासी जनजाति की अर्थव्यवस्था के सन्दर्भ में भी देखी जा सकती हैं। खासी जनजाति की अर्थव्यवस्था उनकी नातेदारी व्यवस्था जुड़ी होती हैं। यह जनजाति झूम खेती करती हैं। गाँव की सम्पूर्ण भूमि गोत्र की होती हैं। मातृवंश परम्परा के अनुसार प्रत्येक कुल की पूर्वज माँ होती हैं। सभी अपने को इस माँ की सन्तान समझते हैं। इस जनजाति मे व्यक्ति की पहचान उसके कुल अर्थात कुल से होती हैं। कुर के लोगो में एकता और सहकारिता की भावना होती हैं।

मातृवंशीय नातेदारी स्वरूप में मातृवंशीय संयुक्त परिवार भी पाये जाते हैं। इन्हे 'तारवाड़' कहा जाता हैं। मातृवंशीय संयुक्त परिवार- 'तारवाड़' ट्रावन्होर के मालबार क्षेत्र में नायर तथा कुछ अन्य समूहो में पाये जाते हैं।

**तारवाड की विशेषता**

- तारवाड़ की सम्पति उससे सम्बद्ध सभी स्त्रियो \ पुरूषों की होती हैं।

- अविवाहित पुत्र माता के तारवाड़ से सम्बद्ध होते हैं लेकिन विवाहित पुत्र अपनी पत्नी के 'तारवाड' से तारवाड़ परिवार का सबसे वृद्ध सदस्य पुरूष सम्पति का प्रबन्धक होता हैं। तथा उसे कर्णनाम और उसकी पत्नी 'अम्माइ' कहते हैं ।
- जब तारवाड़ का आकार बहुत विस्तृत हो जाता हैं। तब उसे 'तवाजी' में विभाजित कर दिया जाता हैं।

'तवाजी' 'व्यक्तियो का एक ऐसा समूह हैं जिसमें एक स्त्री उसके बच्चों और स्त्री श्रेणी के उसके सभी उत्तराधिकारी होते हैं।'

जब से विभिन्न अधिनियम लागू हुए तब से 'तारवाड' विघटित हो गये। जैसे 1912 का अधिनियम (ट्रावन्कोर), 1920 का अधिनियम (कोचीन), 1933 का अधिनियम (मद्रास) तथा 1958 का अधिनियम (केरल) के, लागू हो जाने के बाद स्त्री की सम्पति उसके पुत्र और पुत्रियो को मिलती हैं। और बाद में उसके पिता और पति को मिलती हैं।

हमने नातेदारी के पितृवंशीय स्वरूप एवं मातृवंशीय स्वरूप को समझने का प्रयास किया हैं। इस विवेचना से यह स्पष्ट हुआ है कि मोटे रूप में उत्तर भारत में पितृवंशीय नातेदारी स्वरूप पाया जाता हैं। जबकि भारत के उत्तर-पूर्व की खासी और गारो जनजाति तथा दक्षिण भारत के केरल, कर्नाटक, तमिलनाडु के कुछ भागो में तथा केन्द्र शासित प्रदेश लक्षद्वीप में मातृवंशीय नातेदारी का स्वरूप पाया जाता हैं।

## 4.6 भारत में क्षेत्रीय भिन्नता एवं नातेदारी

भारत विविधता वाला देश हैं। यहा पर परिवार एवं विवाह के कारण बनने वाले सम्बन्धो में भी भिन्नता पाई जाती हैं। इसी को हम नातेदारी में पायी जाने वाली भिन्नता कहते हैं। यह भिन्नता क्षेत्र के सम्बन्ध में भी पाई जाती हैं। जैसे उत्तर भारत में पितृवंशीय नातेदारी, उत्तर-पूर्व में मातृवंशीय नातेदारी, दक्षिण के कुछ भाग में मातृवंशीय नातेदारी व्यवस्था पाई जाती हैं। यह भी स्पष्ट है कि भारत में मुख्य रूप से दो प्रकार के नातेदार हैं एक तो रक्त सम्बन्धी नातेदार और विवाह सम्बन्धी नातेदार। नातेदारी के आधार पर क्षेत्रीय भिन्नता इसके दो स्वरूपों को लेकर पाई जाती है। अर्थात मातृवंशीय व्यवस्था एवं पितृवंशीय व्यवस्था। जब हम दोनों व्यवस्थाओं की तुलना करते है। तो तुलना के कुछ तथ्य उत्तर और दक्षिण भारतीय नातेदारी व्यवस्था में असमानता को दर्शाते है। और कुछ तथ्य समानता को बताते हैं। पहले हम इन दोनों व्यवस्थाओ की समानता के तथ्यों का उल्लेख करेंगे।

**नातेदारी व्यवस्था एवं विवाह के नियम -**

नातेदारी व्यवस्था में विवाह के नियम महत्वपूर्ण होते हैं अर्थात विवाह किसके साथ किया जाना है और किसके साथ नहीं। इस आधार पर उत्तर एवं दक्षिण भारत में भिन्नता हैं। उत्तर भारत में विवाह के नियम नकारात्मक हैं, जब कि दक्षिण भारत में विवाह के नियम सकारात्मक हैं। नकारात्मक नियम से तात्पर्य है कि अमुक गोत्र के साथ विवाह वर्जित हैं, एक ही गाव में भी कई बार विवाह निषेध होता हैं। अर्थात बहिर्विवाह का प्रचलन होता है। जबकि दक्षिण भारत में स्थिति भिन्न हैं वहा पर अधिकांश विवाह सम्बन्ध एक छोटे से समूह के बीच होते हैं अर्थात क्षेत्रीय बहिर्विवाह का प्रचलन नहीं होता हैं।

**नातेदारी शब्दावली में भिन्नता -**

उत्तर भारत में नातेदारी का प्रत्येक शब्द स्पष्ट दर्शाता है कि सन्दर्भित व्यक्ति रक्त सम्बधी हैं। या विवाह मूलक नातेदार। जबकी दक्षिण भारत में ऐसा नहीं हैं वहाँ पर नातेदारी शब्दावली विवाह जन्म सम्बन्धियो के बीच सम्बन्धों की समान स्थिति पर जोर दिया गया हैं। दक्षिण भारत में द्रविण शब्दावली की संरचना वर्गात्मक नाते सम्बन्धों के सिद्धान्त पर आधारित हैं तथा एक पीढ़ी को चचेरे-मौसेरे और फूफेरे-ममेरे भाई बहिनों मे अन्तर करती है। दक्षिण भारत में यह विभेद विवाह के सन्दर्भ मे बहुत महत्वपूर्ण है जबकि उत्तर भारत में इस प्रकार के विभेद का कोई महत्व नही हैं।

**अनुलोम विवाह एवं अधिमान्य विवाह के आधार पर भिन्नता -**

उत्तर भारत में सामान्य तया अनुलोम विवाह का पालन किया जाता हैं। अर्थात लड़की के परिवार की प्रस्थिति निम्न होती हैं और लड़के के परिवार की प्रस्थिति उच्च होती हैं । जबकि दक्षिण भारत में सामान्यतया ऐसा नहीं होता हैं। दक्षिण भारत में मातृवंशीय और कभी-कभी पितृवंशीय मुमेरे-फुफेरे भाई बहनो में तथा कभी-कभी अन्त: पीढी (मामा और भांजे के बीच) अधिमान्य विवाह माना जाता हैं ऐसी स्थिति में दक्षिण भारत में लड़के के परिवार की उच्च प्रस्थिति और लड़की के परिवार निम्न प्रस्थिति का कोई महत्व नहीं हैं। यह स्पष्ट है कि दक्षिण भारत में घनिष्ट नातेदारो के विवाह सम्बन्ध होने के कारण विवाह के बाद किसी की प्रस्थिति को न तो निम्न माना जाता हैं और न ही उच्च। जबकि उत्तर भारत मे लड़की को निम्न समझना सरल हो जाता है। क्योंकि विवाह से पूर्व लड़की और लड़के के परिवार के बीच घनिष्ट नातेदारी सम्बन्ध नही होते है।

**सास बहु की अवधारणा के आधार पर भिन्नता -**

उत्तर भारत में लड़की के लिए जन्म के परिवार और विवाह के परिवार में अंतर होता हैं विवाह का परिवार बहु के लिए अजनबी होता हैं। उसे विवाह के परिवार की अपेक्षा के अनुसार व्यवहार करना पड़ता हैं ऐसा नहीं करने पर सास के साथ ताल मेल बैठाने में कठिनाई आती हैं। अर्थात सास और बहु के सम्बन्ध अति संवेदनशील माने जाते है। दूसरी और दक्षिण भारत में स्थिति भिन्न प्रकार की हैं। दक्षिण भारत में लड़की के लिए के उसका जन्म का परिवार और विवाह का परिवार लगभग समान होता हैं वह अपने पति के घर में अजनबी नहीं होती हैं। सास और बहु के बीच के सम्बन्ध बहुत सामान्य प्रकार के सम्बन्ध होते हैं। अत: दक्षिण भारत में एक स्त्री के लिए विवाह के कारण परिवार में कोई विशेष परिवर्तन नहीं लाते हैं जबकि उत्तर भारत में स्त्री के लिए विवाह बहुत परिवर्तन लाते है।

भारत में क्षेत्रीयता के आधार पर नातेदारी में पाई जाने वाली भिन्नताओं का समझने का प्रयास हमने किया। अब हम उन समानताओ के बारे मे भी चर्चा कर सकते हैं। जो भारत के सभी भागो में नातेदारी व्यवस्था में पाई जाती हैं।

उत्तर भारत में दक्षिण भारत की नातेदारी व्यवस्था में एकल वंश परमपरा प्रचलित हैं। उत्तर भारत में मुख्य रूप से पितृवंशीय नातेदारी व्यवस्था हैं तथा दक्षिण भारत में या तो पितृवंशीय नातेदारी हैं या मातृवंशीय नातेदारी। दोनो ही प्रकार की नातेदारी व्यवस्थाओ में विवाह

द्वारा सम्बन्ध महत्वपूर्ण है। सभी क्षेत्र में नातेदारी व्यवस्थाओ हारा सामाजिक सम्बन्धो और तंत्रो में विवाह जन्म सम्बन्धो की भूमिका पर विशेष बल देखने को मिलता हैं।

## 4.7 नातेदारी में परिवर्तन

नातेदारी व्यवस्था में परिवर्तन को हम दो आधारो पर समझ सकते है

1. नातेदारी का विस्तार
2. नातेदारी के महत्व में परिवर्तन

पहले हम विस्तार के आधार पर नातेदारी में परिवर्तन की बात कर सकते हैं। नातेदारी विस्तार से तात्पर्य विवाह सम्बन्धी नातेदारी में वृद्धि होना तथा रक्त सम्बन्धी नातेदारी में वंश वृद्धि होना एवं एक ही वंश का विस्तार होना है। यह प्रश्न है कि क्या नातेदारी का विस्तार हो रहा है? कुछ दशक पूर्व समाजशास्त्रियो ने नातेदारी के विस्तृत स्वरूप को जाति के रूप में परिभाषित किया था। अर्थात जाति को एक विस्तृत नातेदारी समूह कहा। समकालीन भारत में जाति का विस्तृत नातेदारी समूह के रूप में बताना उपयुक्त नहीं है तर्क यह है कि जाति के परम्परागत स्वरूप में भी परिवर्तन हुए हैं। तथा नातेदारी व्यवस्था भी विभिन्न कारकों से प्रभावित हो रही हैं। जनसंख्या नीति के प्रभाव से परिवार का आकार सीमित होने लगा है कहीं-कहीं तो परिवार में केवल एक सन्तान तक की सीमा का कठोरता से पालन किया जा रहा हैं। स्वाभाविक रूप से जब एक सन्तान को ही प्राथमिकता दी जायेगी तब नातेदारी के विस्तार के बारे में अध्ययन भी असंभव हो जायेगा।

नातेदारी का यह आधार चाहे रक्त हो अथवा विवाह दोनो ही आधारो पर प्राथमिक श्रेणी के नातेदार तो होगे ही जिसे हमें समरेखीया/लम्बवत विस्तार के आगे अध्ययन करेंगे। अर्थात पुत्र-पुत्री, पौत्र-पौत्री, प्रपौत्र-प्रपौत्री आदि श्रेणिया तो निंरतर बनी रहेगी। लेकिन भिन्न शाखाई श्रेणियाँ जैसे बुआ-फूफा, मौसा-मौसी, चाचा-चाची, आदि का विस्तार सीमित होता जायेगा। यह स्थिति विवाह सम्बन्धि के आधार पर विकसित होने वाली नातेदारी व्यवस्था को नकारात्मक रूप मे प्रभावित करने लगी हैं। फलस्वरूप कुछ नातेदारी श्रेणिया एवं शब्दावली का प्रचलन भी कम होने लगा हैं।

दूसरा परिवर्तन नातेदारी के महत्व से सम्बन्धित हैं। यह स्पष्ट करना है कि वैश्वीकरण, नगरीकरण, औधोगीकरण आदि के प्रभाव से नोतदारी का महत्व कम होने लगा हैं। विभिन्न श्रेणी के नातेदारो की भूमिका अब सिमटने लगी हैं। वर्ष पर्यन्त होने वाले परम्परागत आयोजनो के स्वरूपों में बहुत तेजी से परिवर्तन आये हैं। विशेष अवसर पर किसी विशिष्ट नातेदार की भूमिका का महत्व होता हैं जैसे पितृवंशीय नातेदारी परिवारो में लड़के की बुआ की भूमिका को महत्व दिया जाता है। इसी प्रकार से मातृवंशीय परिवार में लड़के के मामा की भूमिका का विशेष महत्व होता हैं। लेकिन अब इन भूमिकाओं की आवश्यकता को भी समाप्त कर दिया गया हैं। अथवा अन्य औपचारिक संगठनो के द्वारा इन भूमिकाओं का निर्वहन किया जाने लगा हैं। इतना ही नही माता-पिता की भूमिका भी अन्य औपचारिक संस्थाओ द्वारा निभाई जाने लगी हैं। विशेष रूप से जिन परिवारो में बच्चों के माता-पिता दोनो ही लम्बे समय

तक कार्य स्थल पर रहते हैं। ऐसी स्थिति में परिवार के बच्चो की देखभाल के लिए कोई नही रहता हैं, माता-पिता बच्चो को शिशु गृह पालना घर आदि औपचारिक संस्थाओ में छोड़कर अपने कार्य स्थल पर चले जाते हैं। नातेदारी व्यवस्था के महत्व में होने वाला परिवर्तन इस प्रकार की प्रघटनाओ से स्पष्ट हो जाता हैं। द्वितीयक एवं तृतीयक नातेदारो का महत्व भी कम होता जा रहा है। नातेदारी बंधन को बनाए रखने वाली भूमिकाए अब अप्रासंगिक होने लगी हैं। अत: नातेदारी व्यवस्था का महत्व भी कम होने लगा है।

## 4.8 सारांश

हमने नातेदारी व्यवस्था की अवधारणा, स्वरूप एंव परिवर्तन को समझने का प्रयास किया हैं। हमने यह देखा कि भारत मे क्षेत्रीयता के आधार पर नातेदारी व्यवस्था में भिन्नता है। उत्तर भारत में पितृवंशीय नातेदारी व्यवस्था हैं तथा दक्षिण एंव उत्तर-पूर्व के राज्यो में मातृवंशीय नातेदारी व्यवस्था हैं। भारत मे नातेदारी पर किये गये अध्ययनों में इरावती कर्वे एवं शोभिता जैन के अध्ययन उल्लेखनीय है। क्षेत्र के आधार पर नातेदारी व्यवस्था में भिन्नता के साथ यह भी ध्यान देने की बात हैं। कि सामाजिक-सांस्कृतिक आर्थिक कारको का प्रभाव भी नातेदारी व्यवस्था पर पड़ता हैं। अर्थात नातेदारी व्यवस्था किसी भी सामाजिक संस्था की तरह अपनी सामाजिक संरचना की उपज होती हैं। जैसे मातृवंशीय परंपरा उन आर्थिक व्यवस्थाओ से जुड़ी हैं जो स्त्रियो की स्वतंत्रता को और उनके अपने रहन-सहन की व्यवस्था करने के अधिकारो को मान्यता देती हैं। इन व्यवस्थाओं में पुरूष शिकार खेलने, लड़ाई करने और व्यापार करने जैसी आर्थिक गतिविधियो में संलग्न रहते हैं जबकि स्त्रियाँ सामान्य जीवन-यापन के साधन जुटाती हैं। इसी प्रकार बदलते परिवेश में व्यक्ति को मित्र के रूप में तथा औपचारिक संस्थाओ के रूप में नातेदारी की आवश्यकता होती हैं। लेकिन भारतीय समाज में एक व्यक्ति के लिए उसके प्रबल समर्थक सहयोगी विश्वसनीय एवं वफादार लोग उसके नातेदार ही हो सकते हैं।

## 4.9 शब्दावली

| | | | |
|---|---|---|---|
| 1. | नातेदार/स्वजन | - | रक्त अथवा विवाह सम्बद्ध व्यक्तियो को नातेदार या स्वजन कहा जाता हैं। |
| 2. | भिन्न शाखई नातेदार | - | व्यक्ति के समरेखीय स्वजनों के वंशज आदि जैसे चाचा-ताऊ उनकी सन्तान आदि। |
| 3. | समरेखीय स्वजन | - | एक व्यक्ति के प्रत्यक्ष पूर्वज तथा प्रत्यक्ष वंशज जैसे माता-पिता, दादा-दादी, परदादा-परदादी आदि। |
| 4. | प्राथमिक स्वजन | - | रक्त सम्बन्धी नातेदार जो प्रत्यक्ष जुड़े हैं। तथा विवाह सम्बन्ध से प्रत्यक्ष जुड़ने वाले जैसे पिता-पुत्र, पिता-पुत्री, माता-पुत्री, भाई-भाई, भाई-बहन बहिन-बहिन तथा पति-पत्नी। |
| 5. | द्वितीयक नातेदार | - | प्राथमिक नातेदार के लिए जो प्राथमिक सम्बन्धी हो जैसे व्यक्ति को सालादादा मामा, नाना आदि। मरडॉक ने ऐसे 33 प्रकार के नातेदार बताये हैं। |

6. तृतीयक नातेदार - द्वितीयक नातेदार के लिए जो प्राथमिक नातेदार है वे एक व्यक्ति के तृतीयक नातेदार होंगे। मरडॉक ने ऐसे 151 प्रकार के नातेदार बताये है।
7. नातेदारी शब्दावली - वे श्रेणियाँ जिनका प्रयोग विभिन्न प्रकार के नाते-रिश्तेदारो के सम्बन्धो को उल्लेख करने के लिए किया जाता हैं।
8. पितृवंशीय नातेदार - जब वंश क्रम का निर्धारण पुरूष के आधार पर होता है तथा वंश परम्परा पिता से पुत्र द्वारा चलती हैं।
9. दौहरा वंशक्रम - वंशक्रम का निर्धारण प्रयोजन के अनुसार माता के वंश व पिता के वंश दोनो से होता हैं।
10. तारवाड़ - मातृवंशीय नातेदारी स्वरूप में मातृवंशीय संयुक्त परिवार तारवाडं कहा जाता हैं।
11. तवाजी - व्यक्तियो का ऐसा समूह जिसमें एक स्त्री, उसके बच्चे और स्त्री श्रेणी के उसके सभी उत्तराधिकारी।

## 4.10 अभ्यासार्थ प्रश्न

1. नातेदारी व्यवस्था के अर्थ और परिभाषा को समझाइये?
2. नातेदारी श्रेणी से क्या तात्पर्य हैं? नातेदारी श्रेणी के प्रकार बताइये।
3. नातेदारी शब्दावली का वर्गीकरण दीजिए।
4. नातेदारी के पितृवंशीय एवं मातृवंशीय स्वरूपो की विवेचना कीजिए।
5. निम्न पर टिप्पणी लिखिए:
   (i) भारत में क्षेत्रीय भिन्नताए एवं नातेदारी।
   (ii) नातेदारी व्यवस्था में परिवर्तन।

## 4.11 अभ्यासार्थ प्रश्न के उत्तर

प्रश्न 1 - देखे बिन्दु 41 एवं 42।

प्रश्न 2 - नातेदारी श्रेणी का अर्थ देखे 4.3 एवं नातेदारी श्रेणी के प्रकार के लिए भी 4.3।

प्रश्न 3 - नातेदारी शब्दावली के लिए बिन्दु संख्या 4.4 पूर्ण विवरण देखे।

प्रश्न 4 - पितृवंशीय स्वयप देखे बिन्दु 4.5.1 एवम् मातृवंशीय स्वरूप देखे बिन्दु 4.5.2।

प्रश्न 5 - टिप्पणी (i) देखें बिन्दु 4.6 एवं टिप्पणी (ii) देखें बिन्दु4.7

## 4.12 सन्दर्भ ग्रंथ


1. ड्यूमो, लुई, - हेरारकी एण्ड मेरिज अलायन्स इन साउथ इण्डियन किनशिप', करन्ट एंथापॉलाजी 1966, 7(3)
2. ड्यूमो, लुई, - "किनशिप एण्ड अलाइन्स अमंग द प्रिमिटिव कल्चर'' द इस्टर्न एश्वापॉलाजिस्ट 1950
3. देसाई, आईं. - "सम आस्पेक्टस ऑफ फेमिली इन महुआ, एशिया पब्लिशिंग हाउस,

पी., मुम्बई, 1964

4. धूर्ये, जी.एस., - "सम किन्शिप यूसेजेज इन इन्डो-आर्यन लिट्रेचर" जनरल ऑफ एन्थ्रोपोलॉजिकल। सोसायटी आफ बाम्बे, न्यू सीरीज 1(1) 1946
5. जैन, शेभिता, - भारत में परिवार, विवाह और नातेदारी, रावत, जयपुर, 1996
6. कर्वे, इरावती, - किनशिप आरगेनाइजेशन इन इंडिया, आक्फ़ोर्ड यूनिवरर्सिटी प्रेस, बाम्बे ।
7. कपाड़िया के. एम. - हिन्दू किनशिप, पापुलर बुक डिपो, बाम्बे 1947
8. कपाड़िया के. एम, - मेरिज एण्ड फेमिली इन इण्डिया, आक्सफार्ड यूनिवरर्सिटी प्रेस, बाम्बे।
9. मदन, टी एन., - फैमिली एण्ड किनशिप: ए स्टडी ऑफ द पंडिप्स ऑफ रूरल कश्मीर,एशिया पब्लिशिंग हाऊस, न्यू दिल्ली, 1965
10. मेरडॉक, जी. पी., - सोश्यल स्ट्रक्चर, मेकमिलन एण्ड क॰ न्यूयार्क, 1949
11. प्रभु पी. एन., - हिन्दु सोश्यल ऑरगेनाइजेशन द पापुलर बुक डिपो, बोम्बे 1954

# इकाई - 5

# जनजाति : अवधारणा, संरचना एवं परिवर्तन

**इकाई की रूपरेखा**


5.0 उद्देश्य

5.1 प्रस्तावना

5.2 जनजाति की अवधारणा

5.3 संरचना

5.4 जनजाति की संरचना

5.4.1 परिवार

5.4.2 विवाह

5.4.3 नातेदारी

5.4.4 धर्म

5.4.5 आर्थिक संरचना

5.4.6 राजनैतिक संरचना

5.4.7 ग्राम संगठन

5.5 जनजातियों में परिवर्तन

5.6 सारांश

5.7 अभ्यासार्थ प्रश्न

5.8 सन्दर्भ गन्ध


## 5.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् आप जनजाति की परिभाषा एवं उससे सम्बन्धित विभिन्न मतों के बारे में जानकारी प्राप्त कर सकेंगे। यह इकाई जनजातियों की सामाजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक, राजनैतिक, धार्मिक एवं ग्राम संरचना के बारे में विस्तृत विवरण प्रस्तुत करती है। अन्त में आप वर्तमान समय में अनेक बाह्य व आन्तरिक कारकों के कारण संरचनात्मक परिवर्तन के दौर से गुजर रहे विभिन्न सामाजिक संस्थाओं के बारे में जानकारी प्राप्त कर पायेंगे।

## 5.1 प्रस्तावना

सन् 2001 जनगणना की रिपोर्ट के अनुसार भारतीय जनसंख्या का लगभग 8.20 प्रतिशत जनजातीय हैं। के. एस. सिंह के "पीपुल ऑफ इण्डिया प्रोजेक्ट" के अनुसार भारत में 461 जनजातीय समुदाय हैं। यह जनजातियाँ पूरे देश में समान रूप से नहीं फैली हुई हैं। जनजातियों का लगभग 87 प्रतिशत आठ राज्यों- मध्य प्रदेश, उड़ीसा, बिहार, महाराष्ट्र, गुजरात, राजस्थान आक प्रदेश एवं पश्चिम बंगाल में फैला है। लगभग 10 प्रतिशत भाग उत्तर-

पूर्वी राज्यों में पाया जाता है, जबकि शेष 3 प्रतिशत अन्य राज्यों में पाया जाता है। जनजातीय जनसंख्या का 2027 प्रतिशत अर्थात् 122 करोड़ मध्य प्रदेश में पाया जाता है। भारत में विभिन्न जनजातिय समूहों में से भील, गोंड, संथाल, ओराँव एवं मीणा पाँच मुख्य जनजातियाँ हैं।

जनजातियाँ सामान्यत: पहाड़ियों, वनों एवं दुर्गम स्थानों में रहती रही हैं। भारतीय जनजातियाँ प्रमुखतया प्रकृति व प्राकृतिक स्त्रोतों जैसे- फल, कन्दमूल के एकत्रण एवं पशु-पक्षियों के शिकार आदि पर निर्भर रही है। इनका सामाजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक एवं धार्मिक जीवन सदैव प्रकृति पर आधारित रहा है। परन्तु आज के सन्दर्भ में वैश्वीकरण व आधुनिकीकरण बदलती वन नीतियाँ, नगरीकरण व औद्योगीकरण के अन्धाधुन्ध प्रसार ने उनके सीधे व सरल जीवन में समस्याएँ उत्पन्न कर दी हैं। अत: जनजातीय समस्याएँ अनेक हैं तथा सामान्यतया उनकी पृष्ठभूमि में बाद कारक इसके लिए जिम्मेदार है।

## 5.2 जनजाति की अवधारणा

जनजाति को अंग्रेजी भाषा में "ट्राइब" (जत्पइम) कहा जाता है। इसकी उत्पत्ति लेटिन भाषा के शब्द ।"Tribuz" से हुई है, जिसका अर्थ है त्रि-विभाजन। जनजातियाँ विश्व के लगभग सभी भागों में पाई जाती हैं। विभिन्न मानवशास्त्रियो एवं समाजशास्त्रियों जनजातियों को वन्यजातियाँ, बनवासी या आदिवासी आदि विभिन्न नामों से जानते हैं। आदिवासी एवं बनवासी जिस शब्दों को समाजशास्त्रियों ने निम्न प्रकार से समझाया है-

**आदिवासी -**

जनजाति के लिए कुछ सामाजिक मानवशास्त्री और सामाजिक कार्यकर्त्ता आदिवासी शब्द का प्रयोग करते रहे हैं। भारतीय संविधान के हिन्दी रूपान्तरण में भी Scheduled Tribe को "अनुसूचित जनजाति" शब्द कहा जाता है।

सन् 1943 में वेरिअर एल्विन ने अपनी पुस्तक 'एबआरिजनल्स (Aboriginal) में जनजातियों को आदिवासी नाम से दो कारणों से सम्बोधित किया है।

(1) ये लोग आज से 6000 वर्ष पहले यहाँ आए थे अत: ये आदि निवासी हैं।

(2) इस लम्बे समय में इस देश पर कई बाहरी आक्रमण हुए, शासन बदले फिर भी ये लोग आज भी जंगलों में रहकर अपने अस्तित्व को बनाए हुए है अत: इनकी संस्कृति इस देश की आदि संस्कृति है।

कुछ सामाजिक मानवशास्त्री जनजातियों को आदिवासी कहना स्वीकार नहीं करते हैं। जी. एस. धुर्ये के अनुसार जनजातियों को आदिवासी कहना केवल आभासी नृजातीय ऐतिहासिक है। उनके अनुसार सामाजिक एवं सांस्कृतिक दृष्टि से जनजातियाँ हिन्दू समाज का ही एक अंग हैं। वे जनजातियों को "पिछड़े हिन्दू" कहते हैं। उनके अनुसार जनजातियों ने बहुत बड़ी संख्या में हिन्दू धर्म को अपनाया है। यदि आज जनजाति के धर्म को और मोटे रूप में उनकी संस्कृति का विश्लेषण किया जाए तो जनजातियाँ निम्न हिन्दू जातियों से पृथक नहीं हैं।

**वनवासी -**

जनजातियों का एक लक्षण जंगल में निवास करना है। यह बात सत्य है कि वे लम्बे समय तक जंगल में निवास करते आए हैं। धुयें व बेली के अनुसार जंगलों के कटने व कम होने के कारण अत: यह शब्दावली अमान्य प्रतीत होती है। आज जनजाति गैर जनजाति के साथ ही ग्रामों में भी निवास करती है।

भारत में रहने वाली जनजातियों को सरकारी भाषा में "अनुसूचित जनजाति" कहा गया है। भारतीय जनजातियों में जिन समुदायों को संवैधानिक तौर पर अनुसूची के अन्तर्गत लाया गया है, उन्हें ही अनुसूचित जनजाति कहा जाता है।

गिलिनि एवं गिलिन के अनुसार, "स्थानीय आदिम समूह में किसी भी संग्रह को जो एक सामान्य क्षेत्र में रहता हो, एक सामान्य भाषा बोलता हो एवं एक सामान्य संस्कृति का अनुसरण करता हो, एक जनजाति कहते हैं।"

डी. एन. मजूमदार के अनुसार, "एक जनजाति अनेक परिवारों या परिवारों के समूह का एक संकलन होता है, जिसका एक सामान्य नाम होता है, जिनके सदस्य एक निश्चित भू-भाग पर रहते हैं, सामान्य भाषा बोलते हैं और विवाह, व्यवसाय या उद्योग के विषय में कुछ निषेधों का पालन करते हैं और एक निश्चित एवं उपयोगी परस्पर आदान प्रदान की व्यवस्था का पालन करते हैं।"

लिंटन के अनुसार, "साधारण रूप में जनजाति खानाबदोशी जत्थों का समूह है जो एक मिले हुए भू-भाग पर रहता है तथा जिसमें संस्कृति की अनेक समानताओं, अत्यधिक मित्रतापूर्ण सम्पर्कों और एक निश्चित सामुदायिक हितों पर आधारित एकता है।"

वृंद :- वृंद सामाजिक संगठन का सबसे अविकसित या सरल रूप है। यह 50 से 300 लोगों का समूह होता है जिसमें सभी सदस्य एक-दूसरे से नातेदारी सम्बन्धों द्वारा बंधे होते हैं। वृंद व्यवस्था भोजन एकत्र करने एवं शिकार करने वाली जनजातियों से सम्बन्धित है। नेतृत्व की अनुपस्थिति इस प्रकार के संगठन का महत्त्वपूर्ण लक्षण है। मानवशास्त्री इस व्यवस्था को सम्पत्ति सम्बन्धों की अनुपस्थिति तथा सम्पत्ति व उत्पादक सम्बन्धों पर व्यक्तिगत नियंत्रण के अभाव से जोड़ते हैं। कई परिवार आपस में मिलकर वृंद का निर्माण करते हैं। यह समुदाय अपने में परिपूर्ण व स्वायत्त होते हैं। वृंद समूह पितस्थानिक तथा बहिर्विवाही होते हैं।

अन्त में जनजातियों की कुछ प्रमुख विशेषताओं के आधार पर उन्हें अन्य मानव समूहों से पृथक किया जा सकता है जो निम्न प्रकार है :-

(i) जनजाति के सदस्य बाह्य सभ्यता से दूर एक ही भू-भाग में रहते हैं।

(ii) समाज के भीतर व बाहर की सामाजिक गतिविधियों को विधिक रूप देने हेतु जनजातियों की स्वयं की कानून व्यवस्था होती है।

(iii) जनजाति की अपनी सांस्कृतिक सीमा रेखा होती है।

(iv) जनजाति की स्वयं की एक भाषा होती है।

(v) जनजातियाँ आदिम एवं कम विकसित मानी जाती है।

(vi) जनजातीय समाज अस्तरीकृत होता है। इनमें विभेदीकरण एवं विशेषीकरण लिंग, उस व नातेदारी पर आधारित होता है।

(vii) जनजातियाँ एक नातेदारी समूह भी हैं। यहाँ सभी सदस्य एक-दूसरे से नातेदारी सम्बन्धों द्वारा जुडे होते होते हैं।

(viii) जनजातियों की आर्थिक व्यवस्था सरल व साधारण होती है। इनकी सम्पत्ति पर सामूहिक एवं संयुक्त नियंत्रण होता है।

(ix) इनमें धार्मिक व्यवस्था बहुत मजबूत होती है तथा वे जीववाद, अनेकेश्वरवाद, मानावाद आदि में विश्वास करते हैं।

(x) जनजातियाँ अन्तर्विवाही समूह होते हैं तथा दूसरी जनजातियों से सामाजिक दूरी बनाकर रहती हैं।

जनजातियों को वैज्ञानिक रूप से परिभाषित करने के लिए एवं इसके सार्वत्रिक लक्षणों को स्पष्ट करने की आवश्यकता हमेशा से महसूस होती रही है। भारतीय भाषाओ में जनजाति (Tribe) शब्द के लिए कोई 'देशज' शब्द नहीं है। संस्कृत भाषा में 'आत्विक जन' (Atavika Jana) शब्द है जो उन व्यक्तियों के समूह को इंगित करता है जिनका एक विशिष्ट भौगोलिक स्थान, नातेदारी एवं सांस्कृतिक व्यवस्था होती है। उपनिवेश काल से पूर्व, ये लोग भी एक जाति (Caste)ए के रूप में जाने जाते थे। परन्तु उपनिवेश काल की प्रशासन व्यवस्था में इन्हें जनजाति कहा जाने लगा, चूंकि ये आत्मावाद में विश्वास करते थे अत: इस आधार पर इन्हें अन्य समूहों से विभेदित किया जाने लगा। इस श्रेणी में भोजन संकलन एवं स्थानान्तरित कृषि करने वाले समूहों को रखा गया। हालांकि यह ग्रामों के निकट ही रहते थे।

जनसंख्या रिपोर्ट में प्रथमत: इन्हें वन्य जनजाति कहा गया। 1931 की जनसंख्या रिपोर्ट में इन्हें "आदिम जनजाति" के नाम से सम्बोधित किया गया। 1935 में ब्रिटिश इन्हें "पिछड़ी जनजाति" (Backward Tribes) कहने लगे। धीरे-धीरे यह जनजातियाँ भारत में विदेशी एवं स्थानीय मानवशास्त्रियों के अध्ययन की विषय वस्तु बन गए।

1948 में भारत सरकार ने इन्हें "आदिवासी" कहा। 951 की जनसंख्या रिपोर्ट में 212 अनुसूचित जनजातियों की सूची मिलती है। इस रिपोर्ट के प्रकाशित होने के बाद अन्य सम्बन्धित समूहों ने भी इसमें शामिल होने की मांग उठाई और तब से अब तक इसमें शामिल होने वाले समूहों की संख्या बढ़ती ही जा रही है। वर्तमान समय में भारत में अनुसूचित जनजाति की संख्या की सूची 700 के अंक को पार कर चुकी है।

1967 में श्री अनिल चन्दा की अध्यक्षता में एक संयुक्त संसदीय समिति गठित की गई, जिसने निम्न विशेषताओं के आधार पर किसी समूह को एक जनजाति घोषित किया :-

(i) आदिम विशेषताएँ

(ii) विशिष्ट संस्कृति

(iii) भौगोलिक विलगन

(iv) अन्य बड़े समूहों से सम्पर्क न होना

(v) पिछड़ापन

योगेश अटल (2009) के अनुसार उपरोक्त विशेषताओं में से प्रथम विशेषता स्वत: ही शेष चारों विशेषताओं को स्वयं में सम्मिलित किये हुए है। अर्थात् अगर कोई किसी समूह के

आदिम लक्षण हैं, तो उसकी अपनी विशिष्ट संस्कृति होना एवं भौगोलिक रूप से विलगित होना स्वाभाविक है, जिसके कारण उनका अन्य बाह्य समाज से सम्पर्क नहीं होगा तथा वे पिछड़े हुए रह जाएंगें।

भारत सरकार द्वारा जुलाई, 2006 में प्रस्तावित नवीन जनजातीय नीति के प्रारूप में इन 5 आधारों को स्वीकार नहीं किया गया है। इसमें कहा गया है कि यह सभी आधार वर्तमान समय में अनुसूचित जनजातियों पर लागू करने हेतु उचित नहीं हैं। कुछ विशेषताएँ जैसे आदिम लक्षण, पिछड़ापन भी आज के सन्दर्भ में अनुकूल नहीं हैं तथा इनके लिए कुछ अन्य लक्षण या विशेषताएँ निश्चित किए जाने चाहिए। यहाँ यह भी जानना महत्त्वपूर्ण है कि इस जनजातीय नीति के अनुसार "यिजनजातिकरण" के लिए भी एक प्रक्रिया को निर्धारित करना आवश्यक है ताकि वे समूह जो लगभग सामान्य जनसंख्या की श्रेणी में आते हैं उन्हें इससे अलग किया जा सके।

## 5.3 संरचना

कुछ समाज शास्त्रियों ने संरचना को मात्र वर्णनात्मक सम्बोधन के रूप में उपयोग में लिया है। जबकि अन्य ने इसे व्याख्यात्मक यंत्र के रूप में सामाजिक सम्बन्धों के कारण ढूँढने से सम्बद्ध किया है। संरचनात्मक विचारधारा में मतभेद होने के बावजूद उनकी इस बारे में सहमति है कि समाज शास्त्रियों को संरचनात्मक रूपेण सोचना चाहिए।

वस्तुत: किसी भी समाज को जानने के लिए दो आधारभूत अवधारणाओं "सामाजिक संरचना" एवं "सामाजिक व्यवस्था" का अध्ययन आवश्यक होता है। समाज के अनेक अंग होते हैं तथा ये अंग व्यवस्थित रूप से संयुक्त होकर ढाँचे या रूपरेखा की रचना करते हैं। इसी को सामाजिक संरचना कहते हैं। सामाजिक संरचना से समाज की रूपरेखा या प्रतिमान का बोध होता है तथा यह अपेक्षाकृत अधिक स्थिर धारणा है।

टॉलकट पारसन्स ने सामाजिक संरचना को एक विशिष्ट क्रमबद्धता के रूप में देखा है। इस संगठन की कुछ इकाईयाँ यथा संस्थाएँ, एजेन्सियॉ व सामाजिक प्रतिमान हैं। सामाजिक संरचना के अन्तर्गत प्रत्येक सदस्य के कुछ पूर्व निश्चित पद तथा कार्य होतें हैं जोकि संस्थाओं, रीति-रिवाजों व रूढियों के बीच सामंजस्य और दूसरी ओर समाज के सदस्यों की समाज या समूह द्वारा निर्धारित विशिष्ट पदों तथा कार्यों को स्वीकार कर लेने की इच्छा व तत्परता पर निर्भर करते हैं। उनके अनुसार समाज एक अमूर्त अवधारण है।

जिन्सबर्ग ने सामाजिक संगठन व संरचना में कोई स्पष्ट भेद का वर्णन नहीं किया है। उन्होंने सामाजिक संगठन के प्रमुख रूपों में विभिन्न प्रकार के समूहों, समितियों तथा संस्थाओं को सम्मिलित किया है जिनसे समाज का निर्माण होता है। सामाजिक संरचना सामाजिक संगठन की ही अभिव्यक्ति या स्वरूप है।

रेडक्लिफ ब्राउन ने सामाजिक संरचना को सामाजिक सम्बन्धों का जाल माना है। अत: यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि समाज के विभिन्न घटकों या अंगों को परस्पर सम्बन्धित एवं व्यवस्थापित रूप में देखना चाहिए। संरचना पूरी व्यवस्था का वर्णन होता है न कि भागों का। संरचना को अवस्थिति (स्वबंजपवद) के रूप में, भूमिका के रूप में, एक संगठन

के रूप में, वितरण के रूप में एवं एक जाल के रूप में समझा जा सकता है। प्रस्तुत इकाई में जनजातियों की संरचना का उनकी पारिवारिक, वैवाहिक व नातेदारी व्यवस्था, धार्मिक व्यवस्था, आर्थिक संगठन, राजनैतिक संगठन तथा ग्राम संगठन के रूप में वर्णन किया गया है।

## 5.4 जनजाति की संरचना

### 5.4.1 परिवार

परिवार किसी भी समाज की आधारभूत इकाई है। मैकाइवर व पेज के अनुसार "परिवार पर्याप्त निश्चित यौन सम्बन्धों द्वारा परिभाषित एक ऐसा समूह है जो बच्चे के जनन व लालन-पालन की व्यवस्था करता है। जनजातियों में परिवार की संरचना के आधार निम्न हैं-

**(1) सत्ता के आधार पर-**

जनजातियों में सत्ता पिता या माता के द्वारा निर्धारित होती है जिसके आधार पर दो प्रकार के परिवार होते है-

**(अ) पितृ सत्तात्मक परिवार -** जिन परिवारों में पिता परिवार का कर्त्ताधर्ता होता है उसे पितृ सत्तात्मक परिवार कहते हैं जैसे- भील, मीणा, गरासिया आदि जनजातियों में इस प्रकार के परिवार पाये जाते हैं।

**(ब) मातृ सत्तात्मक परिवार -** जब परिवार की सत्ता स्त्री वर्ग के हाथों में होती है तो उसे मातृ सत्तात्मक परिवार कहा जाता है। उदाहरणार्थ- खासी, गारो व मालाबर के नायर।

**(2) वंश नाम के आधार पर-**

वंशनाम के आधार पर परिवार को निम्न 4 भागों में विभाजित किया जा सकता है-

**(अ) मातृवंशीय परिवार -** वे परिवार जहाँ बच्चों का वंश परिचय या वंश नाम माता के जन्म परिवार के आधार पर निर्धारित होता है तो उन्हें मातृवंशीय परिवार कहा जाता है। उदाहरण - मालावर के नायर।

**(ब) पितृवंशीय परिवार -** इस प्रकार के परिवारों में पिता के वंश के आधार पर बच्चों के वंश निर्धारण होता है। भारत की अधिकांश जनजातियों में पितृवंश पाया जाता है।

**(स) उमयवादी परिवार -** मुखर्जी के अनुसार कुछ परिवारों में वंश परिचय वंशानुगत सम्बन्ध को महत्त्व न देते हुए सभी निकट के सम्बन्धियों के आधार पर निर्धारित होता है। ऐसे परिवारों को उभयवादी परिवार कहा जाता है।

**(द) द्विनामी परिवार -** वे जनजातियाँ जिनमें पिता और माता दोनों का ही वंश नाम परम्परागत रूप में साथ-साथ चलता रहता है, उनमें पाये जाने वाले ऐसे परिवारों को द्विनामी परिवार की संज्ञा दी जाती है।

**(3) उत्तराधिकार के आधार पर परिवार-**

**(अ) पितृमार्गी परिवार -** इस प्रकार के परिवारों में सामाजिक, पारिवारिक पद एवं सम्पत्ति पर पूर्ण अधिकार पिता का होता है तथा पिता की मृत्यु के पश्चात् पुत्र का ही

पूर्ण अधिकार होता है। जैसे- गरर्ग़सेया, सहरिया, गोंड आदि में इस प्रकार के परिवार पाये जाते हैं।

**(ब) मातृमार्गी परिवार -** वे जनजातियाँ जिनमें उपरोक्त अधिकार माता एवं तत्पश्चात पुत्री को होता है तो उनके परिवार मातृमार्गी कहलाते हैं। जैसे- मेघालय के खासी एवं गारो।

**(4) आवास के आधार पर परिवार की संरचना-**

**(स) पितृस्थानीय -** विवाह के पश्चात् यदि पत्नी अपने पति के पिता के परिवार में रहती है तो ऐसे परिवार पितृस्थानीय कहलाते हैं। जैसे- खारिया आदि।

**(ब) मातृस्थानीय परिवार -** वे जनजातीय समाज जहाँ पति परिवार के पश्चात् अपनी पत्नी के परिवार में आकर बस जाता है तो ऐसे परिवारों को मातृस्थानीय परिवार कहा जाता है जैसे- खासी, गारो व मालावर के नायर।

**(स) नवस्थानीय परिवार -** विवाह के पश्चात् अगर पति-पत्नी एक नवीन आवास बना लेते हैं तो ऐसे परिवार को नवस्थानीय परिवार कहा जाता है।

**(5) विवाह सम्बन्ध के आधार पर-**

विवाह सम्बन्ध के आधार पर दो प्रकार के परिवार पाये जाते हैं-

**(अ) एक विवाही परिवार -** यदि एक पुरुष एक ही स्त्री से विवाह करता है तो ऐसे परिवार को एक विवाही परिवार कहा जाता है। वर्तमान समय में अधिकतर इसी प्रकार के परिवार पाये जाते हैं।

**(ब) बहु विवाही परिवार -** जब एक स्त्री या पुरुष एक से अधिक पुरुष या, स्त्री से विवाह सम्बन्ध स्थापित करते हैं, तो ऐसे परिवार बहु विवाही परिवार कहलाते हैं। ये दो प्रकार के होते हैं-

**(स) बहुपत्नी विवाह -** जिसमें एक पुरुष एक से अधिक स्त्रियों से विवाह करके परिवार की स्थापना करता है। उदाहरणार्थ- नागा, गोंड, बैगा आदि।

**(इ) बहु पति विवाह -** जब एक स्त्री एक से अधिक पुरुषों से विवाह करती है तो उसे बहु पति विवाह कहते हैं। यह पुन: दो प्रकार का होता है-

(i) **भ्रातृ बहु पति विवाह परिवार -** जब विवाह करने वाले सभी पुरुष भाई होते हैं तो उसे भ्रातृ बहु पति विवाह परिवार कहते हैं जैसे टोडा जनजाति।

(ii) **अभ्रातृ बहु पति विवाह परिवार** - जब विवाह करने वाले पुरुष आपस में भाई नहीं होते हैं तो उसे अभ्रातृ बहु पति विवाह परिवार कहा जाता है। उदाहरणार्थ मालाबार के नायर।

**(6) परिवार की सदस्य संख्या के आधार पर-**

**(अ( मूल या केन्द्रीय परिवार -** यह परिवार का सबसे छोटा एवं मूलभूत रूप है। इसमें एक विवाहित पति-पत्नी एवं उनके अविवाहित बच्चों को सम्मिलित किया जाता है। आधुनिक समय में जनजातियों में इस प्रकार के परिवार मिलते हैं।

**(ब( विवाह सम्बन्धी परिवार:-** इस प्रकार के परिवार के सदस्यों में पति-पत्नी उनके अविवाहित बच्चे तथा साथ ही विवाह द्वारा बने हुए कुछ अन्य सम्बन्धी भी आ जाते हैं। जैसे- खरिया जनजाति में इस प्रकार के परिवार पाये जाते हैं।

**(स( संयुक्त परिवार** - दुबे के अनुसार यदि कई मूल परिवार एक साथ रहते हैं। उनमें निकट

सम्बन्ध हों, एक साथ भोजन करते हों तथा एक आर्थिक इकाई के रूप में कार्य करते हो तो उन्हें सम्मिलित रूप से संयुक्त परिवार कहा जा सकता है।

### 5.4.2 विवाह

बोगार्डस के अनुसार, "विवाह स्त्री एवं पुरुष को पारिवारिक जीवन में प्रवेश करवाने की एक संस्था है।'' जनजातियों में भी विवाह नामक संस्था के द्वारा सामाजिक संरचना को सुदृढ़ता प्रदान करने हेतु अनेक नियम हैं, जो निम्न प्रकार हैं-

**(अ) विवाह सम्बन्धी निषेध -**

(i) **पारिवारिक निकटाभिगमन / निकटाभिगमन निषिद्ध -** निकटाभिगमन निषिद्ध उन नियमों को परिभाषित करता है जिनके द्वारा किसी न किसी रूप में अति निकट के सम्बन्धियों से विवाह सम्बन्ध स्थापित करना अति निषिद्ध होता है। यों तो यह सभी समाजों में सामान्तया पिता-पुत्री, माता-पुत्र एवं सगे भाई-बहिनों में निकट सम्बन्ध के निषिद्ध के रूप में देखा जा सकता है। तथापि यह सरल समाजों में अत्यधिक महत्त्वपूर्ण होता है। उदाहरणार्थ नवाहों जनजाति में यह निषेध पूरे गोत्र के सदस्यों के लिए लागू होता है जो एक दूसरे से बिल्कुल अलग परिवारों में रहते हैं।

(ii) **बहिर्विवाह -** बहिर्विवाह के नियमानुसार एक जनजातीय व्यक्ति को अपनी जाति, जनजाति, गोत्र या समूह के बाहर विवाह करने को कहा जाता है। जैसे खासी जनजाति में या; नियम पाया जाता है। छोटा नागपुर की मुण्डा तथा अन्य जनजातियों में गांव में बहिर्विवाह पाया जाता है अर्थात् एक व्यक्ति अपने गांव की लडकी से विवाह नहीं कर सकता है। राजस्थान की भील जनजाति में पाल बहिर्विवाह पाया जाता है। जनजातियों में सामान्तया गोत्र बहिर्विवाह एवं टोटम बहिर्विवाह पाया जाता है।

(iii) **अन्तर्विवाह -** जब एक व्यक्ति को अपनी जाति, कभी-कभी गोत्र में ही विवाह करना होता है तो उसे अन्तर्विवाह कहते हैं। भारत की जनजातियों में सामान्यतया से गोत्र अन्तर्विवाह नहीं पाया जाता है। टोडा जनजाति में गोत्र, तारथारोल एवं तिवालियल तथा भील जनजातियों के 'उजले भील' एवं 'मैले भील' भी अन्तर्विवाह के नियम को मानते हैं।

**(ब) अधिमान्य विवाह -**

जब किसी व्यक्ति को अन्य किसी व्यक्ति से विवाह करने का विशेष अधिकार हो या उनमें विवाह होना अधिक पसन्द किया जाता हो तो ऐसे विवाह को अधिमान्य विवाह कहा जाता है। इस विवाह के 4 प्रमुख प्रकार है

**(i) ममरे-फुफेरे भाई-बहिनों का विवाह -** जब विवाह करने वाले दोनों पक्ष आपस में ममेरे-फुफेरे भाई-बहिन होते हैं तो इस प्रकार के विवाह को ममरे-फुफेरे भाई-बहिन का विवाह कहा जाता है। गोंड, खरिया, ओरांव, खासी तथा कादर आदि जनजातियों में इस प्रकार के विवाह पाये जाते हैं।

**(ii) चचेरे-मौसेरे भाई-बहिनों का विवाह -** जब विवाह दो भाईयों या दो बहिनों की संतानों के मध्य हो तो उसे चचेरे-मौसेरे भाई-बहिनों का विवाह कहा जाता है। अरब की एक खानाबदोश जनजाति बेडोइन में इस प्रकार का विवाह पाया जाता है।

**(iii) पति भ्राता विवाह -** जब एक स्त्री अपने पति की मृत्यु के पश्चात् उसके भाई से विवाह करती है तो उसे पति भ्राता विवाह कहते हैं। यह दो प्रकार का होता है-

**(iv) ज्येष्ठ विवाह -** जब पति की मृत्यु के पश्चात् विवाह पति के बड़े भाई से किया जाये तो उसे ज्येष्ठ पति भ्राता विवाह कहते हैं।

**(v) देवर विवाह -** पति की मृत्यु के पश्चात् यदि उसकी पत्नी का विवाह पति के छोटे भाई से हो तो उसे देवर विवाह कहा जाता है।

**(vi) पत्नी-भगिनी (साली) विवाह** - इस विवाह प्रथा के अनुसार जब एक पुरूष अपनी पत्नी की बहिन के साथ विवाह करता है तो उसे पत्नी भगिनी विवाह कहा जाता है। यह भी दो प्रकार का होता-

**(vii) सीमित साली विवाह** - वह विवाह जिसमें पत्नी की मृत्यु के बाद साली से विवाह किया जाता है, तो उसे सीमित साली विवाह कहा जाता है।

**(viii) समकालीन साली विवाह -** इस विवाह प्रथा के अनुसार एक पुरुष एक परिवार की सबसे बड़ी बहिन के साथ विवाह करता है और उस स्त्री की अन्य सारी बहिनें स्वत: ही उस पुरुष की पत्नियाँ हो जाती हैं।

उपरोक्त अधिमान्य विवाहों के अतिरिक्त जनजाति समाजों में कुछ दूसरे विशेष प्रकार के विवाह भी देखने को मिलते हैं। गोंड जनजाति में बाबा (दादा) एवं पौत्री में प्राय: विवाह हो जाता है। सेमा नागा जनजाति में यह प्रथा है कि पुत्र अपने पिता की मृत्यु के पश्चात् अपनी सगी माता के अतिरिक्त अन्य सभी सौतेली माताओं से विवाह कर लेता है। गारो जनजाति में पत्नी के पिता की मृत्यु होने पर दामाद को अपनी विधवा सास से विवाह करना पड़ता है। इसके अतिरिक्त एक विवाह एवं बहु विवाह प्रथा भी विवाह के द्वारा सामाजिक संरचना को बनाये रखने में महत्त्वपूर्ण होती है जिनका वर्णन पूर्व में एक विवाही परिवार एवं बहु विवाही परिवार के अन्तर्गत किया जा चुका है।

**नाता विवाह -**

जनजातियों में नाता विवाह की प्रथा भी होती है। यदि एक विवाहित स्त्री किसी अन्य व्यक्ति के साथ रहना चाहती है तो दूसरे पुरुष को उसके पति को दण्ड स्वरूप कुछ राशि अदा करनी होती है। इस राशि को गरासिया जनजाति में "झगड़ा" कहा जाता है। "झगड़ा" अदा करने पर ही यह विवाह मान्य होता है।

जनजातीय समुदायों में विवाह साथी चुनने के लिए अनेक तरीके अपनाये जाते हैं, जिनका वर्णन निम्न प्रकार से है -

**(1) परिवीक्षा विवाह -** इस प्रथा के अनुसार विवाह पूर्व जब विवाह योग्य लड़का एवं लड़की को एक-दूसरे को भली भांति समझने तथा यौन सम्बन्धी अनुभवों को प्राप्त करने का मौका दिया जाता है तथा इस परिवीक्षा काल के पश्चात् अगर वे विवाह करना चाहें तो समस्त वैवाहिक रीतियों के अनुसार उनका विवाह कर दिया जाता है। कूकी जनजाति में इस प्रकार का विवाह किया जाता है।

**(2) हरण विवाह-** यह विवाह साथी चुनने का एक विचित्र तरीका है जिसके अन्तर्गत वर, कन्या को उसके माता-पिता की इच्छा के विरूद्ध उठा कर ले जाता है एवं विवाह कर लेता है। भारतीय जनजातियों में यह दो प्रकार का-

**(i)** शारीरिक हरण जो अधिकतर वास्तविक न होकर अभिनयात्मक होता है,

**(ii)** संस्कारात्मक या विधिवत हरण, होता है। हरण विवाह गोंड, खरिया, संथाल, बिरहोर, भूमिक, भील, नागा एवं मुण्डा आदि जनजातियों में पाया जाता है ।

**(3) परीक्षा विवाह -** विवाह योग्य इच्छुक नवयुवक की शारीरिक शक्ति एवं साहस की परीक्षा हेतु इस विवाह विधि को अपनाया जाता है। भील जनजाति में विशेष तौर से यह प्रथा अपनायी जाती है।

**(4) क्रय विवाह -** वधू मूल्य चुकाकर इस प्रकार का विवाह किया जाता है। भारत की सभी जनजातियों में विशेष तौर पर संथाल, हो, ओरांव, खरिया, गोंड, आगा, कूकी, भील आदि जनजातियों में इस प्रकार से विवाह करने का रिवाज है।

**(5) सेवा विवाह -** जब अत्यधिक वधू मूल्य चुकाना असम्भव होता है तो ऐसी परिस्थितियों में विवाह करने से पूर्व ही योग्य युवक को अपने भावी ससुराल में रहकर वधू मूल्य के बदले कुछ दिनों तक सेवा प्रदान करनी पड़ती है। गोंड, नैगा व बिरहोर जनजातियों में यह विवाह साथी चुनने का प्रकार होता है।

**(6) विनिमय विवाह -** इसके अन्तर्गत एक परिवार के एक भाई और एक बहिन का विवाह क्रमश: दूसरे परिवार की एक लड़की और उसके भाई के साथ हो जाता है। यह विवाह प्रथा सभी भारतीय जनजातियों में पाई जाती है। परन्तु असम की खासी जनजाति इसका अपवाद है।

**(7) सहमति व सहपलायन विवाह -** यह वह परिस्थिति है जब विवाह योग्य युवक-युवती सामाजिक प्रतिबन्धों तथा बड़ों की आज्ञा और इच्छा की अवहेलना कर पारस्परिक सहमति से विवाह कर लेते हैं। भारतीय जनजाति में यह विवाह काफी प्रचलित हैं। 'हो' जनजाति में इसे राजी-खुशी कहते हैं।

**(8) हठ विवाह -** इस प्रथा के अन्तर्गत वे विवाह शामिल किये जाते है जिसमें एक युवक विशेष से विवाह करने की इच्छुक लड़की उसके घर में जबरदस्ती घुस जाती है, व जब तक युवक के माता-पिता उसे पुत्र-वधू के रूप में स्वीकार नहीं कर लेते हैं, तब तक वहाँ से नहीं जाती

है। यह प्रथा बिरहोर, ओरांव, कमार तथा मुण्डा जनजातियों में पायी जाती है। इसे ओरांव ''निर्वोलोक'' तथा हो ''अनादर'' विवाह की संज्ञा देते हैं।

### 5.4.3 नातेदारी

नातेदारी समस्त रिश्तेदारों एवं वैवाहिक रिश्तेदारों के समूह को कहते हैं जो कि सामाजिक संरचना का एक अभिन्न अंग है। ब्राउन के अनुसार "यह सामाजिक सम्बन्धों के नेटवर्क का अध्ययन है, जो सामाजिक पद्धति का ही एक हिस्सा है।'' नातेदारी व्यवस्था समाज में विवाह नियम, आवासीय नियम, अनुक्रमण एवं विरासत के नियम वंशानुक्रम द्वारा निर्धारित करती है।

वंशानुक्रम नियम वे सिद्धान्त हैं जो एक व्यक्ति को समान पूर्वज परम्परा द्वारा रिश्तेदारों के समूह से जोड़ती है। वंशानुक्रम समूह वे समूह हैं जो कि मिल कर सामूहिक गतिविधियों में हिस्सा लेते हैं। ये समूह सामाजिक जीवन के कई पक्षों को प्रभावित करते हैं एवं उनकी संरचना एवं वृद्धि सामाजिक संगठन के महत्त्वपूर्ण घटक है। जहाँ वंशानुक्रम किसी एक रेखा (पितृवशक / मातृवशक) से जाना जाता है उसे एकवंशीय वंशानुक्रम कहते हैं। कुछ समाज बालक को उसके माता और पिता दोनों का ही समान रूप से वंशज मानता है, पर यहाँ भी उपनाम एवं उपाधि हमेशा पितृरेखा से ही हस्तान्तरित होती है। इस प्रकार की प्रणाली को द्विपक्षीय वंशानुक्रम कहा जाता है। यह दो प्रकार का होता है-

**(i) संदिग्ध वंशज समूह -** इसके अनुसार एक व्यक्ति अपने रिश्तेदारों से ऐच्छिक रूप से जुड़ सकता है अर्थात् उसे किसी भी या दोनों लिंगों में अनुमानित पूर्वज से वंशानुक्रम निर्धारित करने के लिए चुनाव की आज्ञा होती है। उदाहरणार्थ समोआ जनजाति में ऐसा होता है।

**(ii) द्विपक्षीय वंशानुक्रम समूह -** यही माता व पिता दोनों के रिश्तेदार महत्वपूर्ण होते हैं। नातेदारी व्यवस्था समतल / रैखीय होती है।

**गोत्र -** यह एकपक्षीय परिवारों का वह संकलन है जिनके सदस्य अपने को एक वास्तविक या काल्पनिक सामान्य पूर्वज का वंशज मानते हैं। जनजातीय समाज के गोत्र के विस्तृत स्वरूप यथा भ्रातृदल युग्म संगठन व गोत्रार्थ भी पाये जाते हैं जो सामाजिक संरचना का ताना बाना बुनते है।

**भ्रातृदल (गोत्र समूह) -** एस. सी. दुबे के अनुसार "संगठन की दृष्टि से कभी-कभी कई गोत्र मिलकर एक वृहत समूह बना लेते हैं। इसे ही हम भ्रातृदल (गोत्र समूह) कहते हैं। आदिलाबाद के राजगोंडों व टोडा जनजाति में भ्रातृदल मिलते हैं।

**युग्म संगठन व गोत्रार्ध -** अगर एक जनजाति के सभी गोत्र केवल दो भागों में विभाजित होकर संगठित हों तो उसे युग्म (द्विदल) संगठन कहते हैं एवं युग्म संगठन के प्रत्येक आधे भाग को गोत्रार्ध कहते हैं। बोण्डों एवं कमार जनजाति समूह में यह पाये जाते है।

### 5.4.4 धर्म

श्री रिजले से लेकर डी. एन. मजूमदार तक प्राय: सभी मानवशास्त्री मानते हैं कि भारतीय जनजाति में धर्म का प्रमुख आधार आत्मावाद है। जनजातियों का यह विश्वास है कि उनका जीवन अनेक आत्माओं, प्रेतों तथा अलौकिक शक्तियों से घिरा हुआ है तथा उन्हीं के द्वारा नियंत्रित होता है। सामान्यतया सभी जनजातियाँ एक विशेष चट्टान या शिला को स्थापित करती हैं तथा मानती हैं कि उनमें उनके पूर्वज निवास करते हैं। दो आत्माओं की धारणा अनेक जनजातियों यथा- हो, टोडा व कमार में पायी जाती है। उनमें दोहरा दाह-संस्कार (कच्चा व पक्का) करने की प्रथा है। कच्चा दाह-संस्कार व्यक्ति की मृत्यु के तुरन्त पश्चात् तथा पक्का दाह-संस्कार काफी समय बीतने के पश्चात्, जब परिजनों को यह विश्वास हो जाता है कि मृत आत्मा लौटकर पुन: नहीं आएगी, किया जाता है।

डी. एन. मजम्दार के अनुसार भारतीय जनजातियों में धर्म का आधार मानावाद या बोंगावाद है। हो जनजाति के बोंगा को चल और अचल, जीवित और जड़ सभी वस्तुओं व स्थानों में व्याप्त एवं अदृश्य एवं अलौकिक शक्ति मानते हैं जो फसल उगाने, कोई प्राकृतिक आपदा या महामारी होने का एकमात्र कारण है।

अनेक जनजातियाँ चाँद, सूर्य व तारों की पूजा करती है। अत: वे धर्म के प्रकृतिवादी रूप में विश्वास करती हैं। मुण्डा जनजाति सिंग बोगा (सूर्य देवता) को पूजती हैं। असम की गारो जनजाति सूर्य व चन्द्रमा की उपासक हैं। इसी प्रकार टोटमवाद जनजाति धर्म का एक अभिन्न अंग है। हॉवल के अनुसार "टोटम एक पदार्थ प्राय: एक पशु अथवा एक पौधा है जिसके प्रति एक सामाजिक समूह के सदस्य विशेष श्रद्धा भाव रखते हैं और जो यह अनुभव करते हैं कि उनके और टोटम के बीच एक भावनात्मक समानता का एक विशिष्ट बन्धन है।'' उदाहरणार्थ ओरांव जनजाति। भारतीय जनजाति- की धार्मिक संरचना की एक उल्लेखनीय विशेषता यह है कि एक ईश्वर पर विश्वास करने वाली जनजाति समूह यहाँ नहीं पाये जाते हैं। जीवन के विभिन्न पक्षों व समस्याओं से सम्बन्धित विभिन्न प्रकार के देवी-देवता पर विश्वास इनके धर्म की विशेषता है।

इसके अतिरिक्त जादू-टोना जनजातियों के धर्म व धार्मिक विश्वासों का एक अन्य पक्ष है। प्रत्येक जनजाति में जादू-टोना करने वाले कुछ विशेषज्ञ होते हैं जो लोगों को अनेक प्रकार के ताबीज देते हैं व टोटका करते हैं। फ्रेजर ने जादू के दो नियमों का उल्लेख किया है।

**(i) अनुकरणात्मक जादू -** यह समानता के नियम पर आधारित है। अर्थात् समान कारण से समान कार्य उत्पन्न होता है।

**(ii) संक्रमण जादू -** यह सम्पर्क या संसर्ग के नियम पर आधारित है अर्थात् जो वस्तु एक बार किसी के सम्पर्क में आ जाती है वह सदैव उसके सम्पर्क में रहकर उस समय भी एक दूसरे पर क्रिया व प्रतिक्रिया करती रहती है जबकि उनका शारीरिक सम्बन्ध टूट गया हो, वे एक दूसरे से दूर या पृथक हों।

### 5.4.5 आर्थिक संरचना

वर्तमान समय में आदिम समाजों में अर्थव्यवस्था खाद्य संकलन से लेकर औद्योगिक एवं आधुनिकतम अर्थ व्यवस्था के विभिन्न स्तरों तक फैली हुई है। एक समाज में एक समय में ही कई अवस्थायें या स्तर पाये जाते हैं। सरल समाजों में प्राय: सभी आर्थिक क्रियाओं को सम्पन्न करने में धर्म और जादू-टोने का सहारा लिया जाता है। आर्थिक उत्पादन प्राय: बिना किसी प्रौद्योगिकी सघनता के ही किया जाता है। कम उत्पादन के फलस्वरूप विनिमय पर बल नहीं दिया जाता है, क्योंकि जो कुछ उत्पादन होता है उसे समुदाय की आवश्यकता की पूर्ति करने के पश्चात् विनिमय की बहुत कम गुंजाइश रहती है। अधिकतर आर्थिक क्रियाएँ सामूहिक व सहकारी आधार पर संगठित होती हैं जिनका मुख्य उद्देश्य सामुदायिक कर्त्तव्यों की पूर्ति है। इन समाजों में उपहार विनिमय का एक माध्यम होता है तथा अतिथि सत्कार या आतिथ्य आर्थिक सेवा के रूप में देखने को मिलता है।

शिकार करने वाली जनजातियों में श्रम विभाजन स्पष्ट होता है। एक तरफ पुरुष जहाँ शिकार करने या मछली पकड़ने के लिए दूर स्थानों पर चले जाते हैं, वहीं स्त्रियाँ व बच्चे घर पर रहकर खाद्य संकलन करते हैं। पशुपालन तथा कृषि आधारित जनजातीय समाजों में यह स्पष्ट नहीं होता है। हालांकि अधिक शारीरिक श्रम वाले कार्य स्त्रियों से नहीं कराये जाते हैं, परन्तु यह एक सार्वत्रिक स्थिति नहीं है। जनजातियों द्वारा की जाने वाली 'झूम' या स्थानान्तरित कृषि को अब 'स्थायी कृषि' के. रूप में देखा जा सकता है।

### 5.4.6 राजनैतिक संरचना

जनजातीय समाजों में नातेदारी व्यवस्था अत्यधिक महत्त्वपूर्ण होती है। इन समाजों में मुखिया या शासक प्राय: वंशानुगत होता है अर्थात् पिता की मृत्यु के बाद उसका पुत्र स्वत: ही शासक बन जाता है। प्रत्येक गोत्र में कुछ महत्त्वपूर्ण राजनीतिक कार्य होते है। एक गोत्र का मुखिया अपने गोत्र के लिए कानून बनाता है और उसका पालन करवाता है। सरल समाजों का कानून प्रथा, आचार व धर्म आदि से अत्यधिक घुला मिला होता है। सामाजिक, आर्थिक व राजनीतिक परिस्थितियाँ एक सी होने के कारण सभी सदस्यों की समस्याएँ भी प्राय: समान होती हैं । अत: इन समाजों में व्यक्तियों के व्यवहार पर नियंत्रण व शासन करने के लिए जनमत भी अत्यधिक महत्त्वपूर्ण होता है।

एस. डी.. दुबे के अनुसार, सरल समाज की राजकीय शासन व्यवस्थाएँ तीन मुख्य सिद्धान्तों पर आश्रित रहती है। प्रथम श्रेणी के अन्तर्गत ऐसी सरकार आती है जिसका मूल आधार सम्बन्ध प्रथा होती है। इसके अन्तर्गत रक्त व विवाह सम्बन्धी नाते-रिश्तेदार अपने विस्तारित रूप में सामाजिक नियंत्रण का उत्तरदायित्व पूरा करते हैं। दूसरी श्रेणी की सरकार स्थानीयता के सिद्धान्त पर आधारित होती है। इस प्रकार की व्यवस्था में राजकीय संगठन स्थानीय समूह (ग्राम), क्षेत्रीय समूह (ग्राम समूह) व पूर्ण समूह (जनजाति) में निहित व विभाजित रहता है। तीसरी श्रेणी में भी सरकार हितों के संगठन पर आश्रित रहती है। इसके अतिरिक्त एक अन्य वर्गीकरण के तहत आदिम समाज में सरकार के पाँच प्रकार हो सकते हैं-

**(i) अल्पजन शासित सरकार -** जब सरकार की शक्ति समाज के छोटे समूह के हाथों में होती है तो उसे अल्पजन शासित सरकार कहते हैं।

**(ii) एकतंत्र सरकार** - इस प्रकार की सरकार में शक्ति एक व्यक्ति (राजा) के हाथों में होती है।

**(iii) वृद्धतंत्र -** जब राजकीय शक्ति बड़े-बूढ़ों के हाथों में होती है तो उसे वृद्धतंत्र कहते हैं।

**(iv)** प्रजातंत्र - इस प्रकार की सरकार में शासन प्रबन्ध समाज के अधिकतर लोगों के हाथों में होता है।

**(v) ईश्वर तंत्र -** वे समाज जहाँ अलौकिक शक्ति का प्रभाव अत्यधिक होता है तब पुरोहित या अन्य कोई धार्मिक विशेषज्ञ ईश्वर के प्रतिएनिधि के रूप में काम करता है।

अनेक जनजातियों में राजकीय शासन व्यवस्था की मूल इकाई गांव होती है तथा शासन प्राय: कुछ लोगों की पंचायत द्वारा संचालित होता है।

जनजातियों में राज्ययुक्त तथा राज्यविहीन दोनों ही समाज पाये जाते हैं। राज्ययुक्त समाज में केन्द्रीय सत्ता, प्रशासनिक संगठन, विधायी कार्यपालिका तथा पूँजी का बँटवारा होने के कारण ऐसे समाज का एक राजा या अधिपति होता है जिसे सबसे ज्यादा सुविधा तथा प्रतिष्ठा प्राप्त होती है एवं वह उच्च श्रेणी का होता है।

दूसरी ओर राज्यविहीन समाज में केन्द्रीयकृत सत्ता प्रशासनिक तथा न्यायिक संगठन का अभाव होता है। यहाँ पर धन, विशेष सुविधा तथा प्रतिष्ठा का शक्ति व अधिकार से कोई सम्बन्ध नहीं होता है।

### 5.4.7 ग्राम संगठन

भौगोलिक परिस्थितियों व अर्थव्यवस्था के अनुसार जनजातियों के ग्राम की संरचना विभिन्नता भरी होती है। जनजातियाँ कहीं मैदानों में पायी जाती हैं, तो कहीं घने जंगलों व कहीं यह पहाड़ियों पर रहते हैं। उदाहरणार्थ गोंडो के निवास स्थान बहुत साधारण, घास-फूस व बाँस की खपच्चियों की सहायता से बनाये जाते हैं। पहाड़ी गोंडों की अपेक्षाकृत मैदानी गोंडो के घर अधिक स्थायी होते हैं।

गरासिया जनजातियों के गाँव बिखरे हुए होते हैं। ये गाँव को पाल या फला कहते हैं। एक ही गाँव या फला में सामान्तया एक ही गोत्र और "अटक" के परिवार निवास करते है। प्रत्येक फला का संस्थापक वंश समूह का मुखिया होता है।

नागा लोग ऊँची चोटियों पर बाँस व फूस की सहायता से अपने मकान बनाते हैं। नागा गाँव में 100-200 से लेकर 500 तक घर होते हैं। बड़ी-बड़ी बस्तियाँ मुहल्लों में बंटी होती हैं। इसे "खेल" कहते हैं। खेलों की सीमाओं के पास पेड़ों की चौकियाँ बनी होती हैं। जहाँ से ये अपने गाँव की रखवाली करते हैं।

बैगा घने वनों में निवास करना पसन्द करते हैं। सामान्यतया इनके गाँव छोटे होते हैं परन्तु अब इनके बड़े गाँव भी देखे गये हैं। इनके मकान लगभग 13-13 चौड़े व 20-30 लम्बे बनते हैं जिसकी दीवारें बाँस की बनाकर मिट्टी से लिपाई करते हैं। गाँव में सभी मकान एक-दूसरे के पास बनाए जाते हैं। सभी मकानों को एक बाँस की बाड़ लगाकर सुरक्षित कर दिया जाता है जो कि गाँव की सीमा होता है। गाँव के बाहर पूजा स्थल तथा शमशान भी बनाया

जाता है। प्रत्येक गाँव के बाहर से आने वाले लोगों को ठहराने के लिए एक अलग घर बनाया जाता है जिसे "चट्टी" कहते हैं।

भीलों में ग्राम संगठन तीन प्रकार का होता है-

**(i) बहु जाति ग्राम -** इन ग्रामों में भीलों के साथ-साथ अन्य जातियों के व्यक्ति भी निवास करते है। ये ग्राम पहाड़ी व मैदानी दोनों क्षेत्रों में पाये जाते हैं।

**(ii) सघन भील ग्राम -** इस प्रकार के गाँव अधिकांशतया मैदानी क्षेत्रों में पाये जाते हैं, जहाँ भील परिवार एक छोटे से क्षेत्र में बसे हुए होते हैं।

**(iii) बिखरा ग्राम -** इस प्रकार के ग्राम सर्वाधिक हैं। इनमें भीलों के घर फैले हुए होते हैं तथा "टेकरी" (पहाड़ी) के ढलान पर खेती की जाती है। कई घरों या झोपड़ियों को मिलाकर एक "फला" बनता है। डूँगरपुर जिले में फलों को "पाल" कहा जाता है।

## 5.5 जनजातियों में परिवर्तन

आधुनिकीकरण व वैश्वीकरण के कारण विश्व का प्रत्येक समाज तीव्र परिवर्तन के दौर से गुजर रहा है। अत: भारत में जनजातियाँ भी सामाजिक सांस्कृतिक परिवर्तन के कारण नवीन रूप में हमारे सामने आ रही हैं। राष्ट्रीय एकीकराग की प्रक्रिया के द्वारा मुख्य धारा में उन्हें जोड़ने की पुरजोर कोशिश की जा रही है। यह एक प्रकार से एक दुविधा की स्थिति है कि एक तरफ हम जनजातीय संस्कृति को सहेज कर रखने की वकालत करते हैं तथा दूसरी तरफ उन्हें राष्ट्रीय मुख्य धारा से जोड़ने के लिए उनमें परिवर्तन के प्रति सकारात्मक सोच की अपेक्षा रखते है। इनकी परम्परागत अर्थव्यवस्था देश की राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था के साथ पूँजीवादी बन गई है। भारतीय जनजातियाँ आज संक्रमण काल के दौर से गुजर रही हैं। पिछले दो-तीन दशकों में उन्होंने बड़े-बड़े परिवर्तन देखे हैं। शिक्षा, संचार, आवागमन, औद्योगीकरण व शहरीकरण एवं योजनाबद्ध विकास नीतियों व कार्यक्रमों ने उनके जीवन में आमूल-चूल परिवर्तन किए हैं। इतना होने पर भी आज भी ये अपनी नातेदारी व्यवस्था, रीति-रिवाजों, परम्पराओं व विश्वासों से जुड़े हुए हैं तथा अपनी पहचान बनाये रखने में सफल हुए हैं।

**जनजातियों में परिवार, विवाह व बन्धुत्व में परिवर्तन -**

जनजातियों की सामाजिक संरचना को मुख्यत: उनके परिवार, गोत्र व बखुत्व की दृष्टि से देखो जाता है। औद्योगीकरण, शहरीकरण के फलस्वरूप आज जनजातीय व्यक्ति भी अर्थोपार्जन के लिए शहर में आने लगे हैं। जिसके कारण इनके परिवार अधिकाधिक रूप से केन्द्रीय होने लगे हैं। परिवार में मुखिया के अधिकार व सत्ता में भी परिवर्तन हुआ है। जैसे- हो, भील, गोंड आदि में शनै: शनै: यह परिवर्तन देखा जा सकता है। किन्तु मातृवंशीय परिवारों तथा खासी एवं गारो जनजातियों में इस स्तर पर कुछ विशेष परिवर्तन नहीं हुआ है। वे अभी भी मातृसत्तात्मक तथा मातृस्थानिक हैं।

नागा, गोंड तथा भील आदि जनजातियों में बहु पत्नी प्रथा रही है लेकिन यह जनजातियाँ भी अब धीरे- धीरे एकपत्नीक होती जा रही हैं। बढता हुआ वधू मूल्य इसका एक मुख्य कारण

है, जिसके कारण एक पुरुष के लिए एक से अधिक विवाह करना मुश्किल होता जा रहा है। इसके अतिरिक्त समाज सुधार आन्दोलन तथा शिक्षा के स्तर में वृद्धि इस परिवर्तन के मुख्य कारण हैं।

जनजातियों की गोत्र व्यवस्था भी परिवर्तन से अछूती नहीं है। जब तक जनजाति एक निश्चित भू-भाग तक सीमित रहती है, गोत्र व्यवस्था सामाजिक सुदृढ़ता का काम बखूबी करती है, लेकिन अब बढ़ती प्रवासन दर ने गोत्र के बंधनों को शिथिल कर दिया है। वह केवल विवाह के नियमों के पालन करने की एक व्यवस्था रह गई है। संचार व आवागमन के बढ़ते साधनों के कारण बंधुत्व का क्षेत्र भी अब विस्तृत होने लगा है। पहले जहाँ विवाह सम्बन्ध आस-पास के क्षेत्रों तक ही सीमित थे आज वे दूरस्थ स्थलों पर भी होने लगे हैं।

जनजातियों में जीवन-साथी चुनने के तरीके में भी अनेक परिवर्तन सुस्पष्ट रूप से देखे जा सकते हैं। संथाल, हो, ओराँव, भील आदि जनजातियों में क्रय विवाह की प्रथा कम होती जा रही है। दोषी के अनुसार अपहरण, विवाह भी भारतीय दण्ड संहिता में दण्डित होने लगे हैं। हठ विवाह व सहपलायन विवाह भी कानून की दृष्टि में अपराध माना जाता है। इस तरह से जनजातियाँ अब एक विवाही व्यवस्था की ओर बढ़ रही हैं।

**आर्थिक संरचना में परिवर्तन -**

जनजातीय आर्थिक व्यवस्था हमेशा से जीविका अर्थव्यवस्था रही है अर्थात् ये समूह उतना ही उत्पादन करते रहे हैं, जितनी उनकी आवश्यकता होती है। परन्तु उदार बाजार नीति ने उनके लिए नए आयाम विकसित कर दिये हैं। अब ये व्यावसायिक फसलें पैदा करने लगे हैं। बढ़ती शिक्षा दर तथा नौकरियों में आरक्षण के प्रावधान के द्वारा जनजातियाँ निजी व सरकारी स्तर पर अपनी सेवाएँ प्रदान करने लगी हैं। जिसके फलस्वरूप इनके समाज में धन या मुद्रा का प्रेषण हुआ है। इस धन से इन्हें समाज में नयी प्रस्थिति, मान व सम्मान प्रदान करवाया है। जो लोग अपने समाज के अन्य लोगों से अधिक सम्पन्न हैं वे पंचायती राज व अन्य संस्थाओं के द्वारा प्रजातांत्रिक रूप से नेतृत्व कर रहे हैं। अनुसूचित जनजाति आयोग ने इसी सन्दर्भ में कहा था कि जनजातियों में धनी और अधिक धनी तथा गरीब और अधिक गरीब होते जा रहे हैं। एफ. जी. बैली ने अपने उड़ीसा की गोंड जनजाति के सन्दर्भ में अपने आनुभाविक अध्ययन के द्वारा स्पष्ट किया है कि जनजातियाँ जब जीविका अर्थव्यवस्था के घेरे से बाहर आ गई हैं।

**राजनैतिक परिवर्तन-**

आदिकाल से ही जनजातियों में गोत्र के माध्यम से राजनीतिक इकाईयाँ काम करती आई है लेकिन आज गोत्र का कार्य विवाह सम्बन्धी नियमों तक सीमित रह गया है। अब देश की राष्ट्रीय व्यवस्था एक जैसी है तथा परम्परागत राजनैतिक व्यवस्था को कई कठिनाईयों का सामना करना पड़ रहा है। परम्परागत नेतृत्व को लेकर समाजशास्त्रियों ने अपने अनुभवों के आधार पर दो निष्कर्ष निकाले हैं :-

(i) परम्परागत नेतृत्व व्यवस्था ने समय की बदलती हुई मांग के साथ खुद को बदल लिया है।

(ii) परम्परागत नेतृत्व व्यवस्था अपनी जड़ें खो चुकी हैं और उसका स्थान नवीन प्रजातंत्र ने ले लिया है।

कुल मिलाकर यह कहा जा सकता है कि जनजातियों में राजनैतिक चेतना बढ़ गई है। वह राज्य व राष्ट्रीय स्तर पर होने वाली राजनीतिक गतिविधियों के बारे में जानकारी रखते हैं तथा आवश्यकता पड़ने पर अपना मत भी रखते हैं।

हालांकि यह भी सत्य है कि उनमें अभी पूर्णरूपेण राजनीतिक चेतना नहीं आई है जिसकी वजह से वे अभी भी शोषण का शिकार होते रहते हैं। आर्थिक एवं राजनैतिक संरचना के परिवर्तनों के फलस्वरूप जनजातियों में पाये जाने वाले स्तरीकरण का संक्षेप में वर्णन करना यहाँ न्यायसंगत होगा। परम्परागत रूप से जनजातियों में अमीर-गरीब, ऊँच-नीच का भेदभाव अत्यन्त कम था। कुछ गोत्र स्तरीकरण के सोपान में ऊँचे होते थे, फलत: सामाजिक व्यवस्था में उन्हें अधिक प्रतिष्ठा मिलती थी। परन्तु अब व्यक्ति की वीरता, शूरता आदि लक्षण उसे सामाजिक प्रतिष्ठा नहीं दिला पाते हैं। वर्तमान समय में व्यक्ति की अर्जित योग्यता ही उसे सम्माननीय स्थिति प्रदान कराती है। अब कुछ लोगों ने राजनीतिक दलों में अपना स्थान बना लिया है तथा जिन लोगों ने कृषि के अलावा नौकरी व अन्य उद्योग धन्धों से धन कमाया है वे सामाजिक स्तरीकरण में नये सोपान चढ़ रहे हैं अत: जनजातियों में दो स्पष्ट वर्ग दिखाई देने लगे हैं। पहला वर्ग- अभिजात्य वर्ग है जो कि शिक्षित है, आर्थिक और राजनीतिक वर्चस्व रखते हैं। उनके नीचे सामान्य जनजातीय व्यक्ति है। आज के समय में सामान्य नेता अपनी ही जनजाति में निम्न परिवारों के साथ विवाह सम्बन्ध रखना पसन्द नहीं करता है।

**धार्मिक परिवर्तन-**

जनजातियों को धार्मिक रूप से "जीववाद" की श्रेणी में रखा जाता है परन्तु अब स्थितियाँ बदल रही हैं । जनजातियों पर उस स्थान पर रहने वाले गैर जनजातीय समूहों का प्रभाव पड़ा है। जनजातियों में धर्म परिवर्तन की दो मुख्य दिशाएँ- (1) हिन्दू धर्म तथा (2) ईसाई धर्म है।

जनजातियाँ वृहत् स्तर पर हिन्दू देवी-देवतओं, व्रत-त्यौहारों को मानते हैं। अपने सामाजिक जीवन में उन्होंने हिन्दू जीवन के कर्मकाण्डों व संस्कारों को अपनाया है। गणेश, हनुमान, काली, शक्ति, भैरव, महादेव आदि देवताओं की वे उपासना करते हैं। समय-समय पर चलने वाले समाज सुधार आन्दोलनों व भगत आन्दोलनों ने उन पर अमिट छाप छोड़ी है। उदाहरणार्थ गुजरात, मध्यप्रदेश व राजस्थान के भीलों ने भगत आन्दोलन में हिन्दु धर्म को स्वीकार किया और उसके अनुसरण के नियमों को प्रतिपादित किया। इसी प्रकार उत्तर पूर्व की जनजातियों पर ईसाई मिशनरियों द्वारा ईसाई धर्म को अपनाने के लिए किए गए प्रचार का प्रभाव स्पष्ट देखा जा सकता है। सीमान्त क्षेत्रों यथा- नागालैण्ड, मिजोरम व अरूणाचल प्रदेश में रहने वाले जनजाति समूहों में ईसाई धर्म का प्रभाव बहुत अधिक है। दक्षिण बिहार के रांची, छोटा नागपुर, संथाल परगना तथा बस्तर क्षेत्र में अपेक्षाकृत ईसाई धर्म का प्रभाव अधिक है। धर्म परिवर्तन का स्पष्ट प्रभाव इन लोगों की जीवन पद्धति तथा जीवन दर्शन पर देखा जा सकता है।

## 5.6 सारांश

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् आप समझ चुके होंगे कि भारतीय जनजाति विविधतापूर्ण है तथा उसके लिए किसी एक वैज्ञानिक शब्दावली तथा परिभाषा का निर्माण अत्यन्त कठिन है। तथापि यह समुदाय समांग संस्कृति वाले सरल समाज होते हैं जिनका अध्ययन समय-समय पर अनेक समाज शास्त्रियों व मानवशास्त्रियों ने अलग-अलग परिप्रेक्ष्य में किया है। इनकी सामाजिक संरचना को सामाजिक संगठन तथा सामाजिक संस्थाओं के द्वारा आसानी से समझा जा सकता है। समय के साथ-साथ इनमें भी सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक एवं धार्मिक स्तर पर अनेक बदलाव आये हैं परन्तु परिवर्तन के इस युग में भी ये अपनी परम्परागत सामाजिक- सांस्कृतिक विरासत को संजोये हुए हैं।

## 5.7 अभ्यासार्थ प्रश्न

1. 'जनजाति' को परिभाषित कीजिये एवं इसकी मुख्य विशेषताएँ बताइये।
2. जनजातियों की सामाजिक संरचना का उनके परिवार, विवाह व नातेदारी व्यवस्था के आधार पर वर्णन कीजिए।
3. भारत में जनजातियों की आर्थिक, राजनैतिक एवं धार्मिक व्यवस्था पर एक निबन्ध लिखिये।
4. भारत की जनजातियों में पाये जाने वाले ग्राम संगठन का उदाहरण सहित वर्णन कीजिये।
5. जनजातियों में होने वाले विभिन्न सामाजिक, आर्थिक एवं राजनैतिक परिवर्तनों का वर्णन कीजिए।

## 5.8 सन्दर्भ ग्रन्थ


1. मुखर्जी, रवीन्द्र नाथ, सामाजिक मानवशास्त्र की रूपरेखा, विवेक प्रकाशन, दिल्ली 2004.
2. झा, प्रफुल्ल रंजन एवं बरनवाल दीपशिखा, सामाजिक मानवशास्त्र, पीयूष पब्लिकेशन्स।
3. दोषी, एस. एल., समकालीन मानवशास्त्र, रावत पब्लिकेशन्स, जयपुर, 2009.
4. मेहता, पी. सी., आदिवासी संस्कृति एवं प्रथाएँ, डिस्कवरी पब्लिशिंग हाऊस प्रा. लि., दिल्ली, 2009.
5. चौधरी, एस. एन., ट्राइबल डवलपमेन्ट सिंस इन्डिपेन्डेन्स, कान्सेप्ट पब्लिशिंग कम्पनी, नई दिल्ली, 2009.

# इकाई - 6

# जाति: अवधारणा, स्वरूप एवं संरचना

**इकाई की रूपरेखा**

6.0 उद्देश्य
6.1 प्रस्तावना
6.2 जाति व्यवस्था के अध्ययन के परिप्रेक्ष्य
6.3 जाति की संरचनात्मक एवं सांस्कृतिक अवधारणाएँ
6.4 जाति वर्ण, वर्ग एवं जनजाति
6.5 जाति की अवधारणा एवं विशेषताएँ
6.6 जाति की उत्पत्ति
6.7 जाति व्यवस्था के प्रकार्य
6.8 जाति व्यवस्था के दुष्कार्य
6.9 जाति व्यवस्था में परिवर्तन
6.10 जाति व्यवस्था का भविष्य
6.11 सारांश
6.12 अभ्यासार्थ प्रश्न
6.13 संदर्भ ग्रंथ

## 6.0 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई के माध्यम से आप जानेंगे -

- जाति प्रथा का अर्थ और जाति प्रथा की विशेषताओं की विस्तृत व्याख्या
- जाति प्रथा भारतीय समाज को किस तरह प्रभावित करती है
- जाति प्रथा की उत्पत्ति के सम्बन्ध में विभिन्न समाज शास्त्रियों के विचार तथा क्या यह भारतीय समाज में ही विद्यमान है।
- जाति प्रथा के प्रकार्य और दुष्कार्य और यह व्यक्ति परिवार और समाज पर क्या प्रभाव डालते हैं।

## 6.1 प्रस्तावना

भारतीय समाज प्रमुख विशेषताओं के कारण विश्व में अनूठी पहचान बनाये हुए है संयुक्त परिवार, जाति प्रथा एवं ग्राम समुदाय ऐसी ही व्यवस्थाऐं है जो भारतीय समाज को विश्व के अन्य समाजों से अलग करती हैं प्रस्तुत इकाई में हम जाति प्रथा की अवधारणा की विस्तृत व्याख्या करेंगे।

## 6.2 जाति व्यवस्था के अध्ययन के परिप्रेक्ष्य

**(1) जाति व्यवस्था के परिप्रेक्ष्य -**

भारतीय समाज में जाति व्यवस्था का अध्ययन मुख्यत: तीन परिप्रेक्ष्यों के आधार पर किया गया है: (i) भारतशास्त्रीय, (ii) समाज-मानवशास्त्रीय तथा (iii) समाजशास्त्रीय। भारतशास्त्रियों ने जाति का अध्ययन धर्मशास्त्रीय दृष्टिकोण से, समाज मानवशास्त्रियो ने सांस्कृतिक दृष्टिकोण से तथा समाजशास्त्रियों ने स्तरीकरण के दृष्टिकोण से अध्ययन किया है।

**भारतशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य -** भारतशास्त्रियों ने जाति प्रथा की उत्पत्ति, उद्देश्य एवं इसके भविष्य के विषय में धर्मग्रन्थों का सहारा लिया है । उनका मानना है कि 'वर्ण' की उत्पत्ति विराट पुरुष-ब्रह्मा से हुई है तथा जातियाँ इसी वर्ण व्यवस्था के भीतर खण्डित इकाइयाँ हैं जिनका विकास अनुलोम और प्रतिलोम विवाह प्रथाओं के परिणामस्वरुप हुआ है। इन इकाइयों या जातियों को वर्ण व्यवस्था के अन्तर्गत एक दूसरे के सम्बन्ध में अपना-अपना दर्जा प्राप्त हुआ। चारों वर्णो द्वारा किए जाने वाले धार्मिक कृत्य व संस्कार स्तरीकृत हैं।

**समाज-मानवशास्त्रीय -** इसे हट्टन, रिजले, होबेल क्रोबर, आदि सामाजिक मानवशास्त्रियो ने सांस्कृतिक दृष्टिकोण को चार दिशाओं में स्पष्ट किया है: संगठनात्मक, संरचनात्मक, संस्थात्मक, तथा सम्बन्धात्मक।

**संगठनात्मक एवं संरचनात्मक -** हट्टन आदि की विचारधारा के अनुसार जाति प्रथा केवल भारत में ही पाई जाने वाली अद्वितीय व्यवस्था है।

**संस्थात्मक -** रिजले एवं क्रोबर जैसे विद्वानों का दृष्टिकोण जाति को केवल भारत के प्रसंग में ही अनुकूल नहीं मानता, बल्कि प्राचीन मिश्र, मध्यकालीन यूरोप ओर वर्तमान दक्षिण संयुक्त राज्य अमेरिका में भी इसे अनुकूल मानता है।

**सम्बन्धात्मक -** इस दृष्टिकोण वाले विद्वानों का मानना है कि जाति जैसी स्थितियां सेना, व्यापार- प्रबन्ध, फैक्ट्री आदि में भी पाई जाती हैं।

**समाजशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य** इन्होंने जाति व्यवस्था को समाज में स्तरीकरण के रुप में तथा सामाजिक असमानता की प्रघटना के रुप में देखा गया है। इस परिप्रेक्ष्य के अनुसार समाज के कुछ संरचनात्मक पक्ष होते हैं और समाज अपने सदस्यों को विभिन्न सामाजिक श्रेणियों में बाँट देता है। इन सदस्यों के बीच की अन्तःक्रिया सामाजिक संरचनाओं के आधार पर होती है और अन्तःक्रिया के प्रकार व सम्बद्ध आदर्श सामाजिक संरचनाओं को श्रेणीबद्ध करते है।

## 6.3 जाति की संरचनात्मक एवं सांस्कृतिक अवधारणाएँ

जाति को एक इकाई एवं व्यवस्था की दृष्टि से देखा जा सकता है

**इकाई रूप में -** जाति को इस प्रकार परिभाषित किया जा सकता है: "जाति एक बंद कोटि वाला स्थिति समूह हैं", अथवा एक ऐसा समूह है जिसमें सदस्यों की प्रस्थिति, उनका व्यवसाय, जीवन-साथी को चुनने का - क्षेत्र तथा दूसरे सदस्यों के साथ अन्तक्रिया सब कुछ निश्चित होता है।

**व्यवस्था के रुप में -** जाति का सम्बन्ध अन्तर्सम्बन्ध प्रस्थितियो और जातियों के बीच उस प्रतिमानित अन्तःक्रिया से है जो विभिन्न प्रतिबन्धो के संग्रह पर आधारित है जैसे, सदस्यता परिवर्तन पर प्रतिबन्ध, व्यवसाय परिवर्तन पर प्रतिबन्ध, विवाह पर प्रतिबन्ध एवं

सहभोज सम्बन्धों पर प्रतिबन्ध। जाति को व्यवस्था के रुप में दृष्टिगत रखने के पीछ एक पूर्व मान्यता यह है कि कोई भी जाति एकाकी रहकर अस्तित्व में नहीं रह सकती तथा प्रत्येक जाति दूसरी जातियों से आर्थिक, राजनैतिक एवं संस्कारों के सम्बन्धित जाल में निकट से सम्बद्ध रहती है। संगठन के रूप में - अधिकतर विद्वानों ने जाति को एक संगठन के रुप में माना है, न कि मूल्यों एवं प्रवृत्तियों के समूह के रुप में। बूगल ने जाति की व्याख्या करते हुए कहा है कि जाति वंशानुक्रम आधार पर विशिष्ट श्रेणीबद्ध रुप से गठित समूह है। उन्होंने जाति की तीन विशेषताएँ बताई हैं: पैतृक विशिष्टता, श्रेणीबद्धता तथा तिरस्कार।

क्रोबर ने जाति की परिभाषा करते हुए कहा है: "जाति नृवंशीय इकाई का एक अन्तविवाही वंशानुगत उपविभाग है जिसकी सामाजिक प्रतिष्ठा अन्य ऐसे भागों की तुलना में ऊंची या निम्न होती हैं। 'क्रोबर के अनुसार जातियाँ सामाजिक वर्गो के विशेष स्वरूप हैं जो कम से कम प्रवृति में प्रत्येक समाज में मिलती हैं। अत: क्रोबर की जाति की धारणा वर्तमान समाजशास्त्र में प्रचलित स्तरीकरण के प्रकार्यात्मक सिद्धान्त से सम्बद्ध है। कैथलीन गफ के अनुसार, "जाति जन्म स्थिति के आधार पर उच्च व निम्न पद वाले समूह होते हैं जो आमतौर पर अन्तःर्विवाही होते हैं तथा एक पेशे से जुड़े होते हैं।" सेनार्ट ने कहा है, "जाति एक वंशानुगत बन्द संगठन हैं जो दूसरी जातियों से सामान्य पेशों से जुड़ा रहता है और जिसमें एक परिषद भी होती है जो अपने सदस्यों पर कुछ दण्ड विधान लागू करके उनके व्यवहार को नियमित करती है।

बेली और श्रीनिवास ने जाति की परिभाषा की समस्या को दूर ही रखा है। उन्होंने जातियों को संरचनाएँ माना है। केतकर, दत्त, तथा ओपलर ने भी जाति की परिभाषा देने की अपेक्षा जाति व्यवस्था के अनुमानात्मक लक्षणों को ही बताया है। केतकर के अनुसार जाति एक सामाजिक समूह है जिसकी दो विशेषताएँ हैं: वंशानुगत सदस्यता और अन्तःविवाह। हट्टन ने केतकर द्वारा दिये गये लक्षणों की आलोचना करते हुए कहा है कि दक्षिण भारत में बहुत सी ऐसी जातियाँ हैं जोअन्य जातियों के सदसयों को भर्ती करती हैं।

हट्टन यह अनुभव करते हैं कि एन. के. दत्त द्वारा दिया गया जाति के विषय में वर्णन काफी उपयुक्त है और समूचे भारत में लागू माना जा सकता है। मौरिस का भी कथन है कि जाति की छोटी परिभाषा करना उपयुक्त नहीं है; अत: जाति की विशेषताओं के आधार पर बात करना अधिक उचित है। दत्त ने इस सन्दर्भ में जाति की विशेषताएँ बताई हैं: "जाति वंशानुगत व अन्तर्विवाही है। यह सामाजिक अन्तःक्रिया को नियंत्रित करती है, अनुक्रम में क्रमबद्ध है तथा इसमें एक सभा व प्रबन्ध-निकाय होती है जो इस (जाति) के आन्तरित मामलों को नियमित करती है।

घुर्ये ने भी इसी से मिलती जुलती जाति की विशेषताएँ बताई हैं: वंशानुगत सदस्यता, जाति परिषद, श्रेणीबद्धता, अन्तविवाह भोजन व सामाजिक व्यवहार पर प्रतिबन्ध, पेश के सातन्त्रा चुनाव पर प्रतिबन्ध तथा नागरिक व धार्मिक निर्योग्यताएं।

## 6.4 वर्ण, जाति, वर्ग एवं जनजाति

**वर्ण, जाति, वर्ग एवं जनजाति -** वर्ण, जाति और वर्ग ऐसी अवधारणाएँ हैं जो एक दूसरे से इस तरह मिली जुली हैं कि समान होने का भ्रम उत्पन्न करती हैं यह सभी अवधारणाएँ भिन्न-भिन्न हैं। जिनका विवरण निम्न हैं -

**वर्ण एवं जाति -** अधिकतर विद्वानों ने वर्ण का अर्थ रंग ही बताया है। इस संबंध में सेनार्ट ने लिखा है कि आर्यो ने वर्ण शब्द का प्रयोग सर्वप्रथम 'आर्यवर्ण' एवं 'दासवर्ण' के लिए किया। हट्टन ने भी वर्ण का अर्थ रंग से ही लगाया है। इसी तरह डी. जी. एस. घूरिये ने लिखा है कि यह शब्द आयी के सफेद एवं दासों के काले रंग के भेद के लिए किया गया है। साहित्यिक दृष्टिकोण से वर्ण शब्द 'वृत्र वरणे' या वरी धातु से बना है जिसका अर्थ होता है-वरण करना या चुनना। यह चुनाव पेशे के चुनाव की ओर इशारा करता है। अक्सर वर्ण एवं जाति को पर्यायवाची समझा जाता है जो उचित नहीं है। वर्ण एवं जाति एक-दूसरे से पृथक-पृथक होते हैं। इस संबंध में हट्टन ने लिखा है, "किसी भी मापदंड से वर्तमान काल का वर्ण जाति नही है, यद्यपि इसको जातियों का समूह माना जा सकता है।''

वर्ण एवं जाति में पहली भिन्नता यह है कि वर्ण का मुख्य आधार गुण या कर्म था जबकि जाति का आधार जन्म है। वर्ण एवं जाति में दूसरी भिन्नता यह है कि वर्ण की सदस्यता में परिवर्तन संभव है। इसके विपरीत जाति की सदस्यता में कभी भी परिवर्तन संभव नहीं है। वर्ण-व्यवस्था में एक व्यक्ति अपने वर्ण से बाहर भी विवाह कर सकता था जबकि जाति व्यवस्था के अंतर्गत कोई भी व्यक्ति अपनी जाति से बाहर विवाह नहीं कर सकता। वर्ण एक ऐसा समूह है जिसमें खान-पान के नियमों पर निर्देशन होते हुए भी कठोर प्रतिबंध नहीं था। वर्ण एवं जाति में पाँचवाँ अंतर यह है कि वर्ण की धारणा में अस्पृश्यता को कोई स्थान प्राप्त नहीं है जबकि जाति व्यवस्था में अस्पृश्यता के सिद्धांत का पालन होता है।

वर्ण-व्यवस्था एक प्रजातांत्रिक एवं तार्किक व्यवस्था मानी जाती है। इसके विपरीत जाति व्यवस्था एक अप्रजातांत्रिक एवं अतार्किक व्यवस्था मानी जाती है। वर्ण-व्यवस्था में कर्म को जन्म से अधिक महत्ता प्रदान की हे।

**वर्ग एवं जाति -** मैकाइवर तथा पेज के शब्दों में, "सामाजिक वर्ग एक समुदाय का कोई एक भाग है जो सामाजिक स्थिति के आधार पर शेष भाग से पृथक दिखता है।" ऑगबर्न तथा निमकॉफ के मतानुसार, "एक सामाजिक वर्ग उन व्यक्तियों का योग है जिनकी की आवश्यक रूप से एक समाज-विशेष में एक-सी सामाजिक स्थिति हो।"

हॉबल ने लिखा है कि "एक सामाजिक वर्ग एक समाज के अन्तर्गत वह समूह है, जिसके सदस्यों कि कतिपय सामाजिक स्थितियाँ सामान्य होती है और जो इन स्थितियों से सम्बन्धित कार्यो को करते हुए अपने कुछ ऐसे समान हितों के सम्बन्ध में एक जागरूकता विकसित कर लेते हैं जोकि दूसरे समूहों के हितों और लक्षणों से भिन्न होते हैं।" संक्षेप में, सामाजिक वर्ग, समाज का वह भाग है जिसके सदस्यों की कुछ विशेषता और सामान्य स्थितियों

तथा कार्य होते हैं, जिसके आधार पर उनमें यह जागरूकता विकसित हो जाती है कि वे समाज के अन्य समूहों से भिन्न हैं।

उपर्युक्त विवेचना से यह स्पष्ट है कि समाजिक वर्ग की तीन प्रमुख विशेषतायें होती हैं- (1) स्थिति समूहों का उतार और चढ़ाव, (2) ऊँच-नीच की भावना, (3) वर्ग चेतना।

**जाति और वर्ग में अन्तर -**

**अन्तःविवाह -** जाति-प्रथा अन्तःजातीय विवाह की आज्ञा नहीं देती, परन्तु वर्ग-व्यवस्था के अन्तर्गत विवाह सम्बन्धी सदस्य के साथ विवाह-सम्बन्ध स्थापित नहीं कर सकता।

**खान-पान सम्बन्धि प्रतिबन्ध -** जाति-प्रथा में इस प्रकार कुछ निश्चित नियम होते हैं कि एक जाति के सदस्य कुछ निश्चित जातियों के हाथ का बना भोजन खा सकते हैं और पानी पीने के सम्बन्ध में भी अनेक प्रकार के प्रतिबन्ध होते हैं, पर वर्ग-व्यवस्था में इस प्रकार के कोई स्पष्ट नियम नहीं होते। एक वर्ग का सदस्य अपनी इच्छानुसार दूसरे वर्ग के सदस्य के साथ खा-पी सकता है।

**व्यवसाय सम्बन्धि -** जाति में पेशे निश्चित हैं वर्ग में नहीं। जाति प्रथा में ब्राह्मण को पूजा पाठ एवं अध्यापन कार्य, क्षत्रिय सुरक्षा व शासन प्रबन्ध, वैश्य को व्यापार, वाणिज्य तथा शूद्र सेवा करने का निर्देश है, परन्तु वर्ग-व्यवस्था में पेशा निश्चित नहीं होता है योग्यता के अनुसार किसी भी पेशे को अपनाने की स्वतन्त्रता होती है।

**सदस्यता -** जाति जन्म पर आधारित है परन्तु वर्ग नहीं - जाति प्रथा में जाति का सदस्य वही हो सकता है जिसका कि जन्म उसी जाति के किसी परिवार में हुआ हो, परन्तु वर्ग-व्यवस्था में जन्म को आधार नहीं माना जाता है, बल्कि शिक्षा, धन, पेशा, धर्म आदि के आधार पर वर्ग का निर्धारण होता है।

**जाति बन्द व्यवस्था है जबकि वर्ग में खुलापन है -** जाति को अपनी इच्छानुसार एक व्यक्ति बदल नहीं सकता। केवल जाति के नियमों को तोड़ने पर उसे जाति से निकाला जा सकता है, नहीं तो एक जाति से दूसरी जाति में जाना सम्भव नहीं है। परन्तु वर्ग-व्यवस्था में एक व्यक्ति अपनी शिक्षा, धन, पेशा, जीवन की सफलताओं और असफलताओं के आधार पर किसी भी समय ऊँचे वर्ग से नीचे में या नीचे वर्ग से ऊँचे वर्ग में आ-जा सकता है।

**जाति एवं जनजाति -** जाति तथा जनजाति में अन्तर करने का कोई मान्य आधार नहीं है। आर्द्र बेतई का विचार है कि "जनजाति" की धारणा को मौजूदा परिभाषाओं के आधार पर नहीं समझना चाहिए, अपितु भारत में परम्परागत रुप से मानी जाने वाली जनजातियों की विशेषताओं एवं उनके विश्लेषण के द्वारा समझा जाना चाहिए। नेडेल जैसे सामाजिक मानवशास्त्रियो ने जनजाति को "एक राजनैतिक, भाषाई, एवं सांस्कृतिक सीमाओं वाला समाज" कहा है।

जनजातीय लोगों का धर्म आत्मावाद या जीववाद है तथा जातीय लोगों का धर्म हिन्दूत्व है। हट्टन और बेली का विश्वास है कि जनजाति के लोग हिन्दू नहीं हैं, अपितु वे आत्मावादी है।

आत्मावाद के मूल आधार हैं; शयन स्वपन्न देखना तथा मृत्यु जैसी घटनाएं, और आत्माओं, जादू व भूत प्रेतों मे विश्वास। दूसरी ओर हिन्दूवाद की विशेषताएँ हैं: धर्म, भक्ति, तथा पुनर्जन्म। यह कहना गलत होगा कि हिन्दू विशेष रुप से निम्न जातियों के हिन्दू आत्माओं, भूत प्रतों, जादू तथा स्वप्न आदि में विश्वास नहीं करते हैं। इसी तरह अनेक ऐसी जनजातियाँ हैं जिनके सदस्य हिन्दू देवताओं की पूजा करते हैं, हिन्दू त्यौहारों व मेले आदि मनाते हैं, और हिन्दू रीति-रिवाजों एवं परम्पराओं का पालन करते हैं इसलिए हिन्दूवाद तथा आत्मावाद में अन्तर करना आसान नहीं है।

जनजाति और जाति के इस विभेदीकरण की प्रक्रिया में भौगोलिक पृथक्करण को आधार मानते हुए कहा गया है कि जनजातीय लोग पहाड़ी और पर्वतों के पृथक क्षेत्रों मे रहते हैं, किन्तु हिन्दू लोग मैदानी क्षेत्रों में रहते है। सभ्य पड़ौसियों से कम सम्पर्क होने के कारण, जनजातियाँ हिन्दुओं की अपेक्षा कम सभ्य हैं। यह कहना किसी हद तक सही है कि जनजाति के लोग संचार साधनों से दूर पहाड़ों या दुर्गम क्षेत्रों में रहती हैं लेकिन ऐसे भी उदाहरण है जहाँ कई हिन्दू जातियाँ पृथक क्षेत्रों, पहाड़ों आदि में रहते हैं और जनजाति के लोग मैदानों में रहते है। इसका अर्थ यह हुआ कि भौगोलिक पृथक्करण के अतिरिक्त हमें जनजाति व जाति में अनतर करने के लिए अन्य किसी आधार की आवश्यकता होगी।

जनजाति और जाति में अन्तर भाषा का हो सकता है। यह कहा जाता है कि प्रत्येक जनजाति की अलग भाषा होती है लेकिन जाति की नहीं; जैसे गोंड लोग गोण्डी भाषा बोलते हैं, भील लोग भीली या बागड़ी, सन्धाल लोग सन्धाली बोलते हैं। लेकिन क्योंकि कई जनजातियों के पास अपनी भाषा नहीं है, अपितु वे भारत की प्रमुख भाषाओं में से कोई एक बोली बोलते हैं, जैसा कि दक्षिण भारत में। अत: भाषा का आधार भी जाति और जनजाति में अन्तर का उचित आधार नहीं है। आर्थिक पिछड़ापन भी जाति ओर जनजाति में भेद करने का सही आधार नहीं है। यह मानना गलत है कि जनजातियाँ पिछड़ी, आदिम व असंस्कृत हैं और हिन्दू जातियाँ नहीं।

## 6.5 जाति की अवधारणा एवं विशेषताएँ

अंग्रेजी का 'कास्ट' शब्द पुर्तगाली शब्द 'कास्टा' से बना है जिसका अर्थ प्रजाति, जन्म या भेद होता है। इस अर्थ में जाति-प्रथा प्रजातीय या जन्मगत भेद के आधार पर एक व्यवस्था है। परन्तु जैसा कि आगे चलकर स्पष्ट होगा, भारतीय जाति-प्रथा इस आधार पर नहीं समझी जा सकती।

हबर्ट रिजले के अनुसार "जाति परिवारों या परिवारों के समूह का एक संकलन है जिनका कि एक सामान्य नाम है, जो एक काल्पनिक पूर्वज, मानव का देवता, से एक सामान्य वंश-परम्परा या उत्पत्ति का दावा करते हैं, एक ही परम्परात्मक व्यवसाय को करने पर बल देते हैं और एक सजातीय समुदाय के रूप में उनके द्वारा मान्य होते हैं जो अपना ऐसा मत व्यक्त करने के योग्य हैं।"

**विश्लेषण -** हट्टन के अनुसार रिजले की उपरोक्त परिभाषा में सबसे बड़ा दोष यह है कि इसमें जाति और गोत्रा की धारणाओं को मिलाकर भ्रम पैदा कर दिया हैं काल्पनिक पूर्वज से वंश-परम्परा या उत्पत्ति का दावा गोत्रा के आधार पर मानते हैं, न कि जाति के लोग, जाति का कोई काल्पनिक सामान्य पूर्वज नहीं होता, यहाँ तक कि विभिन्न भाषा-भाषी प्रदेशों में ब्राह्मण एक-दूसरे से अलग हैं। जाति प्रथा के दो आवश्यक अंग हैं प्रथम जाति केवल परिवारों का एक संकलन नहीं है जो कि एक काल्पनिक पुरुष या देवता से उत्पत्ति का दावा करते हैं और दूसरा यह कि प्रत्येक जाति का एक वंश-परम्परागत पेशा होता है। केवल दो तत्वों या विशेषताओं के आधार पर जाति-प्रथा का सम्पूर्ण विश्लेषण सम्भव नहीं है।

**रिजले** ने जाति की एक समुदाय के रूप में कल्पना की है परन्तु समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से यह जुटिपूर्ण है। समुदाय सामान्य मानवीय आवश्यकता की पूर्ति के लिए एक निश्चित भू-भाग में व्यक्तियों का समूह है परन्तु जाति इस शर्त को पूरा नहीं करती है।

**ब्लण्ट** के अनुसार, "एक जाति एक अन्तर्विवाही समूह या अन्तर्विवाही समूहों का संकलन है, जिसका एक सामान्य नाम है, जिसकी सदस्यता वंशानुगत है, जो अपने सदस्यों पर सामाजिक सहवास के सम्बन्ध में कुछ प्रतिबन्ध लगाती है एक सामान्य परम्परागत पेशे को करती है या एक सामन्य उत्पत्ति का दावा करती है और सामान्यतया एक समरूप समुदाय को बनाने वाली समझी जाती है।'' ब्लण्ट ने जाति को सामान्य उत्पत्ति के रूप में और समरूप समुदाय के रूप में देखते हैं जो गलत है।

**केतकर** के अनुसार "जाति एक सामाजिक समूह है जिसकी दो विशेषतायें हैं - (1) जाति की सदस्यता उन व्यक्तियों तक ही सीमित है जो उस जाति-विशेष के सदस्यों से ही पैदा हुए हैं और इरा प्रकार उत्पन्न होने वाले सभी व्यक्ति जाति में आते हैं (2) जिसके सदस्य एक अविच्छिन सामाजिक नियम के द्वारा अपने समूह के बाहर विवाह करने से रोक दिए गए हैं।''

**बोगल** के जाति-प्रणाली के विश्लेषण के आधार पर ड्यूमा और पोकोक ने जाति-प्रणाली की परिभाषा इस प्रकार की हैं - "एक समाज जाति-प्रणाली से प्रभावित है, यदि वह समाज परस्पर विरोधी अनेक समूहो में बँटा हुआ है, जो वंशानुगत रूप से विशेषीकृत हैं और संस्तरण के आधार पर श्रेणीबद्ध हैं - यदि, सिद्धान्तत प्रणाली न नए सदस्यों को स्वीकार करती है और न ही रक्त-सम्मिश्रण तथा पेशों में परिवर्तन को ही "

उपरोक्त परिभाषा में जाति-प्रथा के तीन प्रमुख तत्वों की ओर संकेत किया गया है - प्रथम तो यह है कि जाति-प्रथा के अन्तर्गत प्रत्येक जाति एक-दूसरे की विरोधी होती है ओर उसी आधार पर पृथक-पृथक समूह में बँट जाती है। द्वितीय सम्पूर्ण जाति-व्यवस्था जन्म पर आधारित है और उसी आधार पर प्रत्येक जाति में पेशा, रक्त, विवाह आदि में विशेषीकरण देखने की मिलता है और इसी विशेषीकरण के आधार पर प्रत्येक जाति और भी स्पष्टत: एक-दूसरे से पृथक हो जाती है। तृतीय, प्रत्येक जाति को कुछ विशेष अधिकार मिले हुए हैं जिनके आधार पर विभिन्न जातियों में एक उच्च एवं निम्न का संस्तरण होता है। चुंकि ब्राह्यणों को

सबसे अधिक विशेषाधिकार मिले हुए हैं इस कारण जातीय संस्करण में उनका स्थान सबसे ऊपर है। इसके बाद क्रमश: अधिकार के आधार पर क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रों की स्थिति है।

उपरोक्त विवेचना के आधार पर अन्तिम रूप में हम कह सकते हैं कि जाति मुख्यत: जन्म के आधार पर सामाजिक संस्तरण और खण्ड-विभाजन की वह गतिशील व्यवस्था है जो खाने-पीने, विवाह, पेशा और सामाजिक सहवासों के सम्बन्ध के अनेक या कुछ प्रतिबन्धों को अपने सदस्यों पर लागू करती है। इस सम्बन्ध में यह स्मरणीय है कि जाति-व्यवस्था गतिशील है और इसके प्रतिबन्ध भी अन्तिम नहीं है।

**जाति-प्रथा की -प्रमुख विशेषताएँ**

जाति प्रथा की परिभाषा से उसके सम्पूर्ण अर्थ को नहीं समझा जा सकता इसलिये कई समाजशास्त्रियों ने इसे विशेषताओं के आधार पर समझाने का प्रयत्न किया है।

एन0 के0 दत्ता ने जाति-प्रथा की निम्नलिखित छ: विशेषताओं के आधार पर समझने का प्रयास किया है - "(1) एक जाति के सदस्य जाति के बाहर विवाह नहीं कर सकते, (2) प्रत्येक जाति में दूसरी जातियों के साथ-खाने पीने के सम्बन्ध में कुछ-न-कुछ प्रतिबन्ध होते हैं, (3) अधिकतर जातियों के पेशे निश्चित होते हैं, (4) जातियों में एक उच्च-निम्न का संस्तरण है, जिसमें ब्राह्मण जाति की स्थिति सर्वमान्य रूप से सबसे ऊपर है; (5) जन्म ही एक व्यक्ति की जाति को जीवन पर्यन्त निश्चित करता है, केवल जाति के नियमों को तोड़ने पर उसे जाति से बहिष्कृत किया जा सकता है, नहीं तो एक जाति से दूसरी जाति में जाना सम्भव नहीं है, (6) सम्पूर्ण व्यवस्था ब्राह्मणों की प्रतिष्ठा पर निर्भर है।"

जी.एस घुरिये ने जाति-प्रथा के संरचनात्मक और संस्थात्मक दोनों पक्षों को स्पष्ट करते हुए निम्नलिखित का उल्लेख किया है-

**(1) समाज का खण्डात्मक विभाजन -**

भारतीय जाति-प्रथा ने हिन्दू समाज को विभिन्न खण्डों में विभाजित कर दिया है और खण्ड के सदस्यों की स्थिति, पद, स्थान और कार्य भी सुनिश्चित हैं। इस प्रकार खण्ड-विभाजन का तात्पर्य घुरिये के अनुसार, यह है कि जाति-प्रथा द्वारा आबद्ध समाज में सामुदायिक भावना सीमित होती है और समग्र समुदाय के प्रति न होकर एक जाति के सदस्यों का पहले अपनी जाति के प्रति नैतिक कर्त्तव्य-बोध होता है।'' वे इन नैतिक नियमों या कर्त्तव्य-बोध के द्वारा अपने पद और कार्य पर दृढ़ रहते हैं और यदि कोई इसकी तोड़ता है तो उस पर जुर्माना होता है और कभी-कभी उसे जाति से निकाल दिया जाता है। इसी अर्थ में एक जाति के सदस्यों में सामुदायिक भावना सीमित होती है।

**(2) संस्तरण -**

जाति-प्रथा निर्धारित विभिन्न खण्डों में उच्च-निम्न का एक संस्तरण या चढ़ाव-उतार होता है और इसमें, परम्पराओं के अनुसार, प्रत्येक जाति का स्थान जन्म पर आधारित होता है। इस संस्तरण में सबसे श्रेष्ठ ब्राह्मणों की स्थिति होती है, इसके बाद क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र का स्थान क्रमश: निम्न होता गया है। यह संस्तरण मुख्यत: जन्म पर आधारित होने के कारण

बहुत्कुछ स्थिर व दृढ़ है और इसी कारण साधारणतया इस संस्तरण में ऊँचे स्तर पर उठना असम्भव तो नहीं, पर कठिन अवश्य ही है; हांलाकि यह परिवर्तन लम्बवत् न होकर क्षेतिजय होता है।

**(3) भोजन और सामाजिक सहवास पर प्रतिबन्ध -**

जाति-प्रथा के निषेधात्मक नियमों में भोजन सम्बन्धी प्रतिबन्ध उल्लेखनीय हैं। प्रत्येक जाति को दूसरी जाति के हाथ का बना भोजन खाने की आज्ञा नहीं है। जातीय नियमों से यह स्पष्ट होता है कि एक जाति के सदस्य किरन जातियों के सदस्यों के हाथ का बना हुआ भोजन खा सकते हैं ओर किन जातियों के सदस्यों के साथ बैठकर नहीं खा सकते हैं। ब्राह्मणों के हाथ का बना भोजन दूसरी सभी जातियों के सदस्य खा लेते हैं। सबसे अधिक प्रतिबन्ध अछूतों के हाथ के बने भोजन पर है। भोजन सम्बन्धी प्रतिबन्ध भोजन के प्रकारों पर भी निर्भर है। इस दृष्टिकोण से भोजन को तीन श्रेणियों में बाँटा जाता है - फलाहारी, पक्का और कच्चा। फलाहारी भोजन में फल, दूध तथा दूध से बनी चीजें, पक्के भोजन में तेल या घी में तली चीजें जैसी पूड़ी, कचौड़ी आदि तथा कच्चे भोजन में पानी में उबाले हुए चावल, दाल तथा रोटियाँ आती हैं। प्रत्येक जाति में इस प्रकार के नियम हैं कि एक व्यक्ति ये तीन प्रकार के भोजन किनके हाथों का बना खा सकता है।

**(4) सहभोज पर प्रतिबन्ध**

एक व्यक्ति के विभिन्न जातियों के सदस्यों के साथ खान-पान सम्बन्धी अनेक व विस्तृत नियम प्रचलन में हैं। इस विषय पर ब्लन्ट के अनुसार सात महत्वपूर्ण निषेध प्रचलित हैं: (i) सहभोज निषेध जो व्यक्ति के अन्य व्यक्तियों के साथ भोजन खाने के नियम निर्धारित करता है; (ii) रसोई निषेध, जिसमें रसोई बनाने सम्बन्धी नियम हैं कि कौन-कौन व्यक्ति किन-किन व्यक्तियों के खाने योग्य भोजन बना सकते हैं; (iii) खाने के निषेध, जिसमें भोजन के समय अपनाए जाने वाले धार्मिक कृत्यों के विवरण एवं नियम हैं: (iv) पीने के निषेध, जो दूसरे व्यक्तियों के हाथ से पीने का पानी लेने के नियम बताते हैं; (v) भोजन निषेध, जो यह बताता है कि किस प्रकार का भोजन (कच्चा, पक्का, हरी सब्जी, आदि) एक जाति का सदस्य दूसरी जाति के सदस्यों के साथ खा सकता है; (vi) तम्बाकू या धूम्रपान संबंधी निषेध, जो यह बताता है कि किस व्यक्ति का हुक्का किस जाति का व्यक्ति प्रयोग कर सकता है; (vii) बर्तन निषेध, जो यह बताता है कि किस प्रकार के बर्तन व्यक्ति को अपवित्रता से बचने के लिए प्रयोग करना या बचना चाहिए।

ब्लन्ट का विश्वास है कि भोजन आदि के प्रतिबन्ध, विवाह प्रतिबन्धों का फल है, लेकिन हट्टन का दावा है कि ये दोनों ही ओर से सम्भव है। भोजन निषेधों के आधार पर ब्लन्ट ने जातियों का पांच भागों में वर्गीकृत किया है (i) वे जातियाँ जो कच्चा भोजन (पानी से पकाया) तथा पक्का भोजन (घी से पकाया) केवल अपने ही अन्तर्विवाही समूहों के सदस्यों के द्वारा पकाया हुआ लेती हैं, (ii) वे जातियाँ जो अपनी ही जाति के सदस्यों द्वारा तथा ब्राह्मणों द्वारा बनाया भोजन लेती हैं; (iii) वे जातियाँ जो अपनी जाति के सदस्यों या ब्राह्मणों या राजपूतों द्वारा बनाया भोजन लेती है, (iv) वे जातियाँ जो अपनी जाति, ब्राह्मणों व राजपूतों के

अलावा उन निम्न जाति के लोगों द्वारा बनाया भोजन भी लेती है जिन्हें वे कम से कम अपने स्तर का समझती हैं; और (v) वे जातियाँ जो किसी के भी द्वारा वह बनाया गया भोजन लेती हैं।

जातियों की सामाजिक और धार्मिक निर्योग्यतायें तथा विशेषाधिकार - जाति-प्रथा की एक अन्य विशेषता छुआछूत के आधार पर विभिन्न जातियों को सामाजिक और धार्मिक निर्योग्यता या विशेषाधिकार प्रदान करना है। इस सम्बन्ध में सबसे अधिक विशेषाधिकार ब्राह्मणों को प्राप्त हैं और सबसे अधिक निर्योग्यतायें अछूतों के लिये हैं। दक्षिण भारत में अछूतों की स्थिति वास्तव में दयनीय थी। वे उच्च जाति के लोगों को छूना तो दूर रहा उनको अपनी शक्ल भी नही दिखा सकते थे। ट्रावनकोर, पूना आदि स्थानों में अनेक सड़को पर अछूतों को चलने की आज्ञा न थी। उसी प्रकार उनको न तो मन्दिरों में प्रवेश का अधिकार था, न स्कूलों में पढ़ने का, और न ही उन कुओं और तालाबों से पानी भरने का जिनको कि उच्च जाति के लोग, व्यवहार में लाते थे। गाँवों में तो इस प्रकार के प्रतिबन्ध और भी कठोर होते थे और अछूतों को किसी भी प्रकार का सामाजिक तथा धार्मिक अधिकार प्राप्त नहीं होता था। गाँवों में अछूतों को बस्ती के बाहर रहना पड़ता था।

**(5) पेशों के अप्रतिबंधित चुनाव का अभाव -**

जाति-व्यवस्था में व्यवसाय परम्परागत होते थे। सामान्यतया जो जिस जाति में जन्म लेता है वह बड़े होने पर उस जाति का व्यवसाय अपनाता है। जाति में व्यवसाय पीढ़ी-दर-पीढ़ी हस्तान्तरित होते रहते हैं, जैसे - नाई, धोबी, स्वर्णकार, चर्मकार आदि अपना व्यवसाय परम्परागत रूप में करते रहते हैं। धुर्ये ने लिखा है कि जाति समूह कुछ व्यवसायों को पैतृक व्यवसाय मानता था जिसे किसी दूसरे लाभकारी व्यवसाय के लिए भी छोड़ना उचित नहीं माना जाता था।

व्यक्ति अपना पैतृक व्यवसाय जाति बन्धुओं के नैतिक नियन्त्रण तथा सामाजिक प्रतिबन्ध के कारण छोड़ नहीं सकता था तथा अन्य जाति वाले भी अपना पैतृक व्यवसाय दूसरी जाति वालों को अपनाने नहीं देते थे।

जन्मजात ब्राह्मण के अतिरिक्त पुरोहित का कार्य अन्य व्यक्ति नहीं कर सकते थे। व्यवसाय सम्बन्धी प्रतिबन्ध में समय-समय पर परिवर्तन भी होते रहे हैं। केम्पबेल के अनुसार महाराष्ट्र में कोंकणस्थ तथा देशस्थ ब्राह्यण अनेक लौकिक कार्यो को करते थे। गाँव का हिसाब-किताब रखने के अतिरिक्त अनेक कार्य करते थे। अनेक ब्राह्मणों ने सेना में नौकरियाँ कीं। विल्सन के अनुसार क्रान्ति से पूर्व अनेक कनौजिया ब्राह्मण बंगाल की सेना में सिपाही थे।

**(6) विवाह सम्बन्धी प्रतिबंध -**

जाति-व्यवस्था की एक प्रमुख विशेषता विवाह पर प्रतिबन्ध है, जिसका अर्थ है कि प्रत्येक जाति के सदस्य अपनी जाति में ही विवाह-सम्बन्ध स्थापित कर सकते हैं। सिद्धान्तत: जाति या उप-जाति के बाहर विवाह सम्बन्ध स्थापित करने पर वर-वधू तथा उनके माता-पिता को जाति से बहिष्कृत कर दिया जाता है। वेस्टरमार्क ने तो अन्तर्विवाह को जाति-व्यवस्था का सार माना है। घुर्ये के अनुसार अन्तर्विवाह अर्थात् अपनी ही उपजाति में विवाह करने के इस

सामान्य नियम के कुछ अपवाद भी हैं और उसका कारण अनुलोम -विवाह-प्रथा का होना बताया है।

**(7) प्रदत्त सदस्यता-**

जाति की सदस्यता प्रदत्त होती है अर्थात् जो जिस जाति में जन्म लेता है जीवनपर्यन्त वह उसी जाति का सदस्य बना रहता है। जाति-व्यवस्था में व्यक्ति अपनी सदस्यता व्यक्तिगुण गुणों-शिक्षा, बुद्धिमता, कार्य-कुशलता, व्यवसाय, ईमानदारी, धर्म आदि के द्वारा परिवर्तित नहीं कर सकता हैं। हट्टन ने जाति की इस विशेषता पर आपत्ति उठायी है तथा कुछ जाति की सदस्यता के परिवर्तन के उदाहरण भी प्रस्तुत किए है। लेकिन बाद में आपने लिखा है कि सामान्य रूप से जाति की सदस्यता को परिवर्तित करना सरल कार्य नहीं है।

## 6.6 जाति की उत्पत्ति

भारत में जाति की उत्पत्ति के विषय में अनेक सिद्धान्त प्रतिपादित किए गए हैं लेकिन कोई भी सिद्धान्त सही व्याख्या नहीं करता। रिजले ने जाति की उत्पत्ति प्रजातीय भिन्नताओं के कारण बतायी, नेसफील्ड तथा इबेट्सन ने पेशे को इसका कारण बताया, अबे डुबॉयस ने ब्राह्मणों की भूमिका को इसका कारण बताया, और हट्टन ने "माना" को। यहां हम कुछ प्रमुख सिद्धान्तों पर विचार करेंगे।

**(1) परम्परागत सिद्धान्त -**

ये विद्वान मानते हैं कि हिन्दू लोग चरम सत्य से निकटता ढूंढते है और प्रत्येक वस्तु एवं घटना की व्याख्या ईश्वर तथा धर्म में ढूंढते हैं। जाति जैसी संस्था की उत्पत्ति को ये "ब्रह्मा" के शरीर में खोजते हैं। परम्परात्मक सिद्धान्त के अनुसार जाति प्रणाली दैवी विधान द्वारा स्थापित की गई है या फिर कम से कम ईश्वर के अनुमोदन से तो अवश्य ही। इस सिद्धान्त का सबसे अच्छा विश्लेषण एस. पी. नगेन्द्र ने दिया है। समाजशास्त्रीय सिद्धान्त की मान्यता है कि जाति प्रणाली मानव निर्मित है या फिर कृत्रिम रुप से रचित है और यह स्तरीकरण की प्रदत्त प्रणाली है जिसमें प्रस्थिति तथा भूमिका का निर्धारण जन्म से होता है। परम्परागत सिद्धान्त जाति प्रणाली को एक स्वाभाविक व प्राकृतिक प्रणाली मानता है। इस सिद्धान्त के दो रूप हैं: मिथकीय और आध्यात्मिक।

मिथकीय कथन एवं पुराण कथा के अनुसार चार वर्ण ही चार जातियाँ हैं और ये चारों जातियाँ ब्रह्मा के शरीर के चार अंगों से निकली हैं। इसके अनुसार जाति सामाजिक कार्यो का प्राकृतिक रुप से निर्धारित एक संगठन है तथा एक विशेष जाति में व्यक्ति की सदस्यता धर्म और कर्म सम्बन्धी सिद्धान्तों के आधार पर समझायी जा सकती है। गीता में भी भगवान कृष्ण ने कहा है: "मैने चार-स्तर व्यवस्था (चातुर्वर्ण) की रचना लक्षणों (गुण) तथा क्रियाओं (कर्म) के विभाजन के आधार पर की।"

जाति का आध्यात्मिक रूप जाति के लक्षणों, कार्यो तथा संस्तरण पर बल देता हैं प्रत्येक जाति का अलग कार्य होता है और यह कार्य उस (जाति) के सदस्यों के 'स्वभाव' तथा 'गुणों' पर आधारित होता है। हिन्दू दृष्टिकोण से व्यक्ति का स्वभाव दो गुणों में निहित हैं: गोत्रिका और नामिका। 'गोत्रिका' का अर्थ वंशानुगत गुणों से है जो व्यक्ति अपनी वंश परम्परा

अथवा गोत्रा से प्राप्त करता है, और जिसकी वह अपने परिवार के सभी सदस्यों के साथ भागीदारी करता है। 'नामिका' व्यक्ति के गुणों से सम्बन्ध रखती है जो कि विशेष रुप से व्यक्ति के अपने होते हैं तथा वह व्यक्ति उन गुणों की परिवार के सदस्यों के साथ भागीदारी नहीं करता है इस प्रकार 'नामिका' (व्यक्तिगत गुण) व्यक्ति की अन्य व्यक्तियों से अलग पहचान कराते हैं तथा 'गोत्रिका' गुण किसी एक विशेष समूह से उस (व्यक्ति) की पहचान कराते हैं। यही 'गोत्रिका' गुण उसके प्रदत्त स्वभाव को निर्धारित करते हैं तथा जाति में उसे प्रस्थिति दिलाते हैं। यह तथ्य जाति व्यवस्था में वंशानुगत सदस्यता का लक्षण समझाते हैं।

'स्वभाव' तथा 'कार्य' (व्यवसाय) को परस्पर अलग नहीं किया जा सकता। यह जाति के दूसरे लक्षण की व्याख्या करता है: 'निश्चित व्यवसाय'।

व्यवसाथ के अन्तर के आधार पर सस्तरणात्मक संगठन में खानपान सम्बन्धी बन्धनों का अस्तित्व स्वाभाविक ही है। इन प्रतिबन्धों के अभाव में प्रकार्य विभाजन का उद्देश्य ही पीछे रह जायेगा। अत: समूहों के विभिन्न धार्मिक

क्रियाकलापों एवं विवाह प्रतिबन्धों की व्याख्या स्वयं ही हो जाती है। यही परम्परात्मक सिद्धान्त का आध्यात्मिक पक्ष है।

आलोचना: प्रथम, यह सिद्धान्त जाति को २चाभाविक घटना मानता है: द्वितीय, यह चार वर्णो को ही चार जातियाँ बताता है।

**(2) प्रजातीय सिद्धान्त**

इस सिद्धान्त में रिजले, घुर्ये और मजूमदार के विचारों का विश्लेषण करेंगे।

**रिजले का सिद्धान्त -** हरबर्ट रिजले इस सिद्धान्त के सबसे बड़े प्रतिपादक रहे हैं, यद्यपि इनके इस सिद्धान्त का अनुमोदन घुर्ये, मजूमदार, वैस्टरमार्क और अन्य विद्वानों ने भी किया हैं इस सिद्धान्त के अनुसार संस्कृतियों के संघर्ष तथा प्रजातियों के सम्पर्क से भारत में जाति के निर्माण की प्रक्रिया संभव हुई। विश्व इतिहास में जब कभी किन्हीं लोगों ने दूसरे लोगों का अपने आधीन किया, विजेताओं ने परजित लोगों की स्त्रियों को न केवल अपनी रखैल या पत्नी बनाया, अपितु अपनी लड़कियाँ उन्हें देने से मना कर दिया। जब ये दो समूह (पराजित व विजेता) एक ही प्रजाति के तथा एक ही रंग आदि के होते हैं, तो इनमें पूर्ण सम्मिश्रण हो जाता है, लेकिन यदि वे अलग-अलग प्रजाति या रंग के हों तो विकास की दिशा अलग रास्तों पर चलती है। इस प्रकार उच्च समूह की स्त्रियाँ और निम्न समूहों के पुरुषों के अनियमित मेल-जोल के कारण एक अर्द्ध नस्ल का वर्ग बन जाता है जिसके सदस्य केवल आपस में ही विवाह करते हैं तथा हर दृष्टि से एक जाति के रुप में कार्य करते है।

भारत में भी प्रवासी आर्यो के संस्कारों के बारे में अपने ही विचार थे। वे मूल निवासियों को अपने से निकृष्ट समझते थे। इसके अतिरिक्त, आर्य लोग पितृवंशीय थे जबकि पराजित मूल निवासी मातृवंशीय थे। उन्होंने आदिवासियों की लड़कियों से विवाह तो किया किन्तु अपनी लड़कियों को उन्हें नहीं दिया। ऐसे विवाहों से उत्पन्न बच्चों को समाज में निम्नतम स्थान प्रदान किया गया और उन्हें "चाण्डाल" कहा गया। अत: अर्द्ध - नस्ल समूह की उत्पत्ति

तथा प्रजाति श्रेष्ठता की भावना परिणामत: जाति व्यवस्था के उत्पत्ति का कारण बन गये। रिजले ने जाति प्रथा के विकास में छ: प्रक्रियाओं का विवरण दिया हैं -

(i) परम्परागत व्यवसाय में परिवर्तन करके कोई भी जाति या उपजाति आखिर एक स्पष्ट जाति में विकसित हो जाती है।

(ii) प्रवजन द्वारा किसी एक जाति का छोटा भाग दूसरे क्षेत्र में निवास के लिए चला जाता था, तब उसके लिए अपने पैतृक समूह से सम्पर्क बनाए रखना कठिन होता था। धीरे-धीरे वह अपने मौलिक समूह से बिल्कुल कट जाते थे और इस प्रकार एक नई जाति का विकास हो जाता था।

(iii) रीति-रिवाजों में परिवर्तन द्वारा नई जाति का निर्माण होता है।

(iv) पुरानी परम्पराओं की सुरक्षा कुछ जातियाँ अपनी परम्पराओं को सुरक्षित रखती हैं और उनके जरिए अपनी संस्था की पहचान बनाए रखती हैं। इस प्रकार एक नई जाति निर्माण हो जाती है।

(v) हिन्दुओं की श्रेणी में अपने आपको मिलाना. कभी-कभी या तो समूची जाति या उसका कोई भाग हिन्दुत्व में शामिल हो जाता है और जाति का एक नया नाम रख लेता है और इस प्रकार हिन्दुओं की श्रेणी में आ जाता है और दूसरी जातियों से स्वयं को भिन्न बना लेता है: उदाहरणार्थ, बंगाल के राजवंशी तथा मध्य प्रदेश के मारिया गौण्ड।

(vi) उत्साही धार्मिको संतों की भूमिका कभी-कभी धार्मिक उत्साही लोग अपने ही सिद्धान्तों का उपदेश देते हैं और उनके अनुयायी एक अलग पश्व बना लेते हैं जो कि अन्त में एक जाति के रुप में विकसित हो जाती है: जैसे कबीरपन्थी।

यदि रिजले के सिद्धान्त को स्वीकार किया जाये तब तो जाति व्यवस्था न केवल भारत में होनी चाहिए बल्कि उन सभी समाजों में भी होनी चाहिए जिन पर अन्य प्रजातीय समूहों ने विजय प्राप्त की। रिजले का स्वयं का मत भी यही है कि जाति प्रथा भारत तक ही सीमित नहीं है, बल्कि यह तो स्पष्ट रुप से दक्षिण अमेरिका, कनाडा, मैक्सिको आदि में भी विद्यमान है।

**घुरिये का सिद्धान्त -** घुरिये के अनुसार जाति-व्यवस्था की उत्पत्ति का आधार प्रजातीय भेदभाव और प्रजातीय लक्षण हैं। आपने भारत में जाति-व्यवस्था की उत्पत्ति का प्रमुख कारण आर्यो और द्रविडों की प्रजातीय भिन्नता माना है घुरिये ने लिखा है कि इण्डो-आर्यन प्रजाति के लोग जहाँ पर भी गए वही पर इन्होंने मूल निवासियों का 'दास' या 'दस्यु' आदि शब्दों से संबोधित किया। आपके अनुसार आर्य लोग भारत में ईसा से लगभग 2500 वर्ष पूर्व आए थें। आर्यो ने भारत के मूल निवासियों को पराजित करके उन्हें 'दास' की संज्ञा दी। ईरानी भाषा में दुश्मन को दास कहते थे। विजयी होने के कारण आर्यो ने अपने को मूल निवासियों से दूर रखा। आर्य लोग अपने को द्रविड़ों से अधिक धार्मिक पवित्रा भी मानते थे। आर्यो ने अपनी सांस्कृतिक और प्रजातीय शुद्धता को बनाए रखने के लिए ही द्रविड़ों को पृथक रखने की नीति अपनाई थी। इण्डो-आर्यन प्रजाति जब भारत में आयी थी तब उनमें पूर्व से तीन श्रेणियों में विभाजन प्रचलित था जो परस्पर आपस में विवाह भी नहीं करते थे। हालाँकि इस प्रकार के विवाह प्रतिबन्धित नहीं थे। आर्यो ने भारत में विजय प्राप्त करने के बाद सर्वप्रथम यहाँ के मूल निवासियों

आदिवासियों से निर्मित 'दासों' या 'शूद्रों' से विवाह करने पर कठोर प्रतिबन्ध लगाया। दूसरा इन शूद्रों को आर्यो की धार्मिक पूजा आदि में भाग लेने पर भी रोक लगाई।

घुरिये ने लिखा है कि जाति-व्यवस्था के सभी लक्षण एवं प्रतिबन्ध आर्यो के उन सभी प्रयासों का परिणाम है, जो उन्होंने भारत के मूल निवासियों पर थोपे थे। इन प्रतिबन्धों के द्वारा आर्य लोग मूल निवासियों को अपनी ब्राह्मण सभ्यता, धर्म तथा सामाजिक संसर्ग से पृथक रखना चाहते थे। घुरिये ने लिखा है कि जाति-व्यवस्था का प्रारम्भिक स्रोत आर्य और द्रविड़ प्रजातियों के बीच भिन्नता थी।

**मजूमदार का सिद्धान्त -** मजूमदार ने भी जाति-व्यवस्था की उत्पत्ति का आधार प्रजाति माना है। आपने रिजले के विचारों से सहमति रखते हुए लिखा है कि जातियों में संस्तरण, विभाजन और उपजातियों के निर्माण का कारण आर्यो और द्रविड़ों का प्रजातीय संघर्ष एवं विजय और पराजय है। मजूमदार ने भी लिखा है कि भारत में आने से पूर्व आर्यो में स्पष्ट सामाजिक विभाजन विद्यमान था।

भारत में तीन वर्ण या रंग के आधार पर एक-दूसरे से भिन्न थे। ये तीनों वर्ण इण्डो-आर्यन और भारत के मूल निवासी प्राग-द्रविड़ या भूमध्य-सागरीय प्रजातियों के मिश्रण से बने थे। द्रविड़ों को पराजित करने के कुछ समय के बाद ही आर्यो की रक्त शुद्धता के आधार पर ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य तीन उच्च वर्णो में बँट गए और द्रविडों को निम्नतम वर्ण दास श्रेणी में रखा। मजूमदार के अनुसार इन प्रजातियों के मिश्रण के कारण निम्न थे -

(i) आक्रमणकारी इण्डो-आर्यन समूह में स्त्रियों की कमी,

(ii) अति विकसित द्रविड़ संस्कृति की मातृ-सत्तात्मक व्यवस्था,

(iii) भारत के मूल निवासियों के स्थायी जीवन के प्रति आकर्षण,

(iv) देवियों की पूजा,

(v) संस्कार,

(vi) पुरोहित व्यवस्था और

(vii) शिक्षा इत्यादि।

प्रजातीय सिद्धान्तवेत्ताओ रिजले, घुरिये और मजूमदार ने यह तो लिखा है कि आर्यो में प्रमुख तीन विभाजन ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य जैसे विद्यमान थे परन्तु इन विभाजनों का कारण इन्होंने स्पष्ट नहीं किया है जो इस सिद्धान्त की बड़ी कमी है।

यह सिद्धान्त जाति-व्यवस्था में विद्यमान अनेक प्रतिबन्धों जैसे व्यवसाय, खान-पान आदि पर कोई प्रकाश नहीं डालता है। विभिन्न जातियों के मध्य खान-पान, निषेध, पात्र-निषेध, पंक्ति-निषेध, पाक-निषेध, खाद्य- निषेध आदि की व्याख्या नहीं करता है।

प्रजातीय सिद्धान्त में अनुलोम और प्रतिलोम विवाह के निषेध तथा प्राथमिकता का कारण प्रजातीय भिन्नता बताया गया है। परन्तु भारत में विवाह सम्बन्धी अनेक निषेध भाषा और भौगोलिक कारणों से भी सम्बन्धित मिलते है।

**जाति व्यवस्था भारत की एक अद्वितीय घटना के रूप में -**

लीच, ड्यूर्मो, पोकाक, बूगल, होकार्ट, हट्टन, सेनार्ट, हैरोल्ड गूल्ड, और श्रीनिवास, आदि विद्वानों की मान्यता है कि जाति एक ऐसी घटना है जो कि केवल भारत की ही विशेषता है, जबकि रिजले, विलियम क्रुक, आदि की मान्यता है कि जाति एक सार्वभौमिक घटना है। ऐसे विद्वान भी हैं जिन्होंने जाति को नृशास्त्रीय श्रेणी में रखा है और इस रुप में जाति भारत में ही हिन्दू सामाजिक संगठन की विशेषता है। लेकिन जो लोग जाति को समाजशास्त्रीय श्रेणी में रखते हैं, वे मानते हैं कि जाति एक असाधारण कठोरता वाली वर्ग संरचना है। फ्रेडरिक नार्थ ने मुस्लिम समाज की स्तरीकरण प्रणाली का उत्तरी पाकिस्तान में स्वात में अध्ययन किया, यह पाया कि यद्यपि संकीर्ण सांस्कृतिक संदर्भ में वहाँ का प्रतिमान हिन्दू समाज से काफी भिन्न है।

धुरिर्ये ने भारत के बाहर भी जाति के तत्वों का विश्लेषण किया है। इन तत्वों की खोज में उन्होंने मिश्र, पश्चिम एशिया, चीन, जापान, अमेरिका, रोम, तथा जनजातीय यूरोप, आदि का अध्ययन किया और पाया कि आदिवासी और आदि काल की सभी प्रमुख सभ्यताएं भी जन्म के आधार पर भेद को मानते थे।

विशिष्ट व्यवसाय सामुदायिक जीवन की एक विशिष्ट इकाई के रुप में होते थे। समाज स्पष्ट पहचान सहित दो, तीन, चार या पांच प्रस्थिति समूहों में बँटा था: जैसे, ब्राजील, साऊदी अरब में दो समूहों में, मैक्सिको, रोम में तीन समूहों में, मिश्र, ईरान आदि में चार समूहों में (मिश्र में योद्धा, पुजारी, शिल्पी व कबीले), तथा जापान में पाँच समूहों में विभक्त थे। इन समूहों में आन्तरिक विवाह निषिद्ध थे। अन्तर्विवाह के निषेधों के आधार पर एक दूसरे से अलग थे, इण्डो यूरोपीय संस्कृतियों की सामान्य विशेषताओं में से हैं।

अब प्रश्न उठता है कि क्या धुरिर्ये द्वारा किया गया विश्लेषण यह सिद्ध करता है कि जाति केवल भारतीय घटना नहीं है बल्कि दूसरी संस्कृतियों में भी पायी जाती है? इसका उत्तर होर्काट, बूगल और श्रीनिवास के दृष्टिकोणों से स्पष्ट होता है जो जाति को भारत की एक अद्वितीय घटना मानते हैं क्योंकि इसका महत्व धार्मिक है। श्रीनिवास लिखते हैं कि अपवित्राता का विचार विभिन्न जातियों के बीच के सम्बन्धों को नियन्त्रित करता है। यह धारणा जाति प्रणाली की पूर्णरूपेण मौलिक धारणा है तथा "कर्म" व "धर्म" की धारणाओं के साथ जाति को एक अद्वितीय संस्था बनाती है। बूगल ने लिखा है कि जाति व्यवस्था हिन्दू समाज में गहराई तक प्रविष्ट है जो कि अन्य किसी जगह नहीं है। अन्य सभ्यताओं में जाति की कुछ भूमिका है किन्तु भारत में यह सर्वाधिक है। इन्हीं कारणों सें जाति व्यवस्था को भारत की अद्वितीय घटना माना गया है।

होकार्ट मानते हैं कि जातियाँ केवल परिवार हैं जिन्हें वंशानुक्रम से कर्मकाण्ड में विभिन्नपद प्रदान कर दिए गए है। सेनार्ट का कहना है कि जाति भारत के लिए अद्वितीय है क्योंकि इसका निर्धारण नृवंशीय, भौगोलिक एवं मनोवैज्ञानिक आधार पर होता है जो कि मूल रुप से भारतीय है। हट्टन जटिल उत्पत्ति के कारण ही जाति की अद्वितीयता की चर्चा करता है। इसका कहना है कि जाति अत्यन्त जटिल संस्था है, इतनी जटिल कि इसकी प्रकृति के अनुसार

इसे किसी एक क्षेत्र तक ही सीमित होना चाहिए। अत: निःसन्देह यह केवल भारत में ही पाई जाती है। हैरोल्ड गूल्ड ने भी कहा है कि 'जाति पूर्ण रुप से एक एकस्थानी भारतीय घटना है।

कुछ विचारकों की मान्यता है कि हम जाति की अद्वितीयता पर बातचीत कर सकते हैं यदि हम यह विश्लेषण करें कि भारत में क्या जाति हिन्दू धर्म तक ही सीमित है या फिर अन्य धर्मो में भी मौजूद है। विलियम क्रूक का विश्वास है कि यह मानना गम्भीर मिथ्या धारणा होगी कि जाति हिन्दुत्व की ही विशेषता है। आर.के.मुकर्जी का भी विश्वास है कि जाति व्यवस्था भारतीय समाज के किसी धर्म विशेष की विशेषता न होकर एक विशिष्ट भारतीय संस्था है। लेकिन एक विचार यह है कि सांस्कृतिक दृष्टि से जाति एक विशिष्ट हिन्दू संस्था है। भारत में हिन्दुओं के अतिरिक्त अन्य धार्मिक समूह हैं - मुस्लिम, ईसाई, जैन, पारसी, और सिख। जैनियों और सिखों में जाति प्रथा इसलिए है क्योंकि- ये मूल रुप से हिन्दू है। मुस्लिमों में शिया और सुन्नी अन्तर्विवाही बन्द समूहों और ईसाइयों में कैथोलिक और प्रोटेस्टेन्ट समूहों को धर्म से कुछ लेना-देना नहीं है जैसे कि हिन्दुओं में जातियाँ जुड़ी हुई हैं। अत: जाति को हिन्दू समाज में जो विचार अद्वितीयता प्रदान करता है वह है जाति को कुछ धार्मिक आदर्शो के साथ जोड़ना, जैसे अपवित्रता, पुनर्जन्म, पाप, पुण्य, कर्म, धर्म, आदि। हिन्दू समाज के अतिरिक्त इस प्रकार का रुढ़िवादी रवैया अन्यत्रा कहीं नहीं स्वीकार किया जाता। डैविस और गार्डन ने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि अमेरिका जैसे देश में भी पवित्राता व अपवित्राता का विचार विद्यमान है।

**3. व्यावसायिक सिद्धान्त :**

इसके प्रतिपादक नेसफील्ड और डलमैन हैं जिनका समर्थन नर्वेदश्वर प्रसाद ने भी किया।

**नेसफील्ड -** जाति प्रणाली की उत्पत्ति के विषय में इस सिद्धान्त के प्रतिपादक नेसफीड व उसके समर्थक डलमैन नर्बेदश्वर प्रसाद और इब्बेटसन विश्वास करते हैं कि जाति की उत्पत्ति को प्रजाति या धर्म से कुछ लेना-देना नहीं है, बल्कि पेशा ही जाति व्यवस्था की उत्पत्ति के लिए उत्तरदायी है। नेसफील्ड मानते हैं कि एक पेशे की तकनीकी दक्षता वंशानुक्रम से एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को दे दी जाती थी तथा लोग एक ही पेशे को लम्बे समय तक अपनाते रहते थे और इस प्रकार "'व्यावसायिक संघों" का अस्तित्व प्रारम्भ हुआ जिनकों बाद में "जाति" कहा जाने लगा। उसके अनुसार, जाति प्रथा में संस्तरण व्यवसायों से जुड़ी श्रेष्ठता व हीनता की भावना का नतीजा है।

क्योंकि उस समाज में सामाजिक जीवन में यज्ञ और बलि का बड़ा महत्व था, इसलिये ब्राह्मण समाज में महत्वपूर्ण और सम्माननीय बन बए। इस प्रकार ब्राह्मण जाति व्यवस्था में प्रथम थे और इसी मॉडल पर अन्य शेष जातियाँ बनी। फिर भी, पुरोहितपन प्रारम्भ में ब्राहमणों का एकाधिकार नहीं था। जब वे लोग एक विशिष्ट वर्ग के रुप में संगठित हुए तभी पुरोहितपन पैतृक हुआ। यही कारण है कि समुदाय के अन्य समूह सावधानी एवं रक्षा और विशेषाधिकरो के लिए विभिन्न जातियों में संगठित हो गए। अत: आंशिक रूप से रक्षा के उद्देश्य से और आंशिक

रुप से अनुकरण की दृष्टि से अन्य जातियाँ आनुवंशिक बनीं। दूसरे शब्दों में नेसफील्ड ने जाति उत्पत्ति के दो कारण दिए हैं : (i) पेशा या व्यवसाय, और (ii) जनजाति का संगठन।

डी.एन.मजूमदार ने भी नेसफील्ड के विचारों की आलोचना की है, विशेषकर जातीय संस्तरण की, जिसमें पेशों के आधार पर श्रेष्ठता व हीनता की भावना का विकास बताया गया है। उनकी मान्यता है कि जातियों की प्रस्थिति पेशे की श्रेष्ठता व हीनता पर निर्भर करती है, बल्कि रक्त की शुद्धता की मात्रा और समूहों के एकाकीपन की सीमा पर निर्भर करती है। हट्टन भी विश्वास करते हैं कि नेसफील्ड का व्यावसायिक सिद्धान्त विभिन्न कृषिक जातियों के सामाजिक स्तर की व्याख्या नहीं करता है।

इन सभी आलोचनाओं के बावजूद भी हम इस व्यवसाय सिद्धान्त को पूर्णरुपेण अस्वीकार नहीं कर सकते हैं क्योंकि इसका एक समाजशास्त्रीय महत्व है।

नर्बदेश्वर प्रसाद ने व्यवसाय द्वारा जाति की उत्पत्ति की प्रक्रिया की प्रकृति का सारांश देते हुए लिखा है कि जाति-व्यवस्था की उत्पत्ति का करण आंशिक रूप से सुरक्षात्मक था तथा आंशिक रूप से अनुकरणात्मक था। आपने जाति की उच्चता और निम्नता का कारण निम्न शब्दों में स्पष्ट किया है, "सम्पूर्ण वाद-विवाद इस तथ्य की ओर ले जाता है कि जातियाँ अधिक या न्यून मात्रा में व्यावसायिक समूह थे और जिस समूह का जितना निम्न व्यवसाय था उतना ही निम्न उसकी सामाजिक स्थिति थी। जाति-व्यवस्था में संस्तरण का निर्धारण व्यवसायों से जुड़ी श्रेष्ठता और हीनता तथा उच्चता और निम्नता की भावना का परिणाम है।

**डलमैन का सिद्धान्त -** डलमैन ने लिखा है कि प्रारम्भ में भारतीय समाज तीन समूहों में विभाजित था - (1) पुरोहित, (2) शासक और (3) पूँजी पर आश्रित लोग। आपने इनके व्यवसाय क्रमश: (1) धार्मिक, (2) राजनैतिक और (3) आर्थिक क्रियाओं से सम्बन्धित बताया। ये सभी समूह बन्धुत्व और व्यवसायों के आधार पर अनेक छोटे-छोटे समूहों में बँटे हुए थे। धीरे-धीरे ये छोटे-छोटे व्यावसायिक समूह बड़े- बड़े व्यावसायिक कारपोरेशन में विकसित हो गये और उसके बाद ये बड़े-बड़े व्यावसायिक संघों में विकसित हो गए। दलमैन का कहना है कि यही व्यावसायिक संघ कालान्तार में एक-एक जाति के रूप में विकसित हो गए। व्यावसायिक ज्ञान भी पिता से पुत्र को हस्तांतरित होने लगा। निष्कर्ष में दलमैन ने लिखा है कि (1) जाति व्यवस्था की उत्पत्ति व्यावसायिक वर्गो से कारपोरेशन और कारपोरेशन से बड़े-बड़े व्यावसायिक संघों के निर्माण के क्रम में हुआ, (2) जाति - व्यवस्था की उत्पत्ति वर्णो से न होकर अनेक व्यावसायिक समूहों से हुई है जो प्रमुख चार वर्णो में विभाजित थे।

**4. धार्मिक सिद्धान्त**

जाति-व्यवस्था की उत्पत्ति के धार्मिक दृष्टिकोण को दो विद्वानो-होकार्ट तथा सेनार्ट ने प्रमुखता दी है। दोनों के मत इस प्रकार हैं

**होकार्ट का सिद्धान्त -** होकार्ट के मत में सम्पूर्ण जाति-व्यवस्था का उद्गम धार्मिक क्रियाओं एवं कर्मकाण्डों से सम्बन्धित है। होकार्ट कर्मकाण्डों से सम्बन्धित विभिन्न क्रियाओं को पवित्राता के आधार पर उच्च और निम्न स्तरों में विभाजित करते हैं। आपके अनुसार प्रारम्भ में ही भारत में धर्म का प्रभाव अत्यधिक था, अनेक धार्मिक कृत्यों को करने वाले अनेक समूह थे,

जैसे - पुरोहित यज्ञ-हवन आदि के कार्य करते थे तथा पुष्पादि लाने का कार्य माली करते थे। अर्थात् इनके मत में चारों वर्णो का विभाजन धार्मिक क्रियाओं को पूरा करने के लिए हुआ था। चारों वर्णो को चार प्रमुख रंगों से जो सम्बन्धित किया गया था वह भी इन धार्मिक क्रियाओं को पूरा करने के उद्देश्य से ही था, जैसे - ब्राह्मण-श्वेत, क्षत्रिय-लाल, वैश्य-पीला और शूद्र-काला, यह विभाजन भी धार्मिक क्रियाओं की पवित्राता से सम्बन्धित माना जा सकता हैं।

होकार्ट के अनुसार धार्मिक क्रियाओं के आधार पर समाज अनेक समूहों में विभाजित हो गया और फिर उनके द्वारा किए जाने वाले धार्मिक कार्यो की पवित्रता के अनुरूप उसकी सामाजिक स्थिति का निर्धारण हुआ जो वंशानुक्रम से एक पीढ़ी से दूसरी पीढी को हस्तान्तरित होने लगा।

**सेनार्ट का सिद्धान्त -** भारतीय, यूनानी और रोमवासी सभी तो आर्य हैं और उनकी सभ्यताएं प्राचीनतम हैं सेनार्ट इन तीनों में कुछ समानताएं पाते हैं। जिस प्रकार भारत में तीन प्रमुख समूह है परिवार, गोत्रा और जाति, उसी प्रकार जेन, क्यूरिया और जनजाति रोम में, तथा परिवार, फ्रत्रिाय और फाइल यूनान में हैं। जिस प्रकार गोत्रा भारत में बर्हिविवाही समूह है उसी प्रकार रोम में जेन तथा यूनान में फ्रत्रिाय भी अपने ही समूह में विवाह सम्बन्ध सीमित रखते हैं। भारतीय ब्राह्मण और रोमन पादरी दोनों ही को अनुलोम विवाह के अधिकार हैं। उसी प्रकार, जिस तरह भारत में विवाह के बाद स्त्री के गोत्रा का परिवर्तन उसके पति के गोत्रा में हो जाता है उसी तरह का रिवाज रोम में भी प्रचलित है। भारत के "हुक्का पानी बन्द" (बहिष्कार) रिवाज की तुलना रोम के एक रिवाज से की जा सकती है। अन्त में, जैसे भारत में जाति पंचायतें हैं और सरपंच उसका मुखिया और सबसे अधिक शक्तिमान नेता होता है, उसी प्रकार रोम और यूनान में भी इसी प्रकार की शक्तिवान समितियां होती हैं। इस तुलना के आधार पर सेनार्ट मानते हैं कि जाति, प्राचीन आर्यो की संस्थाओं का सामान्य विकसित रूप है। भारत में, तथापि विशेष दशाओं के कारण, जाति ने विशेष रुप धारण किया है।

**आंलोचना -** लेकिन डलमैन तथा नर्बदेश्वर प्रसाद जैसे विद्वानों ने सेनार्ट के सिद्धान्त की आलोचना की है। नर्बदेश्वर प्रसाद की मान्यता है कि सेनार्ट से सहमति कठिन है क्योंकि उनके द्वारा दिए गए ऐतिहासिक समानान्तर साक्ष्य उत्पत्ति की व्याख्या नहीं करते हैं। उनका कहना है कि प्राचीन भारत में जाति व्यवस्था थी ही नहीं जैसा कि सेनार्ट ने बताया, बल्कि यह तो ब्राह्मण युग में विकसित हुई। लेकिन नर्बदेश्वर प्रसाद की आलोचना व्यवहारिक नहीं है क्योंकि सेनार्ट ने स्वयं यह स्वीकारा है कि जाति व्यवस्था वैदिक युग में भारत में नहीं थी। अपनी पुस्तक के प्राक्कथन लिखा है कि वैदिक स्रोत (मन्त्रों/प्रार्थनाओं) में जाति का कोई संकेत नहीं मिलता, अर्थात, जाति थी ही नहीं। जाति के प्रारम्भ होने का उल्लेख ब्राह्मण-साहित्य में सेनार्ट के सिद्धान्त के विरुद्ध तर्क हैं: (i) जाति की उत्पत्ति केवल धार्मिक तत्वों के आधार पर नहीं समझाई जा सकती है। ऐसी जटिल संस्था की उत्पत्ति निश्चय ही अनेक तत्वों को ही नतीजा हो सकती है (ii) जाति को गोत्र से भ्रमपूर्वक गलत समझा जाता है।

**केतकर का सिद्धान्त -** केतकर ने जाति की उत्पत्ति प्रारम्भिक जनजातियों से तथा मनुष्यों की मनोवैज्ञानिक पक्षपाती प्रवृत्तियो से मानी है। उनका विश्वास है कि जातियाँ

विकसित जनजातियाँ या परिवर्तित - वर्ग हैं। अनेक जनजातियों जो भारत के विभिन्न भागों में रहती थीं, विभिन्न इकाईयों के रुप में मौजूद थीं और अन्तर्विवाह प्रणाली के चलन में आने के बाद वे सब यूरोपियन जनजातियों की तरह एक दूसरे में नहीं मिली। इनमें से अनेक जनजातियाँ आपस में संघर्षरत रहीं क्योंकि उनके सरदारों ने या तो सीमा के प्रश्न पर संघर्ष किया था या फिर एक कबीले के किसी व्यक्ति ने दूसरे कबीले की किसी लड़की का अपहरण कर लिया था। इन संघर्षो के कारण लोग दूसरी जनजातियों में विवाह की अवहेलना करते रहे और हर प्रकार से अपनी ही जनजाति के सदस्यों के बीच अन्तर्क्रिया करते रहे। केतकर मानते हैं कि "जाति व्यवस्था की उत्पत्ति" के विषय में बात करने की अपेक्षा, हमें "जाति के विविध लक्षणों की उत्पत्ति" के विषय में बात करनी चाहिए क्योंकि प्रत्येक लक्षण के पीछे उसकी उत्पत्ति का एक इतिहास है।

सबसे पहले वे "जाति व्यवस्था" के सबसे महत्वपूर्ण लक्षण अन्तर्विवाह की मनोवैज्ञानिकता की व्याख्या करते हैं उनके अनुसार तीन कारकों के कारण अन्तर्विवाह चलन में आया: (i) व्यक्ति के स्वयं के समूह के सदस्यों के प्रति सहानुभूति की भावना के कारण (ii) रक्त शुद्धता बनाए रखने के कारण (iii) तथा यह साथी के साथ सामाजिक सामन्तस्य बनाए रखने में सहयोग करता है।

केतकर के अनुसार श्रेष्ठता व हीनता की भावना या तो अन्तर्विवाह के कारण है या परिणाम है। किसी प्रजाति के लोग श्रेष्ठता या हीनता की भावना के कारण दूसरी प्रजाति में आपसी विवाह सम्बन्ध नहीं करगे। जब भारत के लोग सबसे पहली बार दक्षिण अफ्रीका में जाकर बसे तब उन्होंने वहाँ के मूल निवासियों के साथ विवाह सम्बन्ध नहीं बनाये क्योंकि वे उनसे अपने आप को श्रेष्ठ समझते थे। यही संस्तरण का मनोविज्ञान है या अन्तर्विवाह के कारण श्रेष्ठता या हीनता की भावना है।

सामाजिक अन्तक्रिया पर प्रतिबन्धों का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण करते हुए केतकर ने कहा है कि यदि एक व्यक्ति जाति के आदर्शो से विचलित होकर स्वयं को अपनी ही जाति में अपमानित कर सकता है तो एक सम्पूर्ण जाति स्वयं को समाज में पतित क्यों नहीं कर सकती जब उसके सभी सदस्य जाति-आदर्शो की अवहेलना करते हैं या जब उसके सदस्य "निम्न" पेशों को अपना लेते हैं, या अपने सदस्यों का माँस-मदिरा के प्रयोग की अनुमति देकर, या फिर वधू मूल्य या बहु विवाह की अनुमति देकर? पतित लोगों एवं समूहों को सदैव अपमानजनक दृष्टि से देखा जाता हैं इसलिए यदि एक जाति ने ऐसी पतित जाति पर अन्तक्रिया के प्रतिबन्ध लगा दिए तो क्या गलत है?

केतकर के सिद्धान्त के आलोचनात्मक मूल्यांकन की आवश्यकता हैं उनका मुख्य विचार की जातियों की उत्पत्ति जनजातियों से हुई, शायद राइस के टोटमवाद सिद्धान्त का स्वाभाविक परिणाम मालूम पड़ता है जिसके अनुसार जाति की उत्पत्ति टोटम तथा निषेधों में विश्वास के कारण हुई। बी.एस.गुहा ने भी राइस के सिद्धान्त के समान ही सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। बनर्जी ने भी बताया है कि जाति की उत्पत्ति आदिकाल के जादू टोनों मे विश्वास के कारण हुई। जनजातियों से जातियों की उत्पत्ति के सिद्धान्त को स्वीकार करने का अर्थ होगा उस तथ्य

को स्वीकार करना कि जाति व्यवस्था का विकास आर्यो द्वारा न होकर मूल निवासी द्रविडों द्वारा हुआ।

जिन जनजातियों से संघर्ष बिल्कुल नहीं था, उनके बीच विवाह, खानपान, आदि पर प्रतिबन्ध क्यों लगे थे? परन्तु विभिन्न लक्षणों की उत्पत्ति के विषय में मनोवैज्ञानिक मूल्यांकन की भावना के पीछे तर्क है। फिर भी, धार्मिक तथा सामाजिक राजनीतिक कारकों की भूमिका की अवहेलना नहीं की जा सकती है। केतकर द्वारा बताए गए मनोवैज्ञानिक कारक समूचे मानव समाज में समान हैं। अत:, जाति व्यवस्था की जड़ में जो मुख्य तत्व हैं, वे व्यक्ति के मनोवैज्ञानिक लक्षणों से कुछ और हैं। संस्कारों की पवित्राता का ब्राह्मणों का विचार और आर्यो के प्रजातीय श्रेष्ठता को बनाए रखने का विचार, दोनों ही जाति की उत्पत्ति में निश्चित रुप से महत्वपूर्ण कारक हैं।

**5. हट्टन का "माना" सिद्धान्त -**

हट्टन (1961) ने आदिम अवधारणा "माना" पर जातियों की उत्पत्ति के लिए जोर डाला है, जिसका समर्थन शरद् चन्द्र राय, राइस, तथा स्मार्ट जैसे विद्वानों ने किया है। हट्टन के अनुसार "माना" एक अवैयक्तिक अलौकिक तथा अदृश्य शक्ति है जो व्यक्तियों, वस्तुओं, व स्थानों में मिलती हैं यह विश्वास किया जाता है कि "माना" को व्यक्तियों को हानि पहुंचाने की शक्ति है। जहाँ पर भी "माना" में विश्वास प्रचलित है वही एक संरक्षक उपाय के रुप में "निषेध" में भी विश्वास मिलता है अत: एक जनजाति के सदस्यों को दूसरी जनजातियों के "माना" से बचाने के लिए उन पर खान-पान, अन्तर्विवाह और पारस्परिक अन्तःक्रिया सम्बन्धी निषेध लगाये गये थे। हट्टन का कहना है कि जनजातियाँ अपरिचितों के खाने को खतरनाक मानती हैं। अत: दूसरों के साथ सहभोज पर प्रतिबन्ध तथा सम्पर्क रखने पर रोक इस विश्वास पर आधारित है कि ये (सहभोज और सम्पर्क) अपरिचितों के खतरनाक "आत्मा-पदार्थ" से प्रदूषित हो सकते हैं। यह "आत्मा-पदार्थ" विशेष रुप से संकटपूर्ण होगा अगर इन अपरिचितों में जादूई शक्ति होगी। ऐसे ही विश्वासों के कारण सहभोज सम्बन्धी निषेध की उत्पत्ति हुई। नागाओं के अध्ययन में हट्टन को ऐसे गांव मिले जिनके निवासी न केवल अपरिचितों से तोहफा व रुपया लेने पर आपत्ति करते थे, अपितु अपनी भी किसी वस्तु को उन्हें देने के लिए अनिच्छित रहते थे, इस डर से कि कहीं उनके (अपरिचितों के) किसी प्रभाव में न आ जायें। इसी विश्वास के आधार पर नागा लोग मेहमानों को दी गयी व उनके द्वारा प्रयोग की गयी चटाईयों व अन्य वस्तुओं को भी उनके चले जाने के बाद नाश कर देते थे।

सहभोज के निषेधों की तरह ही अन्य निषेध भी लोगों को "माना" से बचाने के लिए लगाए गए। हट्टन का मानना है कि "माना" सिद्धान्त अन्य धर्मो में भी माना जाता है। बौद्धों में यह "इधि" मुसलमानों में "कुदरत" और हिन्दुओं में "शक्ति" नाम से यह परिचित है। तथापि ऐसा लगता है कि ऋग्वैदिक आक्रमणकारियों के रुप में जब आर्य भारत में आये तो उनमें जो श्रेणीकृत सामाजिक वर्ग थे उनके सामाजिक और राजनैतिक प्रभाव के कारण ही हमारे उस समाज में सामाजिक प्राथमिकता का सिद्धान्त स्थापित हुआ जो पहले से ही निषेधों के कारण पृथक्कत समूहों में विभाजित था।

डी.एन.मजूमदार ने हट्टन की "माना" के आधार पर जाति की व्याख्या की आलोचना की है। वे मानते हैं कि दूसरे समाजों में भी जनजातियाँ "माना" में विश्वास करतीं हैं, लेकिन हमें वहाँ जाति व्यवस्था नहीं मिलती।

सारांश में यह कहा जा सकता है कि जाति प्रथा की उत्पत्ति के लिये किसी एक कारक को महत्त्वपूर्ण नहीं माना जा सकता है इसका त्रिविध कारकों के योग का परिणाम कहा जा सकता है

## 6.7 जाति व्यवस्था के प्रकार्य

**जे.एच.हट्टन ने जाति -** व्यवस्था के प्रकार्यो (संगठनात्म–कार्यो) का वर्णन तीन दृष्टिकोणों के अन्तर्गत किया है -

(1) व्यक्ति के दृष्टिकोण से प्रकार्य

(2) जाति समुदाय के दृष्टिकोण से प्रकार्य

(3) समाज एवं राष्ट्र के दृष्टिकोण से प्रकार्य

हम इनकी विस्तृत व्याख्या करेंगे -

**1. जाति के व्यक्ति के लिए कार्य -**

जाति अपने सदस्यों के लिए जो कार्य करती है उन्हें हट्टन ने इन शब्दों में व्यक्त किया है, "'जाति-व्यवस्था व्यक्ति को उसके जन्म के समय से ही एक निश्चित सामाजिक स्थिति प्रदान करती है जिसे सम्पत्ति, निर्धनता सफलता और असफलता कोई भी स्थिति परिवर्तित नहीं कर सकतीं। हट्टन ने जाति द्वारा किए जाने वाले अनेक प्रकार्यो का वर्णन किया है जिन्हें निम्न प्रकार से वर्गीकृत किया जा सकता है -

(i) मानसिक सुरक्षा - जाति-व्यवस्था में एक जाति अपने सदस्यों के जीवन की सभी बातें - सदस्यता, शिक्षा, व्यवसाय, खान-पान, वेश-भूषा, विवाह का क्षेत्र, जीवनचर्या, सामाजिक सम्पर्क की परिधि, विशेषाधिकार एवं निर्योग्यताएँ आदि निश्चित कर देती है। जाति ये सभी प्रकार्य सम्पन्न करके अपने सदस्यों को जीवनपर्यन्त मानसिक सुरक्षा प्रदान करती है।

(ii) सामाजिक सुरक्षा - जाति अपने सदस्यों को सामाजिक सुरक्षा भी प्रदान करती है। जैसे कभी किसी प्रकार की विपत्ति आने पर जाति के सदस्य सदैव उसकी सहायता को तत्पर रहते हैं। हट्टन लिखते हैं कि जाति अपने सदस्यों के लिए मित्र, हित-समाज, पारस्परिक सुविधा क्लब और अनाथालय होती है। वह अपने सदस्यों के लिए स्वास्थ्य-बीमा-योजना है तथा आवश्यकता पड़ने पर उनका अन्तिम दाह-संस्कार भी करती है।

(iii) आर्थिक सुरक्षा - व्यवसाय जाति द्वारा निश्चित होता है और पीढ़ी-दर-पीढ़ी हस्तान्तरित भी होते हैं जिसके परिणामस्वरूप व्यवसाय में निपुणता विकसित होती रहती है। इससे प्रत्येक सदस्य को आर्थिक सुरक्षा भी प्राप्त होती है। मोची, धोबी, कुम्भकार, चर्मकार, स्वर्णकार आदि आर्थिक दृष्टि से स्वयं को सुरक्षित अनुभव करते हैं। सभी जातियों के व्यवसाय निश्चित होते है।

(iv) व्यवहारों पर नियन्त्रण - घुर्ये ने लिखा है कि जाति पंचायत अनेक प्रकार से अपने सदस्यों के व्यवहारों, आचरणों, पारस्परिक झगड़ों जाति सम्बन्धी नियमों की पालना एवं उल्लंघन आदि पर नियन्त्रण रखती है।

(v) वैवाहिक-सुरक्षा - व्यक्ति के जीवन से सम्बन्धित विवाह का कार्य जाति द्वारा ही निश्चित किया जाता है। जाति की परिभाषा में विद्वानों ने लिखा है कि जाति एक अन्तविवाही समूह है जिसका तात्पर्य है कि जो जिस जाति में जन्म लेता है उसे अपनी ही जाति-समूह में विवाह करना होता है। अपनी जाति से बाहर विवाह करना निषिद्ध है।

**2. जाति के जाति समुदाय के लिए प्रकार्य -**

हट्टन ने जाति-व्यवस्था के निम्नांकित प्रकार्य जाति समुदाय के लिए बताए हैं -

(i) सदस्यता एवं संस्तरण का निर्धारण - एक जाति समुदाय के वही सदस्य होते हैं जिनका जन्म उस जाति समुदाय में होता है। जाति से बाहर के व्यक्तियों को सदस्य नहीं बनाया जा सकता है।

(ii) घुर्ये ने इसको 'जातियों का संस्तरण' कहा है। हट्टन का कहना है कि जातियों का क्रम-विन्यास भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में भिन्न-भिन्न है। जातियों के स्तरीकरण में उच्चता और निम्नता के क्रम में निर्धारण का कार्य जाति-व्यवस्था करती है।

(iii) सामाजिक नियन्त्रण एवं संस्कृतीकरण - हट्टन के अनुसार जाति समुदाय एक संघ (कम्पनी) है जिसे जाति-व्यवस्था अपने सदस्यों के व्यवहार, खान-पान, व्यवसाय, विवाह, सदस्यता आदि से सम्बन्धित विशेषाधिकार एवं प्रतिबन्धों को नियन्त्रित तथा संचालित करने के योग्य एवं समर्थ बनाती है। जाति अपने सदस्यो को संगठित रखती है। हट्टन ने लिखा है क इस संगठन के कारण जाति अपनी स्थिति को समाज में ऊँचा उठाती है। हालाँकि यह कार्य सरल नहीं है, उच्च स्थिति कई पीढ़ियों में जाकर प्राप्त हो पाती है।

(iv) आपने इसके निम्न उदाहरण दिए हैं - आसाम के डोम या हरि ब्रिटल बनिए बन गए; बाद में ये राजपूताने (राजस्थान) के बनिए माने जाने लगे। इसी प्रकार पंचाल शिल्पी-विश्वकर्मा- ब्राह्मण, चमार-गहलोत-राजपूत और नाई भी नाई ब्राह्मण बन गए।

(v) संस्कृति का हस्तान्तरण - जाति एक ऐसी समिति या संघ है जो अपने सदस्यों को पारस्परिक सहायता प्रदान करती है तथा उनके हितों को प्राप्त करने का प्रयास करती है। हट्टन ने इसे ट्रेड–यूनियन बताते हुए लिखा है कि यह अपनी संस्कृति का हस्तान्तरण करती है। जाति अपने हस्त-शिल्प सम्बन्धी रहस्य एवं व्यावसायिक ज्ञान को एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को हस्तान्तरित करती है। जाति से सम्बन्धित व्यवहार के प्रतिमान, ज्ञान, व्यावसायिक कौशल, प्रवीणता, चातुरी को सुरक्षित एवं अन्य जातियों से गुप्त रखने एवं पीढ़ी-दर-पीढ़ी संचारित करने का कार्य भी जाति एक संघ के रूप में करती है।

**3. जाति के समाज एवं राष्ट्र के लिए प्रकार्य -**

जाति-व्यवस्था ने अनेक वर्षो तक समाज एवं राज्य के लिए अनेक महत्त्वपूर्ण प्रकार्य किए हैं, जैसे - सामाजिक जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति करना, राजनैतिक एवं सामाजिक स्थिरता प्रदान करना, समाज का एकीकरण करना, समाज को नियन्त्रित रखना तथा जनसंख्या का सन्तुलन बनाए रखना आदि हैं। इन प्रकार्यो पर हट्टन, एबे डुबाय, फर्निवाल, राधाकृष्ण मुकर्जी आदि ने प्रकाश डाला है -

(i) सामाजिक एवं राजनैतिक स्थिरता - जाति-व्यवस्था का सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य भारतीय समाज और राष्ट्र को सामाजिक और राजनैतिक स्थिरता प्रदान करना रहा है। इस सम्बन्ध में एबे डुबाय ने लिखा है कि जाति-व्यवस्था ने अग्रांकित कार्य किए हैं -

(i) भारत की बर्बरता से रक्षा,

(ii) व्यस्थित सरकार के लिए निश्चित आधार प्रदान करना,

(iii) स्वेच्छाचारी शासन के विरुद्ध सुरक्षा,

(iv) कलाओं की सुरक्षा के साधन के रूप में, और

(v) विदेशी शासकों के शासनकाल में हिन्दू संस्कृति के प्रतिमान की रक्षा।

हट्टन ने निम्न शब्दों में जाति-व्यवस्था को समाज की स्थिरता का आधार बताया है, "'भारतीय समाज अनेक आक्रमणों, अकालों, क्रान्तियों और सभी प्रकार की सामाजिक विप्लव (उथल-पुथल), जिसमें विदेशी धर्मो के आक्रमणकारियों, जो आवश्यक (विशेष) रूप से हिन्दूवाद के प्रतिद्वन्द्वी हैं, की जीत के उपरान्त भी जीवित रहा है और यह सब कुछ निस्सन्देह जाति-व्यवस्था के कारण सम्भव हुआ है जिस पर भारतीय समाज ने अपना निर्माण किया है, वह जाति-व्यवस्था जो इस्लाम अथवा ईसाई लोगों द्वारा धर्म-परिवर्तन किए जाने पर भी प्राय: जीवित रही है।"

(ii) सामाजिक नियन्त्रण - सामाजिक नियन्त्रण स्थापित करने में भी जाति-व्यवस्था की महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है। जाति-व्यवस्था का आधार कर्म है और कर्म का सिद्धान्त धार्मिक मान्यताओं के द्वारा नियन्त्रित और निर्देशित होता है। जाति-व्यवस्था के नियमों, विशेषाधिकारों एवं निर्योग्यताओ का उल्लंघन करना भगवान की आज्ञा का उल्लंघन माना जाता हैं इसका प्रभाव यह पडा कि जाति-व्यवस्था ने समाज में व्यक्ति को अपेक्षित व्यवहार करने के लिए बाध्य किया तथा विपथगामी व्यवहारों की समस्या को हल किया। इस प्रकार से जाति-व्यवस्था समाज एवं राष्ट्र के स्तर पर सामाजिक नियन्त्रण की एक महत्त्वपूर्ण संस्था के रूप में विकसित हो गई।

(iii) सामाजिक स्तरीकरण - समाज के व्यवस्थित एवं संगठित रहने के लिए स्तरीकरण अत्यावश्यक है। भारतवर्ष में यह कार्य सदियों से जाति-व्यवस्था के द्वारा किया जाता रहा है। जाति व्यवस्था के अन्तर्गत विभिन्न जातियाँ परस्पर उच्च-निम्न क्रम में व्यवस्थित की जाती हैं तथा उनको परस्पर संगठित रखकर समाज की आवश्यकताओं की पूर्ति की जाती है।

(iv) सामाजिक एकीकरण - जाति-व्यवस्था के कारण ही हिन्दू समाज में एकता व सुरक्षा विद्यमान है। भारत में अनके प्रजातियाँ व जातियाँ रही है लेकिन अनेक जातियों के होते हुए भी जाति समाज को एकता के सूत्रा में बाँधने का कार्य करती है, जैसे - हिन्दू धर्म पर मुसलमानों व ईसाइयों द्वारा बाहर से आक्रमण किए गए लेकिन हिन्दू समाज की स्थिरता उसी रूप में निश्चल रही इसी से इसकी प्रशंसा अनेक विद्वानों ने मुक्तकण्ठ से की है। गिलबर्ट ने कहा है कि भारतवर्ष की जाति-प्रथा यूरोप की राष्ट्रीयता के समान है। हट्टन का भी यही मत है कि जाति-व्यवस्था भारतीय समाज को संगठित करने का कार्य करती है।

(v) आर्थिक कार्य - जाति-व्यवस्था समाज में विभिन्न आर्थिक कार्यो को करने के लिए श्रम-विभाजन की व्यवस्था को संचालित और नियन्त्रित करती है। जाति-व्यवस्था ने विभिन्न व्यवसायों को अलग-अलग जातीय समुदायों में बाँट रखा है। प्रत्येक जाति अपने व्यवसायों को पीढ़ी-दर पीढ़ी करती है। समाज में जाति-व्यवस्था के द्वारा जजमानी प्रथा के अन्तर्गत विभिन्न आवश्यकताओं से सम्बन्धित उत्पादन, उपभोग, वितरण और विनिमय का कार्य किया जाता है।

(vi) संस्कृति का हस्तान्तरण - किसी भी समाज की सम्पन्नता और संस्कृति की निरन्तरता के लिए आवश्यक है। जाति-व्यवस्था ने भारतीय संस्कृति की विशिष्ट विशेषताओं, जैसे - कला, साहित्य, आर्थिकी, धर्म, प्रथाएँ, आदर्श मूल्य, व्यवसाय, सामाजिक संस्तरण, भाषा, जीवन के तरीके, तकनीकी ज्ञान, विभिन्नता में एकता आदि को सुरक्षित रखा तथा एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को अपने प्रतिबन्धों तथा विशेषाधिकारों द्वारा हस्तान्तरित करने का कार्य कुशलतापूर्वक किया।

## 6.8 जाति व्यवस्था के दुष्कार्य

जाति-व्यवस्था के उपर्युक्त वर्णित प्रकार्यो के अतिरिक्त इसके दुष्कार्यो या हानियों का वर्णन राधाकृष्णन, पणिक्कर, शेरिंग, बोस, रॉस आदि ने भी किया है।

**(1) सामाजिक दुष्कार्य**

राधाकृष्णन ने लिखा है, "जाति-व्यवस्था जिसे सामाजिक संगठन को नष्ट होने से रक्षा करने के साधन के रूप में विकसित किया गया था, दुर्भाग्यवश वही आज उसकी उन्नति में बाधक बन रही है।" जाति-व्यवस्था ने समाज को निम्न हानियाँ एवं बाधाएँ पहुँचाई है -

(i) निम्न जातियों का शोषण - 1991 की जनगणनानुसार भारत में निम्न जातियों की कुल जनसंख्या 13.3 करोड़ है जो कुल जनसंख्या का 15.7% है। जाति-व्यवस्था के नियमों के कारण इन पर अनेक धार्मिक, आर्थिक, राजनैतिक प्रतिबन्ध हैं जिनके कारण उच्च जातियाँ इनका सभी प्रकार का शोषण करती हैं। निम्न जातियों के सदस्य अपनी प्रस्थिति नहीं बदल सकते हैं तथा जीवनपर्यन्त शोषण के शिकार रहते हैं। इन जातियों में निम्न जातियों - विशेष रूप से अस्पृश्य जातियों तथा शूद्र वर्ण के स्तर की जातियों से कठोर श्रम, गन्दे तथा घृणित कार्य करवाए जाते हैं।

(ii) सामाजिक प्रगति में बाधक - मजूमदार के अनुसार जाति एक बन्द-वर्ग है। इसी कारण जाति एक ऐसा समूह है जिसमें व्यक्ति अपना भाग्य लेकर पैदा होता है और जिसमें व्यक्ति की सामाजिक प्रस्थिति पूर्ण रूप से निश्चित होती है। इस व्यवस्था में एक जाति पूर्णतया वंशानुक्रम पर आधारित होने के कारण विकास या प्रगति नहीं कर सकती है। समाज तभी प्रगति करता है जब उसके सभी सदस्यों का समान रूप से विकास करने, शिक्षा प्राप्त करने, नवीन आविष्कारों को अपनाने तथा परस्पर प्रतिस्पर्द्धा करने की स्वतन्त्रता हो। सामाजिक विघटन - जाति-व्यवस्था के अनेक निषेध हैं जिनके कारण हिन्दू समाज अनेक अन्तर्जातीय समूहों में बँटता जा रहा है। जो भी जाति के नियमों का उल्लंघन करता है उसे जाति-पंचायत जाति से निष्कासित कर देती है और आगे चलकर वह एक जाति में विकसित हो जाती है। इसी प्रकार जाति को समाप्त करने के लिए जो भी आन्दोलन हुए वे जाति को तो समाप्त नहीं कर पाए तथा स्वयं में एक जाति या अलग धर्म के रूप में विकसित हो गए। आर्य समाज, ब्रह्म समाज, जैन धर्म, बौद्ध धर्म, कबीर पंथ, लिंगायत यदि इसके उदाहरण हैं।

(iii) सामाजिक समस्याओं के लिए उत्तरदायी - अनेक सामाजिक समस्याएँ - बाल विवाह, दहेज-प्रथा, कुलीन विवाह, जाति अन्तर्विवाह, सती प्रथा, विधवा पुनर्विवाह निषेध, अस्पृश्यता, छुआछुत आदि का कारण जाति-प्रथा है।

(iv) अस्पृश्यता - जाति व्यवस्था का आधार पवित्राता-अपवित्राता छुआछूत, ऊँच-नीच आदि हैं। इस कारण समाज का एक बडा वर्ग हरिजन, चमार, रैगर, मोर्चो आदि को अस्पृश्यता की श्रेणी में रखा जाता है। इनके छूने, परछाई पड़ने आदि से उच्च जातियाँ अपवित्रा हो जाती हैं। शूद्र वर्ण स्तर की जातियाँ जैसे धोबी, नाई, लोहार, बढ़ई कुम्हार आदि का कच्चा भोजन और पानी ब्राह्मण आदि उच्च जातियाँ ग्रहण नहीं कर सकती है। इन अस्पृश्य जातियों को विभिन्न सुविधाओं से वंचित रखा गया है।

(v) स्त्रियों का शोषण - जाति-व्यवस्था ने नारी पर अनेक प्रतिबन्ध थोप दिए हैं। इन्हें शिक्षा प्राप्त करने का अधिकार नहीं है। बाल-विवाह के कारण इनका शारीरिक, मानसिक, सामाजिक आदि विकास के अभाव में व्यक्तित्व अविकसित रह जाता है। अपरिपक्व आयु में प्रसव के समय मृत्यु हो जाती है। विधवाओं को पुनर्विवाह का अधिकार नहीं होने के कारण वैधव्य जीवन नरकमय व्यतीत करना पड़ता है।

(vi) व्यक्तित्व के विकास में बाधक - जाति-व्यवस्था ने व्यक्ति के विकास में अनेक बाधाएँ खडी कर रखी हैं। व्यक्ति को जाति के नियमों और परम्पराओं का पालन करना होता है जिसके उल्लंघन करने पर उसे जाति से बहिष्कृत कर दिया जाता है। व्यक्ति अपनी योग्यता, बुद्धिमत्ता, रुचि, परिश्रम तथा शारीरिक क्षमता के अनुसार न तो व्यवसाय का चुनाव कर सकता है और न ही अपने गुणों का विकास करके प्रगति कर सकता

(vii) सामाजिक गतिशीलता में बाधक - जाति-व्यवरथा में व्याक्ति को सदस्यता जन्म (प्रदत) के आधार पर मिलती है, जो जिस जाति में जन्म लेता है जीवनपर्यन्त उसी का सदस्य

बनकर रह जाता है। इसलिए व्यक्ति अपने गुण, शिक्षा, मेहनत के द्वारा स्थिति सुधार नहीं सकता है।

**(2) सांस्कृतिक प्रगति में बाधक -**

किसी भी संस्कृति की प्रगति के लिए आवश्यक होता है कि उसके सभी सदस्यों को स्वतन्त्रता रूप से विचार करने दिया जाए। सभी को अच्छी शिक्षा दी जाए। स्त्री-पुरुषों में भेदभाव नहीं हो। आविष्कार करने के अवसर प्रदान किए जाएँ। नवाचारों का स्वागत किया जाए आदि-आदि। लेकिन जाति-प्रथा इन सबका विरोध करती है। यह व्यवस्था सभी को रूढ़िवादी बनाती है।

**(3) धार्मिक दुष्कार्य -**

(i) समाज की अफीम - जाति-व्यवस्था धर्म के मूल्यों पर आधारित है, जैसे - कर्म, पुनर्जन्म, पाप-पुण्य भाग्यवादिता, पवित्रता-अपवित्रता आदि। इन मूल्यों पर विश्वास के कारण जाति-प्रथा अफीम के जैसे कार्य करती है। जिस प्रकार से अफीम व्यक्ति को आलसी, आकर्मण्य और कमजोर बना देती है उसी प्रकार से जाति-प्रथा के द्वारा व्यक्ति और समाज दानों ही अन्धविश्वासी, सुस्त और भाग्यवादी बन जाते है।

(ii) धर्म परिवर्तन - जाति-प्रथा के द्वारा शूद्र एवं अस्पृश्य जातियों पर कठोर प्रतिबन्ध होते हैं। उनका सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक, धार्मिक आदि शोषण किया जाता है। इससे छुटकारा पाने के लिए ये शोषित जातियाँ ईसाई और इस्लाम धर्म अपना लेती हैं, वहाँ उनकी प्रतिष्ठा बढ़ जाती है तथा उनका शोषण भी नहीं होता है।

(iii) ब्राह्मणवाद - जाति-प्रथा के दुष्कार्यो हानियों या अकार्यो का प्रमुख कारण ब्राह्मणवाद है। जाति-प्रथा की उत्पत्ति एवं हानियों में ब्राह्मणों की राजनैतिक धारणा एवं चालाकी है। इन्होंने समाज में अपनी प्रस्थिति प्रतिष्ठा, शक्ति एवं सत्ता सर्वोपरि बनाकर अन्य जातियाँ का शोषण किया।

**(4) आर्थिक दुष्कार्य -**

(i) आर्थिक विकास में बाधक - किसी भी समाज के आर्थिक विकास के लिए आवश्यक है कि उस समाज के सभी व्यक्तियों को उच्च शिक्षा, व्यवसायों को चुनने की स्वतन्त्रता, निष्पक्ष नियुक्तियाँ तथा योग्य व्यक्तियों का चयन, सामाजिक तथा क्षेत्रीय गतिशीलता आदि की स्वतन्त्रता एवं अधिकार हो। लेकिन जाति-प्रथा में ऐसी स्वतन्त्रता नहीं है। जन्म के आधार पर व्यक्ति का व्यवसाय निश्चित हो जाता है। व्यक्ति को वंशानुगत व्यवसाय ही अपनाना पड़ता है। ग्रामवासी अपने ग्राम और खेत से इतने जुड़े होते हैं कि गाँव छोडना तथा खेती छोडना पाप समझते हैं। इन जातिगत मान्यताओं, प्रतिबन्धों तथा रूढ़ियों के कारण भारत में उद्योगों, कल-कारखानों, मिलों आदि में कुशल श्रमिक नहीं मिलते हैं।

(ii) निम्न जाति के सदस्यों को उच्च-रत्तर के व्यवसाय करने का अवसर नहीं मिल पाता है।

(iii) कार्यकुशलता में बाधक - जब जाति-प्रथा में व्यक्ति को जन्म के आधार पर उच्च जाति या निम्न जाति की अपरिवर्तनीय तथा स्थाई सदस्यता मिल जाती है तो वह अपनी कार्यकुशलता की वृद्धि करने का प्रयास नहीं करता हैं उच्च जाति का सदस्य तो इसलिए प्रयास नहीं करता है क्योंकि उसे निम्न जाति में जाने का डर नहीं है तथा निम्न जाति का सदस्य इसलिए निष्क्रिय हो जाता है क्योंकि वह उच्च जाति की सदस्यता प्राप्त नहीं कर सकता है। इस प्रकार जाति-प्रथा श्रमिकों, व्यक्तियों तथा समाज के विभिन्न सदस्यों की कार्यकुशलता में बाधा बन जाती है।

(iv) श्रमिकों की गतिशीलता में बाधक - जाति-व्यवस्था के मूल्यों, प्रतिबन्धों तथा व्यावसायिक परम्पराओं के कारण लोग न तो अपने पैतृक व्यवसाय छोड़ते हैं और न ही मूल निवास स्थान। भारत में औद्योगिक विकास तथा पंचवर्षीय योजनाओं के लिए श्रमिकों की समय-समय पर आवश्यकता पड़ती रही। तीन-चौथाई जनसंख्या ग्रामों में निवास करती हैं ये लोग गाँवों को छोड़कर शहरों तथा औद्योगिक केन्द्रों में जाकर व्यवसाय करना पसन्द नहीं करते हैं। ग्रामवासी जाति-प्रथा के प्रतिबन्धों के कारण अपने पैतृक व्यवसाय से जुड़े रहते हैं।

**(5) राजनैतिक दुष्कार्य -**

जाति-प्रथा अनेक प्रकार से राजनैतिक दुष्कार्य भारतवर्ष में सदियों से कर रही है। जाति-व्यवस्था जहाँ एकता में बाधक है वहीं यह प्रजातन्त्रा विरोधी भी है। इसके द्वारा जातीय भेदभाव, जातिवाद, कानून की आदि भी राजनैतिक हानियाँ पहुँचाते रहते हैं।

प्रजातन्त्रा एवं राष्ट्रीय एकता में बाधक तत्त्व -

(i) जातीय प्रतिबन्ध - जहाँ राष्ट्रीय एकता के लिए सदस्यों को समान अधिकर, समान अवसर, भ्रातृत्व की भावना आदि आधारभूत विशेषताएँ अनिवार्य होती हैं उसके विपरीत जाति-प्रथा में प्रतिबन्ध ही प्रतिबन्ध होते हैं।

(ii) जातीय भेदभाव - राष्ट्रवाद एवं प्रजातन्त्र के लिए समानता की भावना आवश्यक है। लेकिन जाति-प्रथा ने समाज के सदस्यों में ऊँच-नीच, छुआछूत, पवित्रता-अपवित्रता के विचार, व्यवहार और मूल्यों को पैदा करके राष्ट्रीयता को कमजोर किया है जाति-प्रथा ने रंग, लिंग जन्म, व्यवसाय, धर्म, विवाह के द्वारा भेदभाव पैदा किया है जो आज भी राष्ट्रीयता को विकसित करने मैं बाधा बनी हुई है। प्रजातन्त्रा, भ्रातृत्व पर आधारित होता हैं यह ऊँच-नीच तथा अस्पृश्यता पर आधारित होती है।

(iii) जाति-प्रथा ने जातिवाद को बढ़ावा दिया है। समाज अनेक जाति गुटो में विभाजित हो गया है। इससे लोगों के विचार, रुचि के क्षेत्र तथा दृष्टिकोण संकीर्ण हो गए हैं। चुनाव में उम्मीदवारों का चयन जाति के आधार पर होता है। लोग अपना मत जाति के आधार पर देते हैं। इससे अयोग्य व्यक्ति चुनकर आगे जाते हैं और वही पर ये भी जातिवाद को बढ़ावा देते हैं। जाति-प्रथा प्रजातन्त्रा व्यवस्था की विरोधी है। यह स्वच्छ तथा सुदृढ़ प्रजातन्त्र की स्थापना में अनेक बाधाएँ पैदा करती है।

## 6.9 जाति व्यवस्था में परिवर्तन

जाति व्यवस्था में परिवर्तन कई कारकों के कारण आया है जिन्होंने जाति के परम्परागत स्वरूप को परिवर्तित किया है जैसे औद्योगीकरण, नगरीकरण, शिक्षा, यातायात एवं संचार के साधनों का प्रभाव नवीन व्यवसायों का प्रार्दुभाव, जाति पंचायतों का विघटन, नवीन कानूनों का प्रभाव, धार्मिक सामाजिक आन्दोलनों ने जाति प्रथा के स्वरूप को परिवर्तित किया है इसके परिणाम स्वरूप जाति व्यवस्था का रूप बदला है इस परिवर्तित स्वरूप में जातीय संस्तरण में परिवर्तन आया हैं और ब्राह्मणों की स्थिति में गिरावट आई है और दलितों की स्थिति में परिवर्तन आने लगा है आधुनिक काल में पेशों के चयन में स्वतन्त्रता, खान पान सम्बन्धी प्रतिबन्धों में अब उतनी कठोरता नही रही है अर्न्तजातीय विवाहों का प्रचलन बढ़ने लगा है और अन्तविवाह सम्बन्धी नियम धीरे-धीरे शिथिल होने लगे हैं। जन्म की अपेक्षा योग्यता को स्थान मिलने लगा है वर्तमान समय में जाति के सम्बन्ध शिथिल हुये हैं, और जजमानी प्रथा कमजोर होती जा रही है कुछ समाजशास्त्री यह मानते हैं कि जाति प्रथा तीव्र गति से बदल रही है कुछ ऐसा मान रहे हैं कि यह धीमी गति से बदल रही है हम इन विचारों को देखेगे -

जाति-व्यवस्था के परिवर्तन के सम्बन्ध में समाजशास्त्रियों की दो विचारधाराएँ मिलती हैं जो निम्न प्रकार हैं-

**(1) जाति व्यवस्था तीव्र गति से परिवर्तित हो रही है**

मजूमदार, कुप्पूस्वामी, कालीप्रसाद, मर्फी और मेक्स वेबर आदि का दृष्टिकोण है कि जाति-व्यवस्था में तीव्र गति से परिवर्तन हो रहे हैं। यह व्यवस्था न तो विघटित ही हो रही है और न ही समाप्त हो रही है। लेकिन कमजोर अवश्य हो रही है। इस सम्बन्ध में विद्वानों के विचार निम्न प्रकार से हैं -

**(i)** डी.एन.मजूमदार ने लिखा है कि जाति-व्यवस्था में जातियाँ में परस्पर सम्मिश्रण और विखण्डन, जनजातियों के साथ आत्मसातकरण के कारण भी इनमें परिवर्तन तेजी से हो रहा है।

**(ii)** कुप्पूस्वामी ने मद्रास के छात्रों के अध्ययन में पाया कि एक बड़े अनुपात में छात्रों ने बताया कि जाति-व्यवस्था असहनीय है और वे इसे पूर्ण रूप से समाप्त कर देना चाहते हैं।

**(iii)** कालीप्रसाद ने साम्प्रदायिक तनावों पर किए गए अपने अध्ययन में अन्तर्जातीय सम्बन्धों के सम्बन्ध में पाया कि 90% उच्च जाति के लोगों को निम्न जाति के लोगों के साथ भोजन करने में कोई आपत्ति नहीं है। इन्होंने दूसरे अध्ययन में यह पाया कि विभिन्न जातियों की पारस्परिक दूरियाँ तेजी से समाप्त हो रही हैं।

**(iv)** गार्डनर मर्फी के भारत में यूनेस्को द्वारा कराए गए के सामाजिक तनावों के अध्ययन के निष्कर्षो में पाया गया कि अब लोग जाति-व्यवस्था के प्रतिबन्धों का विरोध करने लगे हैं।

**(v)** मेक्स वेबर का विचार है कि सभी जातियों के सम्बन्ध कमजोर पड़ गए हैं तथा बुद्धिजीवी विशिष्ट राष्ट्रवाद को बढ़ावा दे रहे हैं।

**(vi)** राधाकमल मुखर्जी का कहना है "जाति परिवर्तन की गत्यात्मकता के - आर्थिक और सामाजिक - दो पक्ष हैं। आर्थिक पक्ष जाति के व्यावसायिक विशेषीकरण से सम्बन्धित है और सामाजिक पक्ष उच्चं जातियों की प्रथाओं को अपनाने एवं अपवित्रता वाले व्यवसायों को छोड़ने से सम्बन्धित है। इन दोनों ही क्षेत्रों में परिवर्तन हो रहे हैं और ये दोनों ही परिवर्तन जाति-व्यवस्था के परिवर्तन को पृष्ठभूमि प्रदान करते हैं" मुखर्जी का यह भी कहना है कि इन परिवर्तनों से उच्च-जातियों और निम्न-जातियों में परस्पर संघर्ष में वृद्धि हुई है। आपने लिखा है कि नगरों में जाति-व्यवस्था में अधिक परिवर्तन हुए हैं नगरों में खान-पान और सामाजिक अन्तक्रिया के प्रतिबन्ध कमजोर हो गए हैं और निम्न-जातियों से नागरिक एवं धार्मिक निर्योग्यताएँ उठा ली गई हैं।

**(vii)** एम.एन.श्रीनिवास ने लिखा है कि जातियों के पारिवारिक अधिकार और कर्त्तव्य समाप्त हो रहे हैं। संस्कृतीकरण और पश्चिमीकरण जाति व्यवस्था में परिवर्तन ला रहे हैं। व्यक्ति की निष्ठा गाँव के स्थान पर जाति के प्रति बढ़ रही है।

**(viii)** ए.जे.मिलन ने लिखा है, "'पहले अन्तर्जातीय सम्बन्धों में परम्पराओं द्वारा निर्धारित स्पष्ट अधिकार और कर्त्तव्य, सत्ता और अधीनता पाई जाती थी, परन्तु आज गाँव की आर्थिक संरचना में परिवर्तन के कारण अर्न्तजातीय सम्बन्धों के प्रतिमान बदल गए हैं। निम्नजातियों द्वारा सामाजिक स्तर में ऊँचा उठने के प्रयास के कारण ग्रामीण संरचना में अन्तर्जातीय संघर्ष पैदा हो गए हैं।

**(ix)** उपर्युक्त समाजशास्त्रियों के अतिरिक्त स्मिथ, ब्राइस रियान, एस.सी.दुबे आदि ने भी विचार व्यक्त किये हैं कि जाति-व्यवस्था में परिवर्तन हो रहे हैं।

**(2) जाति-व्यवस्था मन्द गति से परिवर्तित हो रही है**

आई.पी.देसाई, धुर्ये, नर्मदेश्वर प्रसाद, कपाड़िया, दामले, ड्यूमो, आन्द्रे बेतेई, हैरोल्ड गल्ड, योगेन्द्र सिंह आदि समाजशास्त्रियों की मान्यता है कि जाति-व्यवस्था में परिवर्तन मन्द और धीरे-धीरे हो रहा है और कुछ पक्षों में तो परिवर्तन सतही (उपरिष्ठ) है। इस सम्बन्ध में इन वैज्ञानिकों के विचार निम्न है -

(1) आई.पी.देसाई औद दामले ने लिखा है, "जाति-व्यवस्था के लक्षणों में परिवर्तन की मात्रा इतनी ज्यादा नहीं है जितनी कि समझी जाती है। इन परिवर्तनों ने जाति-व्यवस्था के महत्त्वपूर्ण पहलुओं को समग्र रूप से प्रभावित नहीं किया है।"

(2) कार्ल मार्क्स की मान्यता है कि उपनिवेशवाद ने भारत में तकनीकी और आर्थिक परिवर्तनों की नींव स्थापित की थी जो जाति के आनुवंशिक श्रम-विभाजन की व्यवस्था को बदल देंगे जिस पर जाति-व्यवस्था आधारित है अर्थात् जातिगत व्यवसायों में परिवर्तन आएगा।

(3) मैक्स वेबर के अनुसार जाति-व्यवस्था भारत में पूँजीवाद के विकास में बाधा रही है और भविष्य में भी इसकी उन्नति में जाति बाधा रहेगी।

(4) हैरोल्ड गूल्ड का कहना है कि जाति-व्यवस्था पर औद्योगीकरण का प्रभाव वेबर के अनुमान से कहीं अधिक पड़ा है परन्तु जाति की समाप्ति उतनी नहीं हुई है जितना मार्क्स का अनुमान था।

(5) जी.एस.घुर्ये ने लिखा है, "आज जाति व्यक्ति के व्यवसाय को सख्ती से निर्धारित नहीं करती है। लेकिन कोई विवाह कहीं करेगा उसके क्षेत्र का निर्धारण आज भी यह उसी पुरानी कठोरता के साथ निश्चित करती है। अभी तक व्यक्ति को विवाह और मृत्यु जैसे जीवन के संकटमय समय पर सहायता के लिए अपनी जाति पर ही निर्भर रहना पड़ता है।" आपने आगे लिखा है, "हालाँकि जाति अब न्याय प्रदान करने वाली इकाई नहीं रही है, फिर भी उसकी पकड़ अपने सदस्यों पर समाप्त नहीं हुई है क्योंकि वे आज भी जाति के अभिमत (विचारों) से नियन्त्रित होते हैं।" आपकी मान्यता है, "इस व्यवस्था की कार्यशक्ति आज भी सामाजिक जीवन में उतनी ही प्रबल है जितनी हमेशा रही थीं "

(6) नर्मदेश्वर प्रसाद का कहना है कि जाति से सम्बन्धित संस्कारों और विचारधारा में परिवर्तन हो रहे हैं, फिर भी जाति-व्यवस्था आज भी पहले की तरह महत्त्वपूर्ण है। जाति-व्यवस्था के अन्दर तो परिवर्तन हो रहे हैं लेकिन इसके बाहर परिवर्तन नहीं हुए हैं।

(7) के.एम.कापड़िया ने जाति के परिवर्तन के अध्ययन में इसके चार लक्षणों - (1) जाति पंचायत, (2) सहभोज पर निषेध, (3) धार्मिक पवित्राता, ओर (4) अन्तविवाह का अध्ययन किया। आपने अध्ययन में पाया कि - (1) 1860 और 1910 के दशकों में जाति-पंचायतें बहुत शक्तिशाली थीं। परन्तु 1960 के दशक में वे सदस्यों के व्यवहार और विचारों को नियन्त्राण तो कर रही थीं परन्तु किसी सदस्य को जाति से बहिषकृत करने का अधिकार और शक्ति कानून के कारण खो चुकी थीं। (2) सहभोज सम्बन्धी निषेध 1960 के दशक में ग्रामों में भी कम हो गए थे लेकिन मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से पूर्ण रूप से ये निषेध शहरों में भी समाप्त नहीं हुए थे। (3) धार्मिक पवित्रता के सम्बन्ध में देखा गया कि 20 वी शताब्दी के प्रथम दो दशकों तक पवित्रता सम्बन्धी लक्षण का पालन करना अनिवार्य था। आज भी इस नियम का ग्रामों तथा नगरेतर क्षेत्रों की कुछ उच्च जाति के परिवारों में पालन किया जाता है। लेकिन अब ये नियम प्राय: समाप्त से हो गए हैं। (4) आपके अनुसार जाति के अन्तर्विवाह सम्बन्धी नियमों में परिवर्तन पूर्णत: स्पष्ट नहीं है। अन्तर्जातीय विवाहों में वृद्धि तो हुई है लेकिन दूसरी ओर जाति में अन्तर्विवाह सम्बन्धी स्थायित्व के प्रमाण भी विद्यमान हैं। कापड़िया ने निष्कर्ष में लिखा है कि जातिगत निषेधों में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन होने के उपरान्त भी जातियाँ समाप्त नहीं हो रही हैं।

(8) ड्यूमो ने "जाति व्यवस्था को आजकल क्या होता जा रहा है?" प्रश्न का विवेचन किया है। आपकी मान्यता है कि जाति-समाज के सम्पूर्ण ढाँचे में परिवर्तन नहीं हुआ है। समाज में परिवर्तन हुआ है, न कि जाति में। जो परिवर्तन हुए हैं वे मात्रा यह कि

जातियों के बीच जो परम्परागत अन्योन्याश्रितता थी उसका स्थान सार्वभौमिक अभेद्य गुटों जो आत्मनिर्भर एवं एक-दूसरे से प्रतिस्पर्द्धा में हैं, ने ले लिया है।

(9) आन्द्रे बेतेइ ने जाति-व्यवस्था की निम्न चार विशेषताओं मे परिवर्तन पर प्रकाश डाला है - संरचनात्मक दूरी, जीवन-शैली, सहभोज सम्बन्ध और अन्तर्विवाह। (1) संरचनात्मक दूरी एक उप-जाति की विभिन्न उप-उप-जातियों में घटी है वनिस्बत दो उप-जातियों या उनकी उप-उप-जातियों के बीच। (2) जीवन-शैलियों में भी परिवर्तन आए हैं जो विशेष जातियों की परम्परागत व्यवस्था में विशिष्ट थे। (3) सहभोजित्व इकाई की परिभाषा जाति-सम्बन्ध के आधार पर कठोरता से की जाती थी। हाल ही के दशकों में इन इकाइयों का धीरे-धीरे विस्तार हुआ है। आज ब्राह्मण पवित्र शूद्रों के साथ भोजन कर सकते हैं परन्तु सामान्यतया अपवित्र जातियों के सदस्यों के साथ नहीं करते हैं। (4) अन्तर्विवाह की इकाई में भी कुछ सीमा तक विस्तार हुआ है। अर्थात् अन्तर्जातीय विवाह भी होने लगे हैं। आन्द्रे बेतेइ ने यह भी स्पष्ट किया है कि ग्रामीण क्षेत्रों की कृषक जातियों में ऐसे परिवर्तन कम ही मिलते हैं। उनमें समरूपता काफी स्थिर है।

**निष्कर्ष** -

निष्कर्षत: यह कहा जा सकता है कि -

(1) जाति-व्यवस्था में नगरी और महानगरों में परिवर्तन अधिक हो रहे हैं तथा ग्रामों में बहुत कम हो रहे हैं।

(2) जाति व्यवस्था में आन्तरिक परिवर्तन अधिक हो रहे हैं और बाह्य परिवर्तन कम हो रहे है।

(3) जाति और उसकी उप-जातियों में परस्पर दूरियाँ घट रही हैं।

(4) व्यवसाय के लक्षणों में परिवर्तन अन्य लक्षणों की तुलना में अधिक तेजी से हो रहे हैं।

(5) जाति-पंचायत के दण्ड विधान, जैसे-जाति से बहिष्कृत करना कमजोर पड़ रहे हैं।

(6) खान-पान एवं सहभोज के प्रतिबन्धों में शिथिलता आ रही है।

(7) पवित्रता-अपवित्रता में कमी आई है।

(8) सभी क्षेत्रों में अभी मनोवैज्ञनिक स्तर पर परिवर्तन होना शेष है।

(9) विवाह सम्बन्धी निषेधों में परिवर्तन स्पष्ट नहीं हुए हैं।

(10) जाति-प्रथा जातिवाद को बढ़ावा दे रही है।

(11) जाति-व्यवस्था में साल-दर-साल परिवर्तन गति में तेजी आ रही है।

## 6.10 जाति व्यवस्था का भविष्य

जाति-व्यवस्था की पकड़ के ढीले होने के कोई संकेत नहीं है। विभिन्न जातियों के ऊपर उठने व सामाजिक प्रतिष्ठा प्राप्त करने के दृष्टिकोण में परिवर्तन अवश्य आया है। जाति-व्यवस्था में परिवर्तन निरन्तर और नियमित रूप से हो रहे हैं, किन्तु सभी व्यावहारिक उद्देश्यों के लिए जाति व्यवस्था ज्यों की त्यों बनी हुई है। इसको भंग करने की दिशा में परिवर्तन नहीं

हो रहा है। विविध जातियों में एक प्रकार की वर्ग-चेतना का उदय हुआ है। अन्तर्समूह की भावना से प्रेरित होकर वे जाति व्यवस्था को और भी कसकर थामें हुए हैं।

जाति आधार पर चुनाव लड़े जा रहे हैं। अब जाति संगठन भी हैं, जैसे, अखिल भारतीय क्षत्रिय महासभा, अखिल भारतीय माथुर संघ, अखिल भारतीय भार्गव संगठन आदि। जाति व्यवस्था के भविष्य के विषय में तीन दृष्टिकोण है:

(1) प्रथम वे हैं जो यह सोचते हैं कि जाति का पतन हो चुका है और परम्परागत चार व्यवस्थाओं को पुनर्स्थापित करने की आवश्यकता है। इस विचारधारा के प्रबल समर्थक महात्मा गाँधी थे।

(2) ऐसे लोग भी हैं जो जाति-व्यवस्था को जारी रखना चाहते हैं लेकिन बिल्कुल अलग ढंग से इसे पुनर्स्थापित करना चाहते है। ये लोग उन विभिन्न उप-जातियों को मिलाना चाहते हैं जिनमें आर्थिक समानता तथा सांस्कृतिक एकता विद्यमान है। धीरे-धीरे वे जातियाँ जो लगभग एक ही सी आधार व विशेषताओं वाली होंगी वे एक हो जायेंगी और अंत में जाति-विहीन समाज की स्थापना हो जाएगी। ये लोग चाहते हैं कि इस प्रक्रिया की गति धीमी होनी चाहिए क्योंकि यह व्यक्तियों को शिक्षा के लिए यथेष्ट समय प्रदान करेगी और उन जातियों/वर्गो के मत को मानसिक समायोजन द्वारा परिवर्तन के लिए तैयार करेगी जो अपने युगों पुराने रीति-रिवाजों में परिवर्तन नहीं चाहते है।

(3) ऐसे लोग हैं जो जाति को बुराई मानते है और इसका उन्मूलन चाहते हैं।

ए.जे.टॉयनबी, टी.एच.मार्शल, पीकोदान्दा राव, आदि जैसे विद्वानों ने इन तीनों विचारधाराओं का मूल्यांकन किया हैं। गाँधी जी के विचारों का विवेचन करते हुए वे मानते हैं कि यह अव्यावहारिक है क्योंकि चार व्यवस्थाओं मे से व्यक्तियों को एक व्यवस्था में रखने के लिए वह व्यवसाय आवश्यक है जिसका पालन वे कर रहे हैं।

एक ही परिवार के सदस्य इतने विविध धन्धों में लगे होते हैं कि उन्हें एक व्यवस्था की सदस्यता प्रदान करना असम्मव है। लेकिन यह अस्पृश्य जातियों को कहां से उपलब्ध होना है? जिस व्यवस्था में भी उन्हें सम्मिलित किया जायेगा, वहीं से उनके विरुद्ध स्वर उठेंगे।

यदि दूसरा दृष्टिकोण लिया जाये कि उप-जातियों को मिलाकर बड़ी जाति में सम्मिलित कर जाति का धीरे- धीरे उन्मूलन करदिया जाये तो विद्वानों का कहना है कि ऐसा करना सही समस्या को खो देना है। बम्बई में यह तरीका कई दशकों तक अपनाया गया था लेकिन परिणाम घातक निकले।

जाति प्रथा के भविष्य के लिये किसी प्रकार का निष्कर्ष देना सम्भव नहीं है परन्तु यह निश्चित है कि इस व्यवस्था ने भारतीय समाज को सुदृढ आधार प्रदान किया है।

## 6.11 सारांश

प्रस्तुत इकाई से हम निम्न बिन्दुओं से अवगत हुये -

(1) जाति प्रथा की प्रकृति इसकी विशेषताऐं

(2) भारत में इसका रूप तथा विश्व की अन्य संस्थाओं से एक अलग अद्वितीय स्थान।

(3) जाति प्रथा की उत्पत्ति के सम्बन्ध में विभिन्न समाजशास्त्रियों के सिद्धान्त एवं उनका मूल्यांकन

(4) जाति प्रथा के प्रकार्य एवं दुष्कार्यो का भारतीय समाज पर प्रभाव।

(5) जाति प्रथा की संरचना को परिवर्तित करने वाले कारक एवं परिवर्तनीय स्वरूप

(6) भारत में जाति प्रथा का भविष्य में क्या रूप होगा।

## 6.12 अभ्यासार्थ प्रश्न

(1) जाति प्रथा को परिभाषित करिये। इसकी प्रमुख विशेषताओं की विस्तार से व्याख्या कीजिये।

(2) जाति प्रथा की उत्पत्ति के विभिन्न सिद्धान्तों को मूल्यांकन कीजिये।

(3) "जाति प्रथा में भारतीय समाज को स्थायीत्व प्रदान किया है" मूल्यांकन कीजिये।

(4) जाति प्रथा केवल भारतीय समाज की अद्वितीय संस्था है व्याख्या कीजिये।

(5) जाति प्रथा, आधुनिक युग में भी प्रकार्यात्मक है भारत में इसके भविष्य की व्याख्या कीजिये।

## 6.13 संदर्भ ग्रंथ


1. बैली एफ.जी. - कास्ट एण्ड इकनोमिक फ्रंटीयर, मेनीचेस्टर यूनीवर्सीटी मेनीचेस्टर 1957.
2. बेली एफ.जी. - ट्राईब, कास्ट, नेशन, मेनचेस्टर यूनीवर्सीटी मेनीचेस्टर 1960
3. बेतई आन्द्रे - कास्ट ओल्ड एंड न्यू एसेज इन सोशल स्ट्रेटीफिकेशन, एशिया पबलिशिंग हाऊस देहली 1969
4. बुगल-सी. - द ऐसेन्स एण्ड द रियल्टी ऑफ द कास्ट सिस्टम, इन कॉनट्रीब्यूशन टू इंडियन सोशोलिजी बाल्यूम न0 2
5. गुप्ता, दिपांकर - सोशल स्ट्रेटीफिकेशन, ऑक्सफोर्ड यूनीवर्सीटी प्रेस मुबई, 1992
6. ड्यूमों, लुई - फॉर सोशोलिजी ऑफ इंडिया, इन कॉन्ट्रीब्यूशन टू इंडियन सोशोयोलिजी न0 1, द हेग।
7. डुमोईस जे.ऐवे. - ए.डिसक्रीपशन ऑफ द पीपल ऑफ इंडिया, 1917
8. दत, एन के. - ऑरीजिन एड ग्रॉथ ऑफ कास्ट इन इंडिया 1917
9. घुरिये जी, एस., - कास्ट एड रेस इन इंडिया, पोपूलर प्रकाशन बॉम्बे 1969
10. घुरिये, जी. एस कास्ट, क्लास एंड ऑक्यूपेशन, पोपूलर प्रकाशन, बम्बई
11. गुल्ड, हेराल्ड :द हिन्दु कास्ट सिस्टम, चाण्क्य पब्लीकेशन दिल्ली 1987
12. हट्टन, जे.एच: कास्ट इन इंडिया इटस नेचर, फंकशन एड ऑरीजिन ऑक्सफॉर्ड यूनीवर्सीटी प्रेस, बम्बई 1961
13. केतकर, एस. बी. : हिस्ट्री ऑफ कास्ट इन इंडिया, इथाका, न्यूयार्क 1909

14. मजूमदार, डी. एन., रेसेज एंड कल्वर ऑफ इंडिया, एशिया पबिलिशिग हाऊस, बॉम्बे 1952
15. नगेन्द्र, एस. पी :"ट्रेडीशनल थ्योरी ऑफ कास्ट" इन, दुर्बडस द सोशोलिजी ऑफ कल्वर; प्रिंटाइस हॉल, बम्बई 1968
16. रिजले, एच.एच :द पिपुल ऑफ इंडिया, डब्ल्यू आक्कर एंड कठ लंदन 1915
17. सिंह योगेन्द्र : कास्ट एंड क्लास सम आस्पेक्टस ऑफ कटीन्यूटी एंड चेंज, सॉशोलोजिकल बुलेटिन, बम्बई वॉन्यूम 27,1968
18. श्रीनिवास, एम. एन, - कास्ट इन मार्डन इंडिया एंड अदर ऐसेज, मिडिया पब्लिशर्स बम्बई, 1962

# इकाई - 7

# वर्ग : अवधारणा, संरचना एवं परिवर्तन

**इकाई की रूपरेखा**

7.0 उद्देश्य
7.1 प्रस्तावना
7.2 सामाजिक वर्ग की अवधारणा और अर्थ
7.3 सामाजिक वर्ग की विशेषताऐं
7.4 वर्ग निर्धारण के आधार
7.5 जाति और वर्ग में अन्तर
7.6 भारत में सामाजिक वर्गो की संरचना एवं परिवर्तन
7.7 भारत में स्तरीकरण के उभरते प्रतिमान : जाति एवं वर्ग के संदर्भ में
7.8 सारांश
7.9 शब्दावली
7.10 अभ्यासार्थ प्रश्न
7.11 संदर्भ ग्रंथ

## 7.0 उद्देश्य

इस इकाई अध्ययन के पश्चात आप समझ सकेंगे कि -

- वर्ग क्या है?
- वर्ग की अवधारणा एवं इसकी विशेषताओं की जानकारी ज्ञात कर सकते हैं।
- वर्ग निर्धारण के आधार कौन-कौन है तथा जाति एवं वर्ग में क्या अतंर है। इसको ज्ञात कर सकेगे।
- भारत में सामाजिक वर्गो की संरचना क्या है? इसकी व्याख्या कर सकते है।
- भारत में स्तरीकरण के उभरते नए प्रतिमान के संदर्भ में जानकारी प्राप्त कर सकेगे।

## 7.1 प्रस्तावना

मानव समाज में कभी भी सभी व्यक्तियों की स्थिति अथवा पद एक समान नहीं रहे है; इनमें किसी-न-किसी आधार पर सदैव असमानता पाई जाती रही है। प्रारम्भिक समाजों में आयु, लिंग, वंश, परम्परा, व्यक्तिगत शक्ति के आधार पर ऊँच-निम्न का भेद सदा ही बना रहा हैं। विकसित समाज मे तो बढ़ती हुई जटिलता के साथ समाज विभिन्न आधारों पर ऊँच-नीच के विभिन्न स्तरों में विभाजित होता चला गया और ऊँच-निम्न की भावना और बढ़ती चली गई। सच तो यह है कि अति प्राचीन काल में अपने देश भारत मे सामाजिक संस्तरण वर्ण पर आधारित था। इन्हीं वर्णो से धीरे-धीरे जाति-व्यवस्था का विकास हुआ जो कर्म के स्थान पर जन्म पर आधारित हैं। एक लम्बे समय तक, और अब भी जाति-व्यवस्था हमारे सामाजिक

संस्तरण का किसी-न-किसी रूप में प्रतिनिधित्व करती है। वर्ग के आधार पर अपने देश भारत में सामाजिक स्तरीकरण की प्रक्रिया अभी अपेक्षाकृत नवीन हैं। आज भारतीय समाज में पश्चिमी देशों के समान ही वर्ग व्यवस्था पनप रही है। आज भारतवासी किसी-न-किसी वर्ग, जैसे डॉक्टर वर्ग, इंजीनियर वर्ग, लेखक वर्ग, अध्यापक वर्ग, साहूकार वर्ग आदि का सक्रिय सदस्य है।

## 7.2 सामाजिक वर्ग: अवधारणा एवं अर्थ

जब जन्म के अतिरिक्त समाज किसी भी आधार पर विभिन्न समूहों में बँट जाता है तो इस प्रकार के समूहों को सामाजिक वर्ग कहा जाता है। इस प्रकार का विभाजन प्रत्येक समाज में पाया जाता है। कुछ भी हो, विभिन्न विचारकों की परिभाषा से वर्ग की अवधारणा पर्याप्त स्पष्ट हो जायेगी।

मैकाइवर एवं पेज के अनुसार "सामाजिक वर्ग एक समुदाय का कोई भाग है जो सामाजिक स्थिति के आधार पर शेष भाग से अलग दृष्टिगोचर होता है।"

आगवर्न और निमकाफ के अनुसार "एक सामाजिक वर्ग उन व्यक्तियों का योग है जिनकी कि आवश्यक रूप से एक समाज विशेष में एक सी सामाजिक स्थिति हो।"

जिसबर्ट के अनुसार "एक सामाजिक वर्ग सामाजिक व्यक्तियों का समूह अथवा एक विशेष श्रेणी है जिसकी समाज में एक विशेष स्थिति होती है। यह विशेष स्थिति ही अन्य समूहों से उनके सम्बन्धों को निर्धारित करती हैं।"

उपरोक्त परिभाषाओं से यह स्पष्ट है कि प्रत्येक सामाजिक वर्ग को सम्पूर्ण समुदाय में एक निशचित सामाजिक पद या स्थिति प्राप्त होती है जिसके आधार पर एक वर्ग को दूसरे वर्ग से अलग किया जा सकता है। परन्तु इस सम्बन्ध में यह स्मरणीय है कि सामाजिक चैतन्यता के बिना सामाजिक वर्ग का निर्माण सम्भव नहीं है। जब समुदाय के किसी एक भाग के सदस्य सामाजिक विभेदों के सम्बन्ध में जागरूक या चेतन हो जाते हैं और उसी चेतना के आधार पर अपने को दूसरों से पृथक समझने लगते है, तभी वर्ग का जन्म होता हैं।

## 7.3 सामाजिक वर्ग की विशेषताएँ

(1) निश्चित संस्तरण - वर्ग व्यवस्था में व्यक्ति कुछ श्रेणियों में विभाजित होते है। यद्यपि वर्गो की संख्या के बारे में विद्वानों में सहमति नहीं हैं फिर भी यह निश्चित है कि कुछ वर्गो का स्थान ऊँचा और कुछ का नीचा होता हैं।

(2) वर्ग की सर्वव्यापकता - वर्ग मानव समाज की एक सर्वव्यापी प्रघटना है। मार्क्स के अनुसार वर्ग व्यवस्था प्रचीन काल से लेकर आधुनिक काल में भी किसी-न-किसी रूप में विद्यमान रही है। यद्यपि इन्होंने वर्गविहीन समाज की कल्पना की थी, परन्तु अधिकांश विद्वान वर्गविहीन समाज को केवल एक दिवास्वप्न मानते हैं क्योंकि मानव जीवन के इतिहास में इसकी उपलब्धि सम्भव नहीं हैं।

(3) वर्ग चेतना - वर्ग चेतना के कारण वर्ग विशेष के सदस्यों में समानता की भावना प्रोत्साहित होती है व उस वर्ग को स्थायित्व प्राप्त होता है। कार्ल मार्क्स ने वर्ग चेतना

को वर्ग के निर्माण की एक अनिवार्य विशेषता माना है क्योंकि केवल समान आर्थिक स्थिति ही वर्ग के निर्धारण में पर्याप्त नहीं।

(4) अर्जित सदस्यता - वर्ग की सदस्यता जन्म द्वारा नहीं वरन् योग्यता और कुशलता द्वारा अर्जित होती है। व्यक्ति, जो निम्न वर्ग का सदस्य है, प्रयत्न करने से उच्च वर्ग का सदस्य बन सकता है। ठीक उसी प्रकार, एक उच्च वर्ग का सदस्य अपनी अयोग्यता के कारण निम्न वर्ग का सदस्य बन सकता हैं।

(5) ऊँच-नीच की भावना - एक वर्ग के व्यक्ति अपने वर्ग को दूसरे वर्ग के व्यक्तियों से श्रेष्ठ अथवा हीन समझते हैं। उदहारण के लिए, पूँजीपति वर्ग को ही ले लीजिए - यह वर्ग अपने को दूसरे से उच्च अथवा श्रेष्ठ समझता हैं।

(6) परस्पर निर्भरता - समाज में सभी वर्ग आपस में सम्बन्धित होते हैं और एक-दूसरे पर निर्भर करते हैं। ये पूर्णतया स्वतन्त्र नहीं होते; वरन् सामाजिक व्यवस्था को चलाने के लिए विभिन्न वर्ग आपस में सहयोग करते है।

(7) समूहों का उतार-चढ़ाव - समाज में वर्गो की एक श्रेणी होती है जिसमें कुछ वर्ग ऊपर एवं कुछ वर्ग मध्यम एवं कुछ निम्न स्तर पर होते हैं। उच्चवर्ग के लोगों की सामाजिक प्रतिष्ठा एवं शक्ति अन्य वर्गो की तुलना में सर्वाधिक होती है और उसके सदस्यों की संख्या भी बहुत कम होती हैं। निम्न वर्ग के सदस्यों की संख्या अधिक होती है, इनकी सामाजिक प्रतिष्ठा एवं शक्ति भी कम होती है तथा आर्थिक स्थिति कमजोर होने के कारण वे कई सुविधाओं से वंचित रह जाते हैं। इस प्रकार से वर्ग संरचना एक पिरामिड की भाँति होती है जिसके धरातल पर अधिक लोग होने से उसका हिस्सा बड़ा होता है और शिखर पर कम लोग होने से बहुत छोटा होता है।

(8) समान प्रस्थिति - एक वर्ग के लोगों की सामाजिक प्रस्थिति एक समान होती है। प्रस्थिति निर्धारण के कई आधार हैं। सम्पति का आधार मानें तो उन लोगों की सामाजिक प्रस्थिति ऊँची होगी जिनके पास अधिक सम्पति हैं। इस प्रकार शिक्षा को आधार मानें तो शिक्षितों एवं अशिक्षितों की सामाजिक प्रतिष्ठा एवं प्रस्थिति भिन्न-भिन्न होगी। फिर भी कोई एक ही आधार सामाजिक प्रस्थिति का निर्धारण नहीं करता है, उसमें अन्य तत्व जैसे - व्यवसाय, जाति की सदस्यता, व्यवसाय की प्रतिष्ठा आदि भी महत्वपूर्ण हैं।

(9) सीमित सामाजिक सम्बन्ध - एक वर्ग के लोगों के सामाजिक सम्बन्ध प्राय: अपने वर्ग के लोगों तक ही सीमित होते हैं और अन्य वर्गो से एक निशचित सामाजिक दूरी बनाये रखते हैं। वे अपने वर्ग के मित्र, दोस्त, जीवन साथी आदि का चुनाव करते हैं। आर्थिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक समानता के कारण एक वर्ग के लोगों के सम्बन्ध अपने ही वर्ग में अधिक पाये जाते हैं।

(10) मुक्त द्वार - वर्ग व्यवस्था जाति की तरह कठोर एवं बन्द न होकर एक मुक्त व्यवस्था हैं। इसका अर्थ यह है कि एक व्यक्ति एक वर्ग से दूसरे वर्ग में आ जा सकता है। एक व्यक्ति अपने गुण एवं मेधा के आकार पर धनी बन सकता है और

दूसरी और सम्पन्न व्यक्ति दिवाला निकलने पर गरीब हो सकता है। यह आवश्यक नहीं है कि एक व्यक्ति जीवनपर्यन्त उसी वर्ग का बना रहेगा जिस वर्ग में उसने जन्म लिया हैं।

(11) जन्म का महत्व नहीं - वर्ग-व्यवस्था का कोई भी सम्बन्ध जन्म से नहीं होता है। एक व्यक्ति किस वर्ग का सदस्य होगा यह इस बात पर निर्भर करता है कि उसका जन्म किस परिवार में हुआ है। वर्ग की सदस्यता तो व्यक्ति की कुशलता, योग्यता, शिक्षा, धन आदि के आधार पर होती हैं।

(12) कम-स्थिर - वर्ग व्यवस्था एक अस्थिर धारणा है क्योंकि इसके आधार पर भी अस्थिर ही होते हैं। धर्म, शिक्षा, धन, व्यवसाय आदि सभी जो वर्ग के आधार हैं स्थिर नहीं होते हैं। आज जो धनवान है वे कल कंगाल हो सकते है, आज जो अशिक्षित है, कल विद्वान हो सकते हैं।

(13) उपवर्ग - प्रत्येक वर्ग में एक उपवर्ग होते हैं- उदहारणार्थ, अध्यापक वर्ग को ले लीजिये। इसमें विश्वविद्यालय के अध्यापक, डिग्री कॉलेज के अध्यापक, सैकेंडरी स्कूल अध्यापक, माध्यमिक स्कूलों के अध्यापक और जूनियर हाई स्कूल के अध्यापक आते हैं। ये सभी शिक्षक वर्ग के ही अनेक उपवर्ग हैं।

(14) जीवन अवसर - प्रत्येक वर्ग में जीवन के कुछ विशिष्ट अवसर समान रूप से प्राप्त होते हैं। मैक्स वेबर ने ठीक ही कहा है, 'हम एक समूह को वर्ग तब कह सकते है जबकि उस समूह के लोगों को जीवन के कुछ विशिष्ट अवसर समान रूप से प्राप्त हो'

(15) अन्य वर्गो की उपस्थिति अनिवार्य हैं - एक वर्ग दूसरे वर्गो के सम्बन्धों से ही जीवित रह सकता है। एक वर्ग वाला समाज वर्गहीन समाज हैं। यदि अन्य वर्ग नहीं होंगे तो किसके प्रति हीनता अथवा श्रेष्ठता का भाव प्रदर्शित किया जाएगा। इसीलिए अन्य वर्गो की उपस्थिति प्रत्येक वर्ग के जीवन के लिए अनिवार्य हैं।

## 7.4 वर्ग निर्धारण के आधार

वर्ग निर्माण के आधार के रूप में एक ओर कार्ल मार्क्स और मैक्स वेबर का विचार है कि केवल आर्थिक अथवा सम्पति का संचय ही वर्ग निर्माण का सबसे बड़ा आधार है जबकि कुछ विद्वानों ने सांस्कृतिक विशेषताओं और सामाजिक स्थिति को वर्ग निर्माण का सबसे प्रमुख आधार माना है। मेकाइवर के अनुसार "यह केवल पद की भावना ही है जो आर्थिक, राजनीतिक अथवा धार्मिक शक्तियों, जीवनयापन के विशेष ढंगों और सांस्कृतिक विशेषताओं द्वारा एक वर्ग को दूसरे वर्ग से पृथक करती है।" वास्तव मे वर्ग निर्माण को केवल किसी एक विशेष आधार पर नहीं समझा जा सकता। वर्ग निर्माण के प्रमुख सात आधारों का उल्लेख राबर्ट बीरस्टीड ने किया है जिन्हें निम्नांकित रूप से समझा जा सकता हैं।

(1) सम्पति, धन और आय - वर्ग निर्धारण के आधारों में सम्पति, धन और आय प्रमुख हैं। अधिक आय के द्वारा ही सम्पति एवं धन का संकलन किया जाता है और धन के सहारे ही सुख सुविधाओं की वस्तुएं खरीदी जाती है, उच्च शिक्षा प्राप्त की जाती है और जीवन-स्तर ऊँचा उठाया जा सकता है। मार्क्स, मार्टिण्डेल एवं मोनाचैसी की मान्यता है

कि उत्पादन के साधनों एवं उत्पादित वस्तुओं पर व्यक्ति का कितना नियंत्रण है, इसी आधार पर उसकी वर्ग स्थिति को ज्ञात किया जा सकता है। बुर्जुआ वर्ग का उत्पादन के साधनों पर सर्वाधिक नियन्त्रण होता है। व्यक्तिगत सम्पति की वृद्धि और आर्थिक शक्तियों के वितरण में असमानता ने ही विभिन्न वर्ग के निर्माण में योग दिया हैं।

इस सन्दर्भ में एक बात यह भी महत्वपूर्ण है कि केवल सम्पति एवं धन का स्वामित्व ही सब कुछ नहीं है वरन् वर्ग निर्धारण में यह भी देखा जाता है कि सम्पति एवं आय के स्त्रोत क्या हैं। जिस व्यक्ति ने चोरी, मिलावट, तस्करी, कालाबजारी आदि अनैतिक तरीकों से पैसा कमाया है, उसकी वर्ग स्थिति व्यापार एवं उद्योग में ईमानदारी से धन कमाने वाले की तुलना में ऊँची नहीं होती क्योंकि उसके धन का अर्जन का तरीका घृणित माना जाता है। पैतृक सम्पति के स्थान पर स्वयं के द्वारा अर्जित सम्पति को धारण करने वाले की वर्ग स्थिति भी ऊँची मानी जाती है, किन्तु सभी समाजों में मात्र सम्पति एवं धन ही व्यक्ति की वर्ग स्थिति निर्धारित नहीं करते है वरन् संस्कृति, शिक्षा, व्यवसाय की प्रकृति, प्रजाति की सदस्यता, आदि भी इसमें महत्वपूर्ण है।

(2) परिवार एवं नातेदारी सम्बन्ध - अधिकतर समाजों मे व्यक्ति की वर्ग स्थिति का निर्धारण करते समय यह ध्यान रखा जाता है कि वह किस परिवार का सदस्य है और वह जिन व्यक्तियों का सम्बन्धी है, उनकी सामाजिक स्थिति क्या है? यही कारण है कि वर्ग व्यवस्था में एक बार व्यक्ति को जो स्थिति प्राप्त हो जाती है, वह सामान्यता एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को हस्तान्तरित होती रहती है। हमारे जैसे समाज में आज भी व्यक्ति के परिवार की स्थिति उसे एक विशेष वर्ग की सदस्यता देने में बहुत महत्वपूर्ण है। इससे स्पष्ट है कि एक विशेष वर्ग की सदस्या यदि परिवार ओर नातेदारी पर आधारित होती है तब, सामान्यता यह जान लेना चाहिए कि वहाँ की सामाजिक व्यवस्था अर्जित स्थिति की अपेक्षा प्रदत्त स्थिति को अधिक महत्व देती हैं।

(3) आवासीय स्थिति - व्यक्ति की वर्ग स्थिति इस बात पर निर्भर करती है कि उसके आवास के चारों और परिस्थिति सम्बन्धी विशेषतायें कैसी है? सामान्यतय जिन व्यक्तियों का निवास स्थान मुख्य आबादी से बाहर होता है उन्हें अधिक प्रतिष्ठा मिल जाती है। इसका मुख्य कारण लोगों की यह सोच है कि दूर-दराज स्थानों पर वही व्यक्ति रह सकते हैं जिनके पास प्रचुर आर्थिक साधन उपलब्ध है। वारनर का कथन है कि कुछ पुराने परिवार जो मुख्य आबादी के मध्य में रहते है, उन्हें भी उच्चवर्ग की सदस्यता प्राप्त हो जाती है, यदि वे अनेक पीढ़ियों से उसी स्थान पर रहते आये हो।

(4) निवास स्थान की अवधि - एक व्यक्ति की वर्ग स्थिति तय करने में यह बात भी देखी जाती है कि उसका सम्बन्ध किसी ऐसे पुराने परिवार से है या नहीं जो भूतकाल में प्रतिष्ठित रहा है और कहीं वह घुमक्कड़ परिवार का सदस्य तो नहीं है। भारत में एक व्यक्ति के गतिशील न होने का एक कारण यह भी है कि वह अपने पूर्वजों के निवास-स्थान को छोड़ना नहीं चाहता, उसके साथ उसके भावात्मक सम्बन्ध होते है तथा नवीन

स्थान पर जाने में उसकी वर्ग स्थिति खतरे में पड़ जाती है। जो लोग सदा इधर-उधर घूमते हैं, उनकी वर्ग स्थिति भी ऊँची नहीं होती है।

(5) व्यवसाय की प्रकृति - व्यवासाय की प्रकृति भी व्यक्ति की वर्ग स्थिति को निर्धारित करती है। प्राध्यापक, चिकित्सक, प्रशासक, इंजीनियर, राजनीतिज्ञ, कूटनीतिज्ञ, आदि की पारिवारिक एवं आर्थिक स्थिति चाहे कैसी भी हो, फिर भी इन्हें समाज में साधारणत: उच्च वर्ग की सदस्यता प्राप्त होती है। दूसरी और तस्करी, शराब के ठेकेदारों एवं वेश्याओं के पास धन अधिक होने पर भी उनकी सामाजिक वर्ग स्थिति ऊँची नहीं होती। भारत जैसे धर्म-प्रधान देश में पठन-पाठन एवं पूजा करने-कराने वाले पुरोहितों के व्यवसाय को श्रेष्ठ माना गया है जबकि पश्चिमी समाजों में उघोग, व्यापार, शिक्षा एवं विज्ञान से सम्बन्धित लोगों की वर्ग स्थिति ऊँची मानी जाती हैं।

(6) शिक्षा - शिक्षा लगभग सभी समाजों में व्यक्ति की वर्ग स्थिति निर्धारण में एक महत्वपूर्ण कारक रही हैं। शिक्षा, प्रशिक्षण, तकनीकी डिप्लोमा, औद्योगिक ज्ञान, कला एवं विज्ञान में दक्ष होने पर व्यक्ति की सामाजिक प्रतिष्ठा बढ़ जाती है। भारत जैसे देश में विज्ञान के प्रसार के साथ-साथ वैज्ञानिक एवं औद्योगिक शिक्षा प्राप्त व्यक्ति की सामाजिक प्रतिष्ठा भी बढ़ी हैं और उन्हें उच्च वर्ग की सदस्यता प्राप्त होने लगी हैं।

(7) धर्म - सभी समाजों में और विशेषत: परम्परागत समाजों में व्यक्ति की वर्ग की स्थिति के निर्धारण में उसकी धार्मिक स्थिति भी महत्वपूर्ण रही है। धार्मिक कार्मकाण्डों को कराने वाले पुरोहितो को समाज में उच्च प्रतिष्ठा प्राप्त होती है। भारत में प्राचीन समय से ही ऋषि-मुनियों और योगियों को सम्मान एवं आदर की दृष्टि से देखा जाता हैं।

## 7.5 जाति और वर्ग में अन्तर

जाति एवं वर्ग में पाए जाने वाले प्रमुख अन्तर निम्नलिखित है-

अन्तर का बिन्दु वर्ग व्यवस्था जाति व्यवस्था

| अन्तर का बिन्दु | वर्ग व्यवस्था | जाति व्यवस्था |
|---|---|---|
| 1. निर्धारण | वर्ग व्यवस्था में योग्यता, शिक्षा, क्षमता, आर्थिक स्थिति आदि के आधार पर वर्ग का निर्धारण होता है, न कि जन्म के आधार पर | जाति जन्म पर आधारित हैं। एक बार किसी जाति में जन्म लेने के बाद उस जाति की सदस्यता जीवन भर बनी रहती है। |
| 2. जीवन साथी का चुनाव | वर्ग में जीवन साथी के चुनाव पर कोई विशेष प्रतिबन्ध एवं: नियम नहीं होते हैं, पर सामान्यत: एक वर्ग के सदस्य अपने ही वर्ग में विवाह करने की इच्छा रखता है। | प्रत्येक जाति में यह बाध्यता होती है कि उसके सदस्य अपनी जाति में ही विवाह करें। इसलिए जाति को एक अन्तर्विवाही समूह माना जाता है। इस नियम का उल्लंधन करने वालों को पहले जाति से बहिष्कृत कर दिया जाता |

| | | |
|---|---|---|
| | | रहा हैं। |
| 3. सदस्यता | वर्ग की सदस्यता अर्जित होती है अर्थात् इसे है अर्थात् इसे अपनी योग्यताओं व क्षमताओं से प्राप्त किया जा सकता हैं। | जाति की सदस्यता प्रदत्त होती प्राप्त करने के लिए प्रयत्न नहीं करना पड़ता। साथ ही, किसी जाति में सदस्य होने के बाद स्वेच्छा तथा प्रयत्न से दूसरी जाति का सदस्य नही बना जा सकता। यह जन्म से लेकर मृत्यु तक की व्यवस्था मानी जाती हैं। |
| 4. व्यवसाय | वर्ग व्यव्स्था में व्यक्ति अपनी रूचि क्या क्षमता के अनुसार व्यवसाय चुन सकता हैं। | जातिगत व्यवसाय निश्चित होते हैं। इसलिए रम्परागत रूप से किसी भी जाति को अपना व्यवसाय बदलने की अनुमति नहीं थी। |
| 5. सामाजिक दूरी | वर्ग व्यवस्था में खान पान एवं सामाजिक सामाजिक सहवास पर कोई, प्रतिबन्ध नहीं पाए जाते हैं। इसीलिए विभिन्न वर्गो में सामाजिक दूरी अपेक्षाकृत कम'होती हैं। | जाति व्यवस्था में खान पान एवं सहवास पर प्रतिबन्ध पाए जाते हैं। इसीलिए विभिन्न जातियों में सामाजिक दूरी अधिक होती हैं। |
| 6. अस्पृश्यता | वर्ग व्यवस्था में न तो अस्पृश्यता पाई जाती है और न ही विभिन्न वर्गो में उस सीमा तक ऊँच-नीच पाई जाती है जो उच्च एवं अस्पृश्य जातियो में पाई जाती हैं। | जाति व्यवस्था में ऊँचनीच- इस सीमा तक पाई जाती थी कि कुछ अछूत जातियों को उच्च जातियाँ अपने समीप नही आने देती थी। अस्पृश्यता जाति का एक सबसे गम्भीर दुष्परिणाम हैं। |
| 7. स्थिरता | वर्ग व्यवस्था जाति की अपेक्षा कम स्थिर व्यवस्था हैं। | जाति व्यवस्था एक बन्द व्यवस्था होने के कारण अधिक व्यवस्था मानी जाती हैं। |
| 8. | वर्ग व्यवस्था में संस्तरण अधिक स्पष्ट एवं सुनिश्चित नहीं होता हैं। | जाति व्यवस्था में संस्तरण वर्ग की तुलना मे अधिक स्पष्ट एवं सुनिश्चित होता हैं। |

## 7.6 भारत में सामाजिक वर्गो की संरचना

प्राचीन काल से ही भारतीय समाज में सामाजिक संस्तरण वर्ण व्यवस्था पर आधारित था; इन्हीं वर्णो से धीरे-धीरे जाति व्यवस्था का विकास हुआ जो कर्म के स्थान पर जन्म पर हुआ हैं। एक लम्बे समय तक अब भी जाति-व्यवस्था हमारे सामाजिक संस्तरण का किसी न

किसी रूप में प्रतिनिधित्व करती है। वर्ग के आधार पर भारत में सामाजिक स्तरीकरण की प्रक्रिया अभी अपेक्षाकृत नवीन है। आज भारत पश्चिमी देशों के समान ही वर्ग-व्यवस्था पनप रही है। वर्ग-व्यवस्था के पनपने का कारण हमारे समाज की बदलती हुई परिस्थितियाँ हैं। इन परिस्थितियों में पश्चिमी सम्पर्क औद्योगीकरण, नागरीकरण, नवीन अर्थव्यवस्था, देश की राजनीतिक स्थिति आदि कारकों का योगदान हैं। भारतीय समाज मुख्य तौर पर गांवों और नगरों मे बटा हुआ है, इसलिए यह स्वभाविक है कि गांवों की संरचना व स्वरूप शहरों के वर्गो की संरचना व स्वरूप से भिन्न होगा।

**भारतीय गांवों में सामाजिक वर्ग -**

1. मालिक तथा साहूकार वर्ग - ग्रामीण जीवन में सर्वोच्च वर्ग उन लोगों का है जो मालिक, जमींदार तथा साहूकार वर्ग के नाम से जाने जाते हैं। गाँव मे इन लोगों की स्थिति सर्वोच्च होती है। इन लोगो के पास गाँव की अधिकांश भूमि होती है; ये लोग पुराने जमींदार है और इनमें अधिकतर उच्च जातियों के लोग जैसे ब्राहम्ण, ठाकुर, वैश्य आदि हो सकते हैं। अनेक पिछड़ी जातियाँ, जैसे यादव, भूमिहार, जाट आदि भी अनेक ग्रामीण क्षेत्रों में मालिक तथा साहूकार वर्ग का प्रतिनिधित्व करती हैं। इस वर्ग के लोगों का जीवन स्तर ऊँचा होता है। ये लोग आर्थिक, राजनीतिक व सामाजिक दृष्टि से अधिक सम्पन्न व शिक्षित हैं। ये लोग अपनी भूमि पर खेती मजदूरों से कराते हैं; साहूकारी का काम करते है; अन्य उद्योग व व्यवसायों में भी लगे रहते हैं और इनकी पहुँच राजनीतिक नेताओं तक होती है। वास्तव में यह गाँव का सबसे प्रभावशाली वर्ग होता हैं।
2. कृषक वर्ग - गाँव में दूसरा वर्ग उन किसानों का है जिनके पास भूमि के छोटे-छोटे टुकड़े हैं। ये लोग अपनी भूमि पर स्वयं खेती करते हैं और कभी-कभी भूस्वामियों से किराए पर भूमि लेकर कृषि करते हैं। इनका जीवन स्तर मालिक व साहूकार वर्ग की अपेक्षा कहीं नीचा होता है, लेकिन भूमिहीन वर्ग से कुछ ऊँचा होता हैं।
3. मजदूर अथवा भूमिहीन श्रमिक वर्ग - इस वर्ग का स्थान गांव में सबसे नीचा है। ये लोग दूसरों के खेतों पर मजदूरी करके अपना जीवन-निर्वाह करते हैं। एक और इस वर्ग की संख्या गांव में सर्वाधिक है तो दूसरी और इनकी आय सबसे कम हैं। किन्तु यह वर्ग संरचना भी वर्तमान में जमींदारी उन्मूलन, भूमि सुधार कानूनों, सामुदायिक विकास योजना एवं पंचायती राज व्यवस्था के प्रभावों के कारण परिवर्तन के दौर में है और परम्परात्मक स्वरूप के स्थान पर अब नवीन स्वरूप प्रकट हो रहे है।

**भारतीय नगरीय वर्ग संरचना-**

शहरों में भी औद्योगीकरण एवं नवीन प्रशासन व्यवस्था ने तीन वर्गो - उच्च, मध्यम एवं निम्न - को जन्म दिया है।

1. उच्च वर्ग - वर्ग व्यवस्था में इस वर्ग का स्थान सर्वोपरि है, इसकी सदस्य संख्या बहुत कम है. किन्तु यह वर्ग अत्यधिक सम्पन्न होने से विलासिता की वस्तुओं का उपयोग करता है। ये लोग बड़ी-बड़ी फर्मो, उद्योगों व कारखानों के मालिक हैं। इनमें औपचारिकता, शिष्टाचार एवं विनम्रता पायी जाती हैं। ये लोग दिखावा अधिक करते एवं फिजूलखर्ची करते रहते है।

आर्थिक एवं राजनीतिक दृष्टि से यह वर्ग बहुत शक्तिशाली है और देश की आय का एक बड़ा भाग इन्ही के पास हैं। वैज्ञानिक आविष्कारों का सर्वाधिक लाभ इन्होंने ही उठाया हैं।

2. मध्यम वर्ग - इस वर्ग के अन्तर्गत डॉक्टर, इंजीनियर, अध्यापक, व्यापारी आदि आते हैं। इस वर्ग के लोगों का उच्च वर्ग के लोगों से सम्पर्क बना रहता हैं। इस वर्ग के लोग पढ़-लिखकर अपनी योग्यता के बल पर सरकारी अथवा निजी क्षेत्र में कार्य करते हैं। यह वर्ग उच्च वर्ग के लिए संचालन वर्ग का कार्य करता है। ये लोग परम्परा व रूढ़ियों का सम्मान करते हैं तथा अपनी सुविधानुसार सामाजिक, धार्मिक तथा नैतिक नियमों का पालन करते हैं। अपनी आर्थिक आवश्यकताओं को पूरा करने के बाद यह वर्ग अपने भविष्य को समृद्ध बनाने के लिए बचत करता हैं।
3. मजदूर वर्ग - यह वर्ग शारीरिक श्रम के आधार पर कार्य करता है। इस वर्ग के अन्तर्गत कारखानो, उद्योगों, मशीनों पर काम करने वाले लोग आते हैं। यह सीमित आय पर निर्भर करने वाला वर्ग होता है और अपनी आवश्यकताओं को कठिनता से पूरा कर पाता हैं। ये लोग अशिक्षित अथवा कम शिक्षित होते हैं तथा रूढ़ियों व धार्मिक मान्यताओं का कड़ाई से पालन करते हैं। कार्ल मार्क्स के अनुसार ये साधन विहीन होते हैं और अपने श्रम को रोटी के लिए बेचते हैं।

## 7.7 भारत में स्तरीकरण के उभरते प्रतिमान : जाति एवं वर्ग के संदर्भ में

यहाँ मूल प्रश्न यह उपस्थित होता है कि भारत में स्तरीकरण के उभरते प्रतिमान क्या हैं तथा स्तरीकरण के परम्परागत स्वरूपों में क्या अन्तर दिखलायी पड़ रहें हैं? क्या भारत में सामाजिक स्तरीकरण के आधार बदल रहे हैं? औद्योगीकरण, नगरीकरण, धर्म-निरपेक्षवाद, संस्कृतिकरण तथा अनेक अन्य कारकों के संयुक्त प्रभाव से स्तरीकरण का जो स्वरूप वर्तमान भारत में उभर रहा है, इसके प्रमुख लक्षणों पर यहां विचार किया जा रहा हैं।

1. आज स्तरीकरण के पुराने आधार बदल रहे हैं। औद्योगीकरण के कारण विभिन्न जातियों के व्यक्ति एक साथ उद्योगों में काम करते हैं। नगरीकरण के अन्तर्गत ग्रामों से लोग काम की तलाश में नगरों में जाकर बस गए हैं जहाँ जाति व्यवस्था का कुछ भिन्न रूप देखने को मिलता हैं। जाति का प्रमुख आधार धर्म रहा है और धर्म-निरपेक्षवाद के कारण यह आधार कुछ कमजोर पड़ा हैं। परिणाम यह हुआ है कि वर्तमान में जाति की कोई स्पष्ट स्थिति दिखलायी नहीं पड़ती।
2. वर्तमान भारत में विभिन्न जातियों के बीच सामाजिक दूरी भी पहले की तुलना में कुछ कम हुई। आज विभिन्न जातियों में प्रभुता-अधीनता के सम्बन्ध नहीं पाए जाते। अब कोई किसी जाति को अपने से उच्च मानने को तैयार नहीं हैं। निम्न जातियाँ भी उच्च जातियों से समानता का दावा करती हैं और कानून की दृष्टि में सभी समान है भी। वयस्क मताधिकार में निम्न जातियों में अपने अधिकारों के प्रति जागरूकता उत्पन्न की है। उच्च जातियों के लोग भी चुनाव के अवसरों पर वोट मांगने या समर्थन प्राप्त करने निम्न जातियों के लोगों

के पास जाते हैं। इतना अवश्य कहा जा सकता है कि ग्रामीण क्षेत्रों में आज भी परम्परागत मूल्यों के कारण स्तरीकरण का प्रमुख आधार जाति-व्यवस्था ही है।

3. शहरो और महानगरों में यद्यपि व्यक्ति की जाति का निर्धारण आज भी जन्म के आधार पर होता है, परन्तु वहाँ जातिगत संस्तरण का महत्व कम हुआ हैं। अब जाति के भीतर आर्थिक शक्ति एवं राजनीतिक सत्ता के आधार पर विभिन्न स्तर दिखलायी पड़ते हैं। आज समान आर्थिक स्थिति वाले विभिन्न जातियों के लोगों का अपना पृथक स्तर बनता जा रहा हैं।
4. नगरों मे अब वर्ग-व्यवस्था उदित होने लगी हैं। यहां व्यक्ति की प्रस्थिति का निर्धारण प्रमुखत: उसके व्यवसाय या पद के आधार पर होने लगा हैं। यहां व्यावसायिक या प्रकार्यात्मक समूह भी बनने लगे हैं जिनकी सदस्यता का आधार जाति न होकर कार्य हैं। इन समूहों में विभिन्न जातियों के लोग कार्यो के आधार पर एक-दूसरे से सम्बद्ध रहते हैं। नगरों में गतिशीलता अधिक पायी जाती है। यहां निम्न जाति का कोई व्यक्ति किसी उच्च पद पर आसीन होकर राजनीतिक सत्ता प्राप्त करके या अपनी आर्थिक स्थिति को उन्नत करके किसी उच्च वर्ग की सदस्यता प्राप्त कर सकता है। यह कहा जा सकता है कि वर्तमान भारत में जाति-व्यवस्था के साथ-साथ वर्ग व्यवस्था के लक्षण भी स्पष्टत: दिखलायी पड़ने लगे हैं। आज कई स्थानों पर ऐसे उदहारण भी देखने को मिलते हैं जहाँ व्यक्ति की जातिगत प्रस्थिति तो निम्न है, परन्तु व्यावसायिक प्रस्थिति काफी उच्च है। हरिजन लड़का पारिवारिक दृष्टि से निम्न प्रस्थिति का होते हुए भी व्याख्याता या प्रशासनिक अधिकारी बनने पर व्यावसायिक दृष्टि से उच्च प्रस्थिति को प्राप्त कर लेता हैं। ऐसी दशा में यह कठिनाई उपस्थिति होती है कि इस प्रकार के व्यक्तियों को स्तरीकरण श्रृंखला में कौन सा स्थान दिया जाए या कहां रखा जाए। इतना कहा जा सकता है कि आज समाज में उन व्यक्तियों का सामाजिक स्तर उच्च होता जा रहा है जिनके पास कोई अच्छा पद या आर्थिक शक्ति है अथवा जिनका राजनीति पर व्यापक प्रभाव है, चाहे उनकी जाति कुछ भी क्यों न हो।

इन परिवर्तन के बावजूद भी कुछ लोगों की यह धारणा कि भारतीय समाज 'वर्ग रहित समाज' की और बढ़ रहा है, सही प्रतीत नहीं होती। इसके मूल में कुछ समाजशास्त्रीय कारण हैं। विभिन्न व्यक्तियों की बुद्धि, योग्यता, प्रशिक्षण तथा उपलब्धियों में निश्चित रूप से अन्तर पाया जाता है। साथ ही महत्वपूर्ण पदों पर योग्यतम व्यक्तियों को आसीन करने और उन्हें निष्ठापूर्वक अपने दायित्व को निभाने की प्रेरणा देने हेतु पुरूस्कारों को असमान रूप से वितरित करना आवश्यक हैं। ऐसी स्थिति में विभिन्न सामाजिक स्तरों का पाया जाना स्वाभाविक हैं। इतना अवश्य कहा जा सकता है कि आज लोग यह महसूस करने लगे है कि आर्थिक साधनों के क्षेत्र में सभी को समान अवसर प्राप्त और जीवन की न्यूनतम आवश्यकताएं सभी की पूर्ण होनी चाहिए। आज समय की मांग है कि सभी को अपने श्रम का उचित पुरस्कार प्राप्त हो, आवश्यक वस्तुएं और सेवाओं का न्यायोचित ढंग से वितरण हो तथा गरीब एवं अमीर का भेद कम हो। वर्तमान भारत इस दिशा में कुछ आगे बढ़ने लगा हैं, परन्तु हमें यह नहीं भूल जाना चाहिए कि

भारतीय समाज में जन्म या जाति का महत्व पूर्णत: समाप्त नहीं हो रहा हैं। औद्योगिकरण, नगरीकरण एवं आधुनिकीकरण के प्रभाव से जाति-व्यवस्था के स्वरूप में परिवर्तन अवश्य आ रहा है, परन्तु यह संस्था नष्ट हो रही हो ऐसा विभिन्न अध्ययनों से प्रतीत नहीं होता।

## 7.8 सारांश

इस इकाई में आपकों यह ज्ञात हुआ कि वर्ग क्या हैं तथा वर्ग की विशेषताओं के साथ-साथ ग्रामीण एवं शहरी क्षेत्रों में वर्ग निर्धारण के कौन-कौन से प्रमुख आधार हैं। इसी के साथ-साथ हमें यह भी पता चलता है कि वर्तमान परिप्रेक्ष्य में सामाजिक स्तरीकरण के उभरते प्रतिमान के रूप में जाति व्यवस्था की स्थिति गौण हो रही हैं एवं वर्ग व्यवस्था समाज में प्रमुख रूप से उदित होने लगी हैं। एवं अब व्यक्ति की प्रस्थिति का निर्धारण उसके व्यवसाय एवं पद के आधार पर होने लगा हैं। किन्तु इन सभी परिवतनों के बाद भी हम यह नही कह सकते हैं कि आने वाले समाज में जाति व्यवस्था बिल्कुल खत्म या समाप्त हो जाएगी।

## 7.9 शब्दावली

1. सामाजिक वर्ग - सामाजिक वर्ग जन्म के अतिरिक्त किसी भी आधार पर बना हुआ व्यक्तियों का ऐसा समूह है जो सामाजिक स्थिति में अन्य समूहों से भिन्न हैं।
2. औद्योगीकरण - एक प्रक्रिया जिसमें वस्तुओं का उत्पादन हस्त उपकरणों के स्थान पर निर्जीव शक्ति द्वारा संचालित मशीनों के आधार पर- किया जाता हैं। शक्ति संचालित मशीनों का प्रयोग न केवल कारखानों, अपितु यातायात. संचार, परिवहन तथा खेती में किया जाता हैं।
3. नगरीकरण - नगरवाद के लक्षणों (विचारों एवं व्यवहार के रूप) के विकास एवं प्रसार की प्रक्रिया नगरीकरण कहलाती हैं। कुछ विद्वानों ने ग्रामीण जनसंख्या के नगर की और निष्क्रमण की प्रक्रिया को नगरीकरण का नाम दिया है।
4. सामाजिक स्तरीकरण - किसी सामाजिक व्यवस्था में प्रतिष्ठा, प्रभाव, शक्ति, सम्पति तथा सुविधाओं आदि की भिन्नत के आधार पर प्रस्थितियो एवं भूमिकाओं की एक अपेक्षाकृत स्थाई श्रेणीबद्धता को सामाजिक स्तरीकरण कहते हैं।
5. सामाजिक संरचना - सामाजिक संरचना विभिन्न भागों की क्रमबद्धता को व्यक्त करती हैं जो स्थानान्तरित होने योग्य समझी जा सकती हैं और अपेक्षाकृत रूप से अधिक स्थायी होती हैं जबकि इसका निर्माण करने वाले भाग स्वयं परिवर्तनशील होते हैं।

## 7.10 अभ्यासार्थ प्रश्न

1. सामाजिक वर्ग क्या हैं। इसकी विशेषताओं की चर्चा कीजिए?

2. वर्ग निर्धारण के प्रमुख आधार कौन-कौन से हैं। तथा जाति एवं वर्ग में अन्तर बतलाइए?
3. भारत में सामजिक वर्गो की संरचना की विवेचना कीजिए?

## 7.11 संदर्भ ग्रंथ


1. सिह, योगेन्द्र, 1966, मार्डनाइजेशन ऑफ इंडियन ट्रेडीशन, रावत पब्लिकेशन, जयपुर।
2. देसाई, ए.आर., 1964 इंडियाज पाथ ऑफ डेवलपमेन्ट, पापुलर प्रकाशन, मुम्बई।
3. दोषी, एस.एल., जैन, पी.सी., 2003 भारतीय समाज: संरचना और परिवर्तन नेशनल पब्लिशिंग हाऊस जयपुर व दिल्ली।
4. शर्मा, के.एल., 1977 सोशल स्ट्रेटीफिकेशन ईन इंडिया, सेज पब्लिकेशन्स, नई दिल्ली।
5. मिश्रा, बी.बी., 1978 दि इंडियन मिडिल क्लासेस : देयर ग्रोथ ईन मार्डन टाईम्स, ओक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, दिल्ली।
6. सिंह, योगेन्द्र 1977, सोशल स्ट्रेटीफिकेशन एण्ड चेन्ज ईन इंडिया, मनोहर, न्यू दिल्ली।

# इकाई: - 8

# सामाजिक स्तरीकरण के उभरते नवीन आयाम

**इकाई की रूपरेखा**


8.0 उद्देश्य

8.1 सामाजिक स्तरीकरण का अर्थ

8.2 सामाजिक स्तरीकरण के आधार

8.3 सामाजिक स्तरीकरण के उभरते नये आयामों की सूची

8.4 सामाजिक स्तरीकरण की परम्परागत पृष्ठभूमि

8.5 भारत की परम्परागत सत्ता संरचना में होने वाले परिवर्तन

8.6 नवीन शैक्षणिक स्तरीकरण

8.7 नवीन व्यावसायिक संरचना

8.8 नवीन आर्थिक संस्तरण

8.9 नवीन सत्ता एवं शक्ति केन्द्र

8.10 आरक्षित श्रेणियाँ

8.11 जाति व्यवस्था में परिवर्तन

8.12 सामाजिक वर्गो का विकास

8.13 सारांश

8.14 शब्दावली

8.15 अभ्यासार्थ प्रश्न

8.16 संदर्भ ग्रंथ


## 8.0 उदेश्य

इस लेख का उद्देश्य उन नये स्वरूपों की विवेचना करना है जो पिछले कुछ समय से सामाजिक संस्तरण के पुरातन स्वरूपों का स्थान ले रहे है। इन उदीयमान नये स्वरूपों में निम्नलिखित स्वरूप तेजी से विकसित हो रहे है एवं पुरातन स्वरूपों का स्थान ले रहे है अर्थात् सामाजिक व्यवस्था में संस्तरण के जिन पुरातन स्वरूपों को सर्वमान्य समझा जाता था वे स्वरूप अब अपना स्थान खो रहे है एवं उनके स्थान पर नये स्वरूप स्थापित हो रहे है।

## 8.1 सामाजिक स्तरीकरण का अर्थ

सामाजिक स्तरीकरण समाजशास्त्र की शब्दावली का जाना पहचाना प्रत्यय है। समाजशास्त्र की विभिन्न पुस्तकों में इसकी चर्चा विभिन्न रूपों में हुई है। सामाजिक संस्तरण से संबंधित साहित्य में हम इसे समाज का श्रेणीगत एवं क्रमबद्ध विभाजन मानते हैं अर्थात् प्रत्येक सामाजिक व्यवस्था में एक श्रेणी सर्वोपरि एवं एक श्रेणी निम्नतम अवस्था में स्थित होती है एवं

अन्य श्रेणियाँ सर्वोपरि एवं निम्न तक श्रेणियों के मध्य स्थित होती है। इस प्रकार की क्रमबद्धता विकसित होने के निश्चित आधार होते हैं। ये आधार इस प्रकार हैं:-

## 8.2 सामाजिक स्तरीकरण के आधार

प्रसिद्ध समाजशास्त्री टॉलकट पार्सन्स ने ऐसे छः आधरों का उल्लेख किया है जिसके कारण समाज में संस्तरण का विकास होता है। ये आधार निम्नलिखित है :-

1. नातेदारी समूह की सदस्यता,
2. व्यक्तिगत उपलब्धियायाँ,
3. अर्जित उपंलब्धियाँ,
4. सम्पत्ति एवं अन्य पजेशंस
5. सत्ता (ओथोरिटी)
6. शक्ति (पॉवर)

उपर्युक्त कारक एवं अन्य कतिपय तत्व किसी समाज को विभिन्न श्रेणियों में विभाजित करते हैं जो क्रमबद्ध रूप में एक दूसरे के ऊपर-नीचे स्थित होती हैं एवं अपेक्षाकृत एक लम्बे समय तक समाज का लम्बवत विभाजन किये रहती हैं। जब यह व्यवस्था समाज की वृहद जनसंख्या में व्याप्त होकर स्वीकृत हो जाती है तो यह संस्तरण का स्वरूप ग्रहण कर लेती है। इस प्रकार समाज में विभिन्न स्तृत स्थापित होकर सामाजिक स्तरीकरण का स्वरूप ग्रहण कर लेते हैं।

सामाजिक स्तरीकरण की यह व्यवस्था विश्वव्यापक है अर्थात् सभी समाज व्यवस्थाओं एवं सभी कालों में किसी न किसी रूप में विद्यमान रहती है। इसके साथ ही हमें यह भी ध्यान रखना होगा कि इस प्रकार की व्यवस्था में सदैव नये स्वरूप जुड़ते रहते हैं एवं पुराने स्वरूप परिवर्तित होते रहते हैं। इस परिवर्तन के पीछे समाज में विद्यमान कारक एवं समाज पर पड़ने वाले बाहरी प्रभाव उत्तरदायी होते हैं। बहुधा समाज का स्वतः विकास भी इन स्वरूपों को परिवर्तित कर देता है। निम्नलिखित तत्व इन नये स्वरूपों को जन्म देते हैं :-

1. नवीन आर्थिक स्तरीकरण - नव धनाढ्य
2. नवीन शैक्षणिक स्तरीकरण - निम्न जातियों की शिक्षा
3. नवीन व्यावसायिक संरचना
4. नवीन सत्ता/शक्ति एवं सत्ता/शक्ति केन्द्र
5. नवीन समतावाद
6. दास प्रथा का अंत
7. परम्परावाद का अंत
8. वर्ग व्यवस्था का उदय
9. मध्यम वर्ग का वर्चस्व
10. प्रजातंत्र का उदय
11. आरक्षित श्रेणियाँ

12. कुशल एवं अकुशल श्रमिक श्रेणियों का विकास
13. समाजवाद
14. कर्मकाण्डीय पृष्ठभूमि में परिवर्तन

## 8.4 सामाजिक स्तरीकरण की परम्परागत पृष्ठभूमि

इसके पूर्व कि हम सामाजिक स्तरीकरण के उभरते स्वरूपों की चर्चा करें हमारे लिये यह अत्यन्त आवश्यक है कि हम सामाजिक स्तरीकरण की उस परम्परागत पृष्ठभूमि को समझें जहाँ से ये परिवर्तन प्रारम्भ हुए। हमारे लिए ब्रिटिश काल से इस चर्चा को प्रारम्भ करना उपयोगी रहेगा।

भारत में ब्रिटिश साम्राज्य की स्थापना के साथ जिन नये तत्वों का भारतीय समाज में समावेश होना प्रारम्भ हुआ उनमें ब्रिटिश राज्य द्वारा स्थापित न्याय एवं कानून व्यवस्था, भूमि का बन्दोबस्त, यातायात एवं संचार प्रणालियाँ, नवीन सैन्य शक्ति का गठन, नवीन शक्ति एवं सत्ता संरचना, नवीन प्रौद्योगिकी, नवीन शिक्षा, नई पुलिस व्यवस्था इत्यादि प्रमुख हैं। ये सभी सामाजिक राजनैतिक तत्व इस समय भी भारत के समाज में मौजूद हैं यद्यपि उनकी प्रकृति में समयानुसार परिवर्तन हुए हैं। ब्रिटिश राज्य के साथ इन नवीन तत्वों के समावेश से परम्परागत भारतीय सामाजिक व्यवस्था में परिवर्तन होने प्रारम्भ हुए।

इसके साथ ही भारतीय पुनर्जागरण, समाज सुधर आंदोलन एवं सामाजिक जीवन में नये मूल्यों के प्रवेश ने परम्परागत भारतीय सामाजिक व्यवस्था के प्रतिमानों को उद्वेलित कर उन्हें परिवर्तित होने के लिए प्रेरित किया। फलस्वरूप सती प्रथा, विध्वा पुनर्विवाह, अस्पृश्यता, स्त्री शिक्षा, बाल विवाह, दहेज प्रथा, इत्यादि के क्षेत्र में नया सोच-विचार प्रारम्भ हुआ एवं नवीन विचार धराओं के प्रादुर्भाव के फ्रफलस्वरूप भारतीय परम्परागत समाज के पुराने मानकों में परिवर्तन की प्रक्रिया प्रारम्भ हुई।

इसके साथ ही ब्रिटिश साम्राज्य के खिलाफ्रफ होने वाली छिटपुट घटनाओं का क्रम भी प्रारम्भ हुआ जो बाद में भारतीय स्वतंत्रता आंदोलन में परिवर्तित हो गया एवं भारत के स्वतंत्रता आंदोलन के माध्यम से स्वतंत्रता, समानता, भ्रातृत्व, स्वदेशी, सुशासन इत्यादि की विचारधारायें भी भारतीय जीवन में प्रविष्ट हुई, जिसने भारत के पुराने जन-मानस को झकझोरा एवं सामाजिक विभेदीकरण की दिशा में नये विचारों को स्थान मिला। नवीन विचारधरायें क्योंकि मूलतः स्तरीकरण विरोधि थी एवं सामाजिक भेदभाव के खिलाफ्रफ थी, इसलिये भारत में स्तरीकरण के प्रतिमानों में परिवर्तन की प्रक्रिया प्रारम्भ हुई एवं सामाजिक स्तरीकरण के नये स्वरूप उभरने लगे। इन उभरते हुए नये स्वरूपों में सबसे पहला स्वरूप था सत्ता एवं शक्ति पक्ष।

## 8.5 भारत की परम्परागत सत्ता संरचना में होने वाले परिवर्तन

भारत में ब्रिटिश साम्राज्य की स्थापना के साथ ही भारत की परम्परागत सत्ता संरचना में परिवर्तन होना प्रारम्भ हुआ। ब्रिटिश सत्ता ने भारत वर्ष को दो भागों मे विभाजित कर दिया। एक ब्रिटिश भारत कहलाया एवं दूसरा ब्रिटिश साम्राज्य द्वारा नियंत्रित राजा महाराजाओं एवं नवाबों का भारत ब्रिटिश राज्य की स्थापना के साथ ही भारत की परम्परागत सत्ता के सभी

मानक ध्वस्त हो गये। ब्रिटिश भारत में सत्ता सोपानों से पहली पायदान पर ब्रिटिश लोग स्थापित हो गये और उन्होनें व्यवस्थित रूप से षड्यंत्र करके राजा महाराजा और नवाबों को हर प्रकार से सत्ता विहीन कर अपने कब्जे में कर लिया एवं उनके स्थान पर अपने प्रतिनिधि स्थापित कर दिये। अत: आधा भारतवर्ष परम्परागत राजनैतिक सत्ता से विहीन हो गया। शेष आधे भारत की वास्तविक सत्ता को ब्रिटिश राज्य ने कहने को स्वतंत्र रखा लेकिन पूर्णतया अपनी निगरानी में ले लिया। भारत के इस भाग में उन्होनें अपनी ऐजेन्सियाँ स्थापित कर दीं एवं उनमें एजेन्ट नियुक्त कर दिये जो राजा महाराजाओं की गतिविधियों पर अंकुश रखते थे यहाँ तक कि आवश्यकता होने पर वे रजवाड़ों की जागीरों में भी हस्तक्षेप करते थे। अत: रियासती भारत में राजा महाराजाओं की सत्ता मात्रा अपने से अधिन जागीरदारों से करों का हिस्सा वसूलने तक सीमित रह गई। रियासती भारत की जनता भी यह समझ गई कि वास्तविक सत्ता अब अंग्रजों के पास ही है। इस प्रकार ब्रिटिश भारत ने हमारे देश के परम्परागत राजनैतिक सोपानों को ध्वस्त कर नये राजनैतिक समीकरण विकसित किये।

## 8.6 नवीन शैक्षणिक स्तरीकरण

अंग्रेजों के भारत में साम्राज्य स्थापित होने के साथ ही उन्हें ऐसे लोगों की आवश्यकता अनुभव हुई जो हिन्दी अंग्रेजी या उर्दू के माध्यम से प्रशासनिक कार्य कर सकें। इससे भारत में वर्तमान शिक्षा प्रणाली की नींव पड़ी। इस नवीन शैक्षणिक प्रणाली ने भारत में बड़े स्तर पर बाबू तैयार किये एवं सीमित मात्रा में अफ्रफसर भी जो अंग्रेजों के निर्देशन पर विभिन्न प्रशासनिक कार्य करते थे। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद यही प्रणाली पूरे भारत में फ्रफैल गई और लाखों की संख्या में लोग सरकारी नौकरियों में जाने लगे। इससे विस्तृत शिक्षा व्यवस्था अर्थात् स्कूल कॉलेजों का तीव्र गति से विकास हुआ साथ ही शैक्षणिक स्तर में वृति के साथ शिक्षा आधारित पदों का स्थान उच्च प्रशासनिक अधिकारियों के समकक्ष आ गया। पहले जहाँ आइ.ए.एस. अधिकारी ही सर्वोच्च अधिकारी माना जाता था। अब इस श्रेणी में मैनेजमेंट एवं उच्च तकनीकी शिक्षा प्राप्त व्यक्ति भी सम्मिलित हो गये हैं। इस बदलाव ने शिक्षा, विशेषकर उच्च शिक्षा प्राप्त व्यक्तियों को समाज में एक सम्मानजनक व्यावसायिक स्थान प्राप्त करने में सहायता की है। अत: उच्च शिक्षित वर्ग एवं इसके माध्यम से विकसित होने वाला नौकरीपेशा मध्यम वर्ग भारत में सामाजिक स्तरीकरण का एक नया आयाम एवं स्वरूप है। इस वर्ग में समाज की निर्णय करने की शक्तियों पर एकाधिकार सा कर लिया है एवं आने वाले समय में न केवल प्रशासनिक स्तर पर वरन् आर्थिक क्षेत्र में भी यह वर्ग एक निर्णायक भूमिका का निर्वाह करेगा ऐसी पूरी संभावनायें दृष्टिगत होती हैं। अत: शिक्षा के विस्तार ने हमारे देश के परिवर्तनशील सामाजिक स्तरीकरण को एक नया आधार प्रदान किया है।

## 8.7 नवीन व्यवसायिक संरचना

स्वतंत्रता के बाद होने वाले शैक्षणिक एवं आर्थिक विकास ने हमारे देश में नयी व्यावसायिक संरचना को जन्म दिया है। भारत की परम्परागत व्यावसायिक संरचना में दो मूलभूत परिवर्तन हुए है :-

1. शैक्षणिक योग्यता आधारित नौकरियों का विकास जिसमें बड़े पैमाने पर इंजीनियर्स, प्रबंधक (मैनेजमेंट आधारित नौकरिया), चार्टर्ड एकाउन्टेन्टस, प्रशासक आई.ए.एस. एवं राज्यों के प्रशासन संबन्धित नौकरियों में आने वाले जैसे राजस्थान में आर.ए.एस.द्ध तथा मध्यम दर्जे के व्यापारी जो विभिन्न जातियों के हैं तथा कुशल एवं अकुशल औद्योगिक श्रमिक।
2. शैक्षणिक योग्यता आधारित नौकरियाँ करने वाले एवं मध्यम दर्जे के व्यापारियों का एक सशक्त मध्यम वर्ग तैयार हो रहा है जो आने वाले समय में जातीय संस्तरण के भीतर अपनी राह बना सकता है एवं जातीय नियमों को पूरी तरह नकार सकता है। इस वर्ग के मध्य बढ़ते हुए अंतर्जातीय विवाह एवं पारस्परिक संबंध इस प्रकार के परिवर्तन का आधार तैयार करने लगे हैं। इसलिये परम्परागत सामाजिक स्तर के समकक्ष स्तरीकरण का एक नया स्वरूप भविष्य में दिखाई देगा इसकी प्रबल संभवनायें हैं दूसरी और जनसंख्यात्मक दृष्टि से निरन्तर बढ़ने वाला औद्योगिक एवं नगरीय श्रमिक वर्ग आर्थिक एवं सांस्कृतिक दृष्टि से एक सामाजिक स्तर के रूप में स्थापित होकर सामाजिक स्तरीकरण में एक नवीन स्वरूप स्थापित कर सकता है।

## 8.8 नवीन आर्थिक संस्तरण

भारत के स्तरीकरण के नये स्वरूपों की चर्चा में अक्सर नव ध्नाढयों की भी चर्चा की जाती है। पिछले 50 वर्षो में हमारे देश में व्यापार, उद्योग, शिक्षा एवं स्वास्थ्य सेवाओं से जुड़े हुए क्षेत्रों में नये धन कुबेरों की वृद्धि में सहायता मिली है। ये लोग अनाप-शनाप पैसा कमाते हैं एवं इसके माध्यम से अपनी जीवन शैली को पूर्णत: परिवर्तित कर पाश्चात्य जीवन शैली को अपना रहे हैं। इस परिवर्तन में न केवल भौतिक सुख-सुविधायें वरन् सामाजिक परिवर्तन भी सम्मिलित हैं।

नव धनाढय जातीय बंधनों से बाहर आकर अपने आपको भारतीय सामाजिक स्तरीकरण की दूसरी सीढ़ी पर स्थापित करने के प्रयास में हैं एवं इसके लिए वे अपने सामाजिक आचरण को परिवर्तित कर पूरी तरह से पाश्चात्य एवं वर्ग आधारित बनाने की होड़ में लगे हुए हैं। सामाजिक स्तरीकरण का यह नया स्वरूप भविष्य में बनने वाली किसी भी संभावित वर्ग संरचना का एक सशक्त स्तर होगा अत: भारत में स्तरीकरण की दृष्टि से आने वाले समाज में चार प्रकार की नवीन संरचनायें महत्वपूर्ण आधार बनेगी। ये संरचनायें हैं -

1. उच्चतम वर्ग,
2. नवधनाढ्य
3. नौकरी पेशा मध्यम वर्ग
4. व्यापार एवं उद्योग आधारित श्रमिक वर्ग

इन संरचनाओं ने भारत के पारम्परिक स्तरीकरण में अपनी पैठ बना ली है एवं पूरी संभावना है कि आने वाले समय में ये संरचनायें अपनी सहयोगी संरचनाओं के साथ मिलकर एक नवीन सामाजिक स्तरीकरण के विकास में योगदान देंगी जो या तो परम्परागत भारतीय

सामाजिक स्तरीकरण को हटा कर उसका स्थान ले लेगा या उसके समानान्तर एक नई संस्तरण व्यवस्था के रूप में खड़ा दृष्टिगत होगा।

## 8.9 नवीन सत्ता एवं शक्ति केन्द्र

उपर्युक्त उल्लेखित कारकों जैसे शैक्षणिक, आर्थिक एवं व्यापारिक विकास तथा आरक्षणनीति के फ्रफलस्वरूप ग्रामीण एवं नगरीय भारत में नये सत्ता एवं शक्ति केन्द्र स्थापित हो रहे हैं। ग्रामीण भारत में सामंतों जागीरदारों बनियों एवं ब्राह्मणों का वर्चस्व समाप्त हो गया है और उनके स्थान पर नये सत्ता एवं शक्ति केन्द्र बन रहे है। सत्ता एवं शक्ति के ये स्वरूप इस प्रकार है :-

1. पंचायतों में चुने हुए पंच, सरपंच
2. विधयक एवं सांसद,
3. बहुसंख्यक जातियों के मुखिया,
4. आरक्षित श्रेणियों के जन-प्रतिनिधि,
5. ठेकेदार,
6. बड़ी जमीनों के भूस्वामी
7. महिलायें,
8. युवक,
9. शिक्षित व्यक्ति इत्यादि।

आरक्षण नीति के कारण शहरों और गांवों में बड़ी संख्या में आरक्षित श्रेणियों की भर्ती हुई है जो अपनी व्यावसायिक एवं सामाजिक स्थिति के बारे में पूरी तरह सचेत एवं जागरूक हैं तथा सत्ता का उपयोग अपनी सामाजिक स्थिति को दृढ़ करने में करते हैं। इस प्रकार आरक्षित श्रेणियों से नियुक्त व्यक्ति भारत की नौकरशाही का एक महत्वपूर्ण हिस्सा बन कर भारत के विकास संबंधि निर्णयों का एक महत्वपूर्ण भाग बन रहे हैं। इसके साथ ही ग्रामीण क्षेत्रों में बुर्जूगों एवं सवर्ण जातियों की अपेक्षा युवक एवं महिलायें नेतृत्व की दौड़ में दिखाई देती हैं। भारत में ठेकेदार, कमीशन ऐजेन्ट, भूस्वामी एवं बड़े बिल्डर्स भी सत्ता की एक लॉबी के रूप में विकसित हो रहे हैं। वोट की राजनीति ने बहुसंख्यक जातियों को महत्वपूर्ण स्थान प्रदान किया है एवं स्थानीय आधार पर बहुसंख्यक जातियाँ शक्ति का केन्द्र बन रही हैं। इन नव विकसित आधरों ने सत्ता शक्ति एवं नेतृत्व के पुराने समीकरणों को बदलना प्रारम्भ कर दिया है। यह बदलाव प्रत्यक्षत: स्तरीकरण में परिवर्तन नहीं करता लेकिन परम्परागत संस्तरण के बिखराव एवं पुनर्सयोजन की राह अवश्य प्रशस्त करता है। हो सकता है भारत के भविष्य के स्तरीकरण में उपर्युक्त तत्व महत्वपूर्ण भूमिका निभावें।

## 8.10 आरक्षित श्रेणियाँ

संवैधनिक प्रावधनों के कारण आरक्षण का आकड़ा 49: तक पहुँच गया है एवं कुछ राज्यों में इसके ऊपर भी आरक्षण किये जाने की प्रक्रिया चल रही है। इन प्रावधनों से आरक्षित श्रेणियों को जो लाभ प्राप्त हो रहे हैं उनसे हमारे समाज में आरक्षण करवाने की होड़ लगी हुई

है। आरक्षण से नौकरियां, नौकरियों से आर्थिक विकास एवं जीवन शैली में परिवर्तन होने के कारण आरक्षित एवं अनारक्षित सामाजिक इकाइयों के मध्य उपस्थित सामाजिक एवं आर्थिक स्तर को पाटने में मदद मिली है। इसके साथ ही आरक्षित श्रेणियों का अपना एक अलग संस्तरण विकसित होता प्रतीत होता है जो जाति व्यवस्था की अनेक छोटी-छोटी इकाइयों से घनीभूत होकर एक श्रेणी के रूप में अवस्थित होता जा रहा है। यह संस्तरित श्रेणियों के एकजुट होने एवं इनके संगठित होने की स्थिति को उत्पन्न करता है। अर्थात् अनेक सामाजिक पक्षों में संस्तरण का व्यापक फ्रफैलाव सिमट कर घनीभूत हो रहा है। यह प्रक्रिया एक नवीन संस्तरण को विकसित करने में समर्थ हो सकती है जिसमें एक श्रेणी के मध्य स्थित जातियों के इकाईगत मतभेद कुछ उद्देश्यों के लिये समाप्त हो जायें एवं अनेक जातियों की अपेक्षा वे एक जातीय समूह के रूप में संस्तरण को विकसित कर लें। यदि ऐसा हुआ तो यह स्तरीकरण का सर्वथा नवीन स्वरूप होगा।

## 8.11 जाति व्यवस्था में परिवर्तन

भारतवर्ष की सामाजिक स्तरीकरण की व्यवस्था को समझने का सबसे पुराना प्रचलित एवं व्यापक आधार जाति व्यवस्था है। यह व्यवस्था मूलत: जन्म, अंतर्विवाह, व्यवसाय, भारतीय समाज के क्रमबद्ध विभाजन के लिये जानी जाती है। किसी भी समुदाय, संगठन या वृहत सामाजिक इकाई की संरचनाओं को समझने के लिए जाति व्यवस्था को ही आधार बनाया जाता है और अनेक समाजशास्त्रीय अनुसंधानों में जाति को सामाजिक स्तरीकरण का पर्यायवाची एवं एकमात्र तत्व माना गया है। वस्तुत: भारत के संदर्भ में सामाजिक स्तरीकरण संबंधी कोई भी चर्चा जाति की चर्चा के बिना अधूरी है। अत: भारत के सामाजिक स्तरीकरण को समझने का जाति एक मूलभूत आधार है। इसके साथ ही हमे यह भी ध्यान में रखना होगा कि भारत में जातीय संस्तरण हजारों वर्ष पुराना है एवं विद्वानों के अनुसार हमारे जीवन के प्रत्येक पक्ष में अपना स्थान बना चुका है। यहां तक कि शिक्षा, प्रजातंत्र एवं आर्थिक विकास जैसे क्षेत्र भी अब जाति व्यवस्था की चपेट में आ रहे हैं। आरक्षण व्यवस्था ने इसके महत्व को और अधिक बढ़ाया है इसलिये जातियों और उनके आधार पर होने वाला स्तरीकरण भारतीय समाज की सत्यता तथा विशेषता है।

जातीय संस्तरण निश्चित अटल एवं अपरिवर्तनशील है। कोई भी जातीय स्तृत अपने से नीची जाति को सामाजिक दृष्टि से अपने समकक्ष नहीं आने देना चाहता यद्यपि वह राजनैतिक या आर्थिक मुद्दों पर उनके साथ एकजुट हो सकता है। अत: जातियों के विभिन्न स्तृत जहाँ स्थित हैं वहाँ से उनका स्थान परिवर्तन कर उच्च जातीय स्तृत के समकक्ष आ पाना लगभग असंभव है। अत: जातीय स्तरीकरण लम्बवत गतिशीलता को दृढ़ता से रोकता है एवं ऐसे सभी प्रयासों को विफ्रफलु कर देता है।

वर्तमान समय में हमारे समाज की भौतिक एवं अभौतिक संस्कृति में जिस प्रकार के परिवर्तन हो रहे हैं उन्होनें जाति व्यवस्था को व्यापक एवं गहन रूप से न केवल प्रभावित किया है वरन् उसमें परिवर्तन भी किया है। जातीय स्तरीकरण में होने वाले आंतरिक परिवर्तन भविष्य

में भारत में किसी वैकल्पिक स्तरीकरण की व्यवस्था को जन्म दे सकते है। अत: इन आंतरिक परितर्वनों की समीक्षा आवश्यक है।

**1. खानपान के नियंत्रणों में कमी -**

वर्तमान शिक्षा प्रणाली, नगरीकरण, औद्योगीकरण एवं आधुनिकीकरण की प्रक्रियाओं ने जिस प्रकार की स्थितियां विकसित की है उनमें खान-पान के नियंत्रणों को जातीय निर्देशों के अनुसार चला पाना संभव नहीं है। अत: अब कस्बों तक में खान-पान के जातीय नियंत्रण धीरे-धीरे ध्वस्त हो रहे हैं और जातीय स्तृत अब खान-पान की शुद्धता के आधर नहीं माने जाते हैं। ग्रामीण समुदायों में भी इनके पालन पर अब इतना आग्रह ओर प्रतिबंध नहीं है क्योंकि ग्रामीण समुदायों के निवासी भी अब नगरों मे आते जाते है जहाँ उनके लिये भी खान-पान के जातीय नियमों पर चल पाना संभव नहीं रह गया है। अत: जातियों के खान-पान संबंधि नियंत्रणों में सर्वाधिक परिवर्तन हुआ है।

**2. व्यवसाय में परिवर्तन -**

सम्पूर्ण भारत वर्ष में परम्परागत व्यवसायों में निरन्तर कमी होने तथा सरकारी एवं गैर सरकारी क्षेत्र में नौकरियों के अवसरों में दुतगति से विकसित होने तथा नौकरियों में आरक्षण होने के कारण जातीय व्यवसायों का परम्परागत ढाँचा बिखर रहा है। व्यवसायों पर जातियों का एकाधिकार समाप्त हो रहा है। अब, किसी भी व्यक्ति को जातिगत व्यवसाय का अनुसरण करने के लिए बाध्य नहीं किया जा सकता। इसलिये विभिन्न जातियों के व्यक्ति एक ही व्यवसाय को अपना सकते है। व्यवसाय की स्वतंत्रता प्रत्येक भारतवासी का अधिकार है अत: संवैधनिक एवं सामाजिक दोनो दृष्टियों से व्यवसाय का चयन व्यक्तिगत इच्छा एवं, कुशलता पर निर्भर है ना कि किसी जाति विशेष का सदस्य होने पर।

**3. वैवाहिक सम्बन्धें में परिवर्तन -**

अन्तर्विवाह जातीय स्तरीकरण की धुरी है। जाति के अधिकतर लक्षण या तो परिवर्तित हो गये हैं अथवा परिवर्तन की प्रक्रिया में है लेकिन अन्तर्विवाह की प्रथा अर्थात् एक जाति के सदस्यों का अपनी ही जाति में विवाह करना अभी भी प्रचलित एवं सर्वमान्य है। इसी प्रथा ने जातीय इकाइयों को अब तक मजबूती से पकड़ा हुआ है। जाति के बाहर अन्य जातियों में विवाह निषिद्ध है एवं दण्डनीय है। जातियाँ अभी भी जाति से बाहर विवाह करने पर तीव्र प्रतिक्रिया करती है लेकिन सवैधनिक प्रावधनों एवं दो व्यस्क व्यक्तियों के जाति से बाहर विवाह को कानूनी संरक्षण मिलने से तथा न्यायालय मे विवाह करने की सुविधा से जाति से बाहर विवाह का प्रचलन धीरे-धीरे बढ़ रहा है। व्यक्तिगत निर्णय की स्वतंत्राता, उच्च शिक्षा, आर्थिक आत्मनिर्भरता एवं विचारों की स्वतंत्रता ने इस प्रवृत्ति को बढ़ावा दिया है। खान-पान पर नियंत्रण की कमी से जातियों की एक सांस्कृतिक बाध जो अन्तर्जातीय विवाहों को हतोत्साहित करती थी अब समाप्त प्राय: हो रही है। आर्थिक समृद्धि एवं सम्पन्न जीवन की चाह भी ऐसा जीवन साथी ढूंढने को प्राथमिकता देती है जो समान रूप से शिक्षित एवं लगभग समान पद पर कार्यरत हो चाहे वह दूसरी जाति का ही क्यों न हो। इन कारणों से अन्तर्जातीय विवाह का

प्रचलन कुछ हद तक बढ़ा है एवं पड़े लिखे नगरीय परिवारों में इसका विरोध अब केवल मौखिक रह गया है, इसकी व्यावहारिक बाधायें न के बराबर है।

**4. जातीय संगठन -**

नगरीय समुदायों में जातीय संगठनों का परिवर्तित स्वरूप इस समय विशेष चर्चा का विषय है। इन समुदायों में जातीय संगठन सामाजिक नियंत्रण की इकाई के स्थान पर एक सांस्कृतिक पहचान बन गये हैं जो अधिकतर विशिष्ट सांस्कृतिक आयोजन समाज सुधर के कार्य जैसे शिक्षा सम्बन्धित गतिविधियाँ अथवा अपनी जाति के आर्थिक रूप से पिछड़े लोगों के सहायतार्थ कार्यक्रम चलाने में अधिक रूचि प्रदर्शित करते हैं अथवा अपना राजनैतिक हित साधने में राजनैतिक दलों एवं संगठनों के साथ तालमेल करते हैं। यह प्रवृतियाँ गाँवो में भी विद्यमान हैं। यद्यपि ग्रामीण स्तर के जातीय संगठन अभी अपने सामाजिक दायित्वों का भी बखूबी निर्वाह करते हैं एवं इन क्षेत्रों में जाति पंचायतों का वर्चस्व अभी भी कायम है।

जातीय इकाइयों में इन परिवर्तनों की विस्तृत चर्चा एवं उनके वर्तमान स्वरूप की समझ इसलिये आवश्यक है कि जातीय इकाइयों में होने वाले इन व्यापक परिवर्तनों के आधार पर ही भविष्य में जातीय संस्तरण का स्वरूप निर्धरित होगा अथवा जातीय संस्तरण के तिरोहित हो जाने से एक नवीन सामाजिक संस्तरण विकसित होगा। भविष्य में भारत के सामाजिक स्तरीकरण का स्वरूप क्या होगा एवं उपर्युक्त तत्वों में से कौन से तत्व इसके आधार बनेंगे यह कहना अभी बहुत मुश्किल है लेकिन भविष्य के सामाजिक स्तरीकरण के सभी स्वरूप वर्तमान जातीय संस्तरण के व्यापक बदलाव से ही संभव होगें। इसमें कोई संदेह नहीं इसलिये सामाजिक स्तरीकरण के विद्यार्थी को सामाजिक स्तरीकरण के उभरते नये स्वरूपों को समझने के साथ-साथ जातीय संस्तरण में होने वाले परिवर्तनों एवं इनके नये स्वरूपों का ज्ञान अत्यावश्यक है। इस आधार पर हम सामाजिक स्तरीकरण के अंतिम नये स्वरूप की विस्तृत चर्चा कर सकते है।

## 8.12 सामाजिक वर्गो का विकास

समाजशास्त्र की अनेकें पुस्तकों में जहाँ सामाजिक स्तरीकरण की चर्चा होती है। यह बात बार बार पढ़ने में आती है कि भारत में जातीय स्तरीकरण का स्थान वर्ग स्तरीकरण ले रहा है। इस प्रकार के कथन सामाजिक स्तरीकरण के नये स्वरूपों के बारे में कहे गये सुविधाजनक एवं अति सरलीकृत कथन है जो केवल एक प्रक्रिया की प्रारम्भिक स्थिति के बारे में संकेत करते हैं न कि सामाजिक स्तरीकरण की सम्पूर्ण परिवर्तित स्थिति के बारे में। प्रक्रिया की जटिलता के विश्लेषण से बचने के लिए ऐसे वक्तव्यों को स्वीकार कर लिया जाता है जो पूर्णत- भ्रामक है एवं वस्तुस्थिति से बहुत दूर हैं।

सामाजिक स्तरीकरण की बदलती प्रक्रिया में वर्गो के स्थिति को समझने के लिए हमें निम्नलिखित बिन्दुओं को स्पष्टता से समझना होगा :-

1. वर्ग पश्चिमी समाज से संबंधित धारणा है जिसे आर्थिक एवं सामाजिक दोनों संदर्भो में समझा जाता रहा है। इसका संबंध पश्चिम के सामाजिक स्तरीकरण से रहा है जिसका पर्याय भारत में न तो कभी पहले रहा और न इस समय विद्यमान है।
2. कुछ सामाजिक इतिहासकार वर्ण और वर्ग को मिला देते है। वर्ण प्राचीन भारत की क्रमबद्ध विभाजन व्यवस्था है। लेकिन इसके आधार पर न तो आर्थिक वर्ग विकसित हुए

नहीं सामाजिक और न ही वर्णो के परिवर्तित स्वरूप ने भारत में किसी पश्चिमीकृत राष्ट्र जैसी वर्ग व्यवस्था को विकसित किया।

3. मार्क्सवादी विश्लेषक प्राचीन एवं वर्तमान भारत में आर्थिक आधार पर किसानों, मजदूरों, मालिकों को वर्ग श्रेणियां मानते हैं एवं इनमें विद्यमान संभावित संघार्षात्मक प्रक्रिया के तलाशने का प्रयास करते हैं।
4. स्वतंत्राता के बाद प्रकाशित होने वाले समाजशास्त्रीय अनुसंधान कार्यो में नगरीय समुदायों को वर्ग के विकास की जन्म स्थली माना जाता है एवं आधुनिक शिक्षा, नये व्यवसाय, नगरीकरण, औद्योगीकरण आदि प्रक्रियाओं को भारत में वर्गो के विकास की प्रक्रिया से जोड़ा जाता है।
5. उपर्युक्त अनुसधनों से यह ध्वनि भी निकलती है कि कतिपय भारतीय नगरीय समुदायों में जाति व्यवस्था अब अपनी अंतिम अवस्था मे हैं एवं वर्ग नये सामाजिक स्तरीकरण के रूप में जातीय स्तरीकरण को पदच्युत कर चुका है। वस्तुत: इससे भ्रामक वक्तव्य और कोई नहीं हो सकता।
6. वर्तमान भारत में सामाजिक स्तरीकरण के नये स्वरूप के रूप में वर्गीय सामाजिक स्तरीकरण की स्थिति क्या है इस संबंध में निर्णायक रूप से अभी कुछ कहना अत्यंत कठिन है क्योंकि सामाजिक स्तरीकरण का यह नया स्वरूप अभी अपनी विकासशील स्थिति में है एवं अंतत: यह किस रूप में हमारे देश में स्थित होगा इस संबंध में अभी कोई अवधरणात्मक वक्तव्य देना भी शायद संभव न हो फ्रिफर भी हम वर्ग के सामाजिक स्तरीकरण के नये रूप में स्थित होने के बारे में कुछ प्रवृत्तियों पर विचार कर सकते हैं।

**वर्ग के सामाजिक स्तरीकरण के नये स्वरूप से संबंधित प्रवृत्तियाँ -**

1. भारत में ब्रिटिश साम्राज्य की स्थापना के साथ ही एक ऐसी सामाजिक श्रेणी विकसित होना प्रारम्भ हुई जो ब्रिटिश अधिकारियों के नजदीक थी एवं उनसे संवाद करती थी जो पढ़ी लिखी थी एवं आर्थिक रूप से सम्पन्न थी। इस श्रेणी के कई व्यक्ति बाकायदा ब्रिटिश सरकार की सेवा में थे एवं भारत के प्रथम आधुनिक सरकारी तंत्रा के हिस्से थे। यह श्रेणी अपने खान-पान, रहन-सहन भाषा और भूषा से पश्चिमीकृत थी एवं पश्चिमी जीवन शैली की नकल कर भारत की अन्य श्रेणियों से अपने आपको श्रेष्ठ समझती थी। इन सभी कारणों से इस श्रेणी का एक सामाजिक दबदबा था। स्वतंत्रता के बाद यह श्रेणी और अधिक मजबूत होकर उभरी एवं इसे प्रजातंत्र के नये राजनैतिक एवं प्रशासनिक तंत्र का सहयोग प्राप्त हो गया। अपनी मानसिकता से यह श्रेणी भारत की परम्पराओं की विरोधी थी, जिसमें जातीय परम्पराओं का विरोध प्रमुख था। अत: शनै: शनै: इस श्रेणी ने अपने आप को समस्त जातीय बंधनों से मुक्त कर लिया एवं अपने चहुँमुखी विकास के लिए अपनी अधिकतर अंतर्क्रियायें एवं सहयोग के आधार अपनी ही श्रेणी में विकसित कर लिये जिससे इसे आर्थिक, राजनैतिक स्थिरता एवं विकास प्राप्त करने में मदद मिली। एक बार जातीय नियमों को दरकिनार करने के बाद यह श्रेणी वैवाहिक संबंधों में भी स्व-केन्द्रित हो गई एवं इस प्रकार इस श्रेणी ने अपने आपको सामाजिक आर्थिक

आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए एक स्व-निर्भर श्रेणी की स्थिति प्राप्त कर ली एवम् नगरीय सामाजिक स्तरीकरण के शीर्ष पर स्थाति हो गई। समाजशास्त्री इस शीर्ष स्थित श्रेणी को ही आधुनिक भारत का पहला वर्ग मानते हैं।

2. ब्रिटिश काल में ही भारत का पश्चिमीकरण, नगरीकरण एवं औद्योगीकरण प्रारम्भ हो चुका था। मॉर्क्सवादी विश्लेषकों के अनुसार इन प्रक्रियाओं ने कुशल एवं अकुशल औद्योगिक एवं नगरीय श्रमिकों की श्रेणी को विकसित किया जो इस समय भारत की कार्यकारी जनसंख्या का एक महत्वपूर्ण भाग है। यह श्रेणी आर्थिक रूप से दरिद्रतम, शिक्षा की दृष्टि से पिछड़ी हुई और जीवन स्तर की दृष्टि से हेय एवं नारकीय जीवन बिताने वाली गंदी बस्तियों एवं नगरीय क्षेत्रों में रहने वाली वह कामगार श्रेणी है जो किसी प्रकार मुश्किल अपना जीवन यापन करती हैं। अनेकों औद्योगिक एवं नगरीय केन्द्रों में समुदाय की कुल जनसंख्या में यह श्रेणी लगभग एक चौथाई के अनुपात में है। यह श्रेणी सामाजिक, आर्थिक एवं राजनैतिक दृष्टि से समाज के निम्नतर स्तर पर है और इसे भी एक सामाजिक वर्ग की पहचान मिल रही है।
3. वर्गीय स्तरीकण के उपर्युक्त दो सिरे, एक उच्चतम एवं दूसरा निम्नतम स्पष्ट रूप से दृष्टव्य है एवं कुछ आयामों को छोड़कर इन्हें दो विभिन्न वर्ग माना जा सकता है लेकिन किसी भी समाज व्यवस्था में दो श्रेणियों कोई स्तरीकृत व्यवस्था विकसित नहीं करती, जब तक कि इन दो ध्रुवीय श्रेणियों के मध्य अन्य स्तृत क्रमबद्ध रूप से स्थित न हों एवं उनमें वर्गीय स्तरीकरण की अन्य दशायें विद्यमान न हों। इस कसौटी पर इन दो श्रेणियों के आधार पर कोई स्तरीकृत वर्ग व्यवस्था नहीं बनती।

उक्त कमी की पूर्तिस्वरूप कभी कभी मध्यम वर्ग को एक कड़ी के रूप में बीच में लाया जाता है और खींचतान कर एक त्रिआयामी वर्ग संरचना के समझाने का प्रयास होता है लेकिन भारत का मध्यम वर्ग एक सामाजिक स्तरीकृत वर्ग व्यवस्था का हिस्सा बन सके इसमें निम्नलिखित बाधयें है :-

अ) भारत का मध्यम वर्ग जातीय संबंधों एवं कार्य प्रणाली से मुक्त नहीं है इसलिये यह केवल एक आर्थिक पहचान है।

ब) भारत के मध्यम वर्ग की अंतर्क्रियायें एवं सामाजिक संबंध उच्च वर्ग की अंतर्क्रियाओ एवं सामाजिक संबंध जैसे नहीं है उनकी आर्थिक क्रियायें अपने वर्ग की परिधि मे हो सकती हैं लेकिन उनकी सामाजिक गतिविधियाँ जातीय आधार पर चलती हैं इसलिये खान-पान, छुआछुत एवं वैवाहिक संबंधें में यह वर्ग स्वावलम्बी नहीं है।

स) ऐसा समझा जाता है कि भारत का मध्यम वर्ग उच्च वर्ग के साथ प्रतियोगी प्रक्रिया में नहीं है एवं उत्तरोतर आर्थिक विकास की उसकी दृष्टि एक सीमा पर जाकर समाप्त हो जाती है। यह एक आत्म संतृष्ट वर्ग है जिसकी महत्वाकाक्षायें सीमित हैं एवं इसलिये इनके आगे बढ़ने के अवसर भी सीमित है इसलिये उच्चतम एवं निम्नतम वर्गीकृत इकाइयों के बीच मध्यम वर्ग को रखकर किसी व्यवस्थित वर्ग स्तरीकरण होने की संभावनायें धूमिल हैं एवं इस दृष्टि से अलग अलग वर्ग इकाइयाँ एक दूसरे से असंबंधित रहकर विकसित अवश्य हो रही हैं लेकिन सम्पूर्ण भारत के स्तर पर ये वर्ग

किसी सामाजिक स्तरीकरण की व्यवस्था विकसित करते हों ऐसा हाल फ़िफलहाल दृष्टिगत नहीं होता। अत: हम यह कह सकते हैं कि भारत की सामाजिक व्यवस्था में वर्ग जैसी संरचनायें विकसित हो रही हैं लेकिन ये अभी अपनी शैशवावस्था में हैं एवं एक दूसरे से असंपृक्त रहकर कर विकसित हो रही हैं। यह केवल एक अनुमान ही हो सकता है कि भविष्य में वर्ग व्यवस्था सामाजिक स्तरीकरण की नई व्यवस्था के रूप में विकसित होगी एवं जाति व्यवस्था का पर्याय बनेगी।

## 8.13 सारांश

इस प्रकार भारत के परम्परागत सामाजिक स्तरीकरण में नये आयाम विकसित हो रहे हैं एवं स्तरीकरण के पुरातन आधार क्षीण होने की प्रक्रिया में हैं।

इस प्रक्रिया में जब भारतीय सामाजिक व्यवस्था की विभिन्न इकाइयाँ अपना पुर्नसंयोजन कर लेंगी तो सामाजिक संस्तरण का एक नया स्वरूप विकसित होगा, जो वर्तमान सामाजिक संस्तरण से पूर्णतया भिन्न होगा।

## 8.14 अभ्यासार्थ प्रश्न

1. सामाजिक स्तरीकरण को परिभाषित कीजिए।
2. सामाजिक स्तरीकरण के परम्परागत एवं परिवर्तित आधारों की संक्षिप्त विवेचना कीजिए।
3. सामाजिक स्तरीकरण के नये स्वरूपों के विकास में शैक्षणिक व्यावसायिक एवं आर्थिक कारकों के योगदान को समझाइये।
4. सामाजिक स्तरीकरण में वर्गो के विकास की प्रक्रिया को स्पष्ट कीजिए।

## 8.15 शब्दावली

1. सामाजिक स्तरीकरण – समाज को क्रमबद्ध श्रेणियों में विभक्त करने की व्यवस्था जिसमें एक श्रेणी सर्वोपरि एवं एक श्रेणी निम्नतम स्तर पर होती है तथा अन्य श्रेणियां इनके मध्य में क्रमबद्ध रूप में स्थित होती है।
2. सत्ता संरचना – समाज द्वारा स्वीकृत अधिकारों की यह व्यवस्था जिसमें निर्णय एवं उन्हें कार्य रूप में परिवर्तित करने के अधिकार निहित हैं।
3. जाति – एक अन्तर्विवाही समूह जो अपनी जन्म जात सदस्यता व्यवसायिक पहचान एवं सामाजिक संस्तरण में अपने विशिष्ट स्थान से जाना जाता है।
4. वर्ग – वह सामाजिक/आर्थिक श्रेणी जो सामाजिक संस्तरण के आधार रूप में कार्य करती है।
5. आरक्षित श्रेणियाँ – वे श्रेणियाँ जिन्हें संविधान के अन्तर्गत आरक्षण की सुविधा प्राप्त है।
6. पश्चिमीकरण – भारतीय समाज एवं संस्कृति में पश्चिम, प्रमुख रूप से ब्रिटिश शासन के दौरान पश्चिम से आये वे प्रभाव जिन्होनें प्रौद्योगिकी, शिक्षा,

| | | |
|---|---|---|
| | | विचारधारा एवं मूल्यों से प्रभावित किया। |
| 7. सामाजिक परिवर्तन | – | सामाजिक व्यवस्था के विद्यमान पक्षों की सामूहिक अस्वीकृति एवं उनके स्थान पर नए विकल्पों की स्थापना। |

## 8.16 संदर्भ ग्रंथ


1. लर्नर, डेनियल, 1958 द पासिंग ऑफ्रफ ट्रेडिशनल सोसायटी, फ्रफी प्रेस, न्यूयार्क।
2. श्री निवास, एम.एन. 1972, सोशल चेन्ज इन मॉडर्न इण्डिया ओरिएंट लॉगमेन, नई दिल्ली।
3. दुबे, एस.सी. ट्रेडीशंस एण्ड डेवलपमेंट, विकास पब्लिकेशन्स हाउस, नई दिल्ली।
4. किंग्सले, डेविस, 1966 ह्यूमन सोसायटी, द मैकमिलन कंपनी, न्यूयॉर्क।
5. नरेन्द्र कुमार सिंघी एवं समाजशास्त्रा विवेचन, राजस्थान हिन्दी ग्रंथ वसुधकर गोस्वामी, 1973 अकादमी, जयपुर।

# इकाई - 9

# सामाजिक परिवर्तन और विकास

**इकाई की रूपरेखा**

9.0 उद्देश्य
9.1 प्रस्तावना
9.2 भारतीय समाज का परम्परागत ढाँचा
9.3 अनेकता में एकता और एकता में अनेकता
9.4 भारतीय समाज में सामाजिक परिवर्तन की शक्तियाँ
9.5 सामाजिक परिवर्तन के अध्ययन के समाजशास्त्रीय उपागम
9.6 भारतीय समाज में सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रियाएं
9.7 समीक्षा
9.8 सारांश
9.9 शब्दावली
9.11 अभ्यासार्थ प्रश्न
9.10 संदर्भ ग्रंथ

## 9.0 उद्देश्य

इस इकाई का मुख्य उद्देश्य आपको सामाजिक परिवर्तन एवं विकास की समाजशास्त्रीय समझ देना है। आप जानते हैं कि 'समय' एवं स्थान' के परिमाणों पर समाज का एक निश्चित समय बिन्दु पर जो ढाँचा होता है वो कालान्तर में परिवर्तित होता है। विश्व में ऐसा कोई भी समाज नहीं है जो समय के साथ परिवर्तित न हुआ हो। हाँ, ऐसा अक्सर पाया जाता है कि कोई समाज तेज गति से परिवर्तित होता है तो अन्य किसी समाज में परिवर्तन की गति अत्यन्त मन्द होती है। इस इकाई में भारतीय समाज में परिवर्तन के मुद्दे पर बात की गई है। इस इकाई के अध्ययन के बाद आप निम्न बिन्दुओं पर समाजशास्त्रीय जानकारी प्राप्त कर सकेंगे -

- भारतीय समाज के परम्परागत ढाँचे का स्वरूप।
- विविधता में एकता और एकता में विविधता।
- सामाजिक परिवर्तन के स्त्रोत
- सामाजिक परिवर्तन की मुख्य प्रक्रियाएं।

## 9.1 प्रस्तावना

विश्व के विभिन्न समाजों में भारतीय समाज की गणना एक ऐसे प्राचीन समाज के रूप में की जाती है जो आज तीव्र गति से आधुनिकीकरण की प्रक्रिया से गुजर रहा है। सामाजिक-सांस्कृतिक परिवर्तन तथा आर्थिक विकास के क्षेत्र में आज भारत का स्थान विकासशील समाजों में अग्र स्थान पर आता है। आज भारत को इन्हीं संदर्भों में "एशियन टाईगर" भी कहा जाता

है। सामाजिक परिवर्तन एवं आर्थिक विकास की यह मंजिल हासिल करने के दौर में भारत प्राचीन काल से ही अनेक उतार-चढाव से गुजरा है। बाह्य देशों के आक्रमण; वैचारिक क्रान्ति; सामाजिक आन्दोलन; राजकीय उथल-पुथल सामाजिक कानूनी; औद्योगिक-विकास एवं नगरीकरण; आर्थिक-विकास तथा सामाजिक-न्याय के सरकारी आयोजनबद्ध कार्यक्रम एवं पंचायतीराज संस्थाओं आदि ने प्रत्यक्ष और परोक्ष रूप से भारतीय समाज के परम्परागत समाज के ढाँचे को निश्चित रूप से प्रभावित किया है।

आजादी के बाद के भारत में के संविधान ने भारत के सामाजिक ढाँचे के नवनिर्माता की रूपरेखा दी है। संविधान में जिस प्रकार के नये इच्छित समाज के निर्माण की घोषणा की गई उसके आधार में स्वतंत्रता; समानता; सामाजिक-न्याय के उपरांत धर्म निरपेक्षता का मूल मंत्र है। इन्हीं सभी प्रयासों के फलस्वरूप आज भारत में सामाजिक परिवर्तन की प्रबल प्रक्रियाओं के दर्शन होते हैं। आज भारत में ये नई-नई सामाजिक वास्तविकताऐं उभर आई हैं। ये नई वास्तविकताऐं समाजशास्त्रीय अध्ययनों के लिये अर्थसभर दिशा प्रदान करती हैं।

## 9.2 भारतीय समाज का परम्परागत ढाँचा

भारतीय समाज में परिवर्तन की प्रक्रियाओं की जानकारी प्राप्त करने से पूर्व इसके परम्परागत ढाँचे का स्वरूप समझना आवश्यक है। इरावती कर्वे ने कहा है कि भारतीय समाज के परम्परागत ढाँचे को ससुझना है तो भारत की संयुक्त परिवार व्यवस्था, जाति प्रथा एवं ग्रामीण समुदायों की समाजशास्त्रीय जानकारी प्राप्त नितान्त जरूरी है, परन्तु कुछ विद्वानों का ऐसा मानना है कि आज के वैज्ञानिक युग में भूतकालीन सामाजिक संस्थाओं तथा ढाँचे का अध्ययन निरर्थक है। यहाँ इस मुद्दे पर किसी बौद्धिक विवाद में नहीं पड़ कर संक्षेप में भारतीय समाज के परम्परागत स्वरूप की जानकारी प्राप्त करेंगे।

परम्परागत भारतीय समाज का प्रारम्भिक स्वरूप जन्म-मृत्यु की श्रृंखला से जुड़ी धार्मिक वैचारिकता पर आधारित था । कर्म और धर्म के सिद्धान्त पर आधारित "मोक्ष" प्राप्ति द्वारा ही जन्म-मृत्यु की इस श्रृंखला से मुक्त होना संभव बताया जाता था । पवित्र धार्मिक जीवन के जरिये ही "आत्मा" को जन्म-मृत्यु के चक्र में से छूटकारा दिलाया जा सकता है । ऐसा दृढ़ विश्वास परम्परागत सामाजिक संस्थाओं एवं ढाँचे का आधार स्तम्भ था । आज भी इस विश्वास के अंश भारतीय वैचारिक भण्डार में महत्त्व का स्थान रखते हैं ।

वैदिक युग के भारत का सामाजिक ढाँचा वर्ण-व्यवस्था पर आधारित था । इस व्यवस्था में व्यक्ति के गुण के आधार पर वर्ण की सदस्यता निश्चित होती थी । व्यक्ति को अपने वर्ण के लिये परिभाषित जीवन शैली का कठोर रूप से पालन करना पड़ता था । पी.एन. प्रभू "हिन्दू सोशियल ऑर्गेनाईजेशन" शीर्षक पुस्तक में लिखते हैं कि तत्कालिन सामाजिक व्यवस्था में व्यक्ति अपने वर्ण के कार्य ठीक से या त्रुटि रहित ढंग से अदा न कर सके तो इसे माफ किया जा सकता था, परन्तु अगर व्यक्ति अपने वर्ण के कार्यों को छोड़कर अन्य वर्ण के कार्य करने का , प्रयास करता तो इसे गंभीरता से लिया जाता था और कभी भी नजर अन्दाज नहीं किया जाता था । सामाजिक ढाँचे के कोटिक्रम में ब्राह्मणों का स्थान सर्वोच्च होता था और क्षत्रिय वैश्य एवं शूद्र वर्णो का स्थान अनुक्रम से नीचे आता था । सामाजिक ढाँचे में प्रतिष्ठा, पवित्रता

तथा समाज में महत्त्व को मानने वाले प्रतिकों आदि का विवरण वर्ण के स्थान के संदर्भ में होता था । योगेन्द्र सिंह इस संदर्भ में लिखते हैं कि सामाजिक परम्परा की यह बात तत्कालीन कानून में भी प्रकट होती थी । इसीलिये एक ही प्रकार के अपराध पर ब्राह्मण वर्ण के सदस्य को सबसे कम सजा तथा शूद्र को अत्यन्त कठोर सजा दी जाती थी । इसी तरह से ब्राह्मण के विरुद्ध अपराध होने पर उसे अपराध के फलस्वरूप हुए नुकसान से कई गुणा ज्यादा मुआवजा दिलाया जाता था जबकि शूद्र के विरुद्ध हुए अपराध को अपराध ही नहीं माना जाता था ।

वैदिक और पौराणिक युग में जाति-व्यवस्था के उद्गम के साथ सामाजिक ढाँचे पर धार्मिक पवित्रता तथा अपवित्रता की पकड़ मजबूत हो गई । यहाँ तक कि "जाति प्रथा" भारतीय सामाजिक ढाँचे की एकमात्र पहचान के रूप में उभर आई । जी.एस घुर्ये ने अपनी पुस्तक "कास्ट एण्ड रेस इन इण्डिया" में भारत की परम्परागत जाति व्यवस्था के छः लक्षणों की समाजशास्त्रीय विश्लेषण के आधार पर गहन जानकारी दी है । इसी तरह से लूई डयूमो ने धार्मिक पवित्रता तथा अपवित्रता के परिमाणों को परम्परागत जाति प्रथा में कोटिक्रम के स्तम्भों के रूप में समझाया है । जे.एच. हटन ने "कास्ट इन इण्डिया" शीर्षक की पुस्तक में परम्परागत जाति प्रथा को समझाते हुए इस प्रथा के गुण-अवगुणों का विश्लेषण किया है । बाबा साहब अम्बेडकर ने भी मनुवादी विचारधारा पर आधारित समाज-व्यवस्था के रूप में परम्परागत जाति प्रथा की घोर निन्दा की है । समय बदलने के साथ जाति-प्रथा की बुराईयों के फलस्वरूप इस प्रथा को मिटाने के अनेक प्रयास हुए । सामाजिक आन्दोलन तथा कानून का सहारा भी लिया गया, फिर भी भारतीय समाज की विशेषता के रूप में इसका अस्तित्व नष्ट नहीं किया जा सका है । इस संदर्भ में जी.एस घुर्ये तथा आईपी देसाई और दूसरे अनेक विद्वानों का कहना है कि आज भारत में से "जाति प्रथा, नष्ट हुई है, परन्तु एक संस्था के रूप में "जाति" अभी भी उपस्थित है । योगेश अटल इस बारे में कहते हैं कि अर्न्तविवाह जाति का केन्द्रिय लक्षण है । वे कहते हैं कि जब तक भारत में अर्न्तविवाह का रिवाज बना रहेगा तब तक "जाति" भी बनी रहेगी ।

परम्परागत भारतीय सामाजिक ढाँचे की विशेषता के रूप में संयुक्त परिवार की व्यवस्था का भी महत्त्वपूर्ण स्थान है । इरावती कर्वे संयुक्त परिवार की परिभाषा देते हुए लिखती है कि "संयुक्त परिवार लोगों का वह समूह है जिसके सदस्य एक छत के नीचे रहते हैं; एक संयुक्त सम्पत्ति होती है । संयुक्त परिवार के सभी सदस्य सामूहिक रूप से परिवार के देवी-देवता की पूजा में भाग लेते हैं । संयुक्त परिवार में निर्णय लेने की शक्ति परिवार के सबसे वरिष्ठ पुरुष के हाथ में होती है । ऐसे परिवार के सभी सदस्य सपिण्ड कहलाते हैं । सामाजिक परिवर्तन के आधुनिक परिबलों के फलस्वरूप संयुक्त परिवार के इस परम्परागत स्वरूप या ढाँचे में परिवर्तन आया है । एम. एस. गोरे ने दिल्ली में तथा एलियन रोस ने बेंगलोर में अध्ययन करके संयुक्त परिवार में आ रहे परिवर्तन के प्रवाहों की तरफ ध्यान आकर्षित किया है । आई. पी. देसाई ने गुजरात के महूवा नाम के कस्वे में प्रवर्तमान संयुक्त परिवारों के विषद अध्ययन के आधार पर 1964 में "सम आस्पेक्ट ऑफ फेमिली इन महुआ" शीर्षक का ग्रंथ लिखा । आई. पी. देसाई ने इस अध्ययन के आधार पर जो निष्कर्ष प्राप्त किये

उसके अनुसार (1) आज संयुक्त परिवार के ढाँचे में परिवर्तन आया है, परन्तु इसका प्रकार्यात्मक स्वरूप यथावत् रहा है । (2) आज भी संयुक्त परिवार के सदस्य अपने अधिकारों और कर्त्तव्यों का पारस्परिक रूप से पालन करते हैं । उनका कहना है कि संयुक्त परिवार के सदस्यों के बीच "संयुक्तता" आज भी बरकरार है ।

परम्परागत भारतीय समाज की एक अन्य महत्त्वपूर्ण विशेषता "ग्राम-समुदाय" है । महात्मा गाँधी ने कहा कि सही अर्थ में भारत गाँवों मे बसता है । परम्परागत भारत में जाति-प्रथा के आधार पर परिभाषित असमानताओं के बीच भी जजमानी प्रथा के फलस्वरूप एकता पाई जाती थी । घुर्ये ने लिखा है कि विषमताओं से पीड़ित दलितों और महिलाओं को भी उच्च जातियों के परिवारों में धार्मिक एवं सामाजिक प्रसंगों पर महत्त्व की भूमिकाएं अनिवार्य रूप से दी जाती थीं । इसके कारण अभाव की परिस्थितियों में भी इन वर्गों के सदस्यों को अपना महत्त्व दिखाई देता था । इसी बात पर टिप्पणी करते हुए बैरीमेन ने कहा कि "विषमताओं पर आधारित सामाजिक ढाँचे का यह संस्थीकृत स्वरूप स्वत: चलता रहता था । इसके पीछे समाज को मानसिक, आर्थिक या राजकीय शक्ति का कोई व्यंग्य करना नहीं पड़ता था, क्योंकि दोनों पक्ष अपनी-अपनी परिस्थिति बिना किसी विरोध के स्वीकार करते थे ।

भारत में ब्रिटिश राज की स्थापना के पूर्व गाँवों में अभिजातीय वर्ग की हैसियत का आधार जाति और भूसम्पत्ति दोनों था, परन्तु ब्रिटिश शासन के दरम्यान भूमि एवं राजस्व के सम्बन्ध में कई नई नीतियाँ निर्धारित हुई । इसके फलस्वरूप कई पुराने भूस्वामी प्रारम्भ में जहाँ "पंच परमेश्वर" की भावना से गाँव का वातावरण शांत और पारस्परिकता के माध्यमों से पहचाना जाता था, उसके स्थान पर गाँवों में विद्रोह और संघर्ष ने जन्म लेना शुरू किया । चार्ल्स मेटकाफ ने परम्परागत ग्रामीण समुदाय की प्रशंसा करते हुए इन्हें "लघु-प्रजातंत्र" के नाम से सराहा था ।

वर्तमान ग्रामीण परिस्थिति पर टिप्पणी करते हुए शिव बहाल सिंह लिखते हैं कि कृषि के व्यापारीकरण के फलस्वरूप जहाँ एक ओर हरित-क्रान्ति हुई और कृषि उत्पादन में अप्रत्याशित वृद्धि हुई, वहीं कृषक वर्गो के बीच अमीरी और गरीबी की खाई और अधिक चौड़ी हुई, जिसके परिणामस्वरूप देश के विभिन्न हिस्सों में वर्ग संघर्ष और तनाव बढ़े । निम्न वर्ग के कृषकों और कृषक मजदूरों में आन्दोलन को बढ़ावा मिला और राजनैतिक जगृति आई । परम्परागत जीवन शैली के अधिन जनसामान्य को राजनैतिक बातों से कुछ लेना-देना नही, था, उसके स्थान पर गाँवों में "राजनैतिक दबाव-समूह" तथा "विद्यटन" खड़े हुए हैं । यही वास्तविकता ग्रामीण विकास के आशय से शुरु किये गये "पंचायतीराज व्यवस्था" तथा विकास के विविध कार्यक्रमों को सुचारू ढंग से कार्यान्वित करने में अप्रत्याशित बाधाऐं खड़ी करते हैं । शिव बहाल सिंह यह भी लिखते हैं कि आज ग्रामीण आर्थिक-सामाजिक संरचना में व्यापक परिवर्तनों के साथ-साथ पर्याप्त संरचनात्मक निरन्तरता भी है । पुराने भूस्वामियों की बरकरार प्रभु स्थिति और जातीय आधार पर प्रबलता इस निरन्तरता का प्रमाण है ।

भारत की परम्परागत समाज-व्यवस्था का उपरोक्त संक्षिप्त परिचय आधुनिक समय में दिखाई देती परिवर्तन की प्रक्रियाओं तथा उनके परिणामों की दिशा समझने में एक अर्थपूर्ण परिपेक्ष प्रदान करेगा ।

## 9.3 अनेकता में एकता और एकता में अनेकता

भारत का इतिहास हजारों वर्षों पुराना है । हर युग में विविधता में एकता भारतीय समाज की एक विशेषता रही है । के.एल. शर्मा लिखते हैं कि "विभिन्न जातियों और समुदायों से जुड़े लोगों की संस्कृतियाँ, धर्मो एवं भाषाओं का यह वृहत् संश्लेषण है, जो अतीत में विदेशी आक्रमण और मुगल एवं ब्रिटिश शासन के बावजूद अपनी एकता और संबद्धता को संवर्धित करता है । यह ऐसा संश्लेषण है जो भारत की संस्कृति को एक अद्वितीय पच्चीकारी देता है । वे आगे लिखते हैं कि विदेशी हमलों, विश्व के अन्य भागों से अप्रवास और विभिन्न भाषाओं, संस्कृतियों और धर्मो के अस्तित्व ने एक तरफ इसकी संस्कृति को सहिष्णु बनाया तो दूसरी ओर इसी विशिष्टता और ऐतिहासिकता ने इसे एक अद्वितीय नैरंतर्य और जीवन संस्कृति प्रदान की है । यह एक बदलता हुआ समाज है, क्योंकि यह स्थिर नहीं है ।

यहाँ धर्म, भाषा, प्रदेश, रीति-रिवाज, परम्परा, सामाजिक-सांस्कृतिक भिन्नता पर आधारित बहुसंख्यक समूह एवं अल्पसंख्यक समूह साथ-साथ रहते हैं । वे एक राष्ट्र का निर्माण करते हैं । कभी-कभी इन समूहों में किसी मुद्दे को लेकर आपसी संघर्ष होते हैं तो इन संघर्षो को समाज-व्यवस्था स्वत: पचा लेती है ।

भारत की अनेकता में एकता और एकता में अनेकता के वर्तमान पोषक तत्वों की बात की जाये तो निम्न बातें प्रमुख हैं :- भारत का प्रजातंत्रिय संविधान; स्वतंत्र न्यायपालिका, धर्म निरपेक्षता; संघीय राज्य-व्यवस्था; प्रादेशिक भाषाओं का सम्मान; आर्थिक वृद्धि एवं सामाजिक न्याय पर आधारित राष्ट्रव्यापी विकास के कार्यक्रम; कमजोर और पिछड़े वर्गों के लोगों के हित में आरक्षण तथा सामाजिक कल्याण के सविशेष कार्यक्रम आदि का उल्लेख प्रस्तुत बनता है ।

## 9.4 भारतीय समाज में सामाजिक परिवर्तन की शक्तियाँ

जैसा कि ऊपर कहा गया है कि भारतीय समाज एक बदलता हुआ समाज है, क्योंकि यह स्थिर नहीं है । इसका तात्पर्य है कि प्राचीन समय से ही विविध स्त्रोतों से सामाजिक-सांस्कृतिक परिवर्तन के प्रवाह यहाँ के सामाजिक. ढाँचे को प्रभावित करते रहे हैं । समाजशास्त्री जी.एस घुर्ये ने 'कास्ट एण्ड रेस इन इण्डिया' में इसी बात को केन्द्र में रखते हुए जाति-प्रथा के विश्लेषण हेतु "कास्ट भू एजेज" शीर्षक के दो प्रकरण - 3 एवं 4 लिखे हैं । उन्होंने भारतीय समाज-व्यवस्था में जाति-प्रथा को समझाने के लिये भारत के इतिहास को चार युगों में विभाजित किया है:- (1) वैदिक युग ई.पू. 600, (2) अनु-वैदिक युग, (3) धर्मशास्त्रों का युग एवं (4) आधुनिक युग । इन श्रेणियों में आधुनिक युग 19वीं सदी से प्रारम्भ होता है । घुर्ये कहते हैं कि इसी युग में आधुनिक भारत की नींव पडी और भारतीय समाज के विश्वासों और परम्पराओं की विद्वानों द्वारा व्याख्या होने लगी । घुर्य ने जाति-प्रथा के उद्भव और विकास को समझाने के आशय से जिन चार युगों का आधार लिया वो प्रदान भारत में सामाजिक परिवर्तन

की प्रक्रियाओं को समझने में भी उपयोगी साबित होते हैं । यहाँ स्थल संकोच के कारण इन युगों का आधार लेकर विषद वर्णन सम्भव नहीं है । अत: केवल आधुनिक युग में जो प्रमुख परिबल सामाजिक परिवर्तन को जन्म तथा गति देने में उभर आये हैं, उन्हीं का उल्लेख किया गया है ।

संक्षेप में कहा जाये तो ब्रिटिश शासन आधुनिक भारत में सामाजिक परिवर्तन को दिशा एवं गति प्रदान करने में प्रभावपूर्णरूप से क्रियाशील रहा है । मार्क गालेन्टर ने कहा है कि ब्रिटिश युग में अस्तित्व में आई कानूनी व्यवस्था ने भारत में वर्ण-व्यवस्था तथा जाति-प्रथा आदि पर आधारित परम्परागत रिवाजों व सम्बन्धों की जटिलता को एक तार्किक व्याख्या में जोड़ा । ब्रिटिश न्याय प्रणाली; नौकरशाही तथा आर्थिक प्रवर्तियों का भी सामाजिक परिवर्तन में महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है । इसके अलावा ब्रिटिश संस्कृति से सम्पर्क तथा अंग्रेजी शिक्षण के प्रसार के परिणामस्वरूप भारत में स्वतन्त्रता; समानता एवं सामाजिक न्याय की पुरुषकर्ता उदारमती विचारधारा का उदय और विकास हुआ ।

इसके फलस्वरूप समाज में एक नई चेतना आई । समाज के प्रबुद्ध वर्ग के लोगों ने परम्परागत सामाजिक ढाँचे की बुराईयों की ओर ध्यान दिया । इसी चेतना से धीरे-धीरे सामाजिक-सांस्कृतिक तथा धार्मिक सुधार के कई आन्दोलन अस्तित्व में आये' ब्रह्म समाज; प्रार्थना समाज, आर्य समाज; थियोसोफिकल सोसायटी आदि प्रमुख आन्दोलनों के उपरान्त दक्षिण भारत में जाति प्रथा के विरूद्ध खड़े हुए आन्दोलन और भारत के भिन्न-भिन्न प्रदेषों में हुए आदिवासी आन्दोलन एवं कृषक आन्दोलन नई चुनौतियों के रूप में सामने आये । इन्ही प्रवाहों के बीच भारतीय राष्ट्रिय स्वतंत्रता का राष्ट्रव्यापी आन्दोलन भी परम्परागत सामाजिक ढाँचे के सामने एक प्रबल चुनौती के रूप मे खड़ा हुआ

इन्ही चुनौतियों के फलस्वरूप ब्रिटिष युग में ही सामाजिक कानूनीकरण की श्रृंखला अस्तित्व में आई । आजादी बाद के भारत में प्रजातंत्रीय संविधान अस्तित्व में आया जो नये भारत की समाज व्यवस्था के निर्माण की एक रूपरेखा प्रदान करता है । भारत के स्वतंत्र संविधान की विविध कलमों के अधिन नये-नये कानून और नीतियाँ अस्तित्व में आई जो भारत के प्रत्येक नागरिक को स्वतंत्रता, समानता तथा सामाजिक न्याय के अधिकार देता है साथ ही समाज के पिछड़े तथा कमजोर वर्गों को विकास के पूरे-पूरे अवसर प्राप्त हो सके । इस आशय से आरक्षण के जरिये विशेष अधिकार देता है, जिन्हे राज्य या अन्य कोई संस्था या व्यक्ति आदि नहीं छीन सकता है । संविधान की उपरोक्त भावना को वास्तविक परिस्थितियों में सार्थक बनाने के लिये अनेक कार्यक्रम अस्तित्व में लाये गये हैं । ये कार्यक्रम सरकार के माध्यम से कार्यान्वित होते हैं । पंचवर्षिय योजनाएं; पंचायती राज; पिछड़े विस्तारों तथा वर्गो के लिए विशेष कार्यक्रम; गरीबी, बेकारी, कुस्वास्थ्य; निरक्षरता; ग्रामीण विकास; आदिवासी विकास; बाल तथा महिला कल्याण; परिवार कल्याण आदि अनेक योजनाबद्ध कार्यक्रमों तथा इस श्रृंखला में समावेश होता है । सन् 1992 में नई आर्थिक नीति के अधीन वैश्विकीकरण उदारीकरण तथा निजिकरण की नीतियों को अपनाने से भारतीय समाज के ढाँचे को प्रभावित करती नई सशक्त चुनौतियाँ अस्तित्व में आई हैं ।

## 9.5 सामाजिक परिवर्तन के अध्ययन के समाजशास्त्रीय उपागम

भारतीय समाज के परम्परागत ढाँचे में आ रहे परिवर्तन के प्रवाहों के परिणामस्वरूप जो नई सामाजिक वास्तविकताएं अस्तित्व में आई उनसे प्रेरित होकर समय-समय पर समाजशास्त्रियों तथा अन्य सामाजिक वैज्ञानिकों ने शास्त्रीय ढंग से परिवर्तन के प्रवाहों को समझाने का प्रयास किया है । इससे एक तरफ भारतीय समाजशास्त्र समृद्ध हुआ है, तो दूसरी ओर जन्म ले रही सामाजिक वास्तविकता की दिशा तथा गति समझने का बोध मिला है । योगेन्द्र सिंह ने अपनी पुस्तक 'मोडर्नाइजेशन ऑफ इण्डियन ट्रैडीषन' में इन उपागमों की सूक्ष्म जानकारी दी है । अब हम संक्षेप में कुछ प्रमुख उपागमों की जानकारी प्राप्त करेंगे ।

### 9.5.1 संरचनात्मक उपागम

पारस्परिक सामाजिक अन्तरक्रियाओं तथा सामाजिक सम्बन्धों के ताने-बाने के विश्लेषण के आधार पर प्रवर्तमान सामाजिक-वास्तविकता तथा घटनाओं को समझाना इस उपागम में केन्द्रीय स्थान रखता है । यह उपागम संस्कृतिक से भिन्न है । सांस्कृतिक उपागम में मूल्यों, परम्पराओं तथा आदर्शात्मक घटनाओं के विश्लेषण पर जोर दिया जाता है, जबकि संरचनात्मक उपागम में सामाजिक ढाँचे की इकाइयाँ, जैसे कि नातेदारी; जाति, वर्ग, औद्योगिक संस्थान या प्रशासनिक इकाई पर ध्यान केन्द्रित होना है । इस उपागम की धारणाओं में सामाजिक ढाँचे का स्थान संस्कृति से ऊपर माना जाता है यानि कि संस्कृति के क्षेत्र में हुए परिवर्तन के परिणाम सामाजिक ढाँचे को प्रभावित करते हैं और -सम्बन्धों को नई तरह प्रस्थापित करते हैं । जैसे कि संयुक्त परिवार के स्थान पर एकाकि परिवार अस्तित्व में आता है, तो पारिवारिक सम्बन्धों का स्वरूप एवं ढाँचा भी बदलता है । योगेन्द्र सिंह कहते हैं कि ऐतिहासिक कारणों के कारण भारत में सामाजिक परिवर्तन के विश्लेषण में सांस्कृतिक उपागम का ही विशेष आधार लिया जाता रहा है, जबकि संरचनात्मक उपागम की स्पष्ट रूप से अवहेलना होती आई है ।

### 9.5.2 द्वन्द्वात्मक उपागम

इस उपागम के आधार मार्क्सवादी दर्शन में रहे हैं । हालांकि कालक्रम में इस उपागम की अवधारणाओं तथा संकल्पनाओं में उतरोत्तर स्पष्टता तथा सूक्षमता आती रही है । इस उपागम के माध्यम से आर्थिक प्रवाहों के अर्थघटन के आधार पर परम्परागत सामाजिक ढाँचे तथा जाति व्यवस्था को समझाने के प्रयास हुए हैं । इस उपागम के जरिये डीपी मुखर्जी, ए. आर. देसाई. पी . सी. जोशी, डी.एन. घनागरे तथा गेल आमवेत्त का सामाजिक परिवर्तन के विश्लेषण में विशेष योगदान रहा है । भारत में राष्ट्रवाद के उदय को समझते हुए ए. आर. देसाई इस उपागम के आधार पर ऐतिहासिक सामग्री का उपयोग करते हुए कहते हैं कि भारत में ब्रिटिश संस्थानवाद के फलस्वरूप जिन भौतिक परिस्थितियों का निर्माण हुआ, उन्हीं में से राष्ट्रवाद का जन्म हुआ । ब्रिटिश कम्पनी के आने से पहले भारत में राष्ट्रवाद का अस्तित्व ही नहीं था ।

योगेन्द्र सिंह कहते हैं कि इस उपागम की सबसे बड़ी समस्या यह है कि उपागम की प्रमुख दलिलों के समर्थन में संतोषजनक ऐतिहासिक तथ्य उपलब्ध नहीं हो पाते हैं ।

### 9.5.3 ज्ञानवोधित ऐतिहासिक उपागम

इस उपागम के प्रणेता लुईस ड्यूमो हैं । उनका कहना है कि सामाजिक परिवर्तन के अध्ययन में समाजशास्त्री का दृष्टिकोण सामाजिक जीवन के एक सरल तथ्य को सामाजिक जटिलता के संदर्भ में समझाने का प्रयास करना चाहिये । योगेन्द्र सिंह लिखते हैं कि ड्यूमो के मतानुसार भारत में सामाजिक परिवर्तन के अध्ययन में उदाहरण के तौर पर समाजशास्त्री का ध्यान पश्चिमी संस्कृति के प्रवाहों की ओर भारतीय मानसिकता की कैसी प्रतिक्रिया रही है, इसकी जानकारी प्राप्त करने पर केन्द्रित होनी चाहिये । पाश्चात्य संस्कृति के जाने जा सकने वाले तत्त्व जैसे कि व्यक्तिवाद, स्वतंत्रता, प्रजातंत्र आदि के प्रति भारतीय परम्परा की प्रतिक्रिया का रूख स्वीकृती या अस्वीकृती की ओर रहा है । यह समझाने का प्रयास होना चाहिये । संक्षेप में कहें तो इस उपागम का सामाजिक परिवर्तन में प्रमुख आषय समाज की वैचारिकता या "वैचारिक ढाँचे" में हुए परिवर्तनों को समझने पर केन्द्रित होना चाहिये । इस उपागम में एक महत्त्वपूर्ण बात यह भी है कि इसके जरिये सामाजिक परिवर्तन के अध्ययन में एक संस्कृति पर पड़े दूसरी संस्कृति के प्रभावों को भी समझाया जा सकता है ।

### 9.5.4 एकीकृत उपागम

सामाजिक परिवर्तन के अध्ययन उपरोक्त उपागमों की अर्न्तनिहीत कमियों की ओर ध्यान आकर्षित करते हुए योगेन्द्र सिंह ने इस उपागम को प्रस्तुत किया है । इस उपागम में समाज के आंतरिक तथा बाह्म पहलूओं को ध्यान में रखते हुए सामाजिक परिवर्तन के स्त्रोतों को समझने का प्रयास होता है । इसके अलावा परिवर्तन की दिशा तथा प्रवाहों की जानकारी ली जाती है । यह उपागम सांस्कृतिक परिवर्तन तथा सामाजिक ढाँचे में आ रहे परिवर्तनों के प्रवाहों को समझाने में उपयोगी होता है ।

रोबर्ट रेडफिल्ड एवं मिल्टन सींगर का इस उपागम में सामाजिक परिवर्तन के बाह्य स्त्रोत तथा आंतरिक स्त्रोत की ओर ध्यान आकर्षित करने में महत्त्वपूर्ण माना जाता है ।

व्यावहारिक सत्य यह है कि वे अभी भी अमानती तथा अनुचित व्यवहार भोग रही है जो उन्हे अपमान व शर्मा के अलावा कुछ भी नही दे रहा है।

उपरोक्त विश्लेषण से यह संकेत मिलता है कि स्त्रियों को निरंतर निकृष्ट, आश्रित तथा शोषण के चुंजुल से बचाने के प्रयत्नो में परिवर्तन आ रहा है। तथापि यह परिवर्तन मंद तथा योजनाबद्ध नही हुआ है।

## 9.6 स्वतंत्रयोत्तर काल में स्त्रियाँ (Women in the Post Independence Period)

भारत में 1940 तक स्त्रियों की निम्न दशा के प्रमुख कारण अशिक्षा, आर्थिक निर्भरता, धार्मिक निषेध, जाति बन्धन, स्त्री नेतृत्व का अभाव, तथा पुरुषों का उनके प्रति अनुचित दृष्टिकोण आदि थे । मैंटेसन (Everett Jan Mastson, 1988 : 36-43 ) ने हमारी संस्कृति

में स्त्रियो की एकान्तता तथा उनके निम्न स्तर के लिए पाँच कारकों को उत्तरदायी ठहराया है। यह है : हिन्दू धर्म, जाति व्यवस्था, संयुक्त परिवार, इस्लामी शासन तथा ब्रिटिश उपनिवेशवाद हिन्दूवाद के आदर्शों के अनुसार पुरुष स्त्रियों से श्रेष्ठ होते है और पुरुषों को भिन्न भिन्न भूमिकाएँ निभानी चाहिए । स्त्रियों से माता व गृहणी की भूमिकाओं की और पुरुषों से राजनीतिक व आर्थिक भूमिकाओं की आशा की जाती थी हिन्दू धर्म ग्रन्थों में स्त्रियों के लिए समाज पर्यन्त आश्रित के रूप में माना गया है। जाति व्यवस्था ने भी जन कार्यों व सार्वजनिक मामलों में स्त्रियों की बागीदारी पर प्रतिबन्ध लागाए । कड़कियो के लिए जल्दी विवाह का प्रावधान किया गया, दूसरी ओर विधवा विवाह और आयु, लिंग व नातेदारी के आधार पर परिवार में उनकी स्थिति निम्न होती गई । मुस्लिम युग में स्त्रियों की दिशा में और भी पतन हुआ। इस्लामिक शासन में सामाजिक-राजनैतिक प्रभाव में हिन्दुओ ने स्त्रियों की एकांतता व पर्दे की प्रथा को मुसलमानों की तरह अपना लिया जिसके कारण लिंग के आधार पर श्रम का भी एक पूरक विभाजन हो गया। मुस्लिम नवाबो तथा जागीरदारों की कुदृष्टि से बचाने के उद्देश्य से बाल-विवाह सामान्य रूप से होने लगे। यद्यपि ब्रिटिश शासकों ने हिन्दुओ के सामाजिक विधानों में बाधा पैदा करने का प्रत्यन नही किया लेकिन उन्नीसवी शताब्दी के अंतिम दशको तथा बीसवी शताब्दी के प्रारम्भिक पचीस वर्षो में जब कुछ पुरुष समाज सुधारको ने स्त्रियों की दशा सुधारने की बात की तथा उनके प्रयत्नो से महिला आंदोलनों को बल मिला, तब ब्रिटिश सरकार कुछ वैधानिक कदम उठाने तथा कुछ सामाजिक प्रथाओ को समाप्त करने या उनमे परिवर्तन करने के लिए सहमत हो गई ।

## 9.7 वर्तमान में स्त्रियों की आर्थिक स्थिति

स्त्रियों को अधिकारो से वंचित रखने के लिए वैयक्तिक, आर्थिक व जनसंख्या संबधी कारक महत्वपूर्ण हो सकते है । वैयक्तिक कारको का संबंध उन पुरुषो के व्यक्तित्व की विशेषतोवो से है जो निम्न बौद्धिक योग्यता (I.Q.) रखते है. जो अपरिपक्वता, कुण्ठा, तथा नैराश्य से पीड़ित होते है और जो स्त्रियों से अयथार्थवादी उच्च आशाए रखते है तथा आशा करते है कि वे निष्क्रिय एवं दब्बू बनी रहे। जहाँ तक आर्थिक कारको का संबंध है, न कमाने वाली महिलाओ को कमाने वाली महिलाओ को उच्च आय वर्गीय महिलाओ की अपेक्षा अधिकारो से अधिक वंचित रखा जाता है और नौकरियों में निम्न स्तर की नौकरियों में लगी महिलाओ को उच्च पद वाली नौकरियों में लगी महिलाओ की अपेक्षा कम अधिकार होते है। अन्त में, जहाँ तक जनसंख्यात्मक कारको का संबंध है, उच्च जातियो की महिलाओ को निम्न एवं मध्यम जाति की अपेक्षा अचिकारों से कम वंचित किया जाता है, बड़ी आयु के पुरुष स्त्रियों को अधिकारो से कम आयु के पुरुषो की अपेक्षा अधिक वंचित करते है, तथा महिलाओ द्वारा महिलाओ को अधिकारो से कम वंचित किया जाता है, अपेक्षाकृत पुरुषो द्वारा महिलाओ को । यह हमे उनपुरुषों को पहचानने में सहायता करता है जो स्त्रियों को अधिकार देने से इकार करते है । यह वे पुरुष होते है जो हींन भावना के शिकार होते है, नैराश्य से भरे होते है, बुद्धि व योग्यता कम रखते है या फिर समाज विकृति और मनोविकृति से पीड़ित होते है, अर्थात उनका व्यक्तित्व अव्यवस्थित होता है, स्वभाव से स्थितियो का सामना करते रहते है। उन स्त्रियों को भी अलग से पहचाना जा सकता है उन्हे अधिकारों से वंचित रखा जाता है, वे स्त्रियाँ स्वयंकों असहाय अनुभव करती है, हीन भावना से

ग्रसित होती है, स्वय के विषय में हीन धारणाए रखती है, सामाजिक परिपक्वता मे कमी अनुभव करती है तथा आर्थिक रूप से आश्रित होती है।

### 9.7.1 स्त्रियाँ और रोजगार (women and Employment)

श्रम के बाजार में स्त्रियों को हानि ही उठानी पड़ती है । यह हानि उनकी अशिक्षा, दक्षता की कमी, समाज व्यवस्था में हीन स्थिति तथा निर्णय करने तथा शक्ति की संरचना से उन्हे बाहर रखने जैसे स्थितियो का ही प्रतिफल है।

### 9.7.2 कामकाजी महिलाए (The Working Women)

1991 की जनगणना कमिश्नर की रिपोर्ट के अनुसार शहरों व गाँवो दोनों में ही घर की चार दीवारी से बाहर आकर काम करने वाली महिलाओ की संख्या में उल्लेखनीय वृद्धि हुई है । 1971 की जनगणना के आंकड़ो के अनुसार देश की कुल कार्य शक्ति (work force) में 13.0 % महिला श्रमिक थी। यह प्रतिशत 1981 में 25.89 और 1991 में 28.57 हो गया (The Hindustan Times, April 6,1993)। लगभग 80% महिलाए कृषि कार्यो में लगी है । केवल 12.0 % स्त्रियाँ ही राज्य प्रशासनिक सेवाओ में और सार्वजनिक प्रतिष्ठानों में लगी है।

### 9.7.3 कार्य प्रेरणाए (work Motivations)

महिलाए रोजगार क्यों ढूढ़ती है ? स्त्रियो में रोजगार के लिए प्रेरणा पुरुषो से भिन्न होती है। स्पष्ट कारण तो है धन की आवश्यकता ,लेकिन यह कहना गलत होगा कि सभी महिलाए धन के कारण ही नौकरी करती है। एक अध्ययन में 728 कामकाजी महिलाओ के अध्ययन में नौकरी करने के प्रमुख कारण इस प्रकार पाये गये पति के अपर्याप्त वेतन के कारण, पति कि मृत्यु,पति की बीमारी, पति के सहारा न देने के कारण , पति द्वारा परित्याग तथा घर से बाहर काम करने को वरीयता देने के कारण। मोटे तौर पर कहा जाये तो अधिकांश महिलाए आर्थिक अवश्यकताओ के कारण ही नौकरी करती है। दीपा माथुर (1992:23) के जयपुर (राजस्थान) में 225 कामकाजी महिलाओ के अध्ययन से महिलाओ के सेवायुक्त होने के छः कारक पता है : आर्थिक आवश्यकता मिल्टन सीन्गर का कहना है कि सभी संस्कृतियाँ प्रारम्भ में प्राथमिक अथवा ओर्थोजैनेटिक स्तर से प्रारम्भ होती है । यह स्तर लोक समाज और कृषक अवस्था का होता है। यहाँ से संस्कृतियाँ बाह्य स्त्रोतों के प्रभाव तथा दूसरी संस्कृतियों के साथ सम्पर्क में आने से उनमें विविधता यानि कि प्रक्रियाएँ शुरू हो जाती हैं । अन्त में यही संस्कृतियाँ वैश्विक अथवा सार्वत्रिकै स्वरूप धारण करती हैं ।

मिल्टन सीन्गर भारत में सामाजिक-सांस्कृतिक परिवर्तन के बारे में निम्न प्रमुख बाते करते हैं :-

1. भारत में लोक समाज या स्थानिक संस्कृति का पूर्व अस्तित्व होने से लघु परम्परा के साथ दीर्घ परम्परा का नाता भिन्न-भिन्न प्रदेशों, गाँवों, जातियों तथा जनजातियों में आसानी से देखा जा सकता है ।

2. भारत के लोगों के जनमानस तथा वैचारिकता की समरूपता के कारण सांस्कृतिक सातत्य को इसके एक परिणाम तथा कारण के रूप में देखा जा सकता है ।
3. सर्वसामान्य सांस्कृतिक चेतना का निर्माण भारत में उपलब्ध धार्मिक ग्रन्थों, पवित्र प्रतिकों तथा सांस्कृतिक हस्तान्तरण के जिम्मेवार निश्चित सामाजिक वर्ग जैसे कि ब्राह्मण की उपस्थिति के कारण सम्भव हुआ है ।
4. यहाँ कि प्राथमिक संस्कृति अथवा लघु परम्परा की अपनी शक्ति के फलस्वरूप एक रेखीय परिवर्तन असम्भव ही हैं । इसी बात को दूसरे शब्दों में कहें तो यहाँ की परम्पराओं की अपनी इतनी शक्ति है कि ये आधुनिकीकरण को भी परम्पराओं में ढाल ले सकती है ।

### 9.7.4 स्थानीकीकीरण तथा सार्वत्रिकीकरण या सार्वभौमिककरण की प्रक्रियाएँ

इन प्रक्रियाओं के प्रणेताओं में रोबर्ट रेडफिल्ड मिल्टन सीनार तथा मैकिम मेरियट के नाम अग्रस्थान पर आते हैं । रेडफिल्ड एवं सीनार ने कहा कि किसी भी स्थानिक या मूल सभ्यता की दीर्घ परम्पराओं का उदय उक्त सभ्यता या समाज की लघु परम्पराओं में विद्यमान तत्त्वों के सार्वत्रिकीकरण या उन्हें आगे बढ़ाने की वास्तविकता में होता है । किसी भी स्थानिक संस्कृति की लघु परम्परा का दीर्घ परम्परा में रूपान्तरण तभी सम्भव होता है, जबकि उसके तत्त्वों को शक्तिषाली रूप से प्राथमिक हस्तान्तरण से द्वैतियीक हस्तान्तरण द्वारा पुन: परिभाषित किया जाता है ।

योगेन्द्र सिंह कहते हैं कि सार्वत्रिकीकरण तथा स्थानिकीकरण की विभावनाएँ सांस्कृतिक परिवर्तन में विशेष उपयोगी होती है ।

### 9.7.5 धर्मनिरपेक्ष आधारित प्रक्रिया

भारत के सामाजिक ढाँचे के परिवर्तन के अध्ययनों में धर्मनिरपेक्षता की प्रक्रिया का भी महत्वपूर्ण योगदान है । इस प्रक्रिया का उदय भारत में ब्रिटिश शासन के समय से ही प्रारम्भ हो गया था । इसके परिणाम भारतीय सामाजिक जीवन और संस्कृति में साम्प्रदायिकता के विरुद्ध चेतना आने लगी । दिन-प्रतिदिन के व्यवहार तथा निश्चित अवसरों पर धर्म तथा पवित्रता एवं अपवित्रता के भाव की पकड़ कमजोर होने लगी । परम्परागत भारत में जाति प्रथा के आधार पर प्रचलित भेदभाव, खान-पान और पारस्परिक सामाजिक व्यवहार पर के प्रतिबन्ध; व्यवसाय की पसंदगी का अभाव; छुआछूत आदि सामाजिक जीवन की लाक्षणिकताएँ थी । जी.एस. घुर्ये; हटन, श्रीनिवास आदि ने धार्मिक पवित्रता तथा अपवित्रता की मान्यताओं के आधार पर ढीली परम्परागत जीवन शैली की गहराई से जानकारी दी है । धर्मनिरपेक्षता की प्रक्रिया के फलस्वरूप सामाजिक ढाँचे के कई पहलूओं में बदलाव आया है तथा धार्मिक-विश्वासों के स्थान पर प्रचलित सामाजिक चेतना का प्रभाव बड़ा है ।

एम.एन. श्रीनिवास ने अपनी पुस्तक "सोशियल चैन्ज इन मोडर्न इण्डिया" में संस्कृतीकरण; पश्चिमीकरण की प्रक्रियाओं की धर्मनिरपेक्षता की प्रक्रिया की भी भारत में सामाजिक परिवर्तन की एक महत्त्वपूर्ण प्रक्रिया के रूप में जानकारी देते हैं । इस प्रक्रिया के

फलस्वरूप भारत में सामाजिक परिवर्तन के दौर में जो गणनापात्र पहलू दिखाई देते हैं, उनका संक्षिप्त सार निम्न रूप से दिया जा सकता है :-

पराम्परागत भारत में जो कुछ धार्मिक दृष्टिकोण से ही देखा जाता था, उसे अब धर्म से अलग किया जाने लगा है ।

तार्किकता को बढ़ावा मिल रहा है । पहले जिन घटनाओं तथा मुद्दों को धार्मिक विश्वास और विचारों के आधार पर समझा जाता था, उन्हें अब आधुनिक ज्ञान की मदद से समझा जाने लगा है ।

जाति-प्रथा तथा अन्य संस्थाओं के आधार पर जो भेदभाव तथा अन्याय होता था, वो अब नष्ट होने लगा है । पवित्रता तथा अपवित्रता के विश्वास पर आधारित जीवन तथा पारस्परिक व्यवहार का प्रारूप सामाजिक जीवन में से दूर हो रहा है ।

राज्य और धर्म एक-दूसरे से अलग हुये हैं । दूसरे शब्दों में राज्य का साम्प्रदायिक स्वरूप नष्ट हुआ है ।

व्यक्ति के सार्वजनिक जीवन से हटकर धर्म व्यक्ति के नीजि जीवन का एक अंग मात्र माना जाता है ।

श्री एम.एन श्रीनिवास कहते हैं कि महिलाओं के सार्वजनिक जीवन और शिक्षण प्राप्त करने के परम्परागत बन्धन दूर हुए है ।

जन्म, विवाह तथा मृत्यु की घटनाओं के वक्त परम्परागत विधि-विधान तथा मान्यताओं के स्थान पर स्वास्थ्य; तन्दुरुस्त वातावरण तथा वैज्ञानिक पद्धतियों की ओर झुकाव बढ़ रहा है ।

सामाजिक अवसरों तथा त्यौहारों व धार्मिक कार्यक्रमों में परम्परागत विशेषाधिकार के स्थान पर सार्वजनिक स्वरूप अस्तित्व में आ रहा है ।

इस तरह से धर्मनिरपेक्षता की प्रक्रिया के बढ़ते हुए वेग के साथ सामाजिक ढाँचे में आधारभूत परिवर्तन आ रहे हैं । श्रीनिवास लिखते हैं कि सामाजिक परिवर्तन के संदर्भ में धर्म निरपेक्षता का अर्थ पारस्परिक व्यवहार से धर्म को अलग रखना है । आज व्यापक रूप से वास्तविक परिस्थितियों में उक्त अर्थ को समर्थन दें, वैसी वास्तविकता व्यापक रूप से दिखाई देती है । फिर भी कहीं-कहीं धर्म का आधार लेकर साम्प्रदायिकता को बढ़ावा देते विविध संगठन एवं संस्थाएँ स्थापित हुई हैं । यह भी एक कड़वी वास्तविकता है । समस्त विष्व को भय ग्रसित करता आतंकवाद भी धर्मनिरपेक्षता का दुश्मन है ।

### 9.7.6 आधुनिकीकरण

भारत में आधुनिकीकरण की प्रक्रिया का श्रीगणेश ब्रिटिश शासन के युग से माना जाता है । समाजशास्त्रियों ने आधुनिकीकरण की प्रक्रिया को वैश्विक संदर्भो में आर्थिक राजकीय परिमाणों से लेकर किसी निश्चित समाज में सामाजिक-सांस्कृतिक प्रक्रिया के रूप में विश्लेषण किया है । इसके परिणामस्वरूप समाजशास्त्रीय तथा अन्य सामाजिक विज्ञानों के साहित्य में गये कुछ दषकों में प्रचुर साहित्य अस्तित्व में आया है । भारतीय संदर्भ को केन्द्र में रखते हुए

इस जटिल विषय पर योगेन्द्र सिंह के दो ग्रन्थ अत्यन्त मूल्यवान साबित हुए हैं । उनका प्रथम ग्रन्थ "मोडर्नाईजेशन ऑफ इण्डियन ट्रेडिशन" सन् 1972 में प्रकाशित हुआ ।

योगेन्द्र सिंह कहते हैं कि आधुनिकीकरण की प्रक्रिया विज्ञान की तरह एक खुली प्रक्रिया है । इसकी प्रकृति उत्कान्तिवादी है, यानि कि यह प्रक्रिया अपने आप बदलती और रूपान्तरित होती है । अत: कोई भी समाज यह दावा नहीं कर सकता है कि उसने सम्पूर्ण आधुनिकता धारण कर ली है । वास्तव में प्रत्येक समाज आधुनिकीकरण की एक कक्षा होती है, जिसकी व्याख्या ऐसे पैमानों पर होती है, जो अपने आप में अधुरे होते हैं ।

तथा 26% ने निम्न कोटि का समायोजन दर्शाया। नौकरी समायोजन का स्तर नौकरी की प्रकृति, सेवा अवधि, तथा भावी योजनाओ के साथ ही विविध पाया गया। दूसरी ओर 'घर का समायोजन' परिवार संरचना, आकार, पति तथा ससुराल वालो से सहयोग, तथा स्व मूल्यांकन पर निर्भर करता है । दोनों स्थितियो को एक साथ रखकर कहा जा सकता है कि कामकाजी महिलाएं सामान्यतया घर की जिम्मेदरियों तथा अपनी आकांक्षाओं को पूरा करने के लिए इस प्रकार योजना बना लेती है कि समायोजन करने में कठिनाई नही आती। यद्यपि महिलाएं अपनी आय अधिकार जीवन स्तर ऊंचा उठाने में खर्च करती है तथा उन पर घमण्डी,लापरवाह, आत्म केन्द्रित होने का आरोप लगाया जाता है, फिर भी वे घर की चार दीवारी से बाहर निकल कर तथा राष्ट्र व मानवता के वृहत दायरे में अपनी भागीदारी का निर्वाह कर रही है।

## 9.8 महिलाओं के अधिकार (Rights of Women)

ऐसे समाज में जहाँ कुल जनसंख्या की आधी तीन- पंचमांश भाग अशिक्षित महिलाएं है (1991 जनगणना), ऐसे रूढ़िवादी परम्पराओं एवं विश्वासों तथा प्रथाओं में जकड़े हुए समाज को रातों रात नहीं बदला जा सकता l न ही इनके विरुद्ध प्रबल जनमत तैयार करना सरल है। विधानों का कुछ प्रभाव होता है लेकिन इनको बड़ी सावधानी से चरणो में लागू करना सरल है। विधान की पुस्तकों में महिलाओं से संबंधित कितने विधान है? हिन्दू समाज को इन विधानों ने किस सीमा तक आंदोलित से संबंधित कितने विधान है? हिन्दू समाज को इन विधानों ने किस सीमा तक आंदोलित किया है? किस सीमा तक उन विधानों से सामाजिक परिवर्तन आया है? इन विधानों के माध्यम से प्राप्त महिला अधिकारों का विवेचन निम्न प्रकार से किया जा सकता है।

पुरुषो के समान स्त्रियों को भी संविधान द्वारा प्रमुख अधिकार इस प्रकार है :

समानता का अधिकार, अर्थात अवसरों की समानता, कानून के समक्ष समानता, कानूनों का समान का संरक्षण तथा नौकरियों आदि में लिंग के आधार पर भेदभाव न समझा जाना

स्वतंत्रता का अधिकार, अर्थात भाषण की स्वतंत्रता, निवास की स्वतंत्रता एवं व्यवसाय व गतिशीलता की स्वतंत्रता।

शोषण के विरुद्ध स्वतंत्रता, अर्थात' बेगार' के विरुद्ध ।

धर्म की स्वतंत्रता का अधिकार, अर्थात उपदेश तथा धर्म का स्वतंत्रतापूर्वक अनुपलान।

सम्पत्ति का अधिकार, अर्थात सम्पत्ति प्राप्त करने, रखने तथा बेचने का अधिकार

सांस्कृतिक एवं शैक्षिक अधिकार अर्थात संस्कृति का संरक्षण तथा शैक्षिक संस्थाओ में प्रवेश प्राप्त करने का अधिकार।

संवैधानिक उपचार (remedy) का अधिकार, अर्थात मौलिक अधिकारों को लागू करने के लिए न्यायालय की शरण में जाने का अधिकार

इन मूल अधिकारों के आश्वासन के अतिरिक्त राज्य सरकारों को भी यह अधिकार दिए गए है कि वे समय- समय पर ऐसे विधान लागू करे जो स्त्रियों के हितो की रक्षा करते हो तथा स्त्रियों के साथ व्यवहार में उन्हे वरीयता दी जाए। इस आधार पर सरकार समय-समय पर ऐसे वैधानिक उपाय करती रही है जिनसे सामाजिक व्यवस्था एवं न्याय बना रहे।

गत तीन या चार दशकों में काफी संख्या में विधान लागू किए गए है एवं कुछ में सुधार किए गए है जिनसे महिलाओं के समान स्तर एवं अवसरों को सुनिश्चित किया गया है। इन विश्रमों का मूल्यांकन तीन स्तरों पर किया जा सकता है सामाजिक आर्थिक और राजनैतिक

### 9.8.1 सामाजिक विधान ( Social Laws)

महिलाओं से संबंधित तथा सामाजिक कानूनों से संबंधित चार प्रमुख मामले है: विवाह, गोद लेना (adoption), संरक्षकता (guardianship) एवं गर्भपात (abortion)। विवाह से संबंधित कुछ प्रमुख समस्याएं है : (1) जीवन साथी का चुनना, (2) विवाह] की आयु, (3) बहु पत्नी विवाह, (4) निर्योग्य (invalid) विवाह, (5) निष्प्रभावी (viod) विवाह, (6) विवाह विच्छेद, (7) दाम्पत्य अधिकारों का प्रत्यास्थापन (restitution of conju- gal rights), (8) गुजारा भत्ता, (9) बच्चे का संरक्षण (Custody of child) (10) दहेज, (11) पुनर्विवाह। पूर्व उलिखित कुछ लागू हो चुके विधान इस प्रकार है: 1955 का हिन्दू विवाह अधिनियम, 1954 का विशेष विवाह तथा 1856 का पुनर्विवाह अधिनियम।

बच्चों को गोद लेने से संबंधित नियम 1956 में पारित गया जिसे हिन्दू दत्तक ग्रहण एवं भरण पोषण अधिनियम नाम दिया गया। न केवल विवाहित स्त्रियों को बल्कि अविवाहित स्त्री, विधवा स्त्री तथा तलाकशुदा स्त्री को भी बच्चों को दत्तक अधिग्रहण का अधिकार दिया गया है । केवल अविवाहित तथा पन्द्रह वर्ष से कमआयु के बच्चों का ही दत्तक ग्रहण किया जा सकता है ।

1970 तक गर्भपात को वैधानिक दृष्टि से अपराध माना जाता था। 1971 में चिकित्सा गर्भसमापन अधिनियम, (Medical Termination of pregenecy Act) पारित किया गया जिसके माध्यम से गर्भपात महिला व गर्भपात शल्यक (adortionist) दोनों को ही गर्भपात की अनुमति प्रदान कर दी गई । यह अधिनियम अप्रेल,1972 से लागू किया गया तथा यह केवल बारह सप्ताह महिला व गर्भपात की अनुमति केवल रजिस्टर्ड डॉक्टर को देता है। गर्भ के केवल इन प्रस्थितियों में ही समाप्त करने की अनुमति दी गई है: यदि गर्भवती महिला के जीवन को जोखिम हो, उसके शारीरिक व मानसिक स्वस्थ्य को गंभीर हानि की आशंका हो या फिर इस भय हो कि जन्म लेने वाला बच्चा अपंग या शारीरिक व मानसिक असमानताओं (adhnormalities) के साथ जन्म लेगा । गर्भपात ऐसे मामलों में भी स्वीकृत होता है जहाँ गर्भ का कारण बलात्कार या गर्भ निरोधक विधियों की असफलता रहा हो ।

### 9.8.2 आर्थिक विधान (Economic Lawas)

आर्थिक विधानों से संबंधित विषय है: संपत्ति का अधिकार, समान पारिश्रमिक, कार्य करने की दशाएं प्रसूति लाभ तथा कार्य सुरक्षा (job security)। एक महिला के संपत्ति अधिकार का अर्थ है उसका पत्नी, पुत्री, विधवा तथा माँ के रूप में संपत्ति का अधिकार। हिंदू उत्तराधिकार अधिनियम, 1956 के अनुसार न केवल पुत्री को ही उसके भाई के बराबर का भाग पिता की संपत्ति में मिलता है, बल्कि एक विधवा को भी अपने मृत पिता की संपत्ति में से उसके पुत्रों के बराबर का भाग मिलता है। इस विधान ने ' स्त्रीधन' एवं गैर स्त्रीधन के बीच का भेद भी समाप्त कर दिया है ।अध्ययनों के आधार पर एक तरफ समाजशास्त्रीय साहित्य में कई नई अवधारणाओं का निर्माण हुआ है, तो दूसरी ओर भारतीय सामाजिक ढाँचे का स्वरूप तथा उसमें आ रहे परिवर्तन के प्रवाहों की गहराई से जानकारी प्राप्त हुई है । इन्हीं बौद्धिक योगदानों के लिये कुछ दशकों में भारतीय समाज से सुसंगत समाजशास्त्र का उदय हो, इसके लिये भी एक सोच पैदा की है ।

संक्षिप्त सार के रूप में कहें तो भारतीय समाज में 19वीं सदी से ही सामाजिक परिवर्तन के विविध परिबल कार्यरत रहे हैं । इन परिबलों की चुनौतियों के सामने परम्परागत सामाजिक ढाँचा यथायोग्य अनुकूलन करके अपने अस्तित्व को बदलती परिस्थितियों में भी सफलता से टिका रख सका है । अत: यह कहना उचित होगा कि भारत में सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रियाएँ सामाजिक ढाँचे के निरन्तरता एवं परिवर्तन की द्योतक हैं ।

## 9.9 शब्दावली

1. सामाजिक परिवर्तन - सामाजिक ढाँचे में अन्तर्निहीत सामाजिक सम्बन्धों के ताने-बाने में आते परिवर्तन ।
2. परम्परा - समाज स्वीकृत सामाजिक-व्यवहार की वे प्रणालिकाएँ जो पीढ़ी दर पीढ़ी समाजीकरण की प्रक्रिया द्वारा हस्तान्तरित होती हैं तथा उक्त समाज या समूह को अपनी पहचान प्रदान करती है ।
3. आधुनिकीकरण - समकालिन परिस्थितियों में कार्यरत वह प्रक्रिया जो परम्परागत प्रणालियों के समक्ष नई चुनौतियाँ खड़ी करती हैं । सामान्यत: भारत में इस प्रक्रिया को पश्चिमी समाजों के प्रभावों के उपरांत औद्योगिकीकरण; वैश्वीकीकरण उदारीकरण तथा नीजिकरण वगेरह के रूप में भी देखा जाता है ।
4. लघु परम्परा - स्थानीय स्तर पर गठित विश्वासों, मान्यताओं, विधि-विधान तथा सामाजिक व्यवहार की शैली जो निश्चित समूह या समुदाय की अपनी पहचान होती है ।
5. वृहद परम्परा - विष्वासों, विधि-विधानों तथा व्यवहार की वे तमाम प्रणालिकाएँ जो समाज की वृहद स्तर की पहचान होती हैं । इसके स्त्रोत मूल धर्म ग्रंथों तथा शास्त्रों में होते हैं ।

## 9.11 अभ्यासर्थ प्रश्न

1. भारत के परम्परागत सामाजिक ढाँचे का परिचय दीजिये । क्या आधुनिक समय में परम्परागत ढाँचा नष्ट हो रहा है?
2. समाजिक परिवर्तन के द्वन्द्वात्मक उपागम को समझाइये ।
3. संस्कृतीकरण तथा पश्चिमीकरण की प्रक्रिया समझाइये ।
4. धर्मनिरपेक्षता पर सामाजिक परिवर्तन की एक प्रक्रिया के रूप में टिप्पणी लिखिये ।
5. योगेन्द्र सिंह के ' 'निरन्तरता तथा परिवर्तन' ' के विचार समझाइये ।
6. भारत में सामाजिक-सांस्कृतिक परिवर्तनों के प्रवाहों के अध्ययन हेतु एससी. दुबे का क्या कहना है?

## 9.10 संदर्भ ग्रंथ


1. Yogendra Singh, 1972: Modernization of Indian Tradition; Rawat Publication, Jaipur.
2. Yogendra Singh, 2000: Culture Change in India; Rawat Publication, Jaipur.
3. M.N. Srinivas, 1966: Social Change in Morden India; Allied Publishers, New Delhi.
4. S.C. Dube, 1998: Modernization and Development.
5. G.S. Churye, 1969: Caste and Race in India; Popular Prakashan, Bombay.

सर्वप्रथम इस शब्द का प्रयोग उन्होंने अपनी ऊपर लिखी गई पुस्तक में किया । उसके बाद उनका एक लेख "ए नोट ऑन संस्कृटाइजेशन एण्ड वेस्टर्नाइजेशन फॉर इस्टर्न कंट्री", 1956 में प्रकाशित किया । यह लेख बाद में अनेक स्थानों पर फिर से छपा । इसके बाद भी श्रीनिवास, संस्कृतिकरण के बारे में अपने लेखों और पुस्तकों में लिखते रहे ।

संस्कृतिकरण सम्बन्धी अपने एक लेख में लिखते हैं कि भारतीय समाज के विश्लेषण के एक यन्त्र के रूप में संस्कृफिरण की उपयोगिता इस अवधारणा की जटिलता के कारण बहुत ही सीमित हो गई है । यह भी संभव है कि इसको अकेली अवधारणा मानने के बजाय अवधारणाओं का ढेर मानना अधिक उपयोगी हो सकता है । यह एक विस्तृत सामाजिक और सांस्कृतिक प्रक्रिया के लिए केवल नाम भर है और उन्होंने (श्रीनिवास ने) स्पष्ट किया है कि अवधारणा के भोंडेपन और अस्पष्टता के बावजूद भी वे उसको बिना किसी पश्चाताप इस्तेमाल करते रहेंगे ।

संस्कृतिकरण की प्रक्रिया को समझने से पूर्व प्रभु जाति, वि-संस्कृतिकरण तथा ब्राह्मणीकरण एवं संस्कृतिकरण की हम यहाँ चर्चा करेंगे ।

### 10.2.1 प्रभु जाति

संस्कृतिकरण के साथ ही श्रीनिवास ने प्रभु जाति की एक अन्य अवधारणा प्रस्तुत की । यह अवधारणा वास्तव में संस्कृतिकरण के साथ जुड़ी हुई है । श्रीनिवास ने उस जाति को प्रभु जाति कहा है, जिसकी एक क्षेत्र विशेष में संख्या अन्य जातियों की अपेक्षा काफी अधिक होती है एवं पारम्परिक पदानुक्रम में जिसकी स्थिति काफी नीची नहीं होती । प्रभुता की अवधारणा अपने आप में एक विशिष्टता रखती है, क्योंकि इसका आधार उच्चता या निम्नता नहीं है, अपितु आर्थिक एवं राजनैतिक सत्ता के साथ-साथ वह जाति क्षेत्र-विशेष में संख्यात्मक दृष्टि में प्रमुखता रखती है । वास्तव में इसमें शक्ति ' सत्ता पर अधिक जोर दिया है । प्रभु जाति की अवधारणा के साथ श्रीनिवास ने इस तथ्य को उजागर किया कि जाति-पदक्रम अब केवल सांस्कृतिक प्रस्थिति पर ही निर्भर करता है, अपितु सत्ता और सम्पदा भी इसके प्रमुख निर्धारक तत्व हैं ।

### 10.2.2 वि-संस्कृतिकरण

वि-संस्कृतिकरण की अवधारणा का प्रयोग दो भिन्न अर्थो में किया गया है । इस अवधारणा का जन्म वास्तव में श्रीनिवास की बहु प्रसिद्ध 'संस्कृतिकरण की अवधारणा के विपर्यय के रूप में हुआ है । प्रथम अर्थ में, जब कभी उच्च जातियाँ संस्कृत ग्रंथों में वर्णित भारतीय संस्कृति के तत्वों को छोड़कर पाश्चात्य जीवन-शैली को अपनाती है, तब इसे वि-संस्कृतिकरण कहा गया है । द्वितीय अर्थ में इसका प्रयोग एक ऐसी प्रक्रिया के लिए किया गया है जिसके द्वारा एक उच्च जाति, निम्न जाति की सदस्यता ग्रहण कर लेती है या उच्च जातियाँ नीची

जातियों की जीवन-शैली और कर्मकाण्डों को अपना लेती हैं । परिणामस्वरूप उनकी सामाजिक के साथ-साथ कर्मकाण्डीय प्रस्थिति भी नीची हो जाती है, तब इसे वि-संस्कृतिकरण कहा जाता है ।

इसके सम्बन्ध में उन्होंने अपनी पुस्तक और नोट दोनों में कुछ दलीलें दी हैं और कारण बताये हैं कि उन्होंने क्यों संस्कृतिकरण का प्रयोग किया और ब्राह्मणीकरण का नहीं ।

### 10.2.3 ब्राह्मणीकरण एवं संस्कृतिकरण

श्रीनिवास ने बताया कि उन्होंने ब्राह्मणीकरण से संस्कृतिकरण इसलिए उचित समझा क्योंकि जो सांस्कृतिक जीवन के तरीके थे, वे केवल ब्राह्मणों तक ही सीमित नहीं हैं अर्थात् संस्कृतिकरण के साधन सदैव ब्राह्मण नहीं थे । सामान्य रूप से संस्कृतिकरण एक जाति को संस्तरण में ऊँचा पद प्राप्त करने के योग्य बनाता है ।

संस्कृतिकरण का प्रयोग करने का दूसरा कारण उन्होंने अपने नोट में बताया कि उन्होंने ब्राह्मणीकरण शब्द का प्रयोग इसलिए नहीं किया कि यदि ब्राह्मणीकरण शब्द का प्रयोग करते हैं तो कल-काल का निर्देश करना पड़ता है, क्योंकि वैदिक काल के ब्राह्मणों में शराब पीना, मांस खाना प्रचलित था ।

ब्राह्मणीकरण की अपेक्षा संस्कृतिकरण के प्रयोग हेतु श्रीनिवास द्वारा दिये गये दोनों तर्क कुछ लचीले से लगते हैं । प्रत्येक तर्क से यह तो ठीक है कि निम्न जाति के लोग ब्राह्मणों के सांस्कृतिक जीवन के तरीकों को ग्रहण नहीं करते, बल्कि अन्य को भी कर सकते हैं, लेकिन वे उसी जाति को करेंगे जो कि वहाँ (उनके समाज मे) प्रभुत्वशाली होगी । अत: ऐसी स्थिति में वे एक काम करना शुरू कर देते हैं जो कि सांस्कृतिक जीवन के तरीके में बहिष्कृत हुई है ।

श्रीनिवास द्वारा प्रस्तुत दूसरा तर्क तो और भी निरर्थक सा लगता है जैसा कि उन्होंने कहा कि ब्राह्मणीकरण शब्द का प्रयोग करें तो काल (समय) बताना पड़ता है, क्योंकि संस्कृतिकरण में ब्राह्मण तो मांस-मदिरा का प्रयोग करते नहीं, लेकिन संस्कृतिकरण कहने से क्या यह अड़चन दूर हो जाती है, क्योंकि वेद आदि भी संस्कृत में ही लिखे मिलते हैं और इसके अतिरिक्त संस्कृत में अनेक मन्थ मिलते हैं । कौनसे ग्रंथ से यह दलील स्पष्ट होती है, श्रीनिवास ने इसका जिक्र नहीं किया है ।

## 10.3 संस्कृतिकरण की प्रक्रिया

अब प्रश्न उठता है कि क्या संस्कृतिकरण केवल एक ही ओर से होता है अथवा उसमें दोनों पक्ष एक-दूसरे को प्रभावित करते हैं । श्रीनिवास के अनुसार संस्कृतिकरण एक दुहरी प्रक्रिया है । इसमें दोनों की संस्कृतियाँ परस्पर आदान-प्रदान करती है, यद्यपि स्थानीय संस्कृति देने से अधिक ग्रहण करती मालूम पड़ती है । इस प्रकार श्रीनिवास के अनुसार संस्कृतिकरण की प्रक्रिया एक ऐसी प्रक्रिया है, जिसमें कि नीची जाति ऊँची जातियों की संस्कृतियाँ क्रमश: ग्रहण करती हैं । जैसा कि दक्षिण भारत के निम्न जातियों के सम्बन्ध में कहा गया है कि वे कभी-कभी अपने को ब्राह्मणों के व्यवहारों के साथ जोड़कर स्वयं को ब्राह्मण कहने लगते हैं । ऐसा नहीं है कि निम्न जाति उच्च जाति से कुछ 'प्राप्त' ही करती है, बल्कि उसे कुछ प्रदान करती

है । हम देखते हैं कि पूरे भारत के हिन्दुत्व के बड़े देवताओं के अलावा ब्राह्मण कुछ स्थानीय देवताओं की भी पूजा करते हैं, जो महामारी से रक्षा करते हैं तथा पशुधन, बच्चों के जीवन व अन्न आदि को भी संरक्षण देते हैं । यद्यपि स्थानीय संस्कृतियाँ 'देने' की अपेक्षा 'लेती' अधिक है, फिर भी संस्कृति ने हिन्दुत्व के स्थानीय तथा लोक तत्वों को आत्मसात कर दिया है । आत्मसात करने की प्रक्रिया इस प्रकार होती है कि लोक परम्पराओं और बड़ी परम्पराओं के बीच निरन्तरता बनी रहती है ।

वैसे ऊँची जातियों के द्वारा अपनी स्थिति को ऊँची करने की प्रवृत्ति के कारण दो तरह का प्रसार हुआ । एक तो जाति में, दूसरा पूरे देश में इसके क्षैतिज या समस्तरीय व शीर्ष प्रसार बताया । क्षैतीज प्रसार का तात्पर्य देश के विभिन्न भागों के ब्राह्मणों में और ऊँची जातियों में इसको स्वीकार किया गया तथा शीर्ष प्रसार का तात्पर्य है कि क्षेत्र में विभिन्न स्तर की जातियों ने जीवन के संस्कृतिकरण के तरीकों को स्वीकार किया । अगर हम कहें कि देशभर में सांस्कृतिक एकता एवं समानता में इस संस्कृतिकरण की प्रक्रिया से प्रोत्साहन मिला है ।

संस्कृतिकरण की इस दुहरी प्रक्रिया को आगे स्पष्ट करते हुए श्रीनिवास ने बताया कि नीची जातियों में तो ऊँची जातियो के जीवन की संस्कृति के तरीके को स्वीकार किया था, लेकिन बदले में ऊँची जातियों ने अपने सांस्कृतिक तत्वों को और लोगों में प्रचारित करने का प्रयास नहीं किया, बल्कि उन्होंने निम्न जातियों द्वारा अनेक प्रयोगों को रोकने की चेष्टा की । किन्तु हो सकता है कि इस निषेधात्मक अभिवृत्ति ने सांस्कृतिक तत्वों की ओर और अधिक रूचि लोगों में होने लगी।

## 10.6 पश्चिमीकरण की अवधारणा

पाश्चात्य संस्कृति के संधात के द्वारा उत्पन्न सामाजिक प्रक्रिया को पश्चिमीकरण की संज्ञा दी गई है । यह प्रक्रिया पाश्चात्य संस्कृति के तत्वों को अंगीकार करने तथा पश्चिमी जीवन के अनुरूप सामाजिक, नैतिक और आर्थिक व्यवहारों में परिवर्तन को इंगित करती है ।

इस अवधारणा की भी श्रीनिवास ने संस्कृतिकरण के साथ ही व्याख्या की है । उन्होंने पश्चिमीकरण की कोई भी बहुत ही स्पष्ट व व्यवस्थित परिभाषा नहीं दी है, किन्तु सामान्य रूप से उनका तात्पर्य उन आधुनिक सांस्कृतिक तत्वों से है, जिन्हें आधुनिक काल में समाज के उच्च वर्ग अपनाते रहे हैं । यह प्रभाव मुख्यत: ब्रिटिश शासन के फलस्वरूप प्रारम्भ हुआ था, किन्तु श्रीनिवास ने अपने लेखों में इस बात पर बहुत जोर दिया कि स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद पश्चिमीकरण का ह्रास नहीं हुआ, बल्कि इसका प्रभाव और अधिक बढ़ा है । एक संदर्भ में उन्होंने पश्चिम की वेश-भूषा, फिल्मों, किताबों, यन्त्रों और अंग्रेजी भाषा के बढ़ते हुए प्रसार की चिंता की है । पश्चिमीकरण के प्रसार का एक अंग श्रीनिवास **पवित्रता** और **अपवित्रता** के परम्परागत विचारों को भी मानते हैं । उन्होंने इस बात की भी चिंता की है कि नगरीय लोगों का जीवन के प्रति दृष्टिकोण बदल रहा है ।

पश्चिमीकरण के विभिन्न प्रकार रहे हैं । एक प्रकार से पश्चिमीकरण का मतलब उस पश्चिमी उप-सांस्कृतिक प्रतिमान से है, जिसे भारतीयों के उस छोटे समूह ने अपनाया जो पहली बार पश्चिमी संस्कृति के सम्पर्क में आये । इसमें भारतीय बुद्धिजीवियों की उप-संस्कृति भी

शामिल थी, इन्होंने न केवल पश्चिमी-प्रतिमान. चिंतन के प्रकारों, स्वरूपों एवं जीवन-शैली को स्वीकारा, बल्कि इसका समर्थन एवं विस्तार भी किया । 19वीं सदी के अनेक समाज-सुधारक इसी प्रकार के थे ।

इसके अलावा अन्य पश्चिमी सांस्कृतिक तत्वों जैसे नये उपकरणों का प्रयोग, पोशाक, खाद्य-पदार्थ तथा आम लोगों की आदतों और तौर-तरीकों में परिवर्तन आदि थे । हम पाते हैं कि पूरे देश के मध्य वर्ग के एक बड़े हिस्से के परिवारों में टेलिविजन, फ्रिज़, सोफा-सेट, खाने की मेज और उठने-बैठने के कमरे में कुर्सी आम बात है । पश्चिमीकरण में किसी संस्कृति-विशेष के बाह्य तत्वों के अनुकरण की प्रवृत्ति भी होती है । परन्तु आवश्यक नहीं कि वे प्रजातंत्र और सामाजिक समानता जैसे आधुनिक मूल्यों में भी विश्वास रखते ही ।

अत: एस.एन. श्रीनिवास ने पश्चिमीकरण की परिभाषा देते हुए कहा कि यह भारतीय समाज और संस्कृति में लगभग 150 सालों के ब्रिटिश शासन के परिणामस्वरूप आए परिवर्तन हैं, जिसमें विभिन्न पहलू आते हैं, जैसे-प्रोद्यौगिकी, संस्था, विचारधारा और मूल्य ।

## 10.7 पश्चिमीकरण की प्रक्रिया

श्रीनिवास ने बताया कि ब्रिटिश अवधि के पहले जाति व्यवस्था कुछ सीमा तक गत्यात्मक थी । लेकिन अंग्रेजों के आने के बाद यह गत्यात्मकता और भी बढ़ गई और इससे जाति की परम्परागत व्यवस्था बहुत प्रभावित हुई । इस स्थिति में ब्राह्मणों तथा उच्च जातियों में पश्चिमीकरण की प्रक्रिया प्रारम्भ हुई और निम्न जातियों में संस्कृतिकरण की ।

पश्चिमीकरण की प्रक्रिया के परिणामस्वरूप ही मैसूर राज्य के ब्राह्मण दो भागों में बँट गये, पुरोहित वर्ग और सामान्य वर्ग और यही विभाजन भारत के अन्य भागों में हो गया । पुरोहित वर्ग ने धर्मनिरपेक्ष तथा अन्य व्यवसायों को अपनाया । धार्मिक दृष्टि से पुरोहित वर्ग सामान्य वर्ग से ऊँचा था, लेकिन बाद के वर्ग को आर्थिक तथा राजनैतिक शक्ति प्राप्त हो जाने से ऊँची स्थिति मिल गई । अंग्रेजों का अधिकार दोनों पर बढ़ता जा रहा था । सामान्य वर्ग को उन्होंने धन तथा शक्ति को प्राप्त करने की सुविधाऐं प्रदान की । ब्रिटिश शासन ने भारतीय जीवन के धर्मनिरक्सेकिरण को बढ़ावा दिया । धर्मनिरपेक्षीकरण ने पुरोहित की स्थिति पहले से निम्न कर दी । पश्चिमी शिक्षा के कारण परम्परागत संस्कृति सीखने का कोई मूल्य नहीं रहा । अत्: धीरे-धीरे पुरोहित वर्ग ने भी स्वयं को पश्चिमीकरण करना प्रारम्भ कर दिया । अपने घरों में बिजली, रेडियो, नल की कामना करने लगे तथा अपने बच्चों को पश्चिमी शिक्षा के स्कूल में शिक्षा दी जानी प्रारम्भ कर दी तथा शायद ही ऐसा कोई परिवार बचा हो जो अपने पिता के या परम्परागत धन्धों को चालू-रख सके । लेकिन भारत में एक दूसरी प्रकृति ऐसी थी जो पुरोहित की स्थिति तथा प्राधिकृत का समर्थन करती थी । शिक्षित तथा पश्चिमीकृत भारतीयों में संस्कृत तथा प्राचीन भारतीय संस्कृति के प्रति रुचि जाग्रत होने लगी और संस्कृति की महत्ता बढ़ने लगी । कई व्यक्तियों ने नेहरू की 'डिस्कवरी ऑफ इण्डिया' पुस्तक पढ़ी तथा अचानक ही भारतीय संस्कृति का गुणगान करने लगे । इसका परिणाम यह हुआ कि बहुत से भारतीय अपनी संस्कृति से परिचित होने का प्रयास करने लगे ।

पश्चिमीकरण का प्रभाव जीवन के विभिन्न पक्षों पर मैसूर के ब्राह्मणों पर पड़ा, जिससे उनके जीवन में कई परिवर्तन हो गये, जैसे कि उनकी वेश-भूषा व दिखावे में परिवर्तन में आ गये तथा उनके आचार-विचार बदल गये । उदाहरण के तौर पर भोजन के पूर्व वस्त्र धारण कर ईश्वर या आराध्य देव को भोग लगाया जाता था तथा पाटे पर भोजन किया जाता था, लेकिन अब केवल टेबल-कुर्सी पर खाना आम पैशन बन गया । इसके अतिरिक्त ब्राह्मण उन सब्जियो को भी खाने -को जो पहले वर्जित थी, जैसे-प्याज, गाजर, मूली आदि । कुर्ग ब्राह्मण स्वास्थ्य की दृष्टि से कच्चे अण्डे व जानवरों के तत्वों से बनी दवाईयाँ भी प्रयोग करने लगे । दारू का प्रयोग कम था, परन्तु शराब इतनी कम नहीं थी तथा शिक्षित वर्ग में सिगरेट पीना साधारण था। ब्राह्मणों ने पैसे के चालच में नये धन्धे अपना लिये ।

द्वितीय विश्व युद्ध तक पश्चिमीकरण की प्रक्रिया प्रारम्भ हो गई थी । कुर्ग ब्राह्मण सेना में मंत्री हो गये, जिससे उनकी आदत व बाहरी दृष्टिकोण में भी परिवर्तन आ गया । इसके अतिरिक्त पहले छुआछूत के कारण डॉक्टरी का पेशा नहीं करते थे, लेकिन अब करने लगे। द्वितीय विश्व युद्ध के पूर्व ब्राह्मणों का सामाजिक भौगोलिक क्षेत्र भी सीमित था, लेकिन अब वे न केवल अपने देश में बल्कि विदेशों में भी भ्रमण करने लगे । शिक्षित अच्छे उद्योगों में लगे । पुत्रें के पिता अधिक दहेज की मांग करने लगे । उस समय मैसूर के ब्राह्मणों में यह मुख्य प्रथा प्रचलित थी, किन्तु पश्चिमीकरण के कारण लड़कियों के विवाह की आयु भी बढ़ गई। बाल विवाह में कमी आ गई तथा विधवा विवाह भी होने लगे ।

## 10.8 पश्चिमीकरण का भारत में प्रभाव

भारत मे पश्चिमीकरण का प्रभाव विभिन्न क्षेत्रों में हुआ । श्रीनिवास ने लिखा है कि अंग्रेजों के शासन में पश्चिमीकरण से राजनैतिक, आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक जीवन हर तरह से प्रभावित हुआ । हम इन प्रभावों की व्याख्या यहाँ पर करेंगे ।

### 10.8.1 सामाजिक संरचना

ब्रिटिश भारत में आये तो नई तकनीकी को भी लाये, जिसका प्रभाव भारतीय संस्कृति पर पड़ा तथा यहाँ की प्राचीन संस्कृति में परिवर्तन होने लगे । समान नियम लागू किये गये । ब्राह्मण, क्षत्रिय वैश्य सभी बराबर हैं । गाँव के प्रषासन में पंचायती राज्य की स्थापना हुई । हमारे यहाँ जाति ने पश्चिमीकग को अपनाया । रूस, अमेरिका सभी का प्रभाव हमारे पर होने लगा, इसी को पश्चिमीकरण की प्रक्रिया कहते हैं । मूल सामाजिक संस्थाऐं जैसे जाति, संयुक्त परिवार आदि में परिवर्तन हुए रूढ़िवादी व्यक्तियों के व्यवहार में, स्त्रियों की स्थिति में तथा विवाह आदि में परिवर्तन हुए ।

### 10.8.2 आर्थिक संरचना

अंग्रेज औद्योगिक क्रान्ति को अपने साथ में लाये । कुटीर उद्योग धीरे-धीरे नष्ट हो गये । लोग गाँवों से शहरों में मीलों एवं कारखानों में काम करने आये । पूँजीवाद तथा

अहस्तक्षेप नीति के अन्तर्गत नई तकनीकी की सहायता से जो आर्थिक संस्था प्रारम्भ हुई, उसने देश की समाजवादी विचारधारा के अन्र्तगत शीघ्रता से उन्नति का अवसर दिया ।

### 10.8.3 राजनैतिक संरचना

कानून सभी व्यक्तियों के लिये बराबर है । हर राज्य का समान प्रशासन कायम किया, जो पहले अलग-अलग था । इन्होंने संविधान का निर्माण किया । कुछ धाराएँ बनाई जो पहले नहीं थी । इन सबसे प्रजातंत्र की भावनाओं को बढ़ावा मिला ।

### 10.8.4 धार्मिक संरचना

अंग्रेज अपने साथ इसाई धर्म को लाये । धीरे-धीरे हमारे यही समाज इसाइयों में परिवर्तित होने लगा, लेकिन दयानन्द, विवेकानन्द, रामकृष्ण परमहंस तथा इन्हीं की धार्मिक संस्थाओं जैसे ब्रह्म समाज, आर्य समाज, रामकृष्ण मिशन आदि ने अपने धर्म को इसाई धर्म में परिवर्तित होने से बचाया ।

### 10.8.5 शैक्षणिक संरचना

अच्छे परिवार के व्यक्तियों ने अपने बच्चों को इंग्लैण्ड में पढ़ाई करवाना प्रारम्भ कर दिया । अब बाहर जाकर शिक्षा प्राप्त कर लौटने पर अच्छा पद प्राप्त होता है । एक तरफ ये व्यक्ति भारत समाज का प्रतिनिधित्व करते हैं तो दूसरी ओर जनता के सामने वे सरकारी आदमी होते हैं । इन सब पर ए.एल. श्रीनिवास ने अपनी पुस्तक आधुनिक भारत में सामाजिक परिवर्तन में व्याख्या की है । श्रीनिवास के अनुसार कोई भी जाति पूरी तरह संस्कृतिकरण की प्रक्रिया से प्रभावित होने पर अगला कदम पश्चिमीकरण की प्रक्रिया की ओर बढ़ाती है । अत: पश्चिमीकरण के लिये संस्कृतिकरण आवश्यक है । पश्चिमीकरण की प्रक्रिया जाति के बाहर होती है ।

स्वतंत्रता के बाद पश्चिमीकरण की प्रक्रिया विशेषत: हिन्दुओं में हुई, जबकि आजादी से पहले मुसलमानों में बहुत तेजी से हुई और आजादी के बाद उनमें धीरे-धीरे हुई । इसके कई कारण हैं ।

## 10.9 समीक्षा

श्रीनिवास ने जिस प्रक्रिया को पश्चिमीकरण कहा है, उसे पश्चिमीकरण न कहकर आधुनिकीकरण कहना अधिक उपयुक्त होगा, क्योंकि जो आज आधुनिकीकरण पश्चिमीकरण का स्वरूप है, वह विशेष प्रकार की संस्कृतियों और विशेष प्रकार की प्राविधियों, आर्थिक तथा अन्य आधुनिक शक्तियों के संयोग का परिणाम है । यह संयोग भी कुछ विशिष्ट परिस्थितियों में हुआ है । आज जब भारत जैसे देषों पर आधुनिक सामाजिक शक्तियों का प्रभाव पड़ रहा है तो यह अविवाद नहीं है कि जो संस्कृति पैदा हो, वह आधुनिक जैसी ही है ।

यह भी सम्भव है कि आधुनिक शक्तियों के प्रभावस्वरूप यहाँ एक अलग प्रकार का संश्लेषण उत्पन्न हुआ है । आधुनिकीकरण में कुछ बातों का होना आवष्यक है, जैसे -

(1) नगरीकरण होना चाहिये,

(2) शिक्षित होना चाहिये,

(3) संचार के साधन अधिक होने चाहिये तथा

(4) राजनीति में अत्यधिक भाग लेना चाहिये ।

उपरोक्त चार बातें आधुनिकरण को बताती है, जबकि पश्चिमीकरण की प्रक्रिया संकीर्ण है, बहुत ही सीमित है । आधुनिकीकरण सभी पहलुओं को अपनाता है । पश्चिमीकरण वर्ग आन्दोलन है, क्योंकि श्रीनिवास के अनुसार ब्राह्मण या उच्च जातियों में पश्चिमीकरण का प्रसार एक वर्ग तक ही सीमित है, जबकि आधुनिकरण अछूत या निम्न जातियों एवं जनजातियों में भी पाया जाता है।

## 10.10 सारांश

संस्कृतिकरण एवं पश्चिमीकरण के कारण हिन्दू सामाजिक जीवन में जो परिवर्तन आया, वह सांस्कृतिक संस्कृति में था न कि संरचनात्मक । संरचना शब्द को समझना संस्कृति की अपेक्षा कठिन है । श्रीनिवास ने यह बात भी एक विरोधाभास (Paradox) के रूप में प्रस्तुत की है कि उच्च जाति पश्चिमी हो रही है व नीची जाति का संस्कृतिकरण हो रहा है । लेकिन अभी भी बहुत्सी जातियों के सम्मुख यह समस्या है कि वे पश्चिमीकरण को स्वीकार करे ।

सारांश में हम यह कह सकते है कि 'संस्कृतिकरण की प्रक्रिया द्वारा जहाँ एक ओर जातिय गतिशीलता पर प्रकाश डाला है, वहाँ उन्होंने पश्चिमीकरण एवं आधुनिकीकरण की प्रक्रियाओं के माध्यम से भारत में हो रहे सामाजिक परिवर्तनों का विश्लेषण अपने कई लेखों में किया है ।

## 10.11 अभ्यासार्थ प्रश्न

1. संस्कृतिकरण की अवधारणा स्पष्ट करते हुए इसकी प्रक्रियाओं की व्याख्या कीजिये ।
2. संस्कृतिकरण क्या है? संस्कृति ने भारतीय समाज को किस तरह प्रभावित किया है? व्याख्या कीजिये ।
3. पश्चिमीकरण से आप क्या समझते हैं' भारत में पश्चिमीकरण की प्रक्रिया का कैसे प्रसार हुआ? विवेचना कीजिये ।
4. पश्चिमीकरण एवं संस्कृतिकरण में क्या भेद हैं? पश्चिमीकरण के भारत में प्रभावों की व्याख्या कीजिये ।

## 10.12 संदर्भ ग्रन्थ


1. श्रीनिवास, एम.एन. (1952): रिलिजन एंड सोसायटी अमंग द कुर्गस ऑफ साउथ इण्डिया, ऑक्सफोर्ड: क्सेरण्डल प्रेस ।
2. श्रीनिवास, एम.एन. (1970): कास्ट इन मॉडर्न हण्डिया एण्ड अदर ऐसेज बम्बई : ऐशिया पब्लिशिंग हाउस ।

3. श्रीनिवास, एम.एन. (1972): सोशियल चैंज इन मॉडर्न इण्डिया, दिल्ली : ओरियन्ट लांगमेन।
4. सिंह, योगेन्द्र (1983): माडर्नाईजेशन आफ इण्डयन ट्रेडिशन जयपुर : रावत पब्लिकेशन्स ।

# इकाई - 11

# आधुनिकीकरण एवं धर्मनिरपेक्षीकरण _ अवधारणार प्रभाव एवं प्रक्रिया

**इकाई की रूपरेखा**


11.0 उद्देश्य

11.1 प्रस्तावना

11.2 आधुनिकीकरण की अवधारणा

11.2.1 आधुनिकता की परिभाषा

11.2.2 आधुनिकीकरण की विशेषताएँ

11.3 आधुनिकीकरण की प्रक्रिया

11.3.1 भारत में आधुनिकीकरण

11.4 आधुनिकीकरण के प्रभाव

11.5 धर्मनिरपेक्षीकरण की अवधारणा

11.5.1 धर्मनिरपेक्षीकरण की परिभाषा

11.5.2 धर्मनिरपेक्षीकरण की प्रक्रिया के आयाम

11.5.3 भारत में धर्मनिरपेक्षीकरण

11.6 आधुनिकता-युक्त धर्मनिरपेक्षीकरण के प्रभाव तथा परिणाम

11.6.1 सकारात्मक परिणाम तथा प्रभाव

11.6.2 नकारात्मक परिणाम तथा प्रभाव

11.7 सारांश

11.8 अभ्यासार्थ प्रश्न

11.9 संदर्भ ग्रन्थ


## 11.0 उद्देश्य

इस इकाई का उद्देश्य आधुनिकीकरण एवं धर्मनिरेपक्षता के अर्थ, परिभाषा, प्रक्रिया, प्रभाव एवं विविध आयामों की सामाजिक संदर्भ मे विस्तृत विवेचना करना है । यद्यपि ये दोनो अवधारणाएँ भिन्न-भिन्न अर्थ एवं लक्षणों की हैं किन्तु इन दोनों का यही संदर्भ वर्तमान आधुनिक समाज और विशेष रूप से भारतीय समाज है । प्रथम अवधारणा का अभ्युदय ज्ञानोदय एवं वैज्ञानिक दृष्टिकोण के विकसित होने से हुआ है जिसका सीधा सम्बन्ध भौतिकवादी सभ्यता एवं संस्कृति में होने वाली निरन्तर प्रगति से है जो अधुनातन अवस्था से होते हुए विज्ञान एवं तकनीकी ज्ञान के नये-नये उत्कर्षों तक पहुंच रही है । इसकी दूसरी अवधारणा धर्मनिरपेक्षता का सम्बन्ध धर्म के स्वरूप तथा सामाजिक-आर्थिक जीवन के निरन्तर बदलने से है । विशेष रूप से, धर्म को सामूहिकता से हटाकर वैयक्तिक स्तर तक सीमित होने देने एवं राजनीति तथा

अर्थनीति से बाहर करके इसे केवल आस्था, विश्वास तथा व्यक्तिगत संस्कारों का विषय बनाया जाने लगा । समाज मे धर्म की प्रधानता तथा धार्मिक कट्टरता एवं धार्मिक संप्रभुत्ता की धारणाओं में भी परिवर्तन आने लगा । धार्मिक बहुलवाद, धार्मिक सहिष्णुता एवं सर्व-धर्म-समभाव जैसी नई-नई परिस्थितियां धर्म निरपेक्षीकरण से ही विकसित हुई है इन्हीं सब बिन्दुओं को विस्तार से इस इकाई में स्पष्ट किया गया है ।

## 11.1 प्रस्तावना

आधुनिकीकरण की प्रक्रिया का सूत्रपात परम्परागत संस्कृति के अवसान के साथ होता है जो औधोगीकरण के विकास के साथ ही गत कुछ शताब्दियों से दिखाई दे रही है । आधुनिकता एवं आधुनिकीकरण में केवल इतना अन्तर है कि एक को अवस्था या परिस्थिति कह सकते है जबकि दूसरे को उसी परिस्थिति की सतत या लगातार प्रकट होने वाली प्रक्रिया आधुनिकीरण भौतिक सभ्यता तथा संस्कृति का पर्याय भी बन गई है क्योंकि मशीनों एवं गैर-जैविकीय ऊर्जा के प्रयोग, कल-कारखानों तथा फेक्ट्रियों का विस्तार आये दिन बढ़ता चला गया । प्राय: औद्योगिक समाजों को ही सर्वाधिक आधुनिक समाजों की सज्ञा दी जाती है । ऐसे आधुनिक समाजों में राजनीति, धर्म, अर्थव्यवस्था, सामाजिक व्यवस्था (परिवार नातेदारी आदि), ग्रामीण एवं नगरीय समुदाय तथा सम्पूर्ण सामाजिक जीवन का स्वरूप पहले की परम्परागत व्यवस्थाओं से नये रूप में बदल जाता है । पहले जहाँ राजे-महाराजे जमीदार-जागीदार मुल्ला-मौलवी, पंडित-पुजारी, सेठ-साहूकार समाज को संचालित करते हुए पाये जाते थे; वहीं आधुनिक समाजों में प्रजातंत्रीय राजनीति, धर्मनिरपेक्षता, प्रबन्धकीय एवं कम्पनी की आर्थिकी, नौकरशाही, व्यक्तिवाद, नगरीयवाद आदि की परिस्थितियाँ स्पष्ट दिखाई देती हैं । हम यही केवल आधुनिकता और आधुनिकीकरण की विस्तृत विवेचना करने के साथ-साथ धर्मनिरपेक्षता, जो कि आधुनिकता का ही एक प्रबल लक्षण है, की विस्तृत व्याख्या करेंगे । यहाँ भारतीय संदर्भ को विशेष ध्यान में रखा जा रहा है ।

## 11.2 आधुनिकीकरण की अवधारणा

यहाँ हम आधुनिकीकरण के मूल में जो अवस्था हैं, अर्थात् 'आधुनिकता', को पहले समझाने का प्रयास करेंगे और उसके उपरान्त आधुनिकीकरण की प्रक्रिया की व्याख्या करेंगे । आधुनिकता को विकास के चरणों एवं औद्योगिक क्रांति की ऐतिहासिक प्रघटना से जोड़ा गया है। जो पिछडा हुआ परम्परागत, आदिम, ग्रामीण या प्राचीन समाज है वह आधुनिक नहीं हो सकता । बल्कि जो विकसित या विकास की प्रक्रिया में आगे बढ़ गया, जिसने उद्योग-धन्धों को अपना लिया वही आधुनिक है । आदिम या ग्रामीण या प्राचीन समाज को आधुनिक नहीं माना जाता है । यह आधुनिकता, विकास या उद्योगों के आविर्भाव का पर्याय बन गई है जहाँ विकास या औद्योगीकरण की तीन अवस्थाओं की दुनिया प्रतिपादित की गई है-

(अ) प्रथम दुनिया के देश - विकसित अवस्था जहाँ तीव्र औद्योगीकरण हुआ और जो सर्वाधिक 'आधुनिक' होने की श्रेणी में आते हैं- ब्रिटेन, फ्रांस, अमेरिका, जापान, कनाडा, इटली, जर्मनी आदि देश,

(ब) दूसरी दुनिया के देश - राज्य सत्ता द्वारा औद्योगिक विकास अभी हो रहा है, (रूस, चीन आदि), तथा

(स) तीसरी दुनिया के देश (विकासशील समाज)- जहाँ औद्योगिक विकास अभी पूर्ण नहीं हुआ बल्कि विकसित होने की प्रक्रिया में है: भारत, ब्राजील, दक्षिण अफ्रीका एवं अन्य एशियाई, अफ्रीकी एवं लेटिन अमेरिकी देश

### 11.2.1 आधुनिकता की परिभाषा

अन्तर्राष्ट्रीय सामाजिक विज्ञान एनसाइक्लोपीडिया के अनुसार 'आधुनिकता' हाल ही में प्रयुक्त की गई वह अवधारणा है जिसका सम्बन्ध सामाजिक परिवर्तन की उस पुरातन एवं सतत प्रक्रिया से है जिसमें कम विकसित समाजों के द्वारा अधिक विकसित समाजों की सामान्य विशेषताओं को स्वीकारा जाता है । आधुनिकता सबसे पहले उपनिवेशवादी शक्तियों वाले समाजों (इंग्लैण्ड, फ्रांस आदि) में आई और बाद में अमेरिका, कनाडा, जापान, रूस चीन आदि और फिर औद्योगिक विकास की दौड़ में आगे बढ़ने वाले देशों में । डेनियल लर्नर (1964) पहले समाजवैज्ञानिक हैं जिन्होंने आधुनिकीकरण पर पहला विधिवत अनुसंधान क्रिया तथा आधुनिकता की निम्नलिखित विशेषताएँ प्रतिपादित की जो कि इसकी विस्तृत परिभाषा है:

(अ) समाज की अर्थव्यवस्था में निरन्तर एवं स्व-पोषित विकास के द्वारा उत्पादन एवं उपयोग में पर्याप्त वृद्धि दर्ज की जाये

(ब) राजनैतिक संस्थाओं में जनभागीदारी सुनिश्चित- प्रजातांत्रिक प्रणाली से सत्ता का चयन एवं नीति- निर्धारण में जनशक्ति की अहम् भूमिकाएँ

(स) धर्मनिरपेक्ष एवं विवेकशीलता के मानकों की संस्कृति की स्थापना,

(द) समाज की गतिशीलता में वृद्धि - लोगों को सामाजिक, स्थानीय तथा मनोवैज्ञानिक स्तर पर गतिशीलता अपनाने की सुविधा उपलब्ध हो, एवं

(य) आर्थिक विकास में नये मानदण्ड कायम होते हैं । औद्योगीकरण, पूँजीवादी व्यवस्था, राज्य संचालित पूँजीवाद, उत्तर-पूँजीवाद आदि सभी आधुनिकता के ही परिणाम हैं।

(र) व्यक्तिवादिता के मूल्य को बढ़ावा- समाज में रूपान्तरण इस प्रकार हो जाये कि सामुहिकता एवं सामुदायिक मूल्यों के स्थान पर व्यक्तिगत पहचान के मूल्य अर्थात् व्यक्तिवादी धारणा की प्रधानता स्थापित हो जाये ।

(ल) सामाजिक व्यवस्था में तीव्र बदलाव भी इसी आधुनिकता से आता है । नई भूमिकाएँ, मानक मूल्य व्यवस्थाएँ, संस्थागत संरचनाएँ (शैक्षणिक, सामाजिक, धार्मिक आदि) भी उभरकर आती हैं । आधुनिकता से सामाजिक रूपान्तरण में तीव्रता परिलक्षित होती है । परिणामस्वरूप, कई बार सामाजिक, विचलन, अपराधों जैसे व्यवहारों में भी वृद्धि होने लगती है । पुरानी व्यवस्था के बदलने एवं नई व्यवस्था के संस्थापित होने के बीच अव्यवस्था होने से व्यक्ति के समक्ष कई नई समस्याएँ प्रकट होती हैं ।

डेनियल लर्नर ने आधुनिकता की जिस अवधारणा की बात की थी वह लगभग चार दशक पूर्व की है । उसमें उन्होंने परम्परागत, पिछड़े हुए, अविकसित एवं आदिम तथा कृषक

समाजों को आधुनिकता से वंचित बताया तथा औद्योगीकृत, विकसित, पूँजीवादी समाजों को 'आधुनिक' की श्रेणी में बताया । इस प्रकार से एक निरन्तरता के दो छोर बताये तथा औद्योगिक समाजों को बताया गया जिनमें उक्त सभी विशेषताएँ विद्यमान पाई गई है । इस प्रकार विकास या औद्योगीकरण का ही दूसरा नाम 'आधुनिकता' के रूप में निरूपित किया गया है ।

### 11.2.2 आधुनिकीकरण की प्रमुख विशेषताएँ

आधुनिकीकरण की प्रमुख रूप से दो विशेषताएँ है -

(1) नई मनोवैज्ञानिक चेतना, तथा

(2) अंतवँयक्किता । इन दोनों विशेषताओं को विस्तार से समझ लेना उचित होगा ।

(1) नई मनोवैज्ञानिक चेतना - इसमें समाज के लोग परम्परा या पुराने विचारों को छोडकर नये दृष्टिकोण को स्वीकार करते हैं । अपने इर्द-गिर्द के भौतिक और अभौतिक वातावरण के बारे में नवीन सोच को अपनाते हुए नवाचारों को अपने व्यवहार और क्रिया-कलापों में स्थान देते हैं । जहाँ पहले हर घटना/प्रघटना को देवीय इच्छा मान कर उसे देखा जाता है वहीं नये सोच के अनुसार उसका अन्य कारण भी खोजा जाता है । पुरानी मान्यता के अनुसार "ईश्वर की मर्जी के बगैर एक पत्ते का भी नहीं हिलना" बताया जाता था; वहाँ नई चेतना के आलोक में व्यक्ति स्वयं अपने भाग्य तथा परिवेश का निर्माता बनता है । हर चीज के लिये मानव प्रयास ही सर्वेसर्वा माने जाते हैं । राजसत्ता, धन-दौलत, सुख- सुविधाएँ, भौतिक वस्तुओं की प्राप्ति आदि सभी के लिये लोग अपने प्रयासों को तेज करके उन्हें पाने की न केवल चाहत रखने लगे बल्कि उस चाहत को तर्कसंगत भी समझने लगतें हैं, यही आधुनिकीकरण है । कर्म-बन्धन, भाग्यवादिता आदि के स्थान पर निजी योग्यता तथा अर्जित या उपार्जन करने की प्रवृत्ति पर ध्यान देना आधुनिकता की सोच है । यह आधुनिकीकरण की पहली महत्वपूर्ण विशेषता है ।

(2) अंतवैयाकित्क्ता यह तदनुरूपता के विचारों से विकसित होती है जिसमें मनोवैज्ञानिक स्तर पर व्यक्ति अपने आपको अन्य लोगों की प्रस्थितियों एवं भूमिकाओं में रखकर सोचता है । इससे पारस्परिकता एवं एक-दूसरे के साथ सहभागिता बढ़ती है । जो लोग अन्य समूह या समाज से तुलनात्मक रूप से अधिक प्रगति कर जाते हैं तथा औद्योगिक विकास कर लेते हैं, उनकी परिस्थितियों को आदर्श मानते हुए जो लोग पिछड़े, कम विकसित या आदिम-ग्रामीण अवस्था में हैं, उनमें रूपान्तरण या बदलाव आने लगे तो इस बदलाव को ही तद्नुरूपता से जनित आधुनिकीकरण की प्रक्रिया कहा जायेगा ।

आधुनिकीकरण की अन्य विशेषताओं मे निम्नलिखित भी है:

(अ) वैज्ञानिक एवं तकनीकी आविष्कारों को मानव समाज की समस्याओं के समाधान में सर्वाधिक उपयोगी मानना,

(ब) धर्म को राजनीति एवं अर्थव्यवस्था से पृथक करके उसे केवल व्यक्तिगत आस्था और विश्वास का विषय बनाना

(स) व्यक्तिवादी सोच को बढ़ावा देते हुए सामूहिकता के प्रति गौण दृष्टिकोण रखना, एवं

(द) भौतिकवादी एवं उपभोगवादी मूल्यों एवं मानकों को बढ़ावा देना ।

सामाजिक विज्ञान एनसाइक्लोपीडिया ने नवाचार या नयापन अपनाये जाने की मानसिकता को ही आधुनिकता बताया है । "आधुनिक मस्तिष्क के उस विचार के रूप में वर्णित की जा सकती है जो किसी भी परम्परा या पुरातन को नवीनता का गुलाम बना दे तथा नवाचार एवं अधुनातन के साथ समायोजन स्थापित कर सकें।'' इस प्रकार के नवाचार तो आविष्कारों या नई खोजों से ही संभव है जो विज्ञान के द्वारा प्रतिपादित होते हैं । अत: आधुनिकता एवं वैज्ञानिकता साथ-साथ चलते है । इसी विज्ञान एवं तकनीकी ज्ञान ने औद्योगिक क्रांति को अंजाम दिया तथा विवेकशीलता एवं नवीन मूल्यों ने फ्रांसिसी क्रांति भी ला दी । इन्हीं दो महान् क्रांतियों के बाद आधुनिकता की आंधी सम्पूर्ण विष्व में आई है ।

## 11.3 आधुनिकीकरण की प्रक्रिया

आधुनिकीकरण एक निरन्तर घटित होने वाली अवस्था है । यह कई स्वरूपों में दिखाई देती है । इनमें से कुछ स्वरूप निम्नलिखित है-

(अ) सामाजिक विभेदीकरण

(ब) द्रव्यीकरण

(स) युक्तिकरण

(द) भू-मण्डलीकरण

यहाँ हम इनकी थोड़ी विस्तार से व्याख्या करना उचित समझेंगे ।

(अ) सामाजिक विभेदीकरण - इस विशेषता को इमाइल दुर्खीम, हर्बट स्पेन्सर आदि ने प्रतिपादित किया । ज्यों-ज्यों समाज में समय/युग के अन्तराल में आबादी बढ़ी तथा समाज की आदिम या ग्रामीण अवस्था के सरल श्रम विभाजन के स्वरूप में बदलाव आया तो समाज में भिन्नताएँ, विषमताएँ, असमानताएँ बढ़ती गई । सम्पत्ति, सत्ता, सम्मान, प्रतिष्ठा आदि के नये आयाम स्थापित होने लगे तथा विज्ञान एवं तकनीकी विकास के परिणामस्वरूप आये औद्योगिक विकास ने संसार के विविध समाजों में एक नई आधुनिक व्यवस्था कायम की जो अधिक विषमताओं से परिपूर्ण बनी । किन्तु इन विषमताओं एवं असमानताओं से युक्त सामाजिक स्तरों में भी सामाजिक एकीकरण समाप्त नहीं हुआ बल्कि एक नये रूप में जैविकीय सुदृढ़ता विकसित हुई तथा नये सामाजिक संतुलन एवं एकीकरण की अवस्था स्थापित हुई । इसी से आधुनिकता की अवस्था स्थापित हुई । आधुनिकता वहाँ अधिक देखी गई जहाँ भिन्नताएँ - वर्ग, व्यवसाय, योग्यता, प्रशिक्षण, अनुभव, सम्पत्ति-स्वामित्व, भौतिक संसाधनों का स्वामित्व आदि में भिन्नआएँ अधिक सामने आने लगी ।

(ब) आधुनिकता की दूसरी प्रबल विशेषता कार्ल मार्क्स ने प्रतिपादित की जिसे द्रव्यीकरण कहा गया । भौतिक संसाधनों को आध्यात्मिक एवं आदर्शात्मक मूल्यों से अलग करते हुए तथा सम्पूर्ण उत्पादन व्यवस्था को भौतिक साधनों पर ही केन्द्रित करते हुए कार्ल मार्क्स ने पूँजीवादी व्यवस्था में सभी प्रकार से मानव-श्रम एवं श्रमिकों तथा अन्य साधनों को द्रव्य

या वस्तु के रूप में रूपान्तरित कर दिया है । हर चीज धन-सम्पत्ति के विविध स्वरूपों पर आकर अटकती है ।बिना भौतिक संसाधनों के उत्पादक से मानव की मूल आवश्यकता पूरी ही नहीं की जा सकती है । कार्ल मार्क्स एवं सम्पूर्ण मार्क्सवादी विचारधारा ने पूँजीवादी समाज निर्माण रो आई द्रव्यीकरण की विकृति को आधुनिकता का ही परिणाम बताया है । इसमें मानव श्रम का अवमूल्यन हुआ तथा श्रमिक वर्ग के लोग अलगाव एवं शोषण के शिकार बने । व्यक्ति की नैतिक जिम्मेदारी के स्थान पर वस्तुओं या भौतिक संसाधनों का ही बोलबाला स्थापित हुआ । हर चीज का मूल्य मुद्रा में आँका जाने लगा । धन से किसी भी व्यक्ति के ईमान, मान-प्रतिष्ठा, पद-प्रस्थिति आदि को खरीदा जाने लगा । इस अवस्था से पूर्व धर्म, आध्यात्किमकता नैतिकता, आदर्श आदि का स्थान भौतिक संसाधनों या धन-सम्पत्ति की तुलना में उच्च था । अब नवीन पूँजीवादी व्यवस्था में जड़-वस्तुओं को ही सर्वेसर्वा महत्व मिलने लगा तथा उनको पाना, भोगना तथा उन्हीं में रम जाना जीवन का लक्ष्य बन गया । इसे जड़-वस्तु-पूजा (Commodity Fetishism) की संज्ञा दी गई । यह प्रधान रूप से दो प्रक्रियाओं में सम्पन्न हुई-

(i) नये उपभोग मूल्यों की निर्मिति, तथा

(ii) पुराने मूल्यों का उपनिवेशीकरण

जन-संचार के द्वारा प्रचार-प्रसार एवं विज्ञापनों से नयी-नयी आवश्यकताओं एवं माँगों का प्रदर्शन करके उपभोक्तावादी संस्कृति को ही बढ़ावा दिया गया । दूसरी प्रक्रिया में उन क्षेत्रों या समुदायों में नई-नई उपयोग की वस्तुओं को पहुँचाया गया या निवेश किया गया जहाँ इनका कोई नामोनिशान भी नहीं था । इसका परिणाम यह हुआ कि संस्कृति एवं कला-साहित्य, आध्यात्मिकता आदि के रचनात्मक, सर्जनात्मक, विवेचनात्मक एवं अनुभवातीत प्रकायों एवं परिणामों को भुला दिया गया तथा सभी में भौतिकवादी एवं प्रत्यक्षवादी दृष्टिकोण के आधार पर ही सोचने एवं कार्य करने के लोग तत्पर रहने लगे । किन्तु विडम्बना यह है कि वस्तुओं के लिए बना बाजार एवं द्रव्यीकरण की नीतियों को भी उनके स्वरूप के संरक्षण के लिए अपर्याप्त माना जाने लगा ।

(स) आधुनिकता की तीसरी विशेषता युक्तिकरण को मानी जाती है जिसके प्रतिपादक मैक्स वेबर है । इसके अन्तर्गत सामाजिक क्रिया के युक्तिकरण को औपचारिकता प्रदान की गई है । 'युक्ति' या युक्तिकरण को यहाँ ऐसी क्रिया या विचार के रूप में लिया जाता है जिसे निवैयक्तिक एवं समझने योग्य माना जाये । यह क्रिया या विचार परम्परागत या कल्पना लोक के दायरे से बाहर की वास्तविकता है । हर चीज, विचार या क्रिया को उसकी उपयोगिता, गुणात्मकता तथा उद्देश्यों के साथ ताल-मेल रखते हुए ही स्वीकार किया जाता है । विवेकशीलता इसी युक्तिकरण का आधार है । कोई भी क्रिया तभी युक्तियुक्त कहलाएगी जब उसके सम्पन्न होने की सभी संभावनाओं, परिणामों, उद्देश्यों, एवं उद्देश्य-प्राप्ति आदि का ज्ञान उस व्यक्ति को होगा जो उसे सम्पन्न करता है । यह ज्ञान प्रत्यक्ष अनुभव एवं संबोधों पर आधारित तो होता ही है किन्तु प्रचलित सामान्य ज्ञान एवं उपलब्ध वैज्ञानिक ज्ञान पर भी यह आधारित होता है । इसे तकनीकी भाषा में

'प्रविधिक संबोध भी कह सकते हैं । युक्तिकरण का दूसरा आयाम निवैयक्तिकता को अपनाने का है जिसमें व्यक्तिगत पसन्द-नापसन्द के स्थान पर उपयोगितावादी, साध्यमूलक एवं तटस्थ दृष्टिकोण पर आधारित क्रिया सम्पन्न करने का प्रयास किया जाता है । प्राय: बाजार की परिस्थितियों में या दतर की क्रियाओं के निष्पादन एवं नौकरशाह या बाबू का निष्पक्ष भावों में उन्हीं निर्णयों को लागू करना होता है जो हर दृष्टि से उचित एवं साधन-साध्य योजना के अनुकूल हैं; चाहे वे उसे स्वयं पसन्द हो या नहीं ।

(द) भूमण्डलीकरण की आधुनिकता हाल ही के दो-तीन दशकों की आधुनिकता है । इसमें पूरे संसार के सभी प्रकार के समाजों की एक ऐसी सामान्य व्यवस्था विकसित हुई है कि जहाँ आर्थिक बाजार की राष्ट्रीय सीमाओं के प्रतिबन्ध शिथिल हुए हैं । विश्व स्तर पर उत्पादन एवं वितरण में प्रतिस्पर्धा में आशातीत वृद्धि हुई है । मीडिया की भूमिका उपभोक्तावादी संस्कृति को बढाने में अहम् हो जाती है । प्रचार-प्रसार से न केवल आर्थिक व्यवस्था बल्कि समाजिक एवं राजनैतिक व्यवस्थाएँ भी अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर एक दूसरे पर निर्भर होने लगती हैं । पूरा संसार ही उत्पादक और पूरा संसार ही उपभोक्ता होता है । राज्य संस्था की भूमिका इसमें गौण होती है तथा निजीकरण, उदारीकरण एवं भूखण्डलीकरण की त्रयी एक साथ प्रकट होती है । इस त्रयी ने आधुनिकता को बढ़ावा देते हुए उसे नई शक्ति भी प्रदान की है ।

उपर्युक्त चारों विशेषताओं में परस्पर अन्तर्छेदन को भी देखना होगा क्योंकि एक आयाम में सर्वाधिक आधुनिकता के लक्षण होने पर भी दूसरे में उतना अधिक रूपान्तरण होना आवश्यक नहीं है । जो समाज/समुदाय जटिल एवं औद्योगिक विकास कर रहे हैं या कर चुके हैं उनमें आधुनिकता होने के लक्षण अधिक मिलेंगे तथा इनमें यांत्रिक विधियों से उत्पादन तथा प्रबन्धन विधियों से सभी संगठनात्मक एवं संस्थागत क्रियाओं का संचालन किया जाता है । जबकि आदिम समाजों एवं ग्रामीण क्षेत्रों में आधुनिकता के ये लक्षण नहीं दिखाई देते हैं । किन्तु अब इन क्षेत्रों में भी आधुनिकता फैलती जा रही है; क्योंकि इनमें भी अब धीरे-धीरे विभेदीकरण की प्रक्रिया तथा युक्तिकरण की धारणाएँ स्पष्ट दिखाई देने लगी है ।

आधुनिकता की प्रक्रिया ने ही विज्ञान को आगे बढ़ाया है जो अपने आप में विभेदीकरण, युक्तिकरण एवं द्रव्यीकरण का ही परिणाम कहा जा सकता है । विज्ञानों में भी कितनी ही विशिष्ट ज्ञान की शाखाएँ विकसित होती चली गई हैं! इसलिए प्राकृतिक विज्ञानों में ही इतना विकास हुआ है । विज्ञान की सैकड़ों उपशाखाएँ आ गई जिनका नाम भी याद रखना कठिन है । जबकि पूर्व में केवल भौतिकी, रसायनशास्त्र, गणित एवं जीव विज्ञान जैसी मुख्य शाखाएँ ही प्रचलन में थी । हाल ही के कुछ दशकों में आधुनिकता ने विश्व समाजों में कई रूपान्तरणों को अंजाम दिया है । बीसवीं सदी के अन्तिम चरणों में आधुनिकता से प्रभाव से आर्थिकी, राज्य एवं संस्कृति के बीच जटिल सम्बन्धों का विकास हुआ है । परिणामस्वरूप, संगठित पूँजीवादी व्यवस्थाओं में कई संकट उभरे तथा राज्य संस्था के द्वारा प्रभावित लोगों के कल्याण हेतु कई योजनाओं का संचालन भी करना पड़ा है । आर्थिक संगठनों में उचित वैधता को कायम रखने एवं उत्पादन व्यवस्था में सभी स्तरों के हितों की रक्षा की जिम्मेदारी राज्य

सरकार तभी निभा पाती है जब युक्तिसंगत निर्णय किये जाने की जिम्मेदारी सत्ता की व्यवस्था के द्वारा लागू की जाये । विश्व स्तर पर आधुनिकता के विस्तार ने ही नवपूँजीवाद को प्रकट किया है । इसमें सामाजिक स्तर पर चार प्रकार की उपव्यवस्थाओं का निर्माण स्वत: होने लगा- (1) आर्थिकी, (2) राज्य या राजनैतिक सत्ता, (3) सार्वजनिक सामाजिक समुदाय एवं (4) घरेलू अभिरूचि का निजी क्षेत्र । इनमें प्रथम दो उपव्यवस्थाएँ एक संकुल बनाती है जिसमें नियोजित एवं कौशलयुक्त क्रियाएँ सम्पन्न होती हैं । सामान्य रूप से राज्य एवं आर्थिक-संगठनात्मक प्रक्रियाएँ स्वहितों की पूर्ति हेतु सहभागिता अथवा दबाव की नीतियों पर चलती हैं । इससे समाज को निर्दिष्ट दिशा में बदलने का प्रयास तो होता ही है किन्तु कानून एवं व्यवस्था का संचालन भी प्रभावपूर्ण ढंग से किया जाता है । इसके विपरीत, सामुदायिक एवं घरेलू उपव्यवस्थाएँ प्राय: संचार एवं सम्पर्क के आधार पर सम्पन्न की गई क्रियाओं पर निर्भर करती हैं जिनमें युक्तिकरण से व्यवहार किए जाते हैं ।

उपर्युक्त सभी उपव्यवस्थाएँ अपने आप में स्वतंत्र रूप से संचालित नहीं होती हैं बल्कि उनमें पारस्परिक मेल-मेलाप रहता है । किन्तु हर उपव्यवस्था के लिए विशेष प्रकार की कार्यप्रणालियाँ एवं विशिष्टता से परिपूर्ण संदर्भ क्रियाएँ रहती हैं । जहाँ आर्थिकी की उपव्यवस्था धन का निर्माण करती है, राज्यसत्ता के द्वारा शक्ति एवं प्राधिकारी व्यवस्थाओं का निर्धारण होता है । राज्य सत्ता के द्वारा कानून बनाने एवं उन्हें लागू कराने की जिम्मेदारी होती है । इन सभी में युक्तिकरण या तार्किकता के सिद्धान्तों का पालन होना अतिआवश्यक माना गया है । बढ़ती आधुनिकता के कारण ही औद्योगिक एवं उत्तर औद्योगिक समाज के बीच अन्तर स्पष्ट कर देना चाहिए । जहाँ एक और औद्योगिक समाजों में चाहे वे निजी क्षेत्र के पूँजीवादी हों या फिर समाजवादी-राज्य पूँजीवादी हों, वस्तु-उत्पादक समाज होते हैं जिनमें भौतिक पूँजी के स्वामित्व को ही प्रधानता दी जाती है । जबकि उत्तर-औद्योगिक समाजों में मुख्य रूप से मानवीय एवं तकनीकी सेवाओं के उत्पादों को प्रधानता दी जाती है । इन क्षेत्रों में कार्यरत, लोगों का विशेष ध्यान यह रखा जाता है कि उन्हें पूरी सुविधाएँ मिलें । विशेष रूप में व्यावसायिक एवं तकनीकी सेवाओं के कर्मचारी को अधिक महत्व दिया जाता है । इन्हीं के पास ज्ञान एवं अनुभव तथा प्रशिक्षण की शक्ति होती है जिसके आधार पर ये सभी उपव्यवस्थाओं को भी अपने प्रभाव में रखते है ।

### 11.3.1 भारत मे आधुनिकीकरण

भारत में अधिकृत रूप से सबसे पहले आधुनिकीकरण की प्रक्रिया को एम.एन. श्रीनिवास (1966) ने भारत में समाजिक परिवर्तन की व्याख्या में स्वीकार किया है । उनके बाद योगेन्द्र सिंह (1974) ने तो भारत मे सदियों से हुए विविध परम्पराओं में होने वाले परिवर्तनों के बाहय एवं आन्तरिक कारकों को बहुत विस्तार से समझाया है । सन् 1973 में प्रकाशित उनकी पुस्तक 'भारतीय परम्परा का आधुनिकीकरण' इस प्रक्रिया का सूक्ष्म स्तर तक विश्लेषण करती है । इसमें पहले तो सिंह ने नियत-विकसित (Orthogenetic) परिवर्तनों को सांस्कृतिक परम्पराओं एवं आधुनिकीकरण के संदर्भ में व्याख्या करते हुए लिखा कि सांस्कृतिक ज्ञनोदय से जो परिवर्तन की दिशा प्रारम्भ हुई वह वृहद् परम्पराओं में परिवर्तनों के मध्यनजर विभेदीकरण

या सामाजिक विषमताओं के बढ़ने से और आगे बढ़ी । नगरों एवं उद्योग धंधो तथा नई व्यापार और उत्पादन प्रणालियों ने आधुनिकीकरण की भारत में नींव भी रखी । इसके साथ ही मध्ययुगीन भारत में इस्लामीकरण की प्रक्रिया के साथ-साथ आधुनिकीकरण की प्रक्रिया भी आगे बढ़ी । सिंह की मान्यता रही है कि वास्तविक आधुनिकीकरण उपनिवेशवादी भारतीय परिवेश मे आजादी के पूर्व की दो शताब्दियों में ही देखने को मिलता है जब यहाँ औद्योगीकरण एवं नगरीकरण ने तीव्र गति से अपने पैर पसारे थे । उससे स्वतंत्रता प्राप्ति के पूर्व की भारतीय सामाजिक, आर्थिक एवं राजनैतिक व्यवस्था में तो परिवर्तन आये ही किन्तु साथ यहाँ की शिक्षा व्यवस्था में आमूल-चूल परिवर्तन लाया गया । नई कानून एवं प्रशासन व्यवस्था लागू की गई जो आधुनिकीरण का ही एक हिस्सा थी । यह सब पश्चिमीकरण के नाम से भी जाना जाता है जिसने भारतीय मध्यम वर्ग, नवीन मध्यम वर्गो एवं अभिजात्य वर्गो की जीवन शैली में भी बदलाव ला दिया था । समाज में वकील, बाबू अफसर, डॉक्टर एवं मैनजरों की नई वर्ग व्यवस्थाएँ विकसित होने की प्रक्रिया प्रारम्भ हुई । यह सब सामाजिक संरचना की विविध इकाईयों- परिवार, जाति, धर्म, आदिवासी, समुदाय, ग्रामीण एवं नगरीय समुदाय, आदि- में गंभीर परिवर्तन लाने में विशेष योगदान देने मे समर्थ हुआ ।

योगेन्द्र सिंह (1998) ने ही बाद में आधुनिकता को नृजातीयता और बहुलवाद के साथ जोड़ते हुए इसे 'मोह-बन्धन-मुक्ति का जीवन संसार' (Life wold of disenhentment) बताया है । यह एक प्रकार का अमिथ्यीकरण (Demythologization) है जिसमें वैज्ञानिक दृष्टिकोण की संप्रभुता को स्वीकारा जाता है तथा धार्मिक परिपाटियाँ एवं विश्वासों के प्रति भी नये दृष्टिकोण से विचार किया जाता है । इसमें परम्परागत दृष्टिकोण के साथ एक ऐतिहासिक विच्छेद करते हुए आनुभविकता के प्रत्यक्ष ज्ञान तथा हर विचार को अनुभव के आधार पर सत्यापित करके ही स्वीकार करने की धारणा प्रबल होती है । सिंह की मान्यता है कि आधुनिकता में ही मोहबन्धन-मुक्ति की धारणा अन्तर्निहित है जिसमें व्यक्ति कई प्रकार के अंधविश्वासों एवं सदियों से चली आ रही परम्पराओं को तर्क के आधार पर तथा अनुभव के आधार पर सत्यापित न होने पर छोड़ने की सोचता है । भारत में आधुनिकता के आने की एक ऐतिहासिक प्रक्रिया है जिसमें पश्चिमी उपनिवेशवादी शक्तियों के आने के बाद एक विशेष गति एवं दिशा से इसे आगे बढ़ाया गया । यहाँ भी औद्योगीकरण, धर्मनिरी पेक्षीकरण एवं जनतांत्रिक मूल्यों एवं विचारधारा ने अपने पैर जमाना शुरू किया तो आधुनिकता भी प्रकट होने लगी ।

## 11.4 आधुनिकता के प्रभाव तथा परिणाम

आधुनिकीकरण की प्रक्रिया से ही आधुनिकता आती है । इसके व्यक्त एवं अव्यक्त कई परिणाम सामने आते हैं । इनमें से कुछ-एक यहाँ प्रस्तुत है-

(अ) परम्परागत राजनैतिक व्यवस्था एवं सांस्कृतिक प्रतिमानों में जबर्दस्त बदलाव आ जाता है । कई परम्पराएँ तो लगभग विलुप्त ही हो जाती है । भारत में आधुनिकता अर्थात् आजादी के बाद, से परम्परागत राजनैतिक की प्रथा समाप्त हो गई है । ऐसे हो कई प्रथाएँ धीरे-धीरे समाप्त हो रही हैं ।

(ब) राजनैतिक नेतृत्व में बदलाव जनसहभागिता से होने लगता है । निर्धारित अवधि में चुनाव की वैधता के आधार पर ही सत्ता परिवर्तन होता है ।

(स) आर्थिक विकास मैं नये मानदण्ड कायम होते हैं । औद्योगीकरण, पूँजीवादी व्यवस्था, राज्य संचालित पूँजीवाद, उत्तर-पूँजीवाद आदि सभी आधुनिकता के ही परिणाम हैं ।

(द) सामाजिक व्यवस्था में तीव्र बदलाव भी इसी आधुनिकता से आता है । नई भूमिकाएँ, मानक-मूल्य व्यवस्थाएँ, संस्थागत संरचनाएँ । (शैक्षणिक, सामाजिक, धार्मिक आदि) भी आती हैं।

आधुनिकता से सामाजिक रूपान्तरण में तीव्रता परिलक्षित होती है । परिणामस्वरूप, कई बार सामाजिक मानकहीनता विचलन, अपराधों जैसे व्यवहारों में भी वृद्धि होने लगती है । पुरानी व्यवस्था के बदलने एवं नई व्यवस्था के संस्थापित होने के बीच अव्यवस्था होने से व्यक्ति के समक्ष कई नई समस्याएँ प्रकट होती हैं ।

दीपांकर गुप्ता (2000) ने भारतीय संदर्भ में आधुनिकता की गलत समझ को उजागर किया है जिसे वे मिस्टेकन मॉडर्निटी (Mistaken Modemity) के नाम से सम्बोधित करते है। प्राय: हम हर नवीन या वर्तमान को ही आधुनिकता मानने लगे हैं जिन्हें हम बहुल आधुनिकता (Multiple Modernity) भी कहने लगे है । आधुनिकता का प्रदर्शन करने वाले सर्वाधिक लोग मध्यम वर्गो के हैं । किन्तु वर्गो की सीमाओं के परे आधुनिकता के पहुँचते हुए भी अभी तक लोगों के दृष्टिकोण में विशेष बदलाव नहीं आया है । इसी कारण भारतीय परिवेश में अभी आधुनिकता पूर्ण रूप से नहीं पाई है । आधी-अधूरी विचारधाराओं से ही लोग कभी आधुनिक हो जाते हैं तो कहीं परम्परा की दृष्टि से सोचते हैं । आर्थिक विकास कर लिया, टीवी., मोबाइल, कार आदि सभी हैं; किन्तु अपनी संतानों के विवाह के लिए अपनी ही जाति में सोचेंगे । महिला के प्रति विशेष दृष्टिकोण से ही आज बालिका-भ्रूण-हत्या के आँकड़े बढ़ते जा रहे हैं । चुनावों में जाति-धर्म का प्रभाव परिलक्षित हैं । ये सभी आधुनिकता के रास्ते की समस्याएँ हैं जिन्हें अभी दूर नहीं किया गया है । दीपांकर गुप्ता लिखते हैं कि आधुनिक समाज वह होता है जिसमें निम्न लक्षण पाये जाये-

(1) व्यक्ति की गरिमा,

(2) सार्वभौमिक मानदण्डो का पालन

(3) जन्म के विशेषाधिकारियों या प्रतिबन्धों पर व्यक्तिगत उपलब्धियों की बढ़त,

(4) सार्वजनिक जीवन में जिम्मेदारी व जवाबदारी, एवं

(5) व्यक्तियों के बजाय संस्थाओं में विश्वास एवं आस्था की संस्थापना ।savongi

भारत में आधुनिकीकरण के द्वारा सामूहिकता के स्थान पर व्यक्तिवादिता एवं व्यक्तिगत स्वार्थ सर्वोपरि होने लगा; तकनीकी एवं यांत्रिकीकरण की अति के कारण मानवीय संवेदनाओं का ह्रास हुआ; तथा राज्य की शक्ति में कमी आने लगी । इसके साथ ही साथ, आधुनिकता के बढ़ते कदमों ने सामाजिक मूल्यों में सामान्य स्तर की गिरावट ला दी तथा नैतिक-मूल्य-संकट समाज के सामने उपस्थित हो गया है । सामाजिक विघटन एवं अपराधों में

वृद्धि आदि के लिए आधुनिकीकरण को ही दोषी ठहराया जा रहा है । निम्नलिखित सामाजिक परिणाम भी आधुनिकीकरण के ही माने जाते है:

**(1)** आधुनिकीकरण के माध्यम से जिस विकास एवं परिवर्तन की व्याख्या की जाती है वह सबसे पहले पश्चिमी देशों मे प्रारम्भ हुआ है । इसी कारण यह अवधारणा भी एक नृजाति अभिकेन्द्रिक दृष्टि से ही विकास के मॉडल को स्वीकार करती है । पश्चिमी प्रजातियों के द्वारा श्रेष्ठ मानकर ज्ञानोदय के बाद औद्योगिक विकास करते हुए हर चीज में वैज्ञानिक दृष्टिकोण को आरोपित किया गया तथा मानवीय मूल्यों, संवेदनाओं को छोड़ दिया गया । यह विकास ही केवल भौतिकवादी संकल्पना बन रह गई जिसमें व्यक्ति का सवोगीण विकास नहीं हुआ बल्कि एक-पक्षीय व्यक्ति का विकास ही हुआ हैं।

**(2)** आधुनिकता आवश्यक रूप से ऐसा औधोगिक विकास नहीं लाती है जिसमें सामाजिक लाभों का समान वितरण हो, सामाजिक न्याय सबको मिले एवं अमीर एवं गरीब के बीच की खाई कम पड़े । इसके विपरीत आधुनिकीकरण ने विकासशील समाजों को विकसित समाजों पर निर्भर अधिक बनाया है ।

**(3)** आधुनिकता के सिद्धान्त ने कई अन्य सिद्धान्तों में संकट उत्पन्न कर दिया है । विशेष रूप से दार्शनिकता, साहित्य, कला, सामाजिक न्याय आदि के सिद्धान्तों को आधुनिकता के सिद्धान्त ने कड़ी चुनौती दी है ।

**(4)** यद्यपि आधुनिकता की धारणा में वैज्ञानिकता की वस्तुनिष्ठता एवं युक्तिसंगतता का दावा किया जाता है । किन्तु वस्तुनिष्ठ रहने एवं युक्तिसंगत दृष्टि को हर संदर्भ में उचित माना जाये यह भी तो वस्तुनिष्ठता नहीं है । बल्कि यह एक ऐसी विचारधारा है जिसने से इन्सानियत, मानवीय संवेदनशीलताएँ, परोपकार, पर दुःखों का हरण करना, सुख-शांति में वृद्धि करना, प्राकृतिक संतुलन आदि को छेड़ा जिससे सम्पूर्ण मानव प्रजाति के अस्तित्व का खतरा बढ़ गया है ।

दीपाशंकर गुप्ता का मानना है कि नई आधुनिकताओं मे जातिगत संघर्ष, साम्प्रदायिकता के नये स्वरूप, हिन्दुत्व विचारधारा, धर्म का दुरूपयोग, अल्पसंख्यकता में नवीन आधार, आदि सभी भारतीय संदर्भ के वर्तमान मुद्दे हैं । विश्व-परिदृश्य में आधुनिकता को देखें तो यह नवीन विचारधारा का एक मुद्दा है जो वैज्ञानिक दृष्टिकोण, विवेकशीलता, मानवीयता, सामाजिक न्याय, समानता, धर्मनिरपेक्षता आदि सार्वभौमिक मूल्यों की स्वीकृति के साथ जुड़ा है; जिसमें विकास एक सामान्य प्रक्रिया मानी जाती है ।

## 11.5 धर्मनिरपेक्षीकरण की अवधारणा

धर्मनिरपेक्षीकरण का तात्पर्य धर्म को अस्वीकार करना अथवा नास्तिकता को बढ़ावा देना नहीं है । यह तो व्यक्ति के जीवन मे धर्म को नये परिप्रेक्ष्य में स्थापित करता है । 'धर्मनिरपेक्ष' शब्द आंग्ल भाषा के सेक्यूलर शब्द का हिन्दी अनुवाद है जिसकी निरन्तर प्रक्रिया को ही धर्मनिरपेक्षीकरण के रूप में समझा जाता है । शब्दकोषीय अर्थ में इसके कई भावार्थ बताए गये है । एक अर्थ तो यह है कि धर्म या धार्मिक विचारों की उदासीनता अथवा अस्वीकृति अथवा वर्जना । यह इस शब्द का नकारात्मक अर्थ है । यहाँ हम इसको स्वीकार नहीं

कर रहे हैं । एक दूसरा अर्थ धर्मनिरपेक्षता का पश्चिमी देशों मे ही उद्भूत हुआ जिसका कारण धार्मिक दर्शन एवं अतिलौकिक परम-चरम दृष्टिकोणों के प्रति लोगों में विद्रोह का बढ़ना रहा है। ज्ञानोदय के दौरान धर्मनिरपेक्षता का अर्थ धार्मिक विचारों एवं मूल्यों की विवेकपूर्ण व्याख्या करने का रहा । धर्म को राजनीति एवं आर्थिक गतिविधियों से विलग करते हुए धर्मगुरूओं एवं मुल्ला-मौलवियों या पादरी-पुजारियों का राजनीति, न्याय प्रणाली एवं आर्थिकी में हस्तक्षेप को नकार दिया गया । सत्ता का संचालन संविधान या कानून से एवं आर्थिक गतिविधियों में औद्योगिक तथा तकनीकी विकास की सीधी भूमिका रहने लगी । धर्म को व्यक्तिगत व्यवहार तक सीमित किया गया । यह धार्मिक सीमाकरण सत्ता के द्वारा तर्कनापरकता के आधार पर होने लगा । यही धर्मनिरपेक्षीकरण की शुरुआत है । इसमें सत्ता की राजनीति से धर्म की सापेक्षता के स्थान पर उस धर्म की तटस्थता को उभारकर धीरे-धीरे विशेष धर्म को सत्ता की नीतियों से बाहर कर दिया जाता है ।

### 11.5.1 धर्मनिरपेक्षीकरण की परिभाषा

धर्मनिरपेक्षीकरण ऐसी प्रक्रिया का प्रतिपादन करता हैं जिसमें सामाजिक जीवन के विविध संस्थागत आयामों- कानून, सत्ता, शिक्षा, रोजगार, उत्पादन-वितरण, मनोरंजन, शासन-प्रशासन आदि - पर से धर्म का प्रभाव निरन्तर हटता जाता है । अर्थात् आध्यात्मिकता या अलौकिक शक्तियों में आस्था और विश्वास या कर्मकाण्डो की जीवन की विविध अन्य संस्थाओं के साथ विलगता प्रकट होती है और राजनीति तथा कानून की संवैधानिक धाराओं मे धर्म ढूढ़ने पर भी नहीं मिलता है । किन्तु व्यक्तिगत स्तर पर धार्मिक संस्थाओं या धार्मिक कर्मकांडों विश्वासों, आदर्शो को मानने या न मानने के लिये वह स्वतंत्र होता है । सभी के लिये केवल एक ही धार्मिक संप्रदाय का सदस्य होना धर्मनिरपेक्षीकरण की प्रक्रिया में आवश्यक नहीं । कई धर्मो के लोग एक साथ रहते हुए समाज में धार्मिक-बहुलवाद भी दर्शाते है । एक ही धार्मिक समुदाय में भी कई उप-समुदाय या सम्प्रदाय विकसित हो जाते है । उन सभी में सह-अस्तित्व का भाव, एक-दूसरे को सहयोग एवं सद्भाव के साथ व्यवहार करक साथ-साथ रहने की स्थिति बनती है । धार्मिक सम्प्रदायों/समुदायों के प्रधानों की शक्ति का निरन्तर हास इसमें होता हुआ दिखता है । राज्य का कोई राष्ट्रीय धर्म नहीं किन्तु सर्व-धर्म-समभाव की स्थिति बनाने वाला ही एक धर्मनिरपेक्ष राज्य होता है । अत: धर्मनिरपेक्षीकरण वह सामाजिक प्रक्रिया है जिसमें लोगो में धार्मिक बहुलवाद पनपे एवं धर्म व्यक्तिगत विश्वास पर ही आधारित होते हुए सत्ता, अर्थव्यवस्था, शिक्षा आदि से विलग होता जाये ।

### 11.5.2 धर्मनिरपेक्षीकरण की प्रक्रिया के आयाम

एन्थेनी (2001) ने धर्मनिरपेक्षीकरण को एक ऐसी प्रक्रिया के रूप में निरूपित किया है जिसमें आधुनिक विश्व-परिदृश्य में धर्म को निरन्तर प्रभावहीन होते हुए दिखाया है । गिडिन्स के अनुसार इस धर्म-निरपेक्षीकरण की प्रक्रिया के तीन प्रमुख आयाम होते है: (1) धार्मिक समुदायों की सदस्यता (2) विविध धर्मो का घटता सामाजिक प्रभाव, एवं उनकी प्रतिष्ठा एवं

सम्पन्नता दाव पर (3) धार्मिकता के बदलते आयाम- विश्वासों, मूल्यों एवं कर्मकाण्डों में परिवर्तन ।

उपर्युक्त तीनों आयाम एक दूसरे को प्रभावित करते हुए आधुनिक औद्योगिक समाजों मे आसानी से परिलक्षित होते हैं । विश्व में कुल ग्यारह धार्मिक सम्प्रदाय प्रमुख है जिनमें सर्वाधिक लोग इसाई धर्म के अनुयायी है । उनके बाद क्रमश: इस्लाम, हिन्दू बोद्ध, कनयुशियस, ताओ, पारसी, शिन्तो, यहूदी, सिक्ख, जैन आदि धर्मावलम्बियों की संख्या आती है । सामान्यतया व्यक्ति अपने जन्म से ही जिस धार्मिक परिवार में जन्म लेता वह उसी का कहलाता है । यद्यपि अपवाद स्वरूप धर्मान्तरण की घटनाएँ भी देखने को मिली है । लोग प्राय: अपने धार्मिक सम्प्रदाय के प्रतीकों, मूल्यों, पवित्र पुस्तकों, पूजा आराधना के स्थानों (मंदिर, मस्जिद, गुरुद्धारा, गिरजाघर, मठ आदि) की रक्षार्थ अपने जीवन का बहुत भाग लगा देते है किन्तु धर्मनिरपेक्षीकरण की प्रक्रिया से लागों की सहभागिता ने कमी आने लगी हैं । धार्मिक प्रदर्शनों मे भी व्यक्तिश: कुछ कम लोग ही भाग लेते हैं । राज्य एवं सरकार के गठन में पहले के दिनों में जहाँ धार्मिक मुखिया की भूमिका अहम् होती थी वहीं अब प्रजातांत्रिक प्रणाली के अन्तर्गत केवल प्रशासकीय अधिकारियों के द्वारा ही सत्ता का हस्तान्तरण करा दिया जाता है और उनमें में भी संवैधानिक कानून का शासन सर्वेसर्वा होता है न कि धार्मिक परम्पराओं की मान्यताएँ । अत: धर्म का राजनैतिक प्रभाव लगभग समाप्त सा हो गया है । यद्यपि इसे पुन: स्थापित करने हेतु नये धार्मिक आन्दोलनों का भी विश्व में प्रारम्भ हुआ है ।

जो तीसरा महत्वपूर्ण आयाम धर्मनिरपेक्षता का है वह धार्मिकता के बदलते मूल्यों, प्रदर्शनों, शोभा यात्राओं एवं धार्मिक पुनउद्धारों का दिखाई देता है । चाहे व्यक्ति चर्च, मंदिर, मस्जिद, गिरिजाघर आदि को नियमित रूप से पूजा-अर्चना-प्रार्थना हेतु न जाता है किन्तु वह अपनी धार्मिक पहचान हेतु चन्दा देना, विशेष त्यौहारो-उत्सवों का आयोजन करवाना आदि में दिखावा अवश्य करता है । इस प्रकार धार्मिक आयोजनों का दिखावा और विशेष रूप से मीडिया पर कवरेज देना व्यक्तिओ को अधिक रूचिकर लगता है ।

धर्मनिरपेक्षता को एक उान्य परिप्रेक्ष्य से भी देखा जा सकता है । धार्मिक बहुलवाद तथा सभी धर्मो के प्रति सहिष्णुता को वर्तमान में लगभग सभी देश धर्मनिरपेक्षता को बढ़ावा देने मे महत्वपूर्ण कदम मानने लगे है । किसी एक धार्मिक सम्प्रदाय के लोगों की ही राज्य की अर्थव्यवस्था के संचालन में निर्णायक भूमिका स्वीकार नहीं की जाती है । सभी धर्मो के लोगों को राज्य सत्ता या प्रशासनिक भूमिकाओं मे यथानुपात भागीदारी सौंपी जाती है । यह परस्पर सहअस्तित्व तथा शांतिपूर्ण ढंग से दूसरे धर्मो के लोगों के साथ-साथ रहने की भावना को बढ़ावा देता है । इसमे धार्मिक कट्टरता, हिंसा-उन्माद, धर्मान्धता जैसे व्यवहार को कोई स्थान नहीं होता है । अहिंसा के मूल्यों को विशेष तवज्जु देते हुए विविध धर्मो के लोगों मे धंधेगत या पेशेवर अन्तनिर्भरता भी विकसित की जाती है । इसके साथ ही, नागरिक समाजों (Civil Societie) को इस प्रकार बढ़ावा दिया जाता है कि ऐच्छिक संगठनों में कई धर्मा के लोगों की भागीदारी दिखाई देती है ।

### 11.5.3 भारत में धर्मनिरपेक्षीकरण

भारत में धर्मनिरपेक्षीकरण को अंग्रेज लोग (ब्रिटिशर्स) लेकर आये । उन्होंने यह धारणा सभी भारतीयों में फैलाने का प्रयास किया कि धर्मनिरपेक्षता कोई धर्मविरोधी विचार नहीं है और न इससे धर्म नष्ट होता है । बलिक यह तो "धर्म की स्वतंत्रता" एवं धार्मिक क्रियाओं में राज्य की संस्था (प्रशासन) की अहस्थक्षेपीय नीति को बढ़ावा देने के उद्देश्य से स्वीकार की गई है । इस नीति के तहत 'राज' का कोई धर्म या किसी भी धार्मिक सम्प्रदाय को विशेष संरक्षण या विरोध नहीं होता है । कोई 'राजधर्म', जैसे पाकिस्तान की सरकार को इस्लामिक धर्म, पूर्व नेपाल नरेश का हिन्दू राजधर्म आदि, नहीं रहता है । किन्तु अंग्रेज बडे चतुर थे । उन्होंने इस नीति के तहत भारत भूमि के राजा-महाराजाओ को धर्मनिरपेक्ष होने का कोई विशेष आग्रह नहीं किया । यह तो केवल आजादी के बाद ही ऐसी स्थिति बन पाई कि भारतीय राज्य व्यवस्था को संवैधानिक तौर पर धर्मनिरपेक्ष राज्य घोषित किया गया । इस नीति के निर्धारण में यहाँ के तत्कालीन पूर्व-प्रधानमंत्री पंडित जवाहर लाल नेहरू (1950) की भूमिका अत्यन्त महत्वपूर्ण रही।

सन् 1947 के बाद स्वतंत्र भारत में मुख्य रूप से हिन्दू एवं मुस्लिम समुदायों के लोगों की क्रमश: लगभग 80 प्रतिशत तथा 12 प्रतिशत जनसंख्या थी । मुस्लिम लोगों को अल्पसंख्यक एवं हिन्दू लोगों को बहुसंख्यक होने की परिस्थिति सामने आई । इसके अलावा जैन, बौद्ध, सिक्ख, इसाई, पारसी एवं जनजातीय धर्मो के लोग भी विविध समुदायों में विभक्त थे । इन सभी की विविधताओं में एकता स्थापित करने हेतु राज्य संस्था के समक्ष धर्मनिरपेक्ष होने के सिवा कोई विकल्प भी नहीं था । जवाहर लाल नेहरू ने धर्मनिरपेक्ष राज्य की परिभाषा में यह लिखा है कि यह एक ऐसा राज्य होता है जो सभी धर्मो के लोगों को सुरक्षा प्रदान करता है । उसके साथ ही किसी एक धर्म को दूसरे धर्मो की तुलना में विशेष संरक्षण एवं सुविधाएँ राज्य की ओर से प्रदान नहीं करता है । यह व्यक्ति पर छोड़ा जाता है कि वे अपने धर्म का स्वयं पालन करें एवं धार्मिक संप्रदाय के साथ जुड़े रहें । इस प्रकार की नेहरू द्वारा दी गई धर्मनिरपेक्षता की धारणा पश्चिमी देशों से प्रभावित थी । पश्चिम की धारणा के अनुसार ही स्मिथ (1963) का कथन है कि "धर्म निरपेक्ष राज्य उसके नागरिकों को व्यक्तिगत एवं सामूहिक रूप से धार्मिक स्वतंत्रता की गारण्टी देता है; चाहे किसी भी धर्म का व्यक्ति हो वह देश का नागरिक होता है तथा उसे सभी अधिकार मिलते है; किसी भी विशेष धार्मिक समूह (बहुसंख्यक या अल्पसंख्यक) से जुड़ा होने से उसके साथ कोई भेदभाव नहीं होता है और न उसके साथ संरक्षण या हस्तक्षेप ही करता है । इस कथन में तीन चीजें दिखाई देती है: (1) धर्म की स्वतंत्रता, (2) नागरिकता (सभी धर्मो को समान) (3) राज्य संस्था एवं धर्म के बीच विभेद । यह धर्मनिरपेक्ष राज्य की एक आदर्श व्यवस्था है जिसे भारत पर लागू करने का प्रयास यही के संविधान निर्माताओं एवं पूर्व प्रधानमंत्री नेहरू ने किया था ।

भारतीय धर्मनिरपेक्षता को विशेष रूप से परिभाषित भी किया गया है जिसमें यह स्पष्ट लिखा गया कि भारतीय राज्य व्यवस्था में- केन्द्र या प्रान्तीय प्रशासन-विशेष धर्म या समुदाय के आधार पर किसी भी प्रकार का भेदभाव लोगों के बीच राज्य द्वारा नहीं किया जायेगा । अर्थात् राज्य सरकार किसी भी धर्म को कोई संरक्षण नहीं देगी । राज्य द्वारा कोई भी मंदिर, मस्जिद,

गुरुद्वारा, गिरजाघर आदि बनवाने के लिये आर्थिक सहायता मुहैया नहीं कराई जायेगी और न यह राज्य किसी प्रकार के नये धर्म की स्थापना करेगा । न किसी का धर्म के आधार पर पक्षपात होगा और न किसी का विरोध । राज्य के मामले में सभी धर्मो के लोगों को समान अवसर देते हुए उनके बीच किसी स्तर की कोई निर्योग्यताएँ या सुविधाएँ नहीं दी जाती है ।

धर्मनिरपेक्षता के बारे में महात्मा गांधी के विचारों को भी समझ लेना चाहिए । गांधीजी हमेशा "सर्व- धर्म-समभाव" की बात करते थे । उनके विचारों में धर्म को जीवन के हर पहलु से जोडे रखना चाहिये । भारतीय समाज मे धार्मिक बहुलता को उन्होंने पूरी तरह स्वीकार करते हुए उन्होंने हिन्दुओं के राम, मुसलमानों के खुदा और इसाईयों के ईसामसीह सभी में सभी धर्मो में समान रूप से एक ईश्वर को देखा है । उनके अनुसार किसी भी एक धर्म की प्रधानता नहीं होनी चाहिए । कोई धर्म बुरा नहीं होता । धर्म के द्वारा दूसरे की पीड़ा या दुःख दूर किये जाते है और दूसरों को दुःख देना ही अधर्म है ।

भारतीय परिवेश के धर्मनिरपेक्षीकरण पर समाजशास्त्रियों के द्वारा भी समीक्षा प्रस्तुत की गई । सर्वप्रथम एम. एन. श्रीनिवास ने भारत में सामाजिक परिवर्तन के विविध स्वरूपों को निरूपित करते हुए संस्कृतीकरण, पश्चिमीकरण, आधुनिकीकरण की प्रक्रियाओं के साथ ही धर्मनिरपेक्षीकरण पर भी विस्तार से चर्चा की है । श्रीनिवास लिखते है कि भारत में आधुनिकीकरण एवं पश्चिमीकरण की प्रक्रियाओं ने ही धर्मनिरपेक्षीकरण को बढ़ावा दिया है तथा लोगों की पुरानी जीवनशैली को बदलने के साथ-साथ राजनैतिक संस्थाओं एवं धार्मिक क्रिया-कलापों को एक दूसरे से विलग कर दिया । उन्होंने लिखा है कि "धर्म निरपेक्षीकरण पद का भावार्थ यह है कि जो पहले धर्म के नाम से चलता था अब वह धर्म से उदासीन हो गया है । आपसी व्यवहार, विविध सामाजिक संस्थाएँ (आर्थिक, सामाजिक, राजनैतिक, विधि-विधान, नैतिकता आदि) अपने-अपने अलग अस्तित्व में आ गई हैं तथा सभी में विभेदीकरण को प्रक्रिया ने उन्हें और विभाजित भी किया है । योगेन्द्र सिंह (1973) भी श्रीनिवास की तरह अपने विचार रखते हुए लिखते है- "धर्म निरेपक्षीकरण को आधुनिकीकरण की प्रक्रिया" की उप-प्रक्रिया कहा जा सकता है । इसका विस्तार यह प्रकट करता है कि व्यक्तिगत तथा सामाजिक जीवन के विविध मुद्दे तथा घटनाएँ धार्मिक दृष्टिकोण देखने के बजाय उपयोगितावादी दृष्टि से देखी जाती हैं । ज्यों-ज्यों धर्म निरपेक्षीकरण बढ़ता है, सामाजिक जीवन के पूर्व में धर्म द्वारा नियंत्रित पहलुओं को लोग कम करते जाते है तथा उन आयामों की क्रियायों में बढ़ोतरी करते है जिनसे उन्हें अधिक सुख मिले या जो उनके विवेक के अनुसार उचित हो ।

इस प्रकार से हम कह सकते है कि भारत में धर्मनिरपेक्षीकरण की प्रक्रिया आधुनिकता, औद्योगिक तथा बाजारू अर्थव्यवस्था, उपभोक्तावादी संस्कृति, भौतिकवादी सुख-सुविधाओं के बढ़ने के साथ ही साथ विस्तार प्राप्त कर रही है । कभी-कभी तो यह भी कहा जाता है कि भारत में आधुनिकता ही धर्मनिरपेक्षता का रूप से रही है जिससे सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक, शैक्षणिक, मनोरंजन आदि सभी संस्थागत मानक-मूल्य एवं क्रिया-कलापों में व्यक्ति धर्म के आदर्शो, शिक्षाओं को छोडता जा रहा है और व्यक्ति सर्वाधिक स्वार्थी, उद्देश्य-प्राप्तकर्ता, विवेकशील, तथा फलवादी हो गया है ।

## 11.6 आधुनिकतायुक्त एवं धर्मनिरपेक्षीकरण के प्रभाव

प्रत्येक प्रघटना का प्रभाव व्यक्ति और समाज पर अवश्य पड़ता है जिसे उसके परिणाम भी कह सकते है । ये दो प्रकार के हो सकते है; (1) सकारात्मक प्रभाव एंव (2) नकारात्मक प्रभाव । सकारात्मक प्रभावों से समाज और व्यक्ति के जीवन में सुख-सुविधाएँ, संतोष, प्रगति, विकास आदि को महसूस किया जाता है जबकि नकारात्मक प्रभावों के कारण कई नवीन सामाजिक समस्याएँ एवं विकार उत्पन्न होते है और समाज गर्त में जाता हुआ दिखाई देता है । यहाँ पहले हम सकारात्मक परिणामों की समीक्षा कर रहें हैं और बाद में नकारात्मक पक्षों को लेंगे ।

### 11.6.1 सकारात्मक परिणाम

आधुनिकीकरण ने लोगों के जीवन में कई खुशियाँ भरी है । विज्ञान की प्रगति तथा हाल ही के तकनीकी ज्ञान, इलेक्ट्रोनिक क्रांति, सूचना तकनीकी तथा नैनो तकनीकी के विकास ने लोगों के जीवन को आमूल-चूल परिवर्तित कर दिया है । व्यक्ति को स्थानों की दूरी का अहसास ही नहीं रहा है । जहाँ पहले यात्रा में दिन, महीने, साल लग जाते थे अब कुछ ही घंटों में कहीं भी पहुंचा जा सकता है । प्रकृति की शक्तियों पर एक हद तक तो काबू पा ही लिया गया है । जिन कार्यो को करने में कई व्यक्तियों के श्रम की आवश्यकता होती थी अब कम समय और कम व्यक्तियों द्वारा सम्पन्न कर लिया जाता है क्योंकि मशीन, तकनीकी एवं इलेक्ट्रोनिक्स के सामान की भी भरमार है । आधुनिकीकरण ने लोगों की दिनचर्या को अधिक सुविधाजनक एवं आरामदायक बना दिया है । मौसम की कठोरताएँ- सर्दी, गर्मी, वर्षा, आधी-तूफान आदि को बहुत हद तक नियंत्रित की गई हैं । यद्यपि अभी प्रकृति की शक्तियों पर पूर्ण निमंत्रण नहीं हो पाया हैं ।

सामाजिक, आर्थिक एवं राजनैतिक और यही तक की धार्मिक-आध्यात्मिक संस्थाओं का भी रूपान्तरण आधुनिकीकरण की प्रक्रिया के द्वारा विकास और प्रगति का मार्ग स्पष्ट रूप से प्रशस्त होता दिखाई देता है । सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था की धूरी ही बदल गई है । अब प्लास्टिक मुद्रा (ATM and Credit Card) सभी प्रकार के ए.टी.एम एलेक्ट्रोनिक ट्रैनजिशन आदि से बैकिंग प्रणाली में भी गतिशीलता आई है । ई-बैंकिग का जमाना है । राजनीति में भी अब ई-गवर्नस को स्वीकारा जा रहा है । धार्मिक क्षेत्र में लगभग सभी संतो, धर्मगुरूओं, एवं धर्म के प्रमुखों (जगद्गुरुओं, कथाकारों, पादरियों, मुल्ला-मौलवियों) को अब टीवी. की निजी एवं सरकारी चैनलों पर लाइव एवं प्रायोजित कार्यक्रमों मे यथेष्ट स्थान मिलने से वे अपने-अपने विचारों का प्रसारण करने की सुविधा प्राप्त कर रहे हैं । इससे धार्मिक पुनर्जागरण की परिस्थितियाँ बन रही हैं।

इसी प्रकार से धर्मनिरपेक्षीकरण ने भी कई सकारात्मक प्रभाव छोड़े है । सबसे महत्वपूर्ण बात इसमें धर्म की कट्टरता एवं धमान्धता में कमी देखी जा रही हैं क्योंकि धर्मगुरुओ का प्रभाव अब राजनीति एवं अर्थव्यवस्था से हटता जा रहा है । धार्मिक मूल्यों एवं नैतिक आदर्शो की नई-नई व्याख्याएँ धर्मगुरुओं द्वारा मीडिया के माध्यम से सामान्यजनों तक पहुंचाई

जा रही है । इससे विविध धर्मावलम्बियों में परस्पर सहयोग तथा सहिष्णुता के भावों का विस्तार होता है । अनन्तकुमार गिरि (2005) ने धर्मनिरपेक्ष समाज के लिये आध्यात्मिक परिष्कार करने में आधुनिकता की विशेष भूमिका निरूपित की है । इसके लिए गिरि की मान्यता है कि धर्म निरपेक्षता की पुनर्व्याख्या करना भी आवश्यक हो गया है । कई मिथ्या मान्यताओं को भी हटाया जा रहा है । जैसे, धर्मनिरपेक्षता धर्म को नष्ट करने या लोगों को अधार्मिक या नास्तिक बनाने का प्रयास नहीं है, बल्कि यह तो व्यक्ति के स्व (अहम) नागरिक समाज एवं धर्मनिरपेक्षता के अन्तर्सम्बन्धों को पुष्ट करने की दिशा में एक साथ कदम है । लोगों के व्यवहार एवं सोच में धार्मिक बहुलवाद, अहिंसा, न्यूनीकरण एवं स्व-शून्यीकरण के लोकाचारों को इसी धर्मनिरक्षता एवं आधुनिकता के मेल-मिलाप के द्वारा बढ़ावा मिल रहा है । लोग हिंसा, आन्तकवाद कट्टरता, भाग्यवाद आदि से अपने आप को दूर रखने का प्रयास करते हैं और कई सरकारें भी इस दिशा में प्रयासरत है । धर्मनिरपेक्षता के द्वारा धर्मान्धता या धार्मिक-कट्टरता के प्रति लोग सचेत हो रहे हैं और वैदिक मूल्यों मे निरूपित कई नीतियो को पुन: स्थापित किया जा रहा है ।

आधुनिकीकरण एवं धर्मनिरपेक्षीकरण का एक संयुक्त प्रभाव यह भी पड़ा कि लोगों में अपने व्यक्तिगत एवं नागरिक अधिकारों तथा सार्वजनिक लक्ष्यों की प्राप्ति हेतु नये सामाजिक एवं धार्मिक आन्दोलनों का सूत्रपात हुआ । इनसे समाजसुधार की दिशा में भी कारगर कदम उठाये जाने लगे । समाज की कई कुरीतियाँ, अन्धविश्वास एवं मिथकों को लोगों ने अस्वीकार करना प्रारम्भ किया । जातिगत एवं धर्मगत पक्षपातों में कमी आने लगो तथा लोगो की सोच में 'सर्व-जन-हिताय सर्व जन सुखाय" या "वसुधैव कुटुम्बकम्" की भावनाओं को स्थान मिलने लगा। धर्मनिरपेक्षता से राष्ट्रीय एवं सामाजिक एकीकरण के प्रभाव को बढ़ावा मिलता है । विविध पहचानों के समूहों/समुदायों के बीच परस्पर संवादों से उनके विरोधों को कम करके एकीकरण स्थापित किया जाता है ।

### 11.6.2 नकारात्मक परिणाम / प्रभाव

आधुनिकीकरण एवं धर्मनिरपेक्षीकरण ने व्यक्ति और समाज को कुछ नुकसान भी पहुंचाये हैं । उपयोगितावाद, भौतिकवाद, धार्मिक तटस्थता, स्वार्थपरता, व्यक्तिवाद आदि परिस्थितियों इन्हीं प्रक्रियाओं का प्रतिफल है । समाज का तथाकथित आर्थिक विकास कई बुराईयों एवं समस्याओं को भी अपने साथ लाता है । न केवल पश्चिमी देशों में बल्कि भारत जैसे विकासशील देशों मे भी सामाजिक संरचना और संस्कृति मे विघटनकारी परिस्थितियां उभरी है । अति भौतिकवाद एवं उपभोक्तावादी संस्कृति ने व्यक्ति के व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन को तहस-नहस भी किया है । भारतीय समाज की सामाजिक संस्थाओं-परिवार, जाति-उपजाति, शिक्षा, एवं धर्म, ग्रामीण समुदाय जनजातीय समुदाय आदि को विघटित कर दिया है तथा नई सामाजिक संस्थाओं ने इनके प्रकार्यों को आँधे- अधूरे रूप में ही स्वीकारा है । संयुक्त परिवार व्यवस्था सर्वाधिक विखण्डित हुई है तथा पारिवारिक-लोकाचारों में भी बदलाव आया है । विवाह की पवित्रता बदल कर अब एक मजबूरी के रूप में बनती जा रही है और अब तो ऐसे साथ-साथ रहने पर जोर दिया जाने लगा है जहाँ विवाह की आवश्यकता को ही नकारा जा रहा

है । इससे वृद्ध लोगों की सामाजिक सुरक्षा खतरे में पड़ गई हैं क्योंकि उनकी देखभाल करने वाले संयुक्त परिवार बिखर रहे हैं।

नैतिक मूल्यों का संकट आ गया है । जहाँ पुरानी मान्यताएँ, मानक-मूल्य व्यवस्था, परम्पराएँ आदि अब अस्वीकार किये जाने लगे हैं, वहीं नये मूल्यों-मानकों की ऐसी रचना नहीं हो पा रही है किं जिनसे व्यक्ति और समाज के बीच उचित सामाजिक सरोकार स्थापित हो सके। नये-नये अपराधों एवं भ्रष्टाचार के नये-नये तौर-तरीके को व्यक्ति अपनी स्वार्थ सिद्धि के लिये प्रयुक्त करने लगा है और विधि एवं कानून की ढिलाई भी इसमें अपराधियों को बैखोफ रहने में मददगार होती है । यह सामाजिक मानकहीनता का माहौल और अधिक सबल बनता जा रहा है । इसके लिये प्रबल कानून व्यवस्था को लागू करना होगा ।

भौतिक विकास की अंधी दौड़, जो कि आधुनिकीकरण का ही परिणाम है, ने पर्यावरणीय असंतुलन भी खड़ा कर दिया है जो सम्पूर्ण मानव संस्कृति और समाज के लिये अस्तित्व का खतरा बन चुका है । प्राकृतिक संसाधनों का अत्यधिक दोहन से वन विनाश, जल संकट, खनिज सम्पदा की समाप्ति, तेल संसाधनों का संकट आदि उपस्थित हुए हैं । हाल ही की एक गंभीर समस्या पृथ्वी के तापमान में वृद्धि होने से उत्तरी अंटार्कटिका के ग्लेशियर तीव्र गति से पिघलने लगे और सागरों का जल स्तर बढ़ने लगा है । इसके लिये ऊर्जा का सर्वाधिक उत्सर्जन विकसित देशों के उद्योगों के द्वारा किया जाना प्रमुख कारण है । वर्तमान विश्व समाज एक अत्यन्त जोखिम समाज होता जा रहा है । इससे सभी को सचेत होना है ।

मानसिक एवं शारीरिक रोगों में भी वृद्धि हुई है । आये दिन दुनिया के देशों मे, और विशेष कर भारत में भी, विविध प्रकार के अपराधों का ग्राफ बढ़ा है । बीमारियों के नये-नये नाम सामने आये हैं । एड्स, कैंसर आदि की गंभीर बीमारियाँ इसी विकास की दौड़ का परिणाम बताई जाती है । तीव्र औद्योगीकरण से नगरीय विकास भी हुआ किन्तु नगरीकरण की बढ़ती प्रक्रिया से नगरों की नई-नई समस्याएँ सामने आई । अधिक भीड़-भाड़, गन्दी-बस्तियों का विस्तार, अपराध, बेरोजगारी, गरीबी, नशाखोरी जैसी कई सामाजिक समस्याओं ने अपना प्रसार फैलाया है । इनका समय रहते समाधान आवश्यक है । भारत में छद्म धर्मनिरपेक्षता का प्रचार-प्रसार भी होने लगा है । राजनेता एवं अधिकारी, न्यायधीश अपने आप को धर्मनिरपेक्ष बताते है किन्तु अपने निजी धार्मिक मंसुबों को पूरा करने के अवसर की तलाश में भी रहते है ।

उक्त सभी नकारात्मक प्रभावों को उचित शिक्षा एवं नियोजन तथा नीति-निर्धारण से कम भी किया जा सकता है तथा सकरात्मक परिणामों को अधिक प्रबल बनाया जा सकता है । इस दिशा में नेतृत्व, बौद्धिक एवं तकनीकी विशेषज्ञों तथा प्रशासकों एवं प्रबन्धकों मे समाज तथा व्यक्ति के सर्वोल्मुखी विकास तथा प्रगति हेतु उचित ताल-मेल होना अपेक्षित है ।

## 11.7 सारांश

इस सम्पूर्ण इकाई में हमने आधुनिकीकरण और उससे जनित धर्मनिरपेक्षीकरण की प्रक्रिया की विस्तार से विवेचना की है । इन दोनों को रोका तो नहीं जा सकता है किन्तु इनके नकारात्मक प्रभावों को कम करने के प्रयास करके सकारात्मक परिणामों को आगे लाने की दिशा में कार्य किया जा सकता है । यह आधुनिकता धर्मनिरपेक्षता एक विचारधारा का पहलू है जिसमें

परम्परा और पुरानी परिस्थितियों के स्थान पर सामाजिक नवाचारों को विवेकशीलता के आधार इस प्रकार स्वीकार किया जाता है कि पुरानी धार्मिक मान्यताओं में स्पष्ट बदलाव आ जाता है । धर्म और अन्य सामाजिक संस्थाओं के बीच सम्बन्धों में भी बदलाव आ जाता है । धर्म सर्वेसर्वो नहीं रह जाता है । व्यक्तिगत स्तर पर धर्म की पालना की स्वतंत्रता के साथ ही सामाजिक-आर्थिक विकास के नये आयाम प्रतिपादित होते हैं । भारत में धर्मनिरपेक्षता से सर्वधर्म-समभाव, राजनीति और आर्थिकी की धार्मिक तटस्थता, नागरिक जीवन में धर्म की बहुलता, धार्मिक सहिष्णुता जिसमें अन्य धर्मो के लोगों को अपने स्वाभिमान से रहने का अवसर, सभी अल्पसंख्यकों अथवा बहुसंख्यक लोगों के अधिकारों में कोई भेदभाव नहीं करना स्वीकार किया गया है । भारत के मीडिया-तंत्र की, जिसमें सरकारी और निजी संगठन विद्यमान हैं, यह जिम्मेदारी होती हैं कि वे धर्मनिरपेक्षता एवं आधुनिकीकरण के सकारात्मक प्रभावों को जनमानस तक पहुंचाये एवं उनके नकारात्मक प्रभावो को कम करने की दिशा में प्रयास करे ।

## 11.8 अभ्यासार्थ प्रश्न

1. आधुनिकीकरण को परिभाषित कीजिये तथा इसकी प्रक्रिया एवं प्रभाव की समीक्षा कीजिये ।
2. धर्मनिरपेक्षीकरण क्या है? भारत में इसके परिणामों एवं प्रभावों की विवेचना कीजिये ।
3. क्या भारत में आधुनिकीकरण से ही धर्मनिपेक्षता का प्रारम्म हुआ है? भारतीय धर्मनिरपेक्षता की विस्तृत व्याख्या कीजिये ।
4. "भारत में आधुनिकीकरण एवं धर्मनिरपेक्षता' ' विषय पर एक निबन्ध लिखिये ।

## 11.9 संदर्भ ग्रन्थ


1. Bhargava, R.(ed),1998.Secularism and its critics. New Delhi; oxford university press.
2. Chandra, satish 1970."Concept of Nationalism and Secularism". Mainstream,Dec.19pp.30-32.
3. Dang, Satyapal 1970." Secularism and official functions", Mainstream July 4,pp.9-10.
4. Giddens,Anthony, 2001.Sociology. Cambridge; Polity,pp.545-46.
5. GiriA,nant kumar.2005," SpiritualCultivation of Secular Society, Sociological Bulletin,54(1)pp. 77-100
6. Ghouse,Mohammand,1973, Secularism Society and Law in India Delhi: vikas pub,pp 62-91.
7. Gupta,Dipankar. 2000. Mistaken Modersity. India between worlds . dehli: Harpar Collin
8. lerner, Daniel, 1964.passing traditional society. London-Free press

9. Madan,T.N.(ed)1992. Relirion in India. New Dehli; Oxford University press
10. Mohanti, M.1989.” Secularisum.Hegemonic and Democratic”,economic and Political weekly,24(22),pp.1219-20
11. Nehru, J.L.1950. Independence and after New Yoke; johnDay company. Smith,D.E. 1963. India as a Secular State. London; Oreford
12. Sharma,C.L.2008. Contemporary Sociological Theory (in Hindi), Jaipur; Rajasthan hindi Grath Academy.
13. Singh,Yogendra.1973, Modernisation of India, delhi: Thomsen press
14. Singh,Yogendra.1998.”a life world of disenchantment: Modenity, Ethnility and plusalism”, Sociological Bullitin, vol.47(2)pp 155-166
15. Srinivas, M.N. 1966. Social Change in Modern India, Bombay. Orient Lonygman.

# इकाई - 12

# नगरीकरण एवं औद्योगीकरण : अवधारणा, प्रक्रिया एवं प्रभाव

**इकाई की रूपरेखा**

12.0 उद्देश्य
12.1 प्रस्तावना
12.2 अवधारणा, अर्थ एवं परिभाषा
12.3 भारत में नगरीकरण
12.4 नगरों के प्रकार
12.5 भारत में औद्योगीकरण
12.6 नगरीकरण एवं औद्योगीकरण में सम्बन्ध
12.7 औद्योगीकरण एवं नगरीकरण के व्याधिकीय परिणाम
12.8 सारांश
12.9 शब्दावली
12.10 अभ्यासार्थ प्रश्न
12.11 संदर्भ ग्रंथ

## 12.0 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के उपरांत आप निम्नलिखित क्षेत्रों में अपने विश्लेषणात्मक ज्ञान का विस्तार करने में सक्षम होंगे-

- सामाजिक विकास की प्रक्रिया में औद्योगीकरण का योगदान
- औद्योगीकरण के पूर्व भारत में नगरों के उद्भव एवं विकास
- औद्योगीकरण एवं नगरीकरण सहवर्ती प्रक्रियाओं के रूप में
- भारत में पूँजीवादी एवं समाजवादी तथा नव्य-उदारवादी अर्थव्यवस्थाओं के साथ औद्योगीकरण एवं नगरीकरण के बदलते स्वरूप
- औद्योगीकरण एवं नगरीकरण से उत्पन्न असमानताओं तथा स्थानिक गतिशीलता के सामाजिक जीवन पर प्रभाव
- औद्योगीकरण एवं नगरीकरण के प्रकार्य एवं अपकार्यों के समकालीन तथा भावी संदर्भ

## 12.1 प्रस्तावना

औद्योगीकरण एवं नगरीकरण आधुनिक विश्व की वे महत्वपूर्ण सामाजिक-आर्थिक प्रक्रियाएं हैं जिनसे विकास का प्रारूप सुनिश्चित होता है । वस्तुतः यूरोपीयन विश्व / पश्चिमी देशों में औद्योगिक क्रांति के उपरांत जिस प्रकार कृषि क्षेत्र में सलंग्न सामाजिक इकाईयों की निर्भरता कम हुई और भाप की मशीनों से संचालित उद्योगों में उत्पादन प्रक्रिया प्रारम्भ हुई,

इसके फलस्वरूप नगरों के विकास में भी तीव्रता आयी । विकास का यह पक्ष मनुष्य को प्रकृति से पृथक करता है और यह दर्शाता है कि प्राकृतिक संसाधन वह कच्चा माल है जिसे मशीनों व मानव श्रम से सम्बद्ध कर एक तैयार माल में रूपांतरित किया जा सकता है जबकि इससे पूर्व कृषि पर आश्रितता मनुष्य की प्रकृति पर आश्रितता की धोतक थी ।

भारतीय समाज का प्राचीन इतिहास मोहनजोदडो एवं हडप्पा की उन सभ्यताओं को सम्मिलित करता है जिन्हें नगरीय सभ्यता की संज्ञा दी जाती है । इसलिए भारत में नगरीकरण की प्रारम्भिक प्रक्रिया औद्योगीकरण की पूर्ववर्ती है अर्थात् यह आवश्यक नहीं कि नगर औद्योगिक विकास का परिणाम हो । मध्ययुगीन भारत में भी नगरों का विकास इसी तथ्य का संकेतक है । ईस्ट इंडिया कंपनी के आगमन के उपरांत औद्योगीकरण भारत में अपना आधार स्थापित करता है । यह कहा जा सकता है कि ब्रिटेन में हुई औद्योगिक क्रांति और इससे प्रारम्भ औद्योगिक ऋण की प्रक्रिया औपनिवेशीकरण को भी जन्म देती है । अर्थात् औद्योगीकरण अन्तर्राष्ट्रीय प्रकृति के शक्ति सम्बन्धों को निर्मित करने का आधार बनता है । दूसरी ओर औद्योगीकरण से उत्पन्न वर्गीय संरचना विकास की पूँजीवादी एवं समाजवादी दिशा को उत्पन्न करती है । और कहीं न कहीं नगरो के विकास इन दोनों विचार धाराओं से सम्बद्ध शक्ति सम्बन्धों की प्रकृति से सुनिश्चित होने लगते हैं । हॉ इतना अवश्य है कि भारत में औद्योगीकरण का प्रवेश नगरों को और उनके विकास को अनिवार्यत: उद्योगों के विकास से सम्बद्ध कर देता है । भारत में गाँव से कस्बा, कस्बा से नगर, नगर से महानगर और महानगर से विराट नगर की तरफ अग्रसर होने की प्रक्रिया इस माध्यम से समझी जा सकती है । इस प्रक्रिया को लघु उद्योग, विशाल उद्योग, सार्वजनिक क्षेत्र, निजी क्षेत्र एवं संयुक्त क्षेत्र के उद्योग और कालांतर में शिक्षा, स्वास्थ्य, पर्यटन एवं सेवा क्षेत्र के विकास से जोड़ा जा सकता है । ये सभी उद्योग अनेक संरचनाओं, अंतःक्रिया के नवीन क्षेत्रों, व्यवस्थाओं, संस्कृति, असमानता, पर्यावरण असंतुलन एवं ऐसे अनेक मूल्यों को जन्म देते हैं जिनसे मनुष्यत्व की अन्तर्विरोधी अवधारणाएँ उभार लेती हैं । प्रस्तुत इकाई इस प्रस्तावना का समाजशास्त्रीय दृष्टि से किया गया विस्तार है जो राजनीति, अर्थतंत्र, संस्कृति एवं व्यक्तित्व की अनेक परिधियों को छूता है ।

## 12.2 औद्योगीकरण एवं नगरीकरण की अवधारणाएँ, अर्थ एवं परिभाषा

औद्योगीकरण की प्रक्रिया औद्योगिक क्रांति का परिणाम है साथ ही यह कालांतर में उद्धोगवाद की संस्कृति को उत्पन्न करती है । औद्योगिक क्रांति विश्व के आर्थिक इतिहास की एक ऐसी महत्वपूर्ण प्रघटना है जो समूची सामाजिक व्यवस्थाओं को औद्योगिक समाज एवं पूर्व औद्योगिक समाज में वर्गीकृत करती है । अवधारणात्मक दृष्टि से औद्योगिक समाज एक ऐसी सामाजिक व्यवस्था है जहाँ उत्पादन की समूची प्रणाली मुख्यत: तैयार माल पर केंद्रित होती है जिसे आधुनिकतम प्रौद्योगिकी (विभिन्न दौरों की) से संचालित मशीनों के माध्यम से उत्पादित किया जाता है । यह सामाजिक व्यवस्था बड़ी मात्रा में अधिशेष को उत्पन्न करती है और श्रम के विशिष्टीकरण को अपनी विशेषता बना लेती है । औद्योगिक समाज औद्योगीकरण की

प्रक्रिया का परिणाम है जिसका प्रारम्भ 18वीं शताब्दी के उतार्द्ध से लेकर 19वीं शताब्दी के पूर्वाद्ध तक माना जाता है । भाप से संचालित मशीनों का उद्भव औद्योगिक क्रांति को ब्रिटेन में उत्पन्न करता है जो संचालन की दृष्टि से पूँजीपति / उद्योगपति एवं श्रमिक वर्ग / सर्वहारा को उत्पन्न करती है । औद्योगिक क्रांति पशुधन से निर्मित की जा रही ऊर्जा को गैर-पशुधन से निर्मित होने वाली ऊर्जा के रूप में प्रतिस्थापित कर देती है । यह स्थिति व्यापार, वाणिज्यिक गतिविधियों, यातायात साधनों इत्यादि को जन्म देती है । कोयला ऊर्जा उत्पन्न करने का एक महत्वपूर्ण स्रोत बन जाता है । औद्योगिक क्रांति का प्रारम्भ पूँजीवाद का भी प्रारम्भ है जिससे उत्पादित वस्तुओं एवं बाजार व्यवस्था का विस्तार सम्बद्ध होता है । एक तरफ औद्योगिक क्रांति का यह पक्ष जहाँ नवाचारी क्रियाओं को उत्पन्न कर उत्पादन को विविधतामूलक बनाता है वहीं दूसरी तरफ प्राकृतिक संसाधनों का दोहन / शोषण एवं पूँजीपति तथा सर्वहारा के मध्य के संघर्ष समाजवाद के रूप में एक वैकल्पिक औद्योगिक समाज की संभावनाओं को जन्म देते हैं। अर्थात् औद्योगिक क्रांति 'पूँजीवादी औद्योगिक समाज' एवं 'समाजवादी औद्योगिक समाज' को जन्म देती है । औद्योगिक समाज से उत्पन्न गतिशीलताएं नगरीय सामाजिक व्यवस्थाओं को विकसित करने का आधार बन जाती हैं । एक स्तर पर हमें यह विचार करना चाहिये कि मशीनीकृत उत्पादन जिन नवीन वर्गो को उत्पन्न करते जाते हैं, उनसे अस्तित्व में आये उत्पादन सम्बंध किस प्रकार परिवार, राज्य, संस्कृति इत्यादि को प्रभावित करते हैं । यदि हम इन पक्षों का विस्तार से वैज्ञानिक विश्लेषण करने के इच्छुक हैं तो हमें औद्योगिक समाजशास्त्र / उद्योगों का समाजशास्त्र एवं नगरीय समाजशास्त्र / नगर का समाजशास्त्र के क्षेत्र में प्रवेश करना चाहिये । औद्योगीकरण एवं नगरीकरण सामाजिक जीवन के प्रत्येक क्षेत्र को प्रभावित करते हैं । एक दृष्टि से प्रशासनिकीकरण, तार्किकीकरण, पश्चिमीकरण, लौकिकीकरण, आधुनिकीकरण, व्यवसायीकरण, लोकतांत्रीकरण जैसी समस्त प्रक्रियाएं कहीं न कहीं औद्योगीकरण एवं नगरीकरण को प्रभावित करती हैं । इस दृष्टि से औद्योगीकरण एव नगरीकरण वे जटिल सामाजिक-आर्थिक प्रक्रियाएं हैं जिनका सम्बन्ध वैज्ञानिक प्रोंधोगिकीय क्षेत्रों में पनपे उस रूपांतरण से है जिनका प्रारम्भ औद्योगिक क्रांति से होता है ।

उपरोक्त विवेचन हमें औद्योगीकरण एवं नगरीकरण की परिभाषाओं को निर्मित करने के लिये प्रेरित करती है । 'औद्योगीकरण एक ऐसी सामाजिक-आर्थिक प्रक्रिया है जिसमें आधुनिकतम / नवीनतम प्रौद्योगिकीय ज्ञान को प्रयुक्त कर आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु वस्तुओं को उत्पन्न किया जाता है, उत्पादन के साधनों में वृद्धि की जाती है, उत्पादन प्रणाली में मनुष्यों का स्थान धीरे-धीरे मशीने ले लेती हैं, प्रकृति पर मानवीय नियंत्रण मजबूत होता जाता है और आर्थिक वृद्धि इस गैर-मानवीय ऊर्जा के प्रयोग द्वारा प्रतियोगी अर्थतंत्र को निर्मित करती जाती है । मशीनीकृत उत्पादन से प्रारम्भ हुआ औद्योगीकरण समाज के प्रत्येक पक्ष को उद्योग में परिवर्तित कर देता है । कृषि से लेकर संस्कृति एवं स्वास्थ्य से लेकर शिक्षा सब कुछ उद्योग में परिवर्तित हो जाता है । हमें इस तथ्य को समझना चाहिये कि औद्योगीकरण ने ही समाजशास्त्र के विकास को दिशा प्रदान की है । इमाइस दुरखाइम (सावयवी एकता), कार्ल मार्क्स (वर्ग संघर्ष), मैक्स वेबर (प्रशासनतंत्र), रॉल्फ डेहरनड्राफ (औद्योगिक समाज में वर्ग संघर्ष

के सांस्थीकरण), एर्डोनो (उद्योग के रूप में संस्कृति) वे सैद्धांतिक संदर्भ हैं जिनको जाने बिना समाजशास्त्र के विकास का उल्लेख एकपक्षीय हो जाता है । वास्तव में औद्योगिक विकास की तीव्रता ने ज्ञान व्यवस्थाओं एवं सामाजिक सम्बन्धों के क्षेत्र में ऐसे तीव्र उतार-चढ़ाव उत्पन्न किये कि गाउल्डनर औद्योगिक विकास की समूची तीव्रता को पश्चिमी समाजशास्त्र में उत्पन्न हुये संकट का एक कारण मानते हैं । एबर क्राम्बी ने औद्योगीकरण को दीर्घकालिक आर्थिक वृद्धि से सम्बद्ध किया है और इसे निम्नांकित परिणामों से जोड़ा है-

1. एक सुव्यवस्थित राष्ट्र-राज्य
2. निर्वाहमूलक अर्थव्यवस्था की समाप्ति
3. उत्पादन का व्यवसायीकरण
4. मशीनीकृत उत्पादन का प्रभुत्व
5. कृषि पर आश्रितता की कमी तथा श्रमिक वर्ग में वृद्धि
6. नगरीयकरण
7. शिक्षा का विस्तार
8. दलीय राजनीति एवं मताधिकार की अवधारणा
9. जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी के प्रयोग

एबर क्राम्बी के ये विचार वैश्वीकरण, उदारीकरण एवं निजीकरण से उत्पन्न औद्योगिक विकास की प्रक्रिया की तीव्रता के परिणामों को सम्मिलित नहीं करते । हमारी बाजार संस्था का प्रभुत्व, निगमीय उद्योगों की स्थापना, बहु राष्ट्रीय उद्योगों का उभार, स्वचालितीकरण एवं वस्तु उत्पादन के उपरांत आवश्यकता को जन्म देने के लिये मीडिया उद्योग का प्रयोग वे अन्य परिणाम हैं जो कहीं न कहीं प्रत्येक सामाजिक इकाई को औद्योगिक उत्पाद बनाने में सक्षम हैं। वास्तव में हमारे आस-पास ऐसे अनेक उद्योग पनप गये हैं कि उनसे उत्पादित वस्तुएं अब हमारी आवश्यकताओं को भी सुनिश्चित करने लगी हैं । प्रत्येक व्यक्ति विभिन्न ब्राँड की वस्तुओं के प्रयोग से अपनी अस्मिताओं को निर्मित एवं अभिव्यक्त करने के लिये इतना अधिक विवश हो गया है कि उद्योगवाद एक प्रभुत्वशाली संस्कृति बन चुकी है ।

ये विभिन्न पक्ष नगरीकरण को एक आवश्यक प्रक्रिया बना देते हैं । नगरीकरण का अभिप्राय उस सामाजिक-आर्थिक प्रक्रिया से है जिसमें प्रवसन के कारण नगर अस्तित्व में आते हैं अथवा वर्तमान में स्थापित नगरों की जनसंख्या में वृद्धि होती है । इस दृष्टि से नवीन नगरों का उद्भव एवं विद्यमान नगरों की जनसंख्या में तीव्र वृद्धि नगरीकरण के दो महत्वपूर्ण पक्ष हैं । पोकॉक के अनुसार 'नगरीकरण एक ऐसी प्रक्रिया है जिसके अन्तर्गत ग्रामीण जनसंख्या शहर की ओर प्रवास करती है और नगरों के प्रभाव में उनकी ग्रामीण जीवन-शैली में परिवर्तन आता है । नगरीकरण की प्रक्रिया गाँवों की संख्या को सीमित करती है । नगर गाँव को अपने में इस तरह समाहित करतें हैं कि अनेक अवसरों पर हम इसे 'आंतरिक औपनिवेशीकरण' की प्रक्रिया से जोड़ देते हैं । ग्रामीण जनसंख्या की वृद्धि की तुलना में नगरीय जनसंख्या तीव्र गति से वृद्धि हो रही है । नवीन पेशों का उद्भव, नगरवाद की जीवन पद्धति, प्रवसन की तीव्रता, आवासीय संरचनाओं के परिवर्तित स्वरूप, भूमि के प्रयोग में परिवर्तन, द्वैतियक समूहों का तीव्र विस्तार, विश्लेषण

समूहों की उपस्थिति, आधारभूत संरचनात्मक सुविधाओं का संकेद्रण, विविधतामूलक संस्कृति, प्रकृति से पृथक्करण, अंतःक्रिया के आयतन में वृद्धि परंतु भावनात्मक लगाव का क्षय, प्रतियोगी परिवेश एवं औपचारिक स्पेस के अंतर्गत सिमटती जीवन शैली नगरीकरण की प्रक्रिया को जटिल एवं परिवर्तनशील बनाती है ।

## 12.3 भारत में नगरीकरण : ऐतिहासिकता, समकालीनता एवं भावी संभावनाएं

विश्व में नगरीय सभ्यता के विकास में नदी घाटी सभ्यता विशेष रूप से सिंधु घाटी सभ्यता का महत्वपूर्ण योगदान रहा है । इस दृष्टि से सिंधु घाटी को विश्व की सबसे पुरानी नगरीय सभ्यता माना जाता है । मोहनजोदडो एवं हड़प्पा इस नगरीय सभ्यता के दो महत्वपूर्ण नगर थे जो अब वर्तमान पाकिस्तान में स्थित हैं जो 3000 ईसा पूर्व भी नियोजित समुदाय के रूप में स्थापित थे । किंग्सले डेविस का मानना है कि शहरी सभ्यता के विकास में कृषि क्षेत्र में अतिरिक्त उत्पादन एक महत्वपूर्ण कारक बनकर उभरा । उनके अनुसार कृषि उत्पादन में हुई वृद्धि ने अतिरिक्त माल को बेचने के लिये बाजार की अवधारणा को उत्पन्न किया होगा अत: बिना अतिरिक्त उत्पादन के नगरों का विकास संभव नही हो पाता । परंतु इन नगरों का आकार अपेक्षाकृत छोटा था तत्कालीन नगरो की आबादी अनुमानत: 5000 से 15000 तक रही होगी । अत: यह तर्क दिया जा सकता है कि प्रारम्भिक नगरों का मुख्य आधार कृषि था । इसे 'प्रथम नगरीय क्रांति' की संज्ञा दी जाती है ।

मध्यकाल तक आते-आते इस स्थिति में व्यापक परिवर्तन अस्तित्व में आये । उत्पादन में वृद्धि, व्यापार व वाणिज्यिक गतिविधियों का प्रारम्भ एवं उपनिवेशवाद की स्थापना ने बड़े नगरों के विकास को तीव्र किया । परंतु नगरों का सर्वाधिक तेजी से विकास औद्योगिक क्रांति के परिणामस्वरूप हुआ । कुछ विचारको का मानना है कि नगरों का विकास विशेषत: औद्योगिक क्रांति पर निर्भर करता है अर्थात् उद्योगों के अस्तित्व में आने के बाद ही नगर अस्तित्व में आये । उनका तर्क है कि विश्व के जिन क्षेत्रों में औद्योगिक क्रांति पहले हुई वही नगरों का विकास पहले हुआ अर्थात् विज्ञान, प्रौद्योगिकी व उद्योगों के तीव्र विकास ने नगरों के विकास में महत्वपूर्ण भूमिका निभायी । जबकि कुछ भारतीय विचारकों का तर्क है कि उद्योगों की स्थापना से पूर्व ही भारतवर्ष में सिंधु घाटी में नगरों (मोहनजोदड़ो एवं हड़प्पा) का विकास हो चुका था । इसी संदर्भ में जी.एस.घुर्ये ने भारत में नगरीकरण की प्रवृत्ति को अन्य देशों की भाँति औद्योगीकरण का परिणाम नहीं माना अपितु उनके अनुसार गाँवों में बाजार की आवश्यकता के कारण भारत में शहरी क्षेत्रों का विकास हुआ । अत: नगरीकरण की प्रक्रिया औद्योगीकरण की पूर्ववर्ती है । इसे 'द्वितीय नगरीय क्रांति' की संज्ञा दी जा सकती है ।

वर्तमान काल में नगरों के विकास को औद्योगीकरण के साथ सम्बद्ध करके देखा जा सकता है । भारत में नगरीकरण के लिए (urban pull) तथा ;rural push) कारकों को उत्तरदायी माना जाता है । अर्थात् निर्धनता, रोजगार अवसरों की कमी, जातिगत भेदभाव और परम्परागत व्यवसायों में हास की स्थिति ने जनसंख्या के एक भाग को ग्रामीण क्षेत्रों से बाहर

की ओर धकेला (rural push) । और उसी समय पर अच्छी सुविधाओं व अधिक अवसरों की उपलब्धता ने लाखों लोगों को नगरों की ओर आकर्षित किया (urban pull) । बेंजामिन हिगिंस ने अपने एक लेख 'Urbanization, Industrialization and Economic Development, में यह तर्क दिया कि 17वी और 18वी शताब्दी में हुई औद्योगिक क्रांति से ही नगरीकरण व आर्थिक विकास की प्रक्रियाएं घनिष्ठ रूप से सम्बंधित रही हैं' । इसे 'तृतीय नगरीय क्रांति' की संज्ञा दी जा सकती है । आधुनिक नगरीकरण को औद्योगीकरण का परिणाम माना जाता है । अत: तीव्र औद्योगिक विकास ने आज महानगरों विराट नगरों और नगरीय श्रृंखला में तेजी से वृद्धि की है । सूचना क्रांति व उद्योगों के विकास ने कई नगरों को इस प्रकार से जोड़ दिया है कि उनमें अन्तर नहीं किया जा सकता अर्थात् वे एक ही नगर का आकार लेते नजर आते हैं । इस संदर्भ में ससकीया ससेन (saskiasassen, 1991) द्वारा प्रस्तुत 'भूमंडलीय नगर' (global city) की चर्चा भी की जा सकती है । ससेन ने न्यूयार्क लंदन एवं टोकियो को भूमंडलीय नगर /वैश्विक नगर की संज्ञा दी है । अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के केंद्र होने के कारण इन नगरों से ही विश्व के अधिकांश उद्योगों व व्यवसायों का संचालन होता है इसलिए इन्हें 'वैश्विक नगर' की संज्ञा दी जाती है । इसी क्रम में आज 'ऐज सिटी' सैटेलाइट सिटी' व 'प्राइमेट सिटी' (primate city (M.Jefferson)) को भी तीव्र औद्योगिकीकरण व नगरीकरण का परिणाम माना जा सकता है ।

प्राप्त आँकडों के आधार पर भारत में नगरों के विकास की प्रवृत्ति को समझा जा सकता है । 1901 में छोटे-बड़े नगरों की संख्या 1827 थी जो 2001 में 5161 है तथा 1901 में शहरी क्षेत्र में निवास करने वाली जनसंख्या 258 करोड़ थी जो 2001 में बढ़कर 2853 करोड़ हो गई, 2017 तक इनकी संख्या अनुमानत: 50 करोड़ होने की संभावना है । 2001 की जनगणना के अनुसार भारत की 27.8 फीसदी आबादी शहरो में निवास करती है । 1991 में महानगरों की संख्या 23 थी जो 2001 में बढ़कर 35 हो गई तथा कुल नगरीय जनसंख्या का 37 प्रतिशत इन महानगरों में निवास करता है । 2001 में भारत में मुम्बई, दिल्ली व कोलकाता की जनसंख्या 1 करोड़ से अधिक थी । भारत में तमिलनाडु (43.9 प्रतिशत), महाराष्ट्र (42.4 प्रतिशत) तथा गुजरात (37.4 प्रतिशत) सर्वाधिक नगरीय राज्य हैं । विश्व के 21 वृहद नगरों / मेगा सिटी में से 3 भारत में हैं मुम्बई, दिल्ली व कोलकाता । सन् 2010 तक दुनिया में 30 महानगर ऐसे होगें, जिनकी जनसंख्या 1 करोड़ से अधिक होगी जिनमें भारत के 5 महानगर मुम्बई, दिल्ली, कोलकाता, चेन्नई और हैदराबाद सम्मिलित होगें । संयुक्त राष्ट्र की एक रिर्पोट में कहा गया है कि 2050 तक दुनिया की आबादी 6.5 अरब से बढ़कर 9 अरब हो जायेगी इसमें सबसे अधिक योगदान भारत का होगा । रोजगार, शिक्षा, ग्रामीण संसाधनों की समाप्ति और स्वास्थ्य जैसी सुविधाओं के अभाव में लोगो का पलायन गाँवों से शहरों की ओर बढ़ता ही जा रहा है । अत: एक अनुमान के अनुसार 2025 तक भारत की लगभग आधी आबादी शहरों में निवास करती दिखायी देगी । यहाँ यह तर्क दिया जा सकता

है कि नगरीकरण जनसंख्या विस्फोट, निर्धनता व ग्रामीण-नगरीय प्रवसन का परिणाम है जिसे नगरीय आर्कषण' का नहीं अपितु 'ग्रामीण धक्के' का परिणाम माना जा सकता है ।

## 12.4 नगरों के प्रकार

वर्तमान में नगर ऐसे भौतिक/भौगोलिक संगठन हैं जहाँ व्यक्ति, क्रियाएं, जीवन के क्षेत्र, संसाधन एवं आधारभूतीय सुविधाओं का उच्च स्तरीय संकेद्रण होता है । तथापि विभिन्न आधारों पर अनेक प्रकार के नगरों की चर्चा की जा सकती है ।

भारत में 2001 की जनगणना में दो प्रकार के नगरों की चर्चा की गई है-

1. संवैधानिक नगर (statutory towns). वे सभी स्थान जहाँ नगरपालिका, नगर निगम, सैनिक छावनी या नोटीफाइड टाउन एरिया कमेटी हो, संवैधानिक नगर की संज्ञा दी जाती है।
2. जनगणना नगर (census town) वे सभी स्थान जो निम्नलिखित विशेषताओं को सम्मिलित करते हैं-
   1. जिनकी जनसंख्या कम से कम 5000 हो
   2. जिनकी 75 प्रतिशत कार्यशील पुरूष जनसंख्या गैर-कृषि कार्यो में लगी हो और
   3. जिनकी जनसंख्या का घनत्व कम से कम 400 व्यक्ति प्रति वर्ग किमी. हो ।

ऐतिहासिक दृष्टि से नगरों को निम्न प्रकार से वर्गीकृत किया जाता है-

1. प्राचीन नगर जिनका विकास धार्मिक व सांस्कृतिक केंद्र के रूप में हुआ था उदाहरण के लिये-वाराणासी, अयोध्या, इलाहाबाद, पाटलिपुत्र अथवा पटना, मथुरा इत्यादि ।
2. मध्यकालीन नगर ऐसे नगर जो रियासतों और राज्यों के मुख्यालयों या राजधानियो के रूप में विकसित हुये । जैसे: दिल्ली, हैदराबाद, लखनऊ, जयपुर, आगरा और नागपुर ।
3. आधुनिक नगर : औपनिवेशिक शासन के दौरान विकसित व्यापारिक नगर जैसे सूरत, दमन, गोवा, पांडिचेरी तत्पश्चात् मुम्बई, चेन्नई व कोलकाता इत्यादि । स्वतंत्रता के बाद प्रशासनिक मुख्यालयों और औद्योगिक नगरों के रूप में अनेक नगरों का उदय हुआ जैसे चंडीगढ़, भुवनेश्वर, गांधीनगर, दिसपुर आदि प्रशासनिक मुख्यालयों तथा दुर्गापुर, भिलाई, बरौनी इत्यादि औद्योगिक नगरों के उदाहरण हैं । इसके अतिरिक्त नगरों का महानगरों के चारों ओर उपनगरों के रूप में भी विकास हुआ है जैसे दिल्ली के चारो ओर विकसित गाजियाबाद, नोएडा, रोहतक, गुडगांव ऐसे ही उपनगर हैं ।

जनसंख्या के आकार के आधार पर नगरों के निम्न प्रकारों की चर्चा की जा सकती है-

1. 1 लाख से कम जनसंख्या वाले क्षेत्र को कस्बा कहते हैं
2. 1 लाख से अधिक जनसंख्या वाले क्षेत्र को नगर कहते हैं
3. 10 से 50 लाख तक की जनसंख्या वाले नगर को महानगर कहते हैं
4. 50 लाख से अधिक जनसंख्या वाले नगर को वृहद नगर/विराट नगर कहते हैं
5. कई महानगर व वृहद नगर मिलकर नगरीय श्रृंखला या उपनगरीय समूहन का निर्माण करते हैं जिनकी आबादी 1 करोड़ से अधिक होती है

श्रेणी /वर्ग के आधार पर नगरों का वर्गीकरण निम्न प्रकार से किया जा सकता है-

1. प्रथम श्रेणी नगर-1,00,000 से अधिक जनसंख्या
2. द्वितीय श्रेणी नगर- 50,000 से 1,00,000 तक जनसंख्या
3. तृतीय श्रेणी नगर- 20,000 से 50,000 तक जनसंख्या
4. चतुर्थ श्रेणी नगर- 10,000 से 20,000 तक जनसंख्या
5. पंचमी श्रेणी नगर- 50,00 से 10,000 तक जनसंख्या
6. छठी श्रेणी नगर- 5000 से कम जनसंख्या

## 12.5 भारत में औद्योगीकरण: ऐतिहासिकता, समकालीनता एवं भावी संभावनाएं

विज्ञान और प्रौद्योगिकी के क्षेत्र में हुए तीव्र विकास ने 18वी शताब्दी के उत्तरार्द्ध में औद्योगिक क्रांति इंग्लैंड में प्रारम्भ किया । इस क्रांति के दौरान हुए नवीन आविष्कारों ने मशीनीकरण को प्रारम्भ किया उदाहरण के लिए टैक्सटाइल, भाप चालित मशीने तथा लौह धातु के उद्भव ने कम समय में अधिक उत्पादन, उत्पादों की गुणवत्ता में वृद्धि, एक स्थान से दूसरे स्थान पर आवागमन की प्रक्रिया को सरल बनाना तथा जीवन स्तर में सुधार की स्थितियों को संभव बनाया है । इसे प्रथम औद्योगिक क्रांति' की संज्ञा दी जा सकती है । परंतु साथ ही इस प्रक्रिया ने उपनिवेशवाद को भी बढ़ावा दिया । विज्ञान व प्रौद्योगिकी ने जहाँ एक तरफ मानव जीवन को सुगम बनाया वहीं दूसरी तरफ एक देश को दूसरे देश पर आधिपत्य करने का अवसर भी प्रदान किया अर्थात् शोषण की संस्कृति को भी तीव्र किया।

इसी क्रम में 19वीं शताब्दी (लगभग 1850) के आस-पास स्टील, रसायन उद्योग, पेट्रोलियम, विद्युत उत्पादन एव 20वी शताब्दी में स्वाचालित उद्योगों की स्थापना ने प्रौद्योगिकी नेतृत्व को ब्रिटेन से संयुक्त राष्ट्र व जर्मनी में हस्तांतरित किया । जिसे 'द्वितीय औद्योगिक क्रांति' की संज्ञा दी जा सकती है । यह भी एक तथ्य है कि औद्योगिक क्रांति ने ही सर्वप्रथम यूरोप में समाजशास्त्र की उत्पत्ति को संभव बनाया है । अत: औद्योगिकीकरण व इससे सम्बन्धित प्रक्रियाएँ प्रारम्भ से ही समाजशास्त्र की केन्द्रिय विषय-वस्तु रही हैं।

औद्योगीकरण के संदर्भ में विभिन्न समाजशास्त्रियों ने अलग-अलग विचार प्रस्तुत किये। पूंजीवादी दृष्टिकोण के अनुसार 'औद्योगिकीकरण ने सभी के लिए समृद्धि के मार्ग खोले हैं जैसे जीवन प्रत्याशा में वृद्धि की, काम के घण्टों में कमी की और बुजुर्गो व बच्चों को काम से पृथक रखने का प्रयास किया' । मार्क्सवादी दृष्टिकोण के अनुसार 'औद्योगीकरण की प्रक्रिया ने समाज को बुर्जुआ व सर्वहारा के मध्य ध्रुवीकृत किया । साथ ही औद्योगीकरण ने अलगाव की प्रक्रिया को उत्पन्न कर कुशल व अकुशल श्रमिकों के मध्य अन्तर को भी तीव्र किया । जबकि प्रकार्यवादियों ने औद्योगिकीकरण को समाज के समग्र विकास के लिए प्रकार्यात्मक माना है।

समकालीन समाजों में श्रम एक विविधतामूलक प्रघटना बनकर उभरा है । सामाजिक इकाइयाँ अनेक प्रकार की श्रम गतिविधियों में अपने को शामिल करने लगी हैं । आज

विशिष्टीकरण और अति-विशिष्टीकरण का दौर है जिसके आधार पर हम मुख्यत: 4 प्रकार की श्रम गतिविधियों की चर्चा कर सकते हैं जैसे-

1. व्यवसायिक श्रेणी जैसे लेखाधिकारी
2. प्रबंधक श्रेणी जैसे प्रशासक 7 मैनेजर
3. श्वेत वस्त्रधारी श्रेणी जैसे सचिव 7 सेक्रेटरी
4. नीले वस्त्रधारी श्रेणी जैसे कार श्रमिक

इस प्रकार की श्रम गतिविधियों में वेतन व अन्य लाभ, रोजगार सुरक्षा, कौशल एवंश्शक्ति के आधार पर ही भौतिक व सांस्कृतिक पुरस्कारों का वितरण होता है । अत: जिस समाज में तकनीकी व व्यवसायिक योग्यताएं महत्वपूर्ण हो जाती हैं उसे डेनियल बैल 'उत्तर औद्योगिक समाज' की संज्ञा देते हैं । उत्तर-औद्योगिक समाज भौतिक उत्पादन के हास तथा सूचना एवं सेवा क्षेत्रों के तीव्र विकास का प्रतिनिधित्व करने वाली प्रणाली है । अर्थात् ऐसे समाजों में वस्तुओं का निर्माण करने वाले उद्योगों की अपेक्षा सेवा प्रदान करने वाले उद्योग मुख्य भूमिका अदा करते हैं । जिसमें नीले वस्त्रधारी श्रमिक वर्गो (blue collar) का स्थान सफेद वस्त्रधारी श्रमिक वर्ग लेते जा रहे हैं अर्थात् मिलों / कारखानों में काम करने वाले श्रमिको के स्थान पर लिपिक, तकनीकी विशेषज्ञ, कम्प्यूटर विशेषज्ञ व पेशेवर व्यक्ति महत्वपूर्ण होते जा रहे हैं । ऐसे समाजों के लिये 'ज्ञान समाज' या सूचना समाज' या सेवा समाज' अवधारणा का प्रयोग किया जाता है । इसे तृतीय औद्योगिक क्रांति' की संज्ञा दी जा सकती है ।

## 12.6 नगरीकरण एवं औद्योगीकरण में सम्बन्ध

भारतीय संदर्भ में यह कहा जा सकता है कि नगरीय संस्कृति भारत की प्राचीन संस्कृति का अंग है । इतिहास के अनेक तथ्यों से भी स्पष्ट होता है कि भारत के परम्परागत नगर संस्तरणमूलक विभाजन को व्यक्त करते थे । राजा व उसके सलाहकार सर्वाधिक अनुकूल क्षेत्र में निवास करते थे । तत्पश्चात् ब्राहमण एवं अन्य जातियाँ रहती थी । निम्न जातियों व अस्पृश्य जातियों के निवास स्थान नगर के बाहर होते थे अर्थात् नगर की संरचना जातीय संस्तरण पर आधारित होती थी ।

मध्ययुगीन भारत में व्यावसायिक एवं राजनैतिक उद्देश्यों की दृष्टि से नगरों को विकसित किया गया । तत्कालीन नगरीय संस्कृति एवं ग्रामीण संस्कृति में कोई गुणात्मक अन्तर नहीं था । दोनों ही प्रकार की संस्कृति सामंती संस्कृति का प्रतिनिधित्व करती थी ।

जबकि ब्रिटिश कालीन भारत में उद्योगों के आधार पर नगरों का विकास हुआ । ग्रामीण अर्थव्यवस्था व दस्तकारी उद्योगों में संरचनात्मक विघटन होने के कारण नगरों पर जनसंख्या का दबाव बढ़ने के कारण नगरों की संख्या में वृद्धि हुई । औद्योगिकीकरण, यातायात व संचार साधनों के विकास एवं शैक्षणिक संस्थानों की वृद्धि ने नगरों व उप-नगरों के विकास को तीव्र किया । अत: भारत में नगरीकरण की प्रक्रिया पश्चिम के नगरीकरण से पृथक है क्योंकि यहाँ नगरीकरण की प्रक्रिया अपेक्षाकृत मंद है।

आधुनिक नगरीकरण व औद्योगीकरण के मध्य प्रत्यक्ष सम्बन्ध देखा जा सकता है परंतु नगरीकरण पहले आया या आधुनिकीकरण इस पर दो विरोधी विचार देखे जा सकते हैं ।

कुछ विचारको का मानना है कि पाश्चात्य देशों में औद्योगीकरण ने नगरीकरण को उत्पन्न किया अर्थात् औद्योगीकरण व नगरीकरण की प्रक्रियाएं साथ-साथ देखी जा सकती हैं । इन देशों में जनसंख्या उद्योगों में रोजगार की तलाश में गाँवों से शहर की ओर प्रयास करती थी और कृषि पर आश्रित जनसंख्या धारे-धीरे कम होती गई । अत: वही नगरीकरण औद्योगीकरण का परिणाम था । दूसरी तरफ अन्य विचारक मानते हैं कि अधिकांश विकासशील देशों में औद्योगीकरण व नगरीकरण के मध्य कोई सम्बन्ध नहीं है । अर्थात् नगरीकरण औद्योगीकरण की पूर्ववर्ती प्रक्रिया है और इन देशों में नगरीकरण जनसंख्या विस्फोट का परिणाम है न कि औद्योगिकीकरण का । रॉय टर्नर ने अपने द्वारा सम्पादित "India's urban Future" पुस्तक में इस विवाद को भारत के संदर्भ में देखने का प्रयास किया । वहीं किंग्सले डेविस व गोल्डेन ने स्पष्ट किया कि भारत में औद्योगीकरण व नगरीकरण के मध्य कोई सम्बन्ध नहीं है । उन्होंने भारतीय नगरीकरण के लिये 'अति नगरीकरण' की अवधारणा का प्रयोग किया तथा मैक्गी ने तीसरी दुनिया में विकसित हुये नगरीकरण को 'छदम नगरीकरण' (pseudo-urbanization) की संज्ञा दी । एक नगर जिसमें पर्याप्त आधारभूत संरचना के अभाव में महत्वपूर्ण वृद्धि होती है उसे छद्म नगरीकरण कहते हैं । यह प्रघटना तब अस्तित्व में आती है जब नगरों द्वारा उन्हें स्वीकार करने के लिये तैयार हुये बिना ही 'रूरल पुश' के कारण ग्रामीण जनसंख्या नगरों की ओर प्रवास करने के लिये बाध्य होती है । अत: भारत में नगरीकरण गाँवों में बढ़ती जनसंख्या और उसके कारण उत्पन्न बेकारी की समस्या के कारण अस्तित्व में आया न कि औद्योगिक विकास के कारण । हाँ, इतना अवश्य है कि वैश्वीकरण के दौर में भारत में भी औद्योगीकरण की प्रक्रिया नगरीकरण से सम्बद्ध हुई है । श्रम गतिविधयों में प्रौद्योगिकी के विस्तार ने नगरों में 'प्रौद्योगिकीय निर्धारणवाद' (technological determinism) को उत्पन्न किया । प्रौद्योगिकीय निर्धारणवाद से यह ज्ञात होता है कि प्रौद्योगिकी का प्रभाव सामाजिक, आर्थिक संगठनों एवं सम्बन्धों पर न केवल दबाव डालता है अपितु उन्हें निर्धारित भी करता है ।

## 12.7 औद्योगीकरण एवं नगरीकरण के व्याधिकीय परिणाम

औद्योगीकरण एवं नगरीकरण की प्रक्रियाओं ने भारतीय समाज के विकास में महत्वपूर्ण भूमिका निभायी है । जीवन की विभिन्न आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु अनेक वैकल्पिक साधनों का विकास किया । परिवार, धर्म, जाति, नातेदारी एवं विवाह संस्था में संरचनात्मक एवं प्रक्रियात्मक रूपांतरण उत्पन्न किये । आर्थिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक एवं शैक्षणिक क्षेत्र में विकास के नये प्रतिमानों को उत्पन्न किया । परंतु इन सबके बावजूद औद्योगीकरण व नगरीकरण के व्याधिकीय परिणामों से भी इनकार नहीं किया जा सकता । जैसे-

1. औद्योगीकरण व नगरीकरण ने असमान विकास की स्थितियाँ उत्पन्न की अर्थात् प्राथमिक क्षेत्र के विकास की उपेक्षा कर तृतीयक क्षेत्र के विकास को बढ़ावा दिया
2. अनेक संस्कृतिमूलक समस्यायें उत्पन्न की जिन्हें अपराध, भ्रष्टाचार, सामानान्तर अर्थव्यवस्था, तस्करी, काला धन के रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है ।
3. न्यूनतम संरचनात्मक सुविधाओं की उपेक्षा कर पारिस्थितिकीय असंतुलन को उत्पन्न किया।

4. विभिन्न अनौपचारिक संस्थाओं को भी प्रभावित किया जैसे परिवार के परिवर्तित होते स्वरूप, कार्यशील महिला की अवधारणा, विवाह के नये प्रतिमान, धर्म के व्यवसायीकरण को उत्पन्न किया ।
5. व्यापक बाजार प्रणाली ने उपभोक्तावादी संस्कृति को उत्पन्न कर 'दिखावे के उपभोग को बढ़ावा दिया है ।
6. नगरो, महानगरों व विराट नगरो के तीव्र विकास ने 'कंक्रीट के जंगल' को उत्पन्न कर मनुष्य को प्रकृति से पृथक किया है ।
7. बढ़ते औद्योगीकरण व उत्तर-औद्योगीकरण ने आधुनिक विकसित मशीनों व कम्प्यूटर को मानव जीवन का महत्वपूर्ण अंग बनाया है । परिणामस्वरूप मनुष्य स्वयं मशीन बन चुके हैं और मशीनों में मानवीय भावनाएं तलाशने लगे हैं ।
8. कृषि अर्थव्यवस्था से औद्योगिक अर्थव्यवस्था और औद्योगिक अर्थव्यवस्था से उत्तर-औद्योगिक अर्थव्यवस्था की तरफ हुये परिवर्तनों ने औपचारिक सम्बन्ध, व्यक्तिवादिता, स्वसंस्कृतिकेंद्रिता, स्वार्थवादी सामाजिक सम्बन्ध, श्रम का विशिष्टीकरण इत्यादि में वृद्धि की है ।
9. ग्रामीण-नगरीय प्रवसन व नगरीय आकर्षण ने गन्दी बस्तियों को उत्पन्न किया जो अल्प विकास, असमान विकास व मूलभूत सुविधाओं के असमान वितरण की द्योतक है ।
10. औद्योगीकरण, नगरीकरण व अन्य विकासात्मक गतिविधियों जैसे बाँधों व सड़को के निर्माण ने जनसंख्या के एक भाग के सम्मुख विस्थापन की स्थिति को उत्पन्न किया है जिसके कारण विकास प्रक्रिया विवादास्पद बनी है ।
11. तीव्र औद्योगीकरण ने मनुष्य के स्वास्थ्य को भी नकारात्मक रूप से प्रभावित किया है जिसके कारण मानव की कार्यक्षमता व कार्यकुशलता में भारी कमी देखी जा सकती है । साथ ही अनेक लाइलाज रोगों की संख्या में भी तीव्र वृद्धि की है ।
12. प्रौद्योगिकीय विकास व संचार क्रांति ने अपराध व अपराधियों के वैश्विक चरित्र को उत्पन्न किया है । साथ ही साइबर अपराध, मानव अंगों व हथियारों की तस्करी, जैवकीय व परमाणु हथियारों के प्रयोग में वृद्धि, आतंकवाद जैसे नवीन अपराध प्रतिमानों को उत्पन्न किया ।

इन समस्त सीमाओं के बावजूद तीव्र नगरीकरण व औद्योगीकरण सामाजिक-आर्थिक विकास की अनिवार्यता है और इस कारण समकालीन औद्योगीकरण व नगरीकरण सहवर्ती प्रक्रियाएं हैं ।

## 12.8 सारांश

भारत में औद्योगीकरण व नगरीकरण की प्रक्रियाएं नवीन नहीं हैं परंतु भारत में स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् ये प्रक्रियाएं गति पकड़ती नजर आती हैं । इनके परिणामस्वरूप परिवार, स्तरीकरण, प्राथमिक अनौपचारिक सम्बन्ध, धर्म, शिक्षा इत्यादि संस्थाओं में उत्पन्न परिवर्तन भौतिक-उपयोगितावादी संस्कृति को विकसित करते हैं । औद्योगीकरण ने विकास के

संकेतक के रूप में विकसित, अल्पविकसित और विकासशील देशों को उत्पन्न किया । उपभोग की संस्कृति (culture of consumption) और निगमीय (कॉरपोरेट) संस्कृति (corporate culture) नगरों की तीव्र वृद्धि के लिये उत्तरदायी हैं । 1970 तक नगरों की वृद्धि के लिये निर्माण उद्योग महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह करते थे परंतु वर्तमान में सांस्कृतिक उपभोगवाद (जैसे कला, भोजन, फैशन, संगीत, पर्यटन इत्यादि) नगरों की वृद्धि को एक व्यापक पैमाने पर प्रभावित करता है । इस संदर्भ में हम भारत के लगभग प्रत्येक नगर में विकसित शापिंग मॉल्स्, मल्टीप्लैक्स सिनेमा हॉल्स, मनोरंजन पार्क एवं वाटर वर्ल्ड इत्यादि की चर्चा कर सकते हैं । यहाँ अप्पलबॉम का यह तर्क उचित प्रतीत होता है कि 'भविष्य में औद्योगिक समाजों में उत्पादन कार्यों में लगी जनसंख्या का अनुपात घटता जायेगा और विलास के क्षेत्र में लगी जनसंख्या का अनुपात बढ़ता जायेगा' । परिणामस्वरूप नगरों में भीड़ भाड़, प्रदूषण, सडकों पर जाम, अपराध, सरकार और निगमों में भ्रष्ट्राचार, मानवाधिकारों का हनन, बेरोजगारी, और युद्ध जैसी प्रमुख समस्याओं को उभरने से नहीं रोका जा सकेगा ।

## 12.9 शब्दावली

| | | | |
|---|---|---|---|
| 1 | औद्योगीकरण | – | औद्योगीकरण का अभिप्राय उस प्रक्रिया से है जिसमें मशीनों पर आधारित कारखानों व औद्योगिक प्रतिष्ठानों की व्यवस्थित स्थापना की जाती है । |
| 2 | नगरीकरण | – | नगरीकरण का अभिप्राय उस प्रक्रिया से है जिसके अंतर्गत ग्रामीण जनसंख्या का अनुपात कम होता है और नगरों में जनसंख्या के आयतन, घनत्व एवं सम्बद्ध जनसंख्या अनुपात में तीव्र वृद्धि होती है । |
| 3 | उपनगरीय समूहन | – | पैट्रिक गिडिस ने इस अवधारणा का प्रयोग उन नवीन नगरीय क्षेत्रों के लिये किया है जिनका निर्माण उद्योगों व बस्तियों के फैलने के कारण आस-पास के नगरों के आपस में मिल जाने के कारण हुआ । |
| 4 | ग्रामीण | – | नगरीय सातत्य वह प्रक्रिया जिसके अंतर्गत गाँव व नगर के मध्य के भेद समाप्त हो जाते हैं और जो गाँव व नगर के मध्य अन्तःसम्बन्धों की परिचायक है |
| 5 | कस्बा | – | कस्बा या उपनगर वे समुदाय हैं जो ग्रामीण-नगरीय अन्तर्निभरता के कारण उत्पन्न हुये हैं । ये उपनगर उन स्थानों पर निर्मित होते हैं जो नगर व गाँव दोनो से लगभग समान दूरी पर हों । |
| 6 | नगर | – | नगर वे क्षेत्र हैं जहाँ जनसंख्या का अधिक घनत्व व आयतन, गैर-कृषक व्यवसाय जैसे उद्योग, व्यापार व वाणिज्य इत्यादि के द्वारा नगरीय अर्थव्यवस्था का निर्धारण तथा सामाजिक-सांस्कृतिक विविधता पायी जाती |

| | | | |
|---|---|---|---|
| | | | है। |
| 7 | महानगर | – | 10 से 50 लाख तक की जनसंख्या वाले नगर को महानगर कहते हैं । |
| 8 | विराट नगर | – | 50 लाख से अधिक जनसंख्या वाले नगर को वृहद नगर / विराटनगर कहते हैं । |
| 9 | सेटेलाइट नगर | – | महानगरीय क्षेत्रों के केंद्र के रूप में उभरने वाले छोटे और मध्यम आकार के नगरों को सेटेलाइट नगर की संज्ञा देते हैं । जैसे दिल्ली महानगर के निकट विकसित गुडगाँव व फरीदाबाद (हरियाणा) तथा नोएडा व गाजियाबाद (उ.प्र.) सेटेलाइट नगरों के उदाहरण हैं । |
| 10 | प्राइमेट नगर | – | प्राइमेट नगर विकासशील देशों में उभरने वाले ऐसे नगर हैं जिनमें 2 करोड़ से अधिक जनसंख्या निवास करती है तथा जो सम्पूर्ण समाज को निर्देशित करते हैं । अर्थात् सम्बद्ध देश या क्षेत्र को नेतृत्व प्रदान करते हैं । |
| 11 | ऐज नगर | – | इस अवधारणा का प्रयोग टीम वोल्फ ने अमेरिका के संदर्भ में किया है उनकेअनुसार एक ऐसा नगर जो परम्परागत नगरीय क्षेत्र के बाहर व्यापार, शॉपिंग व मनोरंजन सुविधाओं का संकेंदण के रूप में विक सित हो उसे 'ऐज सिटि' की संज्ञा देते हैं । |
| 12 | उत्तर-औद्योगिक समाज | – | समाज भौतिक उत्पादन के हास तथा सूचना एवं सेवा क्षेत्रों के तीव्र विकास का प्रतिनिधित्व करने वाली प्रणाली है । |

## 12.10 अभ्यासार्थ प्रश्न

1. औद्योगीकरण से आप क्या समझते हैं?
2. नगरीकरण से आप क्या समझते हैं?
3. औद्योगिक क्रांति किस प्रकार औद्योगीकरण के लिये उत्तरदायी है?
4. औद्योगिकीकरण व नगरीकरण के मध्य सम्बन्धों की चर्चा कीजिये ।
5. औद्योगिकीकरण व नगरीकरण के व्याधिकीय परिणामों को स्पाष्ट कीजिये ।
6. औद्योगिक समाज व उत्तर-औद्योगिक समाज के मध्य अन्तरों की चर्चा कीजिये ।
7. औद्योगिकीकरण नगरीकरण का परिणाम है या नगरीकरण औद्योगिकीकरण का परिणाम है, तर्क सहित उत्तर दीजिये ।

## 12.11 संदर्भ ग्रंथ


1. अमिताभ, कुंडु (संपादित), 2000, 'इनइक्विलिटी मॉबीलिटी एंड अरबनाइजेशन: चाइना एंड इंडिया', न्यू दिल्ली: आई.एस.एस.आर. एंड मानक पब्लिकेशन
2. अमिताभ, कुंडु एवं अन्य, 2006, 'हैंडबुक ऑफ अरबनाइजेशन, ऑक्सफोर्ड यूनीवर्सिटी प्रेस।

3. आशीष, बोस, 1970, 'अरबनाइजेशन इन इंडिया' बाम्बे: अकेडमिक बुकस् ।
4. रामेश्वर, प्रसाद मिश्रा, 1998, 'अरबनाइजेशन इन इंडिया: चैलेंजेस एंड ओपरचुनिटिस, रेजेंसी पब्लिकेशनस, न्यू दिल्ली ।
5. हेनरी, टिचलर, 2002, 'इंट्रोडक्शन दू सोशियोलॉजी, फिलाडेल्फिया: द हार्कट प्रेस ।

# इकाई - 13

# भारतीय समाज में जातिवाद एवं सम्बन्धित मुद्दे

**इकाई की रूपरेखा**

13.0 उद्देश्य
13.1 प्रस्तावना
13.2 जातिवाद की अवधारणा
13.3 जातिवाद के विकास के कारक
13.4 जातिवाद के दुष्परिणाम
13.5 जातिवाद के निराकरण के उपाय
13.6 जातिवाद के निराकरण हेतु किये गये प्रयत्न
13.7 सारांश
13.8 अभ्यासार्थ प्रश्न
13.9 संदर्भ ग्रंथ

## 13.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात आप -

- जातिवाद की अवधारणा समझ सकेंगे ।
- जातिवाद पर भारतीय समाज से सम्बद्ध मुद्दे समझ सकेंगे ।
- जातिवाद के विकास के कारक समझ सकेंगे ।
- जातिवाद के परिणाम समझ सकेंगे ।
- जातिवाद के निराकरण के उपाय समझ सकेंगे ।

## 13.1 प्रस्तावना

जातिवाद वह संकुचित भावना है जिसके कारण व्यक्ति समाज व राष्ट्र को विशेष महत्व नहीं देकर अपने जाति-हितों को सर्वोपरि मानता है और अपनी जाति के स्वार्थों की दृष्टि से सोचता है । जातिवाद ने जातियों को आन्तरिक दृष्टि से शक्तिशाली बनाने में योगदान दिया है । वर्तमान में जाति के नाम पर शिक्षण संस्थाएं, धर्मशालाएं, औद्योगिक संस्थान, औषधालय, मंदिर एवं अन्य संगठन पाये जाते हैं । इन संगठनों के माध्यम से जाति-विशेष की स्थिति को सामाजिक संस्तरण की प्रणाली में ऊँचा उठाने का प्रयत्न किया जाता है । ये संगठन अपनी जाति के लोगों को विशेष सुविधाएं प्रदान कर उन्हें अपनी सामाजिक स्थिति को उन्नत करने का अवसर देते हैं । आज व्यक्ति की सामाजिक स्थिति के निर्धारण में जन्म और जाति का महत्व तुलनात्मक रूप से कम होता जा रहा है । अब धन, उच्च शिक्षा, उच्च नौकरी तथा राजनैतिक शक्ति आदि के आधार पर व्यक्ति की सामाजिक प्रतिष्ठा का निर्धारण होने लगा है। ऐसी स्थिति में अपनी जाति के सदस्यों को अपनी सामाजिक स्थिति को ऊँचा उठाने के अवसर प्रदान कर सामाजिक संस्तरण की प्रणाली में जाति को ऊँचा उठाया जा सकता है । इसी कारण

उच्च सामाजिक स्थिति प्राप्त व्यक्ति अपनी ही जाति के लोगों को उच्च शिक्षा, राजकीय एवं अन्य नौकरियों में प्रवेश, धन कमाने के अवसर तथा राजनीतिक शक्ति प्राप्त करने का मौका प्रदान करना चाहते हैं । आज विभिन्न जातियाँ इसी दिशा में प्रयत्नशील है तथा जातीय संगठनों के निर्माण में लगी हुई है, अपनी जाति के लोगों को सब तरह की सुख-सुविधाएं पहुँचा रही हैं, चाहे इससे राष्ट्रीय अहित ही क्यों न हो ।

## 13.2 जातिवाद की अवधारणा

जातिवाद एक जाति के सदस्यों की वह संकुचित भावना है जो समाज या राष्ट्र के सामान्य हितों का ध्यान नहीं रखते हुए अपनी **ही** जाति के अन्य सदस्यों के हितों को बढ़ावा देने, उनकी सामाजिक स्थिति को उन्नत करने और उन्हें आगे बढ़ाने के अवसर प्रदान करने के लिए प्रेरित करती है । जातिवाद वह भावना है जो एक जाति के सदस्यों को अपनी ही जाति वालों के उत्थान, एकता एवं सामाजिक स्थिति को ऊँचा उठाने में मदद करती है । इस भावना के कारण एक जाति के सदस्यों की निष्ठाएं अपनी जाति के लोगों तक ही केन्द्रित हो जाती है, वे अपनी जाति के स्वार्थ के दृष्टिकोण से ही सोचते हैं । उनमें अपनी जाति के लोगों के प्रति तो अपनेपन की भावना पाई जाती है, किन्तु अन्य जाति के लोगों के प्रति पृथक्करण की ।

जातिवाद की संकुचित भावना के कारण व्यक्ति जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में अपनी जाति के सदस्यों को ही प्राथमिकता देने का प्रयास करते हैं । के. एन. शर्मा का कहना है कि 'जातिवाद या जाति-भक्ति एक ही जाति के व्यक्तियों की वह भावना है जो देश के या समाज के सामान्य हितों का ख्याल न रखते हुए केवल अपनी जाति के सदस्यों के उत्थान, जातीय एकता और जाति की सामाजिक प्रस्थिति को सुदृढ़ करने के लिए प्रेरित करती हों । " इस परिभाषा में निम्न दो पक्षों पर अधिक बल दिया गया है :-

1. मनोवैज्ञानिक पक्ष - इसमें व्यक्ति की भावनाएं आती हैं ।
2. व्यावहारिक पक्ष - इसमें उसकी क्रियाएँ आती है ।

जातिवाद से प्रभावित व्यक्ति अपनी जाति के प्रति न केवल तीव्र भक्ति भावना रखता है बल्कि अपनी क्रियाओं द्वारा भी जाति के अन्य लोगों के स्वार्थ की चिन्ता करता है, उन्हें उच्च शिक्षा दिलाने, नौकरी और व्यापार में प्राथमिकता देने और राजनीति में आगे बढ़ाने का भी प्रयत्न करता है । उसके ऐसा करने से जाति विशेष में तो आन्तरिक दृढ़ता अवश्य बढ़ती है, परन्तु अन्य जातियों के न्यायपूर्ण हितों की पूर्ति में बाधा पहुँचती है ।

काका कालेलकर ने जातिवाद के सम्बन्ध में लिखा है कि जातिवाद अन्ध और परिमित समूह भक्ति है, जो न्याय के सामान्य सामाजिक मानदण्डों के औचित्य, नैतिकता तथा सार्वभौमिक भ्रातृत्व की उपेक्षा करती है ।

के.एम. पन्निकर का कहना है कि राजनीतिक भाषा में उप जाति के प्रति निष्ठा का भाव ही जातिवाद है । जब तक उप जाति की अवधारणा पाई जाती है तब तक जातिवाद अपरिहार्य है क्योंकि यह एक ऐसी स्थायी निष्ठा है जो हिन्दुओं ने उत्तराधिकार में प्राप्त की है। इस प्रकार जातिवाद वह संकीर्ण भावना है जो एक जाति के सदस्यों को अन्य लोगों के सामान्य

हितों की चिन्ता नहीं करते हुए अपनी ही जाति के लोगों को जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में प्राथमिकता देने को प्रेरित करती है ।

## 13.3 जातिवाद के विकास के कारक

जातिवाद के विकास में अनेक कारकों का योग रहा है, जिनमें से प्रमुख निम्न है -

**1. विवाह पर प्रतिबन्ध**

इसके अन्तर्गत जाति अन्तर्विवाह की प्रथा आती है । इस प्रथा में अपने ही जातीय समूह में विवाह सम्बन्ध स्थापित करना आवश्यक है । वैवाहिक क्षेत्र मे अपनी ही जाति या उपजाति तक सीमित होने की वजह से जीवन साथी के चुनाव की समस्या आती है । ऐसी स्थिति में लोगों का यह प्रयास रहता है कि अपनी ही जाति वालों को विभिन्न क्षेत्रों में आगे बढ़ने और नौकरियों तथा सुख-सुविधाओं को प्राप्त करने का अवसर मिले ।

**2. प्रचार एवं यातायात के साधनों में वृद्धि -**

यातायात एवं सन्देशवाहन के साधनों ने जातिवाद को राष्ट्रव्यापी बना दिया है । एक ही जाति के लोग देश के विभिन्न कोनों तक पहुँच गये हैं । आज विभिन्न जातियों के प्रान्तीय के साथ-साथ अखिल भारतीय सम्मेलन होते हैं, जिनमें अपनी जाति के सदस्यों के हितों के संरक्षण पर विचार विमर्श किया जाता है । विभिन्न जातियों के पत्र-पत्रिकाएं निकलने लगे हैं जिनके फैलाव का क्षेत्र व्यापक है । जातीय आधार पर बने ऐसे संगठनों को रूडाल्फ व रूडाल्फ ने पैरा कम्यूनिटीज नाम दिया है ।

**3. अपनी जाति की प्रतिष्ठा बढ़ाने के लिए -**

जातीय प्रतिष्ठा को ऊँचा उठाने और सामाजिक संस्तरण की प्रणाली में अपनी जाति की स्थिति को उन्नत करने की इच्छा ने जातिवाद के विकास में विशेष सहायता पहुँचायी है । आज अर्जित प्रस्थिति का महत्व बढ़ता जा रहा है इसी कारण जाति के सदस्यों को नवीन पैमानों के अनुसार विभिन्न क्षेत्रों में आगे बढ़ने के अवसर प्रदान करना आवश्यक हो गया है । इसी कारण व्यक्ति संकुचित दृष्टिकोण से सोचता और व्यवहार करता है ।

**4. जजमानी व्यवस्था का विघटन -**

जजमानी प्रथा के टूटने से जातिवाद को प्रोत्साहन मिला है । जजमानी प्रथा ने उन्नीसवीं शताब्दी के पहले तक विभिन्न जातियों को कार्यात्मक आधार पर एकता के सूत्र में बांध रखा था । प्रत्येक जाति अपनी विभिन्न आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए अन्य जातियों पर निर्भर थी । जातियाँ एक-दूसरे के लिए कुछ आवश्यक सेवाएं प्रदान करती थी तथा बदले में कुछ वस्तुएं प्राप्त करती थी । यह पारस्परिक निर्भरता प्रत्यक्ष और परम्परागत थी । आज जजमानी प्रथा के टूटने से विभिन्न जातियों के उदग्र सम्बन्ध समाप्त हो चुके हैं और एक जाति के सदस्यों के पारस्परिक सम्बन्धों, जिन्हें क्षैतिज सम्बन्ध कहते हैं, में दृढ़ता आयी है । इसके फलस्वरूप जातिवाद को प्रोत्साहन मिला है ।

**5. संस्कृतीकरण -**

संस्कृतीकरण की प्रक्रिया का उल्लेख करते हुए समाजशास्त्री एम.एन. श्रीनिवास ने लिखा है कि संस्कृतीकरण वह प्रक्रिया है जिसमें एक निम्न जाति, ब्राह्मण, क्षत्रिय या प्रभु

जाति के खान-पान, रहन-सहन, देवी-देवता, प्रथाओं, रीति-रिवाजों, वेश-भूषा, व्यवहार और जीवन जीने के ढंग को अपनाती है । " एक या दो पीढ़ी पहले वह अपने सम्बन्ध किसी ऊँची जाति से बताती है, बाल-विवाह करना प्रारम्भ कर देती है । विधवा विवाह पर रोक लगा देती है, मांस और मदिरा का त्याग कर देती है । ऐसा करके वह निम्न जाति सामाजिक संस्तरण में ऊँचा उठना चाहती है । यह कार्य जाति के किसी एक या दो व्यक्तियों द्वारा नहीं वरन् सम्पूर्ण समूह द्वारा एक साथ होता है । संस्कृतीकरण करने वाली जाति में जातिवाद की भावना पैदा होती है, वह अन्य निम्न जातियों से स्वयं को श्रेष्ठ समझने लगती है । उच्च जातियाँ संस्कृतीकरण करने वाली जाति 'की नयी स्थिति को स्वीकार नहीं करती । इसका परिणाम उच्च एवं संस्कृतीकरण करने वाली जाति के बीच संघर्ष के रूप में होता है । यह संघर्ष जातिवाद को और अधिक बढ़ावा देता है ।

**6. औद्योगिक विकास :**

औद्योगिक विकास ने जातिवाद को बढ़ाने में योग दिया है । औद्योगीकरण के कारण अनेक नवीन व्यवसायों का विकास हुआ है जिनका किसी जाति विशेष के साथ कोई सम्बन्ध नहीं पाया जाता । आज विभिन्न जाति के व्यक्ति एक ही व्यवसाय में और एक ही जाति के लोग भिन्न-भिन्न व्यवसायों में लगे हुए हैं । औद्योगीकरण के कारण परिवार तथा जाति के वंशानुगत पेशों को चोट पहुँची है । परिणामस्वरूप आर्थिक सुरक्षा समाप्त हो गयी है । जनसंख्या में तेजी से वृद्धि साथ ही औद्योगिक विकास की धीमी गति के कारण लोगों को योग्यतानुसार नौकरियाँ प्राप्त करने के अवसर नहीं मिले हैं । इस स्थिति में जाति के द्वारा अपने सदस्यों को आर्थिक सुरक्षा प्रदान करने हेतु लोग अपनी ही जाति के लोगों को उच्च पद प्राप्त करने के अवसर देना चाहते हैं ।

**7. नगरीकरण -**

नगरों की दशा ने भी जातिवाद को प्रोत्साहित किया है । नगरों में विभिन्न जातियों, धर्मों, संस्कृतियों तथा आर्थिक स्तर के लोग पाये जाते हैं । यहाँ विभिन्न स्वार्थों के आधार पर बने संगठन भी दिखलाई पड़ते हैं । ऐसी स्थिति में जाति पीछे क्यों रहती? नगरों में घनिष्ठ एवं दृढ़ समूह के रूप में जातिय संगठन बनने लगे जो अपनी जाति के लोगों की स्वार्थ पूर्ति के कार्य में लग गये । नगरों में अनेक जातीय संगठन पाये जाते हैं।

**8. जातियों का विकास**

जातियों के विभेदीकृत विकास ने जातिवाद को प्रोत्साहित करने में सहायता पहुँचायी है। कुछ जातियों को विशेषाधिकार प्राप्त रहे हैं जबकि कुछ अनेक नियोग्यताओं से पीड़ित रही है । ऐसी स्थिति में कुछ जातियों को उच्च शिक्षा प्राप्त करने, उच्च नौकरियों में आने तथा धन कमाने एवं अपनी सामाजिक स्थिति को ऊँचा उठाने के विशेष अवसर मिले हैं । इसके परिणामस्वरूप कुछ जातियों ने आर्थिक व राजनीतिक शाक्ति प्राप्त कर ली जबकि कई जातियों को इससे वंचित रहना पड़ा । कुछ जातियाँ अपने परम्परागत व्यवसायों में ही लगी रही, उन्हें आर्थिक दृष्टि से प्रगति करने और अपने जीवन स्तर को ऊँचा उठाने का मौका नहीं मिला । इस स्थिति ने विभिन्न जातियों में कटुता को बढ़ाया है परिणामस्वरूप जातीय संगठन दृढ़ हुये हैं । विभिन्न जातियों के उदग्र सम्बन्ध कमजोर और क्षेतिज सम्बन्ध मजबूत हुए हैं । इस

स्थिति ने लोगों को अपनी जाति या उपजाति के संकुचित स्वार्थ के दृष्टिकोण से सोचने के लिए प्रेरित किया है ।

**9. जातीय संगठन -**

जातिवाद को विकसित करने में जातीय संगठनों ने भी महत्वपूर्ण भूमिका अदा की है । आज अनेक जातियों के क्षेत्रीय एवं राष्ट्रीय संगठन बन गये हैं । इन जातीय संगठनों की अपनी पत्र पत्रिकाएं प्रकाशित होती है, सम्मेलन एवं गोष्ठियां होती है, चुनाव में व्यक्ति विशेष को ही मत देने पर जोर दिया जाता है । अपनी जाति के सदस्यों को संगठित करने एवं उनके हितों की रक्षा के प्रयत्न भी जातीय संगठन द्वारा किये जाते हैं।

**10. राजनीति -**

प्रजातन्त्र में वोट का महत्व होता है, वोट लेने के लिए लोगों की जातीय भावनाओं को उभारा जाता है । जातीय बहुलता के आधार पर उम्मीदवार का चयन किया जाता है, चुनाव में जाति के नाम पर वोट मांगे और दिये जाते हैं । इस प्रकार राजनीति ने जातिवाद को बढ़ावा दिया है ।

## 13.4 जातिवाद के दुष्परिणाम

जातिवाद के परिणामस्वरूप अनेक गम्भीर समस्याएँ उत्पन्न हुई हैं जो निम्नानुसार हैं

1 - **जातिवाद प्रजातन्त्र के लिए घातक -**

स्वतंत्रता के बाद भारत ने प्रजातन्त्र को अपनाया । स्वतंत्र भारत के संविधान के अनुच्छेद 15(1) में कहा गया है कि राज्य किसी नागरिक के साथ धर्म, मूल, वंश, जाति, लिंग, जन्म आदि के आधार पर कोई भेदभाव नहीं करेगा, किन्तु जातिवाद प्रजातन्त्र के सिद्धान्तों के विरूद्ध है ।

प्रजातन्त्र का अर्थ है जनता के लिए जनता द्वारा जनता का शासन । यह स्वतंत्रता, समानता एवं भाई-चारा पर आधारित है । प्रजातन्त्र में प्रत्येक व्यक्ति के विकास के पूर्ण अवसर उपलब्ध होते हैं, किसी भी व्यक्ति के साथ ऊँच-नीच का भेदभाव नहीं किया जाता, सभी को समान समझा जाता है । भाईचारे में समानता स्वाभाविक है । प्रजातन्त्र में सभी प्रकार के धर्म, लिंग, रंग, आयु, प्रजाति आदि से सम्बंधित लोगों का सहयोग, सहायता एवं त्याग अपेक्षित है, उनके बिना प्रजातन्त्र सफल नहीं हो सकता ।

जातिवाद अप्रजातांत्रिक है, यह प्रजातन्त्र के तीनों मूल सिद्धान्तों पर प्रहार करता है । जातिवाद में ऊँच नीच की भावना पाई जाती है । जाति में व्यक्ति की सामाजिक स्थिति का निर्धारण जन्म से होता है, इसमें विवाह, शिक्षा, व्यवसाय सभी का क्षेत्र निश्चित है । जातिवाद गुणों पर नहीं उसके जन्म पर जो देता है, जबकि प्रजातंत्र व्यक्ति का मूल्यांकन उसके गुणों के आधार पर करता है । जातिवाद संकुचित निष्ठा, अन्ध भक्ति एवं पक्षपात पर आधारित है । जातिवाद प्रजातंत्र की तरह समानता पर नहीं बल्कि जन्म से ही असमानता पर आधारित है । एक निम्न जाति में जन्म लेने वाला व्यक्ति चाहे कितना ही गुणी शिक्षित एवं दक्ष क्यों न हो, वह उच्च जाति के व्यक्ति के समकक्ष नहीं माना जायेगा । विभिन्न जातियों के बीच

असमानता अपनाये जाने के कारण जातिवाद में भाई चारे की भावना का अभाव पाया जाता है । जातीय भेदभाव के आधार पर जातीय तनाव व द्वेष, विषमता एवं घृणा पैदा होती है ।

जातिवाद के प्रभाव के कारण ही व्यक्ति सम्पूर्ण समाज एवं राष्ट्र के हित में नहीं सोच पाता तथा केवल अपनी जाति के लोगों को सब प्रकार की सुख-सुविधाएँ तथा राजनीतिक शक्ति प्रदान करना चाहता है । चुनावों में जाति के आधार पर वोट लिये और दिये जाते हैं । राजनैतिक दल उम्मीदवारों का चुनाव करते समय क्षेत्र विशेष का बहुसंख्यक जाति का विशेष रूप से ध्यान रखते हैं । एम.एन. श्रीनिवास ने मैसूर दक्षिण भारत में स्थित क्षेत्र का उदाहरण देते हुए लिखा है कि यहां पंचायत के चुनावों से लेकर राज्य मंत्रियों एवं सचिवों तक की नियुक्तियों में जातीय आधार अपनाया जाता है । धीरे-धीरे जातिवाद का विष राजनीतिक, आर्थिक एवं सामाजिक सभी क्षेत्रों में फैल रहा है । आज जातीय निष्ठा में वृद्धि हुई है तथा सामाजिक व राष्ट्रीय हितों का तिलांजली दी गई है ।

**2- राष्ट्रीयता के विकास में बाधा -**

जातिवाद के कारण छोटे-छोटे जातीय समूह संगठित हो जाते हैं जिससे व्यक्ति की सामुदायिक भावना बहुत अधिक संकुचित हो जाती है । वह राष्ट्रीय दृष्टिकोण से विचार नहीं करके जातिगत कल्याण की दृष्टि से सोचता है । समाज के सैकड़ों-हजारों छोटे-छोटे समूहों में विभाजित हो जाने और अपनी जाति या उपजाति को सर्वोपरि समझने से स्वस्थ राष्ट्रीयता के विकास एवं राष्ट्रीय एकीकरण में बाधा पैदा होती है । जातिवाद के कारण संविधान की धारा 15(1) की अवहेलना होती है जिसमें बताया गया है कि राज्य किसी के साथ किसी भी आधार पर कोई भेदभाव नहीं करेगा ।

**3 - औद्योगिक कुशलता में बाधा -**

आज देश में अनेक उद्योग धन्धों का विकास होता जा रहा है जिनमें योग्य एवं प्रतिभाशाली लोगों को उच्च पदों पर नियुक्त करने की आवश्यकता है । बड़े-बड़े उद्योगों में लोग अपनी ही जाति के लोगों को उच्च पदों पर आने का अवसर देते हैं । ऐसी स्थिति में औद्योगिक कुशलता में कमी आती है और श्रेष्ठ प्रतिभाओं का लाभ समाज को नहीं मिल पाता।

**4 - नैतिक पतन -**

जातिवाद कुछ सीमा तक नैतिक पतन के लिए भी उत्तरदायी है । जातिवाद की भावना व्यक्ति को पक्षपात पूर्ण व्यवहार के लिए प्रेरित करती है । अनेक नेता, मंत्री तथा उच्च अधिकारी अपनी जाति के लोगों के साथ पक्षपात करते हैं, भाई-भतीजेवाद को प्रोत्साहन देते हैं । वे सभी सुविधाएं या लाभ अपनी जाति के लोगों को पहुंचाने का प्रयत्न करते हैं । इससे राजनीति एवं प्रशासन के क्षेत्र में भ्रष्टाचार को बढ़ावा मिला है ।

**5 - भेदभाव को बढ़ावा**

जातिवाद व्यक्ति-व्यक्ति के बीच भेदभाव की दीवार खड़ी कर देता है । व्यक्ति अपनी जाति से ऊपर उठकर समाज, राष्ट्र और मानवता के दृष्टिकोण से सोच ही नहीं पाता ।

**6 - गतिशीलता में बाधक**

जाति व्यक्ति की गतिशीलता में बाधक रही है । ज्यादा धन कमाने, शिक्षा प्राप्त करने तथा प्रशिक्षण के लिए यह जरूरी है कि व्यक्ति अपना मूल निवास छोडकर दूसरी जगह जाये किन्तु जातीय बन्धन व प्रेम अपना घर छोड़ने में बाधा पैदा करते हैं । एक जाति का व्यक्ति दूसरी जाति के व्यवसायों में दक्ष होने पर भी जातिवाद की भावना के कारण उन्हें ग्रहण नहीं कर पाता है ।

**7 - भ्रष्टाचार -**

जातिवाद की भावना ने सभी क्षेत्रों में भ्रष्टाचार एवं भाई-भतीजेवाद को जन्म दिया है । लोगों में राष्ट्रीय निष्ठा के स्थान पर जातीय निष्ठा पाई जाती है, इससे लोगों में संकुचित मनोवृत्ति पैदा होती है । सरकारी तथा गैर सरकारी नौकरियों तथा लाभ प्रदान करने में अपनी जाति के व्यक्ति को ही प्राथमिकता दी जाती है । इससे विभिन्न -जातियों में परस्पर अविश्वास, मनमुटाव एवं संघर्ष पैदा होता है । व्यक्ति अपनी जाति के लोगों के लिए गैर कानूनी कार्य भी करने लगता है ।

**8 - सामाजिक समस्याओं का उदय -**

कठोर जातीय नियमों के कारण समाज में बाल-विवाह, दहेज प्रथा, विधवा पुनर्विवाह पर रोक, कुलीन विवाह के सम्बन्ध में व्यक्ति जातीय नियमों का पालन करता है ।

**9 - जातीय संघर्ष -**

जातिवाद की भावना ने सामाजिक तनाव एवं जातीय संघर्षो को जन्म दिया है । जातीय श्रेष्ठता व घृणा के कारण विभिन्न जातियों में टकराव पैदा होता है । जातीय को, मारपीट, तोड़फोड एवं आगजनी की घटनाएं घटती है ।

जी. एस. घुरिये ने लिखा है कि यह जातिवाद की भावना ही है जो दूसरी जातियों के प्रति विरोध उत्पन्न करती है और राष्ट्रीय चेतना की वृद्धि के लिए दूषित वातावरण का निर्माण करती है । यह जातिवाद ही है जिसके विरूद्ध हमें लड़ना है और इसे पूर्णतया समाप्त कर देना है । यदि जातिवाद की समस्या हल न हुई तो इसका परिणाम यह होगा कि बड़ी संख्या में ऐसे संगठित समूह उत्पन्न हो जायेंगे जो दूसरों के हितों पर कुठाराघात करके अपने हितों को आगे बढ़ायेंगे । इसके फलस्वरूप तीव्र संघर्ष उत्पन्न होंगे ।

## 13.5 जातिवाद के निराकरण के उपाय

जातिवाद के निराकरण के उपाय जातिवाद के निराकरण हेतु सुझाव निम्नलिखित हैं -

**1 जाति प्रथा को समाप्त करना -**

भारतीय संविधान में जाति-पांति के भेदभाव को मिटाने के आदर्श को सामने रखा गया है । इसके लिए सरकारी तौर पर कुछ कानून भी पास किये गये हैं, जिनके आधार पर यह विश्वास दिलाया जाता है कि भारत में शीघ्र ही जाति विहीन समाज की स्थापना होगी ।

**2 अन्तर्राजीय विवाहों को प्रोत्साहन -**

जी. एस. घुरिये का कहना है कि जातिवाद को समाप्त करने के लिए अन्तर्जातीय विवाहों को प्रोत्साहन दिया जाना चाहिए । ऐसे विवाहों के लिए देश में उचित वातावरण तैयार

किया जाये । शिक्षा के माध्यम से लोगों की मनोवृति में परिवर्तन लाया जाये तथा विभिन्न जाति के लड़के-लड़कियों को एक दूसरे के निकट आने का अवसर दिया जाये ।

**3 उचित शिक्षा -**

पी.एच. प्रभु का मानना है कि उचित शिक्षा के द्वारा व्यवहार के आन्तरिक स्त्रोतों पर प्रभाव डालकर जातिवाद को दूर किया जा सकता है । शिक्षा के माध्यम से बच्चों में जाति पांति सम्बन्धी भेदभाव उत्पन्न ही नहीं हो, धर्म-निरपेक्षता को बढ़ावा मिले तथा जातिवाद के विरोध में स्वस्थ जनमत का निर्माण हो । शिक्षा एवं सामाजिक सम्पर्क के द्वारा एक जातीय समूह की दूसरे समूह के प्रति कलुषित धारणाओं को बदला जा सकता है । लोगों की मनोवृत्तियों को बदलने के लिए चल चित्रें का प्रयोग किया जा सकता है ।

**4 वैकल्पिक समूहों का निर्माण -**

वैकल्पिक समूहों के निर्माण से जातिवाद की समस्या को हल किया जा सकता है । यहां लोग जातीय समूहों के माध्यम से ही अपनी सामूहिक प्रवृतियों को व्यक्त करते हैं । यदि लोगों को वैकल्पिक समूह उपलब्ध हों तो वे इनकी सदस्यता प्राप्त कर इनके माध्यम से सामूहिक मनोवृत्तियों को त्यक्त तथा अपनी विविध क्रियाओं को संगठित कर सकेंगे । सामाजिक व सांस्कृतिक संगठनों के निर्माण से विभिन्न जाति के लोगों को एक दूसरे के नजदीक आने और एक दूसरे को समझने का मौका मिल सकेगा । इससे उनमें समानता और बन्धुत्व की भावना पनपेगी तथा जातिवाद दूर हो सकेगा ।

**5 विभिन्न जातियों में आर्थिक एवं सांस्कृतिक समानता को प्रोत्साहन -**

इरावती कर्वे का कहना है कि जातिवाद से छुटकारा प्राप्त करने के लिए विभिन्न जातियों में आर्थिक एवं सांस्कृतिक समानता लाना आवश्यक है । इससे लोग स्वयं की जाति के संकुचित दायरे से बाहर निकल सकेंगे ।

**6 जाति शब्द का बहिष्कार -**

सरकार द्वारा यह प्रयास किया जावे कि प्रार्थना पत्रों, स्कूल के रजिस्टरों, धर्मशालाओं तथा दुकान आदि के नामों में जाति शब्द का कहीं प्रयोग नहीं किया जावे ।

**7 सांस्कृतिक एकीकरण को प्रोत्साहन -**

एम. एन. श्रीनिवास का कहना है कि वयस्क मताधिकार, पंचवर्षीय योजनाओं के माध्यम से होने वाली क्रान्ति, शिक्षा का प्रचार, पिछड़ी जातियों का उत्थान तथा उनके रहन-सहन के तरीकों पर उच्च जातियों की संस्कृति के प्रभाव से जाति व्यवस्था के बहुत से दोष दूर हो सकेंगे ।

## 13.6 जातिवाद के निराकरण हेतु किये गये प्रयत्न

स्वतंत्र भारत में जातिवाद को समाप्त करने हेतु अनेक प्रयास किये गये हैं । साक्षरता के प्रसार, वैकल्पिक समूहों के निर्माण, जाति तथा धर्म के आधार पर समानता के व्यवहार को प्रोत्साहन देने तथा आर्थिक एवं सांस्कृतिक समानता लाने हेतु अनेक प्रयास किये गये हैं । पिछड़ी जातियों, अछूतों एवं जनजातियों की निर्योग्यताओं को समाप्त कर उन्हें उच्च जातियों के समकक्ष लाने का प्रयास किया गया है । 'अस्पृश्यता निवारण अधिनियम 1955' के द्वारा

अस्पृश्यता को कानून के द्वारा समाप्त कर दिया गया है । पंचवर्षीय योजनाओं के माध्यम से देश के औद्योगिक विकास का प्रयास किया गया है, ताकि लोगों को नौकरियां प्राप्त हो सके । साक्षरता बढ़ने से स्कूलों और महाविद्यालयों में विभिन्न जाति के छात्रों को एक दूसरे के साथ अध्ययन एवं सम्पर्क स्थापित करने के अवसर बढ़ते हैं । अन्तर्जातीय विवाहों की संख्या बढ़ती है, औद्योगीकरण और नगरीकरण की गति तेज होती है । इसके साथ जातिविहीन वातावरण की सृष्टि और जातिवाद की संकुचित भावना का अन्त हो सकेगा ।

## 13.7 सारांश

इस प्रकार जातिवाद के कारण एक जाति दूसरी जातियों की तुलना में अपनी जाति को श्रेष्ठ समझती है, अन्य जाति के हितों की उपेक्षा कर अपनी ही जाति के लोगों के हितों की रक्षा करते हैं । जातीय संगठन बने हैं, अपनी ही जाति के सदस्यों के पक्ष में वोट देते हैं । एम.एन. श्रीनिवास ने कहा कि मैसूर में पंचायत चुनाव से लेकर राज्य में मंत्रियों व सचिवों की नियुक्ति तक में जातीय आधार अपनाया गया । डा. रजनी कोठारी ने भारतीय राजनीति में जाति तथा रूडोल्फ व रूडोल्फ ने परम्परा की आधुनिकता में राजनीति व जाति का सम्बन्ध बताया ।प्रजातन्त्र में सत्ता प्राप्त करने के लिए विभिन्न जातियों में टकराव पैदा हुआ है । जाति के हितों की रक्षा के लिए राजनीति का सहारा लेते हैं । अपने प्रतिनिधियों को विधानसभा व संसद में भेजकर अपने कानूनी, राजनीतिक आर्थिक हितों की रक्षा का प्रयत्न करते हैं । नीची जातियाँ संविधान द्वारा प्रदान की गई सुविधाओं का लाभ उठाते रहने के लिए संगठित हुई है । धार्मिक व सार्वजनिक स्थानों के उपयोग को लेकर ऊँची-नीची जाति में संघर्ष हुआ है । राल्फ निकोलस ने उत्तरप्रदेश व तमिलनाडू के गांवों के अध्ययन में पाया कि ऊँची जाति के लोगों को नीची जाति के लोगों ने चुनौती दे रखी थी । राजनीतिक दलों ने अलग-अलग राज्यों में चुनावों में प्रभु जातियों का सहारा लिया है, शासन में आने पर अपने समर्थकों. को अधिकतम लाभ पहुँचाने का प्रयास किया । जातिवाद ने राष्ट्रीय एकीकरण के मार्ग में बाधा पैदा की है ।

## 13.8 अभ्यासार्थ प्रश्न

1. जातिवाद की अवधारणा स्पष्ट कीजिए ।
2. भारतीय समाज में जातिवाद के विकास के कारक बताइये ।
3. जातिवाद के दुष्परिणाम समझाइये ।
4. जातिवाद के निराकरण हेतु सुझाव दीजिये ।
5. भारतीय समाज से जातिवाद के निराकरण हेतु किये गये प्रयास समझाइये ।

## 13.9 सन्दर्भ ग्रंथ


1. के. एम. पन्निकर - 'हिन्दू सोसायटी एट क्रॉस रोड'
2. डा. के.एन. शर्मा 'भारतीय समाज और संस्कृति'
3. जी.एस घुरिये, कास्ट, क्लास एण्ड ओक्यूपेशन, पापुलर बुक डिपो, मुम्बई, 1961
4. मोतीलाल गुप्ता, भारत में समाज, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर- 1994

5. रवीन्द्रनाथ मुखर्जी, भारतीय सामाजिक समस्याएं, विवेक प्रकाशन, जवाहर नगर, नई दिल्ली-1994
6. वीरेन्द्र प्रकाश शर्मा, समकालीन भारत में सामाजिक समस्याएं, पंचशील प्रकाशन, जयपुर-1994

# इकाई - 14

# क्षेत्रवाद

**इकाई की रूपरेखा**


14.0 उद्देश्य

14.1 प्रस्तावना

14.2 क्षेत्रवाद: अर्थ एवं परिभाषा

14.3 क्षेत्रवाद के कारण

14.3.1 भौगोलिक कारण

14.3.2 आर्थिक कारण

14.3.3 ऐतिहासिक कारण

14.3.4 जातिवाद

14.3.5 राजनीतिक एवं सांस्कृतिक कारण

14.4 भारतीय समाज एवं राजनीति में क्षेत्रवाद के विभिन्न स्वरूप

14.4.1 भारतीय संघ से पृथक होने की मांग

14.4.2 पृथक राज्यों की मांग

14.4.3 क्षेत्रवाद और केन्द्र राज्य तनाव

14.4.4 क्षेत्रवाद और भाषायी विवाद

14.4.5 क्षेत्रवाद और उत्तर-दक्षिण प्रवृति

14.4.6 क्षेत्रवाद और स्वायत्तता की मांग

14.4.7 क्षेत्रवाद और आर्थिक तनाव

14.5 भूमिपुत्र की अवधारणा

14.6 क्षेत्रवाद के दुष्परिणाम

14.7 क्षेत्रवाद को रोकने के उपाय

14.8 सारांश

14.9 शब्दावली

14.10 अभ्यासार्थ प्रश्न

14.11 सन्दर्भ ग्रंथ


## 14.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात आप -

- क्षेत्रवाद कीं अर्थ एवं उसका स्वरूप जान सकेंगे
- भारतीय समाज के सन्दर्भ में क्षेत्रवाद के कारणों को जान सकेंगे ।
- भारतवर्ष में क्षेत्रवाद से जुड़ी प्रमुख प्रवृत्तियों की जानकारी हासिल कर सकते है ।

- स्वतंत्रता प्राप्ति से लेकर वर्तमान समय तक क्षेत्रवाद के भारतीय समाज एवं राजनीति पर प्रभावों कि जानकारी प्राप्त कर सकेंगे ।
- क्षेत्रवाद की समस्या के समाधानों के लिए क्या-क्या व्यवहारिक उपाय किये जा सकते विश्लेषण कर सकते हैं ।भारत में क्षेत्रवाद ने समाज एवं संघ-व्यवस्था को किस प्रकार से प्रभावित किया है का अध्ययन कर सकेंगे ।

## 14.1 प्रस्तावना

भारत वर्ष भौगोलिक दृष्टि से विशालता के साथ सामाजिक-सांस्कृतिक विविधता पायी जाती है। एक राष्ट्रों में विविध भाषा, संस्कृति और जाति समुदाय के लोग मिलकर विविधतापूर्ण परिवेश का निर्माण करते है । विविध भाषा, लिपि, साहित्य, संस्कृति, रीति-रिवाज एवं जीवन-दर्शन वाले लोगों के निवास ने भारतीय संस्कृति एवं समाज को इन्द्रधनुषी रूप दिया है । किन्तु यही विविधता राष्ट्र की एकता के लिए घातक बन जाती है । जब समाज के विभिन्न वर्गों के लोगों में संकीर्ण हितों के आधार पर पारस्परिक संघर्ष एवं द्वंद उत्पन्न हो जाये । समाज के बहुल्वादी चरित्र को बनाये रखने के लिए उसके सभी भागों का संतुलित विकास होना आवश्यक है, मगर जब आर्थिक नियोजन की विफलता के परिणाम स्वरूप किसी एक भाग का विकास न हो तो वही असंतोष उत्पन्न होता है । और यही असन्तोष क्षेत्रवाद के रूप में मुखरित होता है । विकासशील समाजों की एक महत्वपूर्ण समस्या राष्ट्रीय एकीकरण की रही है । राष्ट्रीय एकीकरण के भावात्मक तत्वों की जब हम खोज करते है तो हमारा ध्यान उन जातीय, भाषागत, धार्मिक, क्षेत्रीयता पर जाता है जो संर्कीण क्षेत्रवाद को बढ़ावा देते है । क्षेत्रवाद के आधार पर राष्ट्रीय के स्थान पर क्षेत्र विशेष के हितों एवं मांगो की पूर्ति के स्वर विखण्डतावाद को बढ़ावा देते है जो राष्ट्रीय एकता में बाधक है । इस पाठ के अध्ययन के उपरान्त आप भारतीय समाज के समक्ष एक प्रमुख समस्या के रूप में क्षेत्रवाद का इसके स्वरूपों, कारणत्वों एवं समाधान के उपायों का विश्लेषण कर सकने में सक्षम होगें ।

## 14.2 क्षेत्रवाद : अर्थ एवं परिभाषा

भारतीय समाज में क्षेत्रवाद एक अपभ्रंश-प्रयोग है जिसका आशय है राष्ट्रों की तुलना में किसी क्षेत्र विशेष अथवा राज्य या प्रान्त या छोटे क्षेत्रों से लगाव । यह राष्ट्रीय भावना के विपरीत है । संर्कीण क्षेत्रीय हितों की पूर्ति करना इसका उद्देश्य होता है । क्षेत्रवाद से तात्पर्य एक देश में या देश के किसी भाग में उस छोटे से क्षेत्र से है जो आर्थिक, भौगोलिक, सामाजिक, प्रजातीय आदि कारणों से अपने पृथक अस्तित्व के लिए जागरूक है । यह एक ऐसी प्रवृत्ति है जिसमें क्षेत्र विशेष के लोग अपने लिए आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक शक्तियों की अधिकाधिक मांग करते है ।

'क्षेत्र शब्द के कई अर्थ है । मूल रूप से किसी क्षेत्र को जोड़ने वाली कड़ी 'सांस्कृतिक' समानता है । किसी भौगोलिक प्रदेश को भी क्षेत्र के आधार पर सम्बोधित किया जा सकता है । मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है । और अपने निवास के आसपास की भूमि से उसका भावात्मक सम्बन्ध स्थापित हो जाता है और कालान्तर में अपने पूरे क्षेत्र के प्रति उसकी निष्ठा विकसित

हो जाती है । अनेक तत्वों जैसे भूगोल, जलवायु, धर्म, भाषा, रीति-रिवाज राजनीतिक और आर्थिक विकास, ऐतिहासिक अनुभव, रहन-सहन के तरीके आदि की अन्त: क्रियाओं से किसी क्षेत्र का निर्माण हो सकता है । क्षेत्र के लोगों में साथ रहने की भावात्मक एकता होती है और दूसरों को पृथक मानने की अभिव्यक्ति । जैसे कोई व्यक्ति सोचता है कि वह राजस्थान का रहने वाला है तो इसका अर्थ है कि वह पंजाब के लोगों से अपने को थोड़ा भिन्न मानता है । पंजाब के लोगों भी ऐसा ही सोचते है । ऐसी भावनाएं सांस्कृतिक वास्तविकताएं है । और उनसे कोई भी समाज मुक्त नही है ।

क्षेत्र एक प्रकार से समाजशास्त्रीय अवधारणा है । जिसे विविध साम्प्रदायिक हितों की अभिव्यक्ति की धुरी कहा जा सकता है' ' भारतीय समाज के सन्दर्भ में क्षेत्रवाद से अभिप्राय है राष्ट्रों की तुलना में किसी क्षेत्र विशेष अथवा राज्य या प्रान्त की अपेक्षा एक छोटे क्षेत्र से लगाव, उसके प्रति भक्ति या विशेष निष्ठा दिखाना । इस दृष्टि से क्षेत्रवाद व राष्ट्रवाद की वृहद भावना का विलोम है और इसका ध्येय संकुचित क्षेत्रीय स्वार्थों की पूर्ति होता है । यह एक ऐसी धारण है जो प्रजाति, भाषा, धर्म, क्षेत्र, आदि पर आधारित है और जो प्राय: विघटनकारी प्रवृत्तियों को प्रोत्साहन देती है । क्षेत्रवाद की भावना सारे देश में व्याप्त है जो सुनियोजित आन्दोलनों, अभियानों एवं पारस्परिक संघर्षों के रूप में अभिव्यक्त होती है ।

## 14.3 क्षेत्रवाद के कारण

क्षेत्रवाद की जड़ें स्वतंत्रता पूर्व के ब्रिटिश भारत में ही मौजूद है । तब अंग्रेजों ने प्रशासन सुविधा की दृष्टि से देश के प्रांतो का दोषपूर्ण विभाजन किया । स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् भारतीय संघ की विविध-इकाइयों का जिसमें विविध वर्गों, भाषा, संस्कृति, जीवन-शैली वाले व्यक्तियों का निवास था । समानता के आधार पर भारतीय संघ में विलय कर दिया तब से असन्तुष्ट वर्गों ने क्षेत्रवाद के आधार पर नयी-नयी मांगें उठायी है जिससे स्वतंत्रता के पश्चात सुनियोजित आन्दोलन के रूप में संकीर्ण क्षेत्रवाद की भावना का उदय हुआ है । भारतीय समाज में क्षेत्रवाद के प्रमुख कारण निम्नलिखित है ।

### 14.3.1 भौगोलिक कारण

भौगोलिक दृष्टि से समस्त भारत में विविधता व्याप्त है । स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात जब राज्यों का पुर्नगठन किया गया तो आकार की विशिष्टता एवं भौगोलिक विविधता का ध्यान नही रखा गया । भौगोलिक दृष्टि से जहाँ राज्यो के आकार में असमानता है । राजस्थान, मध्य प्रदेश, महाराष्ट्र, उत्तर प्रदेश, बिहार बड़े राज्य है तो मिजोरम, नागालैण्ड, केरल राज्यों का आकार छोटा है । आज देशों के राज्यों में भौगोलिक दृष्टि से अनेक ऐसी उप-इकाइयाँ है जो पृथक राज्य बन सकते है । बड़े राज्यों में संसाधनों का असन्तुलित आवंटन, प्रशासन में शिथिलता तथा आर्थिक पिछड़ेपन के कारण पृथक राज्यों की मांग समय-समय पर उठती है ।

### 14.3.2 आर्थिक कारण

स्वतंत्रता के पश्चात राष्ट्र के विकास के लिए नियोजन का जो मार्ग अपनाया गया था उसके सकारात्मक परिणामों के बावजूद आर्थिक विकास की दृष्टि से कुछ राज्य पिछड़े रह गये तथा कुछ राज्यों का तेजी से विकास हुआ । इससे पिछड़े हुए राज्यों (क्षेत्रों) में विषमताओं एवं असन्तोष के कारण क्षेत्रीय स्वायत्तता की मांग उठने लगी । आंध्रप्रदेश में तेलंगाना, राजस्थान में दक्षिण-पूर्वी राजस्थान महाराष्ट्र में विदर्भ क्षेत्र एवं बिहार में छोटा नागपुर क्षेत्र पिछड़ गया परिणाम स्वरूप इन क्षेत्रों से आर्थिक संसाधनों के लाभप्रद आवंटन की मांगे उठायी गयी और क्षेत्रवाद की भावना के कारण ये पृथक-पृथक राज्य की मांग करने लगे ।

### 14.3.3 ऐतिहासिक कारण

भारतवर्ष में क्षेत्रवाद ऐतिहासिक विरासत है । स्वतंत्रता पूर्व ब्रिटिश शासकों ने साम्राज्य के हितों की आवश्यकतानुसार ब्रिटिश भारत में अनेक निर्णयों को लागू किया । कृषि सुधार, प्रशासनिक तंत्र की स्थापना, औद्योगिक विकास शिक्षा एवं रोजगार की सुविधा आदि सभी मुद्दों का निर्धारण सम्पूर्ण क्षेत्र के सन्तुलित विकास को दृष्टि से नहीं वरन् औपनिवेशिक हितों से प्रेरित था । इससे विकास कि दृष्टि से क्षेत्रों में असन्तुलन उत्पन्न हो गया । कालान्तर में इससे उपजे असंन्तोष ने क्षेत्रवाद का रूप लिया ।

### 14.3.4 जातिवाद

क्षेत्रवाद की प्रवृति में जाति का कारक भी निर्णायक रहा है । ऐसे क्षेत्र जहाँ एक ही जाति की प्रधानता है वही जातिवाद को बढ़ावा मिला है इससे उस क्षेत्र के लोगों में क्षेत्रवाद की भावना पनपी है । तमिलनाडू में तमिल भाषी एवं गैर-ब्राहम्णों का संघर्ष, पंजाब में सिक्खों एवं जाटों का संघर्ष तथा हरियाणा एवं महाराष्ट्र में भी जातिवादी तत्वों ने क्षेत्रवाद की भावना को बढ़ाया है । रजनी कोठारी के अनुसार - ' 'जाति व्यवस्था क्षेत्रवाद के लिए अपने आप में बहुत महत्वपूर्ण तत्व न होते हुए भी, जहाँ यह आर्थिक हितों (जैसे- महाराष्ट्र में मराठा जाति) भाषायी समुदायों (जैसे-तमिलनाडु में तमिल भाषी एवं गैर ब्राहम्ण जातियों) और धर्म (पंजाब में सिक्ख एवं जाट) के साथ जुड़ी हो, वहाँ क्षेत्रवाद को प्रबल बनानें मे सहायक सिद्ध होती है । " इस प्रकार जातिवाद ने समाज के अनेक सम्बन्धित तत्वों को प्रभावित करते हुए क्षेत्रवाद को बढ़ाने में अपनी भूमिका निभाई है ।

### 14.3.5 भाषा एवं सांस्कृतिक कारण

भारत में भाषागत एवं सांस्कृतिक विविधता व्याप्त रही है । मॉरिस जोन्स का कहना है कि यद्यपि भाषा के कारण आन्तरिक संगठन और एकता में वृद्धि हुई परन्तु इसने अनेक समस्याऐं भी पैदा की है । नार्मन डी पामर का कहना है कि " भारत की अधिकांश राजनीति क्षेत्रीयतावाद और भाषा के बहुत से प्रश्नों के चारों ओर घूमती है । " भारत में भाषायी विविधता को अनेक राजनीतिक दलों ने राजनीतिक हथियार के रूप में प्रयुक्त किया है । उत्तर एवं दक्षिण भारत में भाषा की विभिन्नता को लेकर आन्दोलन हुए । जब नवीन राज्यों का गठन

किया गया तो भाषा के प्रश्नों को लेकर क्षेत्रीय स्वरों की और अधिक प्रोत्साहन मिला । कुछ क्षेत्रों के लोगों को अपनी भाषा एवं संस्कृति पर गर्व है ।इसी आधार पर द्रविड़ मुनेत्र कड़गम ने भारतीय संघ से अलग होने की बात कही थी । जो भारत की राष्ट्रीय एकता में बाधा के रूप में अभिव्यक्त हुई है ।

### 14.3.6 राजनीतिक कारण

भारत में राजनीतिक कारणों से भी प्रादेशिकता की मांग उठती रहती है । क्षेत्रवाद की समस्याओं को पनपाने में राजनीतिकों का भी हाथ रहा है । राजनेता यह समझाते हैं कि यदि कोई भी प्रदेश या क्षेत्र अलग से राज्य बन जाएगा तो उनकी राजनीतिक महत्वाकांक्षाओं की पूर्ति हो जाएगी । अपनी निजी राजनैतिक महत्वाकांक्षाओं की पूर्ति के लिए अनेक प्रादेशिक राज्यों ने क्षेत्रवाद के आधार पर पृथक राज्यों एवं अधिक स्वायत्तता की मांग की थी । देश के प्रादेशिक दलों जैसे-अकाली दल, डी.एम.के. असम गण परिषद, शिव सेना, महाराष्ट्र नव निर्माण सेना आदि ने राजनैतिक कारणों से प्रादेशिक हितों को आश्रय दिया तथा केन्द्रीय सत्ता के विरूद्ध स्वर मुखरित किए है । इन कारणों के साथ ही देश के आर्थिक रूप से पिछड़े हुए क्षेत्रों में नवीन चेतना, सामाजिक विषमता तथा भूमिपुत्र की धारणा ने भी क्षेत्रवाद को बढ़ावा दिया है।

## 14.4 भारतीय समाज एवं राजनीति में क्षेत्रवाद के विभिन्न स्वरूप

भारतीय समाज में क्षेत्रवाद की प्रवृति की पाँच आधारों पर चर्चा करते हुए प्रो. रजनी कोठारी ने अपनी पुस्तकें 'पॉलिटिक्स इन इण्डिया ' में लिखा है कि " (1) देश के सामने एक खतरा राज्यों के संघ से अलग हो जाने का था । (2) कुछ लोगों ने आशंका प्रकट की थी कि प्रान्तीयता की भावना या प्रदेश के लिए अधिक अधिकार या स्वायत्तता की मांग बढती गयी तो इससे यातो देश अनेक छोटे-छोटे स्वतंत्र राज्यों में बंट जाएगा या यहाँ तानाशाही कायम हो जाएगी । (3) पृथकता की भावना उनमें ज्यादा बलवान और खतरनाक है जहाँ ऐसी आर्येन्तर जातियाँ है जो भारतीय संस्कृति की धारा में पूरी तरह नहीं मिल पायी है । जैसे उत्तर -पूर्व की आदिम जातियों का इलाका (4) कुछ क्षेत्रों में अभी भी असंतोष है जैसे बिहार में छोटा नागपुर तथा मध्यप्रदेश में आदिवासी इलाके और गुजरात व उड़ीसा में आदिवासियों का स्वायत्तता का आन्दोलन (5) राज्यों के भीतर विशिष्ट क्षेत्रों के अलगाव के आन्दोलन उठ रहे है । दबे हुए वर्गो और आर्थिक रूप से पिछड़े समूहों के राजनीतिक क्षेत्रों में आने से अधिकार के लिए उनकी आकाशाओं से नयी समस्याएँ उठ खड़ी रही है । '

भारतीय समाज एवं राजनीति में क्षेत्रवाद की प्रवृत्ति निम्न रूपों में दृष्टिपात होती है ।

### 14.4.1 भारतीय संघ से पृथक होने की मांग -

भारतवर्ष में क्षेत्रवाद का सबसे भयानक रूप भारतीय संघ से पृथक होने की मांग है । स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात सर्वप्रथम सन् 1950 में तमिलनाडु के राजनीतिक दल द्रविड़ मुनेत्र कड़गम ने मद्रास राज्यों को भारतीय संघ से विलग करने की मांग की थी । इस मांग के तहत भारतीय संघ से अलग कर एक 'द्रविडिस्तान' राज्य की मांग की गयी । जिसमें मद्रास,

आन्ध्रप्रदेश, केरल तथा मैसूर राज्य शामिल थे । इस तरह की विघटनकारी मागों को रोकने के लिए भारत सरकार ने संविधान के 16वें संशोधन द्वारा अक्टूबर 1963 में संसद को ऐसे कानून के निर्माण का अधिकार दिया गया जिसके द्वारा भारत की सम्प्रभूता और अखण्डता की चुनौती देने वाले व्यक्तियों को दण्डित किया जा सके । इसके साथ ही संसद अथवा राज्य विधान मण्डलों के चुनाव में भाग लेने वाले उम्मीदवारों के लिए यह आवश्यक कर दिया कि संविधान के प्रति निष्ठा की तथा देश की प्रभुसत्ता और अखण्डता की रक्षा की वे शपथ लें ।अकाली दल ने स्वतन्त्रता पूर्व ही मास्टर तारासिंह के नेतृत्व में पृथक सिक्ख राज्य की मांग की थी । सन् 1950 से 1969 के दौरान पुन: पृथक सिखिस्तान की मांग की गयी । सन् 1980 के दशक में डॉ. जगजीत सिंह के नेतृत्व में अकाली दल ने खालिस्तान राज्य की मांग के लिए आन्दोलन चलाया । शुरूआत में यह आन्दोलन, धरनें, प्रदर्शन, अनशन तक सीमित था। किन्तु बाद में इस आन्दोलन ने उग्रवादी रूप धारण कर लिया । जिसे तत्कालीन प्रधानमंत्री श्रीमती इन्दिरा गांधी ने सशस्त्र अभियान "ऑपरेशन ब्लू स्टार" द्वारा समाप्त करवा दिया । अन्य क्षेत्रों जैसे उत्तर पूर्व में "नागा एवं मिजो" द्वारा भी भारतीय संघ से पृथक होने की मांग की गयी । सन् 1962 में संविधान के 13 वें संशोधन द्वारा नागालैण्ड को भारतीय संघ का पूर्ण राज्य तथा 1985 में 'मिजोरम' को पूर्ण राज्य का दर्जा दिया गया । इसी प्रकार समय-समय पर पृथक तेलंगना स्वतंत्र गोरखालेण्ड एवं स्वतंत्र कश्मीर हेतु पृथकवादी हिंसक आन्दोलन चलाये गए है ।

### 14.4.2 पृथक राज्यों की मांग

क्षेत्रवाद का सर्वाधिक महत्वपूर्ण पक्ष पृथक राज्यों की मांग कर रही है । आर्थिक पिछड़ेपन, जाति, भाषा, धर्म को लेकर विभिन्न क्षेत्रों द्वारा पृथक राज्य की मांग समय-समय पर उठायी गयी तथा क्षेत्रीय आन्दोलन की शुरूआत की गयी । महाराष्ट्र, गुजरात, पंजाब, मेघालय, झारखण्ड, उत्तराखण्ड एवं छत्तीसगढ़ राज्यों का गठन पृथक राज्यों के लिए की गयी निरन्तर मांग का ही परिणाम है । स्वतंत्रता के पश्चात 1956 में सर्वप्रथम भाषागत आधार पर ही राज्यों का पुर्नगठन किया गया था । किन्तु इस पुर्नगठन से असन्तुष्ट देश के विविध-वर्गो ने विविध-क्षेत्रों से नवीन राज्यों के गठन की मांग उठायी गयी । 1960 में गुजराती एवं मराठी भाषा के आधार पर बम्बई राज्य का विभाजन कर महाराष्ट्र व गुजरात राज्य की स्थापना की गयी । 1966 में पंजाब राज्य का पुर्नगठन कर पंजाब, हरियाणा एवं चण्डीगढ़ का गठन किया गया था । पंजाब हरियाणा को पूर्ण राज्य का दर्जा दिया गया चण्डीगढ़ को केन्द्रशासित प्रदेश बनाया गया । सन् 1968 में असम राज्य का पुर्नगठन कर मेघालय, 1972 में भूतपूर्व संघीय प्रदेश मणिपुर एवं त्रिपुरा को पूर्ण राज्य का दर्जा दिया गया था । पुराने राज्यों का पुर्नगठन कर नवीन राज्यों के गठन के क्रम में देश की संसद ने अगस्त सन् 2000 में उत्तर प्रदेश पुर्नगठन अधिनियम पारित कर उत्तराखण्ड, अगस्त सन् 2000 में ही बिहार पुर्नगठन अधिनियम पारित कर झारखण्ड तथा मध्यप्रदेश पुर्नगठन अधिनियम पारित कर छत्तीसगढ़ राज्यों का सृजन किया है ।परन्तु उक्त नवगठित राज्यों के बावजूद अनेक नये राज्यों के गठन की मांग उठायी जा रही

है । जैसे उत्तर-प्रदेश में पूर्वाचल हरितप्रदेश एंव बुलन्दखण्ड, महाराष्ट्र में विदर्भ, गुजरात में सौराष्ट्र, आन्ध्रप्रदेश में तेलंगाना, असम में बोडोलैण्ड तथा पश्चिम में गौरखालेण्ड आदि इनमें से अनेक राज्यों की मांग अव्यवहारिक भी है । परन्तु क्षेत्र की संकीर्ण मनोवृति के कारण आदि किसी अल्पसंख्यक समुदाय को विकास के अवसर नहीं मिलते रोजगार एवं अन्य कल्याणकारी योजनाओं का लाभ नहीं मिलता है तो वह पृथक राज्यों की मांग करने लगता है ।

### 14.4.3 क्षेत्रवाद और केन्द्र राज्य तनाव

भारतीय राजनीति में क्षेत्रवाद की अभिव्यक्ति केन्द्र व राज्यों के बीच हुए विवादों में भी हुई है । राज्यों ने अपना स्वतंत्र अस्तित्व बनाये रखने के लिए अनेक बार केन्द्र के निर्देशों की अवहेलना की है । राज्यों द्वारा केन्द्र के निर्देशों का पालन न करना तथा केन्द्र की नीति का विरोध करना केन्द्र के निर्णयों को लागू न करना आदि क्षेत्रवाद की नीति के द्योतक है । सन् 1968 में पश्चिम बंगाल के दार्जिलिंग और नक्सलवादी क्षेत्रों में होने वाले उपद्रवों से चिन्तित होकर केन्द्रीय सरकार ने उपद्रवग्रस्त क्षेत्रों में हथियार रखने पर प्रतिबन्ध लगा दिया जिसे राज्य सरकार ने राज्य में मामले में केन्द्र के हस्तक्षेप की संज्ञा दी । केन्द्र द्वारा राज्यों में केन्द्रीय रिजर्व पुलिस भेजने का राज्यों ने बराबर विरोध किया है । केन्द्र से अधिकतम वित्तीय स्रोतों को प्राप्त करने के लिए राज्यों ने केन्द्र के विरूद्ध संघर्ष का रूख अपनाया । कई बार अन्तर्राष्ट्रीय विवादों के समाधान में राज्यों ने केन्द्र के निर्णय को मानने से इनकार किया । वस्तुत: भारतीय संविधान द्वारा शक्ति विभाजन की दृष्टि से विधायी प्रशासनिक एवं वित्तीय शक्तियों के विभाजन में केन्द्र को अधिक सशक्त बनाया गया है । राष्ट्रीय एकता एवं अखण्डता हेतु सशक्त केन्द्र होना आवश्यक था किन्तु पिछले छ: दशकों में क्षेत्रवाद की संकीर्ण प्रवृति के कारण केन्द्र-राज्य सम्बन्धों में तनाव उत्पन्न हुआ है ।

### 14.4.4 क्षेत्रवाद एवं भाषायी विवाद

क्षेत्रवाद का एक अन्य स्वरूप देश में भाषायी विवादों के रूप में अभिव्यक्त हुआ है । संविधान में हिन्दी को राजभाषा घोषित किया गया था तथा भाषा के आधार पर राज्यों का निर्माण एवं 1956 में भाषायी आधार पर ही राज्यों का पुर्नगठन हुआ था । दक्षिण के राज्यों द्वारा हिन्दी विरोध एवं हिन्दी को राजभाषा के रूप में थोंपे जाने के प्रयास में भाषा के प्रश्न को लेकर उत्तर तथा दक्षिण के राज्यों में हिंसात्मक आन्दोलन हुए और राष्ट्रीय एकता संकट में पड़ गयी । मारिन जोन्स लिखते है कि "दक्षिण भारत में हिन्दी का जोरदार विरोध किया, बंगाल ने उससे कम विरोध किया और देश के अन्य भागों के शिक्षित वर्ग के लोगों ने सीमित रूप से इसका विरोध किया । " असम में भाषा की राजनीति असम आन्दोलन की प्रेरणा स्त्रोत रही हैं । वही बांग्ला, असमी एवं हिन्दी भाषा को लेकर परस्पर विवाद हुआ । पंजाबी, मराठी, गुजराती आदि भाषाओं के आधार पर पृथक राज्यों के गठन की मांग की गयी । इस प्रकार भाषा को लेकर राजनीतिक दलो में प्रान्तवाद /क्षेत्रवाद की भावना को प्रेरित किया । भाषा के राजनीतिक हथियार के रूप में प्रयोग ने विविध वर्गो अनावश्यक तनाव भी उत्पन्न किया है ।

### 14.4.5 क्षेत्रवाद एवं उत्तर-दक्षिण प्रकृति

भारत में भौगोलिक विविधता व्याप्त है । जहाँ इसी कारण उत्तर और दक्षिण के संदर्भ में सोचने की प्रवृति पायी जाती है । दक्षिण के लोग यह मानते है कि उत्तरी भारत के लोगों ने सदैव हर मामले में उपेक्षा की है । दक्षिण के चार राज्यों-तमिलनाडू, आन्ध्रप्रदेश, केरल और कर्नाटक, जहाँ द्रविड़ भाषा बोली जाती है- का विचार है कि राजनैतिक आर्थिक और सांस्कृतिक दृष्टि से उत्तरी भारत की अपेक्षा दक्षिणी भारत को वे लाभ नहीं मिलें जो मिलने चाहिए थे । केन्द्रीय मंत्री मण्डल, योजना आयोग तथा केन्द्रीय सचिवालय में दक्षिण की अपेक्षा उत्तर के लोग ही आये हुए है । आर्थिक संसाधनों के बँटवारों में भी दक्षिण राज्यों का मानना है कि पक्षपात हुआ है । इस्पात के बड़े कारखाने, उद्योग उत्तर भारत में ही स्थित है । दक्षिण के राज्यों ने केन्द्रीय सरकार की भाषा नीति का डटकर विरोध किया है । दक्षिणी राज्य यह मानते है कि हिन्दी उत्तरी भारत की भाषा है और उन पर हिन्दी भाषा थोपी जा रही है । वे मानते है कि अन्य प्रादेशिक भाषाओं की भाँती हिन्दी भी एक प्रादेशिक भाषा है । दक्षिण के राज्य यह चाहते है । कि प्रशासन की भाषा के रूप में हिन्दी के बजाय अंग्रेजी को चलाया जाना चाहिए । हिन्दी को वे उत्तर भारत की साम्रज्यवादी मनोवृत्ति का परिणाम मानते है ।

### 14.4.6 क्षेत्रवाद और स्वायत्तता की मांग

भारतीय संविधान द्वारा ऐसे संधवाद की स्थापना की गई है जिसमें स्वाभाविक रूप से केन्द्र अधिक शक्तिशाली है । पिछले कुछ वर्षा से यह मांग की जाती रही है कि भारतीय संविधान के संघवाद से सम्बन्धित प्रावधानों का पुनर्निमाण किया जाना चाहिए तथा राज्यों की केन्द्र पर अत्यधिक निर्भरता को कम कर दिया जाना चाहिए । यह मांग की गयी हैं कि राज्यों को अत्यधिक स्वतंत्रता दी जानी चाहिए । यह मांग की गयी है कि राज्यों को अत्यधिक स्वतंत्रता दी जानी चाहिए । स्वतंत्रता की मांग के साथ-साथ, कभी-कभी पृथकतावादी स्वर भी जोर पकड़ने लगते है । स्वायत्तता की यह मांग उन दिनों बड़ी प्रबल हो जाती है । जबकी केन्द्र एवं राज्यों मे पृथक-पृथक राजनीतिक दलों की सरकारें होती है । पंजाब मे मास्टर तारासिंह के नेतृत्व में अकाली दल द्वारा सिक्खों के स्वतंत्र राज्यों की मांग उठायी गयी थी । पश्चिमी बंगाल की मार्क्सवादी सरकार नें बार-बार राज्यों की स्वायत्तता की मांग की है । उड़ीसा के नेता बीजू पटनायक ने भी अधिक स्वायत्तता की मांग की है । जम्मू कश्मीर में नेशनल कांफेंस में नेशनल दलों ने संघवाद के पुनरीक्षण तथा स्वायत्तता की मांग की है । जम्मू-कश्मीर विधानसभा में पाँच दिन की बहस के बाद राज्य स्वायत्तता समिति के प्रतिवेदन को 26 जून 2000 को ध्वनिमत से स्वीकृत किया । इस प्रतिवेदन में राज्य की 1953 से पूर्व की स्थिति बहाल करने की संस्तुति की गई है । यह सब अधिक स्वायत्तता की मांग संकीर्ण क्षेत्र वाद की भावना की अभिव्यक्ति है ।

### 14.4.7 क्षेत्रवाद एवं आर्थिक तनाव

क्षेत्रवाद की अभिव्यक्ति क्षेत्रीय आर्थिक तनावों के रूप में भी हुई है ।स्वतंत्रता के पश्चात् राजनीतिक सत्ता के दुरूपयोग के कारण देश के समग्र विकास के ध्येय को अर्जित नही

किया जा सका है । उद्योगों की स्थापना शिक्षा, रोजगार एवं संसाधनों के आवंटन की दृष्टि से असन्तुलन के कारण देश के विभिन्न भागों में असन्तोष उत्पन्न हुआ । आन्ध्र प्रदेश के तेलंगाना में आन्दोलन, देश के विभिन्न भागों में नक्सली हिंसा, उत्तर-पूर्व के राज्यों में पृथकतावादी आन्दोलन आदि ने मूल में आर्थिक असन्तुलन के प्रश्न निहित है । अत: आर्थिक विकास की अवहेलना क्षेत्रवाद की दृष्टि से महत्वपूर्ण कारक रहा है । आर्थिक रूप से पिछड़े क्षेत्रों में शिक्षा, रोजगार एवं अन्य संसाधनों के लाभ पर आवंटन के लिए वहाँ की जनता ने क्षेत्रवाद के आंदोलन का संचालन किया है ।

## 14.5 भूमिपुत्र की अवधारणा

'भूमिपुत्र' की धारणा का आशय है कि किसी क्षेत्र या राज्य के निवासियों द्वारा उस राज्य में बसने और रोजगार प्राप्त करने आदि के सम्बन्ध में विशेष संरक्षण की मांग की जाए। इस मांग के साथ यह तथ्य जुड़ा हुआ है कि जब तक उस राज्य या क्षेत्र के सभी मूल निवासियों को रोजगार आदि लाभ प्राप्त न हो जाए तब तक राज्य या क्षेत्र में बाहर व्यक्तियों को रोजगार की सुविधा नहीं दी जानी चाहिए । भूमिपुत्र की धारणा के रूप में क्षेत्रवाद की अभिव्यक्ति यद्यपि छठे दशक में प्रारम्म हो गयी थी, जब शिवसेना ने इसे महाराष्ट्र में अपनाया था । लेकिन अभी -हाल ही के वर्षा में इस प्रकृति को बहुत अधिक प्रबल होते देखा गया है ।

सन् 1979 के मध्य से असम राज्य में बाहरी व्यक्तियों के विरूद्ध व्यापक आन्दोलन किया जा रहा है, उसके कुछ सीमा तक भूमि-पुत्र की धारणा पर आधारित कहा जा सकता है । अन्य राज्यों में भी सरकारी और गैर-सरकारी स्तर पर इस प्रकार की प्रवृत्तियाँ देखी गयी है । उदाहरण के लिए 10 फरवरी, 1920 को कर्नाटक के तत्कालीन मुख्यमंत्री गुण्डुराक ने कहा कि "कर्नाटक में केवल कर्नाटक वासी व्यक्तियों को ही रोजगार प्रदान किया जाएगा ।" 1980 में उड़ीसा में मारवाड़ी वर्ग के विरूद्ध आन्दोलन की जो स्थिति देखी गयी है । वह भी इसी प्रवृत्ति का एक रूप है । इसी प्रकार से हाल ही में महाराष्ट्र राज्य में इसी प्रकार की प्रकृति देखी जा सकती है ।

क्षेत्रवाद के उन्माद का विकृत रूप नवम्बर 2003 में रेल नौकरियों में आरक्षण को लेकर असम एवं बिहार के छात्रों के मध्य हिंसा के रूप में परिलक्षित हुआ । उल्लेखनीय हैं कि बिहार एवं उत्तर-प्रदेश के अल्पविकसित एवं अविकसित क्षेत्र के लोगों की देश के विभिन्न भागों में रोजगार की पुरानी प्रकृति रही है । इन राज्यों के लोगों का मुम्बई, असम, झारखण्ड एवं अन्य राज्यों में विरोध किया जाता है । भूमि-पुत्र की प्रवृत्ति से प्रभावित होकर ही शिवसेना जैसे संगठनों पर 'पर-प्रावतीय भगाओं, महाराष्ट्र बचाओं, असम में ऑल असम स्टूडेंट यूनियन (आसू) के समर्थक 'बहिराग अखमोत साकिरी कोरिवाई नाई' (बाहर के लोगो को असम में नौकरी नहीं करने देंगे) और झारखण्ड में 'आवुआ देश, आवुआ राज' (हमारा देश, हमारा राज) नारे गढ़े गये हैं । हाल ही में महाराष्ट्र नर्वनिर्माण सेना द्वारा रेलवे परीक्षा देने गए उत्तर भारतीयों पर हिंसात्मक हमले किये गये है । सरकारी नौकरियों एवं रोजगार से जुड़े अन्य मुद्दों पर स्थानीय लोगों को

अत्यधिक मौका तथा बाहरी लोगों के विरोध की प्रवृत्ति पिछले एक दशक में देश के विविध राज्यों नागालेण्ड, मुम्बई, पंजाब, दिल्ली एवं मिजोरम तथा झारखण्ड में देखी जा सकती है ।

यह बात तो उचित प्रतीत होती है कि सरकारी और गैर-सरकारी उद्योग में अकुशल श्रमिक का कार्य स्थानीय व्यक्तियों को ही दिया जाए। लेकिन भूमि-पुत्र की धारणा को व्यापक स्तर पर और प्रबलता के साथ अपनाने के परिणाम राष्ट्रीय एकता के लिए घातक हो सकते है । अब तक न्यायालय के निर्देश के अनुसार स्थानीय आधार पर केन्द्रीय सेवाओं में भर्ती नहीं की जा सकती है । भूमि-पुत्र की धारणा विभिन्न क्षेत्रों के आर्थिक विकास में भी निश्चित रूप से बाधक होगी । भूतपूर्व प्रधानमंत्री श्रीमती इंदिरा गांधी द्वारा ' भूमि-पुत्र की धारणा को अस्वीकार करते हुए इसे राष्ट्रीय एकता के लिए घातक और विभिन्न क्षेत्रों के आर्थिक विकास में बाधक बतलाया था । वस्तुतः राष्ट्रीय एकता के हित में भूमि-पुत्र की धारणा पर अंकुश लगाना चाहिए ।

## 14.6 क्षेत्रवाद के दुष्परिणाम

क्षेत्रवाद द्वारा जन-जीवन में जड़ पकड़ने के कारण आज हमारा देश अनेक क्षेत्रों में बंट गया है और क्षेत्र के लोग दुसरों पर अपनी श्रेष्ठता को प्रमाणित करने का बीड़ा उठा चुके है । क्षेत्रवाद के दुष्परिणाम निम्न प्रकार

### 14.6.1 राष्ट्रीय एकता को चुनौती

संकीर्ण क्षेत्रीयता राष्ट्रीय एकता के लिए चुनौती बन जाती है । क्षेत्रवाद के फलस्वरूप विभिन्न क्षेत्रों के बीच जो तनाव और संघर्ष की स्थिति उत्पन्न हो जाती है । वह राष्ट्रीय एकता की समस्त धारणाओं और भावनाओं पर तुषारापात करती है । क्योंकि क्षेत्रीयता के फलस्वरूप विभिन्न क्षेत्रों के लोगों में कभी क्षेत्रीय स्वार्थो को लकर, कभी राजनीतिक स्वशासन या पृथक राज्य के प्रश्न को लेकर जो कभी प्रादेशिक भाषा के प्रश्न को लेकर जो झगड़े या मनमुटाव खड़े हो जाते है वे राष्ट्रीय एकता के लिए घातक सिद्ध होते हैं ।

### 14.6.2 राज्य तथा केन्द्रीय सरकार के बीच सम्बन्धों का विकृत होना

भारतीय में क्षेत्रवाद के कारण केन्द्रीय सरकार तथा राज्य सरकार के बीच का सम्बन्ध कभी-कभी अत्यन्त कटु रूप धारण कर लेता है । प्रत्येक क्षेत्र के हित समूह, क्षेत्रीय नेतागण, बड़े-बड़े उद्योगपति या राजनीतिज्ञ अपने-अपने क्षेत्र के स्वार्थी को प्राथमिकता देते है । और केन्द्रीय सरकार का ध्यान अपनी ओर आकर्षित करने का प्रयत्न करते है । केन्द्रीय सरकार जिसकी तरफ भी थोड़ा-सा झुक गयी वहीं विवाद का विषय बन जाता है और केन्द्र तथा राज्य सरकारों का पारस्परिक सम्बन्ध सौहार्दपूर्ण नहीं रह पाता है ।

### 14.6.3 विभिन्न क्षेत्रों के बीच संघर्ष और तनाव

संकीर्ण क्षेत्रवाद का जो दुष्परिणाम हमें भारत में देखने को मिलता है, वह यह है कि इसके कारण विभिन्न क्षेत्रों के बीच आर्थिक, राजनीतिक यहाँ तक कि मनोवैज्ञानिक संघर्ष और तनाव दिन-प्रतिदिन बढ़ता जा रहा है । इसका कारण यह है कि प्रत्येक क्षेत्र अपने स्वार्थो या

हितों को सर्वोच्च स्थान दे बैठता है और उसे यह चिन्ता नहीं होती कि उससे दूसरे क्षेत्रों को कितना नुकसान होगा । नदी जल के बंटवारे के लिए अन्तर्राज्यीय विवादों, क्षेत्रीय भाषायी तनावों, आर्थिक टकराव, केन्द्र पर पक्षपाती व्यवहार के आरोप या अपने लिए पृथक राज्य की मांग, जैसे क्षेत्रवाद पर आधारित मुद्दों ने संघीय व्यवस्था के मुख्य सूत्र सद्भाव एवं सौहार्द को नष्ट किया है ।

### 14.6.4 स्वार्थी नेतृत्व व संगठन का विकास

क्षेत्रवाद का एक और दुष्परिणाम यह होता है कि इसके फलस्वरूप अलग-अलग क्षेत्रों कुछ इस प्रकार के नेतृत्व व संगठनों का विकास हो जाता है जो जनता की भावनाओं को उभार कर अपने संकीर्ण स्वार्थी की पूर्ति करना चाहते है । इस प्रकार के नेताओं व संगठनों को न तो क्षेत्रीय हितों और न ही राष्ट्रीय हितों का तनिक भी ख्याल रहता है, उनका समस्त ध्यान तो अपनी लोकप्रियता को बढ़ाकर अपने स्वार्थो को सिद्ध करने पर केन्द्रित हो जाता है । ये नेतागण कभी तो भाषा के प्रश्न को लेकर हंगामा करते है और कभी केन्द्रीय सरकार के पक्षपातपूर्ण व्यवहार के विरूद्ध नारा लगाने के लिए सामने आ खड़े होते है, चाहे इनमें से कोई भी समस्या वास्तविक हो या काल्पनिक हो।

### 14.6.5 भाषा की समस्या का अधिक जटिल होना

क्षेत्रवाद का एक और बुरा प्रभाव यह होता है कि क्षेत्रीय वफादारी भाषा की समस्या को सुलझाने में सहायक होने के स्थान पर उसे और भी जटिल बनाने का कारण बनती है। क्षेत्रीय वफादारी का सीधा सम्बन्ध क्षेत्रीय या प्रादेषिक भाषा के प्रति विशेष लगाव से होता है। जिसके कारण प्रादेशिक भाषा को आवश्यकता से अधिक महत्व प्रदान करने की गलती उस क्षेत्र के लोग कर बैठते है। परिणाम यह होता है कि अन्य किसी भाषा के प्रति सहिष्णुता की भावना बिल्कुल नहीं रह पाती और विभिन्न भाषा-भाषी क्षेत्रों के बीच भाषा के प्रश्न को लेकर कटुता बढ़ती चली जाती है। क्षेत्रवाद का यह परिणाम जन कल्याण और राष्ट्रीय प्रगति के दृष्टिकोण से अत्यन्त घातक सिद्ध होता है।

### 14.6.6 राष्ट्रीय प्रगति में अवरोध

क्षेत्रवाद के फलस्वरूप नित नवीन तनावों, विद्रोही गतिविधियों से संघर्षो को बढ़ावा मिलता है। भारत जैसे देश में जहाँ अनेक वर्गो, अनेक भाषा-भाषी एवं अनेक धर्मो को मानने वाले लोगों का निवास है, वहाँ क्षेत्रवाद के आधार पर उपजे आन्दोलनों से आपसी भाईचारा ही विखण्डित नहीं होगा, बल्कि क्षेत्रवाद के विवादों से देश नागरिकों की सम्पूर्ण क्षमता अनावश्यक संघर्षो में नही व्यय हो जाती है। क्षेत्रवाद की मांगो के लिए किए जाने वाले संघर्षो एवं आन्दोलनों से राष्ट्रीय प्रगति में अवरोध उत्पन्न होता है।

## 14.7 क्षेत्रवाद को रोकने के उपाय

राष्ट्रीय एकता एवं अखण्डता के लिए क्षेत्र एक बाधा है। इस पर रोक लगानी चाहिए। इसे रोकने के लिए निम्न उपाय अपनाये जा सकते है-

**(1)** केन्द्रीय सरकार की नीति कुछ इस प्रकार की होनी चाहिए कि सभी उप-सांस्कृतिक क्षेत्रों का सन्तुलित आर्थिक विकास सम्भव हो जिससे कि विभिन्न क्षेत्रों के बीच आर्थिक तनाव कम से कम है।

**(2)** भाषा सम्बन्धी विवादों का शीघ्र समाधान किया जाए। इस सम्बन्ध में सबसे उचित हल यह है कि हिन्दी, अंग्रेजी भाषाओं के साथ-साथ क्षेत्रीय भाषाओं को भी समान मान्यता दी जाए

**(3)** हिन्दी भाषा को किसी भी क्षेत्रीय समूह पर जबरदस्ती न थोपा जाए। अपितु इस भाषा का प्रचार-प्रसार इस ढंग से किया जाए कि विभिन्न क्षेत्रीय समूह स्वत: ही इसे सम्पर्क भाषा के रूप में स्वीकार कर लें।

**(4)** संकीर्ण क्षेत्रीय हितों के स्थान पर राष्ट्रीय हितों को वरीयता दी जाए। राष्ट्र विरोधी गतिविधियों कठोरता से उन्मूलन किया जाए। प्रान्तीयता या क्षेत्र विशेषज्ञा के आधार पर की जाने वाली ऐसी मांगो को, जिससे देश के विखण्डन एवं विरोध की आशंका हो-का दृढ़ता से विरोध किया जाए।

**(5)** सुदृढ़ संघीय व्यवस्था के भावारूप केन्द्र-राज्य एवं अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों को स्वस्थ बनाना अनिवार्य है। सरकारिया आयोग द्वारा 1987 में केन्द्र-राज्य सम्बन्धों की सुदृढ़ता हेतु सुझाई गई अनुशंसाओं को लागू करते हुए संघवाद का सहयोगी ढाँचा स्थापित किया जा सकता है।

**(6)** प्रचार के विभिन्न साधनों के माध्यम से विभिन्न क्षेत्रों के सांस्कृतिक लक्षणों के विषयों में लोगों के सामान्य ज्ञान को बढ़ाया जा जाए जिससे कि एक क्षेत्र के लोग दूसरे क्षेत्र के प्रति अधिक सहनशीलता की भावना को पनपा सके।

**(7)** केन्द्रीय मंत्रीमण्डल, योजना आयोग एवं अन्य सरकारी संगठनों में सभी क्षेत्रों के लोगों एवं नेताओं का सन्तुलित प्रतिनिधित्व हों जिससे कि क्षेत्रीय पक्षतापूर्ण नीतियों का खण्डन हो सके और राष्ट्र का विकास हो सके।

**(8)** शिक्षा एवं जागरूकता से क्षेत्रवाद के आधार पर फैलायी जा रही भ्रान्तियों को दूर किया जाए। राष्ट्र के नागरिकों को सांस्कृतिक आदान-प्रदान, अन्तर्राज्यीय सौहार्दपूर्ण साहित्यिक, सांस्कृतिक, खेल एवं अन्य आयोजनों से सौहार्दपूर्ण सम्बन्धों के विकास हेतु प्रेरित किया जाए। विविध वर्गों एवं क्षेत्रों को पारस्परिक सांस्कृतिक लक्षणों से परिचित कर अनेकता में एकता की गौरवपूर्ण भावना के विकास का प्रयास कर राष्ट्रीय एकता को सुदृढ़ किया जाए।

## 14.8 सारांश

स्वतंत्रता के बाद भारतीय जन मानस में नवीन आकांक्षाएँ उठने लगी, राज्य के नीति निर्देशक तत्त्व, पंचवर्षीय योजनाएँ आदि कार्यक्रम आदर्श थे, लेकिन इनके बावजूद व्यवहार में गरीबी और आर्थिक विषमता ही बढ़ती गयी। इस स्थिति का स्वाभाविक परिणाम यह हुआ कि राष्ट्रीय एकता और हितों की अपेक्षा क्षेत्रवाद को बढ़ावा मिलने लगा। असन्तोष के इस वातावरण में विभिन्न वर्गों द्वारा शक्ति के लिए संघर्ष की शुरूआत हुई। ऐसे नवीन राजनैतिक दलों का उदय होने लगा, जो कि क्षेत्रीय हितों को लेकर शक्ति अर्जित करने लगे। क्षेत्रवाद का भारतीय समाज की शैली पर काफी प्रभाव पड़ा तथा आन्दोलनात्मक राजनीति को बढ़ावा मिला। क्षेत्रीय

आन्दोलनों को चलाने के लिए आर्थिक विषमता, धर्म, जाति और भाषा का सहारा लिया गया। यथार्थ के क्षेत्रवाद की समस्या द्वारा भारत की राष्ट्रीय एकता मार्ग में कंटक बन गयी है। क्षेत्रवाद भारतीय राजनीति का महत्वपूर्ण निर्धारक तत्व तथा राष्ट्रीय एकीकरण की प्रमुख चुनौती रहा है। संकीर्ण क्षेत्रवाद का शीघ्र उन्मूलन अखण्ड विकसित एवं प्रगति की ओर अग्रसर भारत के लिए आवश्यक है।

## 14.9 शब्दावली

| | | | |
|---|---|---|---|
| 1 | क्षेत्रवाद | – | एक ऐसी प्रवृति जो राष्ट्रीय हित के स्थान पर संकीर्ण क्षेत्रीय हितों को प्राथमिकता देती है। |
| 2 | भूमिपुत्र | – | स्थानीय निवासी से सम्बन्धित अवधारणा। |
| 3 | बहु लवाद | – | अनेक प्रकार के तथ्यों/प्रवृतियों का सम्मिलित होना। |
| 4 | स्वायत्तता | – | शासकीय एवं प्रशासनिक क्षेत्रों में अधिक निर्णय लेने की क्षमता प्राप्त करना। |
| 5 | भाषावाद | – | एक ऐसी प्रवृति जिसमें अपनी भाषा को ही प्रमुखता दी जाती है। अन्य भाषाओं को निरन्तरता माना जाता है। |
| 6 | उप-सांस्कृतिक क्षेत्र | – | सम्पूर्ण क्षेत्र या प्रदेश में ही अपनी एक विशेष सांस्कृतिक ज़पहचान रखने वाला क्षेत्र |

## 14.10 अभ्यासार्थ प्रश्न

1. क्षेत्रवाद को परिभाषित कीजिए।
2. भारतीय समाज में क्षेत्रवाद के कारणों की विवेचना कीजिए।
3. भारतीय समाज एवं राजनीति में क्षेत्रवाद के विभिन्न स्वरूपों की विवेचना कीजिए।
4. क्षेत्रवाद ने भारतीय समाज को किस प्रकार प्रभावित किया है। विवेचना कीजिए।
5. भूमिपुत्र की अवधारणा को स्पष्ट कीजिए।

## 14.11 संदर्भ ग्रंथ


1. मंगलनी, रूपा, "भारतीय शासन एवं राजनीति" राजस्थान हिन्दी ग्रंथ अकादमी, जयपुर, 2005
2. मलहोत्रा, गिरिश, 'इण्डियन गर्वनमेंट एण्ड पालिटिक्स' मुरली लाल एण्ड संस, नई दिल्ली 2006
3. शाह, घनश्याम, सोशल मूवमेण्ट एण्ड स्टेट, सेज पब्लिकेशन, नई दिल्ली 2006
4. चन्द्र. विपिन, "आजादी के बाद का भारत" हिन्दी माध्यम कार्यान्वयन निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, नई दिल्ली, 1989

# इकाई-15

# साम्प्रदायिकतावाद

**इकाई की रूपरेखा**

15.1 उद्देश्य
15.2 प्रस्तावना
15.3 साम्प्रदायिकता का अर्थ
15.4 साम्प्रदायिकता की अवधारणा व परिभाषा
15.5 साम्प्रदायिकता के आयाम
15.6 साम्प्रदायिक तनावों व उपद्रवों के प्रमुख कारण
15.7 साम्प्रदायिक हिंसा की अवधारणा व हिंसा के उत्तरदायी कारक व तत्व
15.8 साम्प्रदायिकता के कारण राष्ट्रीय एकता में बाधा
15.9 साम्प्रदायिकता की समस्या के निवारण के सुझाव हेतु साम्प्रदायिक संघर्षों पर नियंत्रण के उपाय
15.10 सारांश
15.11 शब्दावली
15.12 अभ्यासार्थ प्रश्न
15.13 सन्दर्भ ग्रन्थ

## 15.1 उद्देश्य

भारतीय समाज को ध्यान में रखते हुए साम्प्रदायिकता विभिन्न धर्मों के अनुयायियों के मध्य पाई जाने वाली संघर्ष की उस स्थिति को कह सकते हैं जिसके कारण उनमें एक दूसरे के प्रति घृणा, ईर्ष्या तथा एक ऐसी शंका का जन्म होता है जो हिंसा की घटना में परिवर्तित हो जाती है। सरल शब्दों में साम्प्रदायिकता एक प्रकार की धार्मिक अन्धभक्ति है। यह वह भावना है जो एक धर्म को दूसरे धर्म से अलग करती है। प्रश्न यह उठता है कि क्या एक हिन्दू जब अभिमान से कहता है कि वह हिन्दू है या मुसलमान कहता है कि उसे मुसलमान होने का गर्व है, ईसाई, बोद्ध, पारसी अपने व्यक्तिगत व निजी जीवन को अपनी इच्छा से व्यतीत करते हैं व अपने धर्म, मतों के अनुसार जीते हैं तो क्या यह साम्प्रदायिकता है। क्या साम्प्रदायिकता की समस्या को बढ़ावा मिल रहा है? क्या साम्प्रदायिकता के कारण राष्ट्रीय एकता के स्थान पर हिंसा की प्रवृत्तियाँ उभर कर सामने आयी हैं? इस प्रकार का उद्देश्य इन प्रश्नों के उत्तर खोजना है, इस इकाई के अध्ययन के बाद आपको ज्ञात हो जायेगा।

- साम्प्रदायिकता का अर्थ, अवधारणा व परिभाषा
- साम्प्रदायिक तनावों व उपद्रवों के मुख्य कारण
- साम्प्रदायिक दंगों व हिंसा के उत्तरदायी कारक
- साम्प्रदायिकता के निवारण के लिए किए गये प्रयास व सुझाव

- साम्प्रदायिक संघर्षों पर नियंत्रण

## 15.2 प्रस्तावना

भारतवर्ष ऋषियों मुनियों का देश है जहाँ इहलोक व परलोक को अच्छा बनाने के लिए अच्छे कार्य, त्याग, तपस्या जैसे मूल्य अच्छे माने जाते हैं तथा मोक्ष को जीवन का लक्ष्य माना जाता है। फिर भी हमारी सामाजिक व्यवस्था में मानव मानव के प्रति भेदभाव का स्वरूप अधिक गहराया हुआ दिखाई देता है। जवाहर लाल नेहरू ने कहा था "मैं साम्प्रदायिकता को अज्ञानता का सबसे बड़ा शत्रु मानता हूँ। हम सभी को साम्प्रदायिकता को समाप्त करने के लिए अपनी पूरी शक्ति लगा देनी चाहिए, क्योंकि यह भारतीयता और हमारे राष्ट्र के विरूद्ध एक भारी चुनौतीहै।"

साम्प्रदायिकता राष्ट्रीय एकता के लिए बहुत बड़ी बाधा है यह समस्या मुख्यत: हिन्दु व मुसलमानों के बीच द्वेष, तनाव तथा संघर्ष को छिपे या प्रकट मनोदशाओं से उत्पन्न होती है। फलत: समय-समय पर हिन्दु व मुस्लिम दंगे होते रहते हैं इन दंगों का परिणाम यह होता है कि हिन्दु तथा मुसलमान एक दूसरे के साथ सहयोग सद्भाव एवं शांतिपूर्वक व्यवहार बनाये रखने में अपने आप को असमर्थ पाते हैं। वे एक दूसरे पर हथियार उठा लेते हैं। हिन्दुस्तान व पाकिस्तान बनने से हिन्दुओं तथा मुसलमानों में एक दूसरे के बीच जो द्वेष व घृणा तथा शंका की खाई उत्पन्न हो गयी है उसके कारण आज भी समय-समय पर हिन्दु-मुस्लिम झगड़े, दंगे तथा अन्य अशोभनीय घटनाएं देश के विभिन्न भागों में हुआ करती है। इन घटनाओं से साम्प्रदायिकता की समस्या को बढ़ावा मिला है और साम्प्रदायिक एकता के स्थान पर साम्प्रदायिक हिंसा की प्रवृत्तियाँ उभर कर सामने आयी हैं। राष्ट्र की शांति व एकता की हानि को रोकने के लिए साम्प्रदायिकता व इससे उत्पन्न साम्प्रदायिक दंगों और हिंसा पर विचार करना आवश्यक है।

## 15.3 साम्प्रदायिकता का अर्थ

व्यापक शब्दों में साम्प्रदायिकता का अर्थ अपने धर्म तथा प्रजाति के लोगों के असीम वफादारी का होना है। भारतीय समाज को ध्यान में रखते हुए साम्प्रदायिकता की परिभाषा विभिन्न धर्मों प्रमुखत: हिन्दु व मुसलमान धर्मों के अनुयायियों के मध्य पायी जाने वाली संघर्ष की स्थिति के आधार पर की जा सकती है। जिसके कारण उनमें एक दूसरे के प्रति, घृणा, ईर्ष्या तथा एक ऐसी शंका का जन्म होता है जो हिंसा की घटनाओं में परिवर्तित हो जाती है। सामान्यत: साम्प्रदायिकता दो या दो से अधिक धर्म के अनुयायियों के बीच होने वाली उस संघर्ष की स्थिति का नाम है जिसके कारण वे एक दूसरे से लड़ते झगड़ते रहते हैं एक साथ मिलकर रह पाने से अपने को असमर्थ पाते हैं तथा कभी - कभी इस प्रकार के दंगे-फसादों में एक दूसरे से भिड़ जाते हैं, जिसमें बहुत से लोगों को अपने जान-माल से हाथ धोना पड़ता है।

भारतीय समाज में साम्प्रदायिकता की समस्या ब्रितानी राज्य द्वारा प्रदत्त है। इसके पक्ष में अंग्रेजो की प्रसिद्ध नीति फूट डालों और राज्य करो। सन् 1885 में जब राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना हुई तब अंग्रेज इस मत के थे कि भारत की प्रमुख दो जातियाँ, हिन्दुओं और

मुसलमानों के बीच दरार उत्पन्न करना इसलिए अनिवार्य है ताकि वह लम्बे समय तक भारत में अपने औपनिवेशिक शासन को बनाए रख सकें। लार्ड कर्जन द्वारा उस समय किया गया बंगाल विभाजन और उसके बाद लार्ड मिंटो द्वारा जब मुसलमानों की पृथक निर्वाचक मण्डलों की प्रणाली को स्वीकार कर लिया गया तो ये दोनों कार्य साम्प्रदायिकता के जन्म की पृष्ठभूमि बने। देश के विभाजन के समय खून खराबों में पाकिस्तान में रहने वाले हिन्दुओं तथा भारत में रहने वाले मुसलमानों के साथ जिस अमानवीयता एवं क्रूरता का व्यवहार किया गया और जिसमें हजारों की संख्या में स्त्री-पुरूष, बच्चे एवं बूढे मारे गए, उनके अंग काट लिए गए, स्त्रियों का शील हरण किया गया तथा मान, माल की लूट तथा बर्बादी हुई उसका घाव इतना गहरा हो गया है कि पाकिस्तान से आकर भारत में बसने वाले हिन्दु तथा भारत से जाकर पाकिस्तान में बसने वाले मुसलमान आज भी भूल नहीं पाए हैं। दोनों धर्मों के अनुयायियों में इतनी बड़ी घृणा एवं द्वेष की खाई बन गई जिसको साधारण नागरिक आज भी पाट नहीं पाया है। इसका दीर्घकालीन प्रभाव यह पड़ा है कि भारत में रहने वाले कुछ हिन्दू तथा मुसलमान एक दूसरे को अपना शत्रु मानते हैं, वैर का व्यवहार करते हैं और भाईचारे के साथ रहने के लायक नहीं समझते हैं। इस मनोवृति के फलस्वरूप स्वतंत्रता प्राप्ति के 62 वर्षों में हजारों की संख्या में छोटे तथा बड़े स्तर पर देश में नगरों तथा गांवों में साम्प्रदायिक हिंसा की घटनाऐं तथा दंगे - फसाद होते आये हैं।

कुछ साम्प्रदायिक दंगे तो इतने गंभीर थे जिनमें लूटमार, आगजनी तथा क्रूर एवं अमानवीय हिंसा की ज्वाला इतनी जोर से जली कि बड़ी संख्या में लोग आहत हुए उनकी जाने गयी और उनकी सम्पत्ति जलाकर खाक कर दी गयी। अलीगढ़ राँची, मेरठ, कलकत्ता, औरंगाबाद, अहमदाबाद, जलगाँव, जबलपुर, नागपुर, इलाहबाद जयपुर कोटा तथा भिवण्डी में हुए साम्प्रदायिक दंगे जिस बड़े स्तर के थे उन्हें सरलता से हिन्दु मुसलमानों का एक छोटा-मोटा युद्ध माना जा सकता है। इन दंगों से केवल एक ही निष्कर्ष निकलता है कि यदि हमें देश की एकता तथा अखण्डता को बनाए रखना है तो सबसे पहली आवश्यकता होगी साम्प्रदायिकता की जड़ में छिपे कारणों को खोजना तथा उनको दूर करने का हर सम्भव प्रयत्न करना।

## 15.4 साम्प्रदायिकता की अवधारणा व परिभाषा

एक समुदाय के सदस्य जो दूसरे समुदाय के सदस्यों और धर्म के विरूद्ध प्रतिरोध करते हैं उन्हें 'साम्प्रदायिक' कहा जा सकता है यह विरोधी किसी विशेष समुदाय पर झूठे आरोप लगाना क्षति पहुँचाना और जानबूझकर अपमानित करने का रूप लेता है। इससे भी अधिक लूटना निर्बल व असहाय लोगों के घरों में आग लगा देना आदमी-औरतों को जान से मार देने तक का वीभत्स रूप भी धारण कर लेता है।

साम्प्रदायिक व्यक्ति वे हैं जो राजनीति को धर्म के माध्यम से चलाते है नेताओं में वे धार्मिक नेता 'साम्प्रदायिक' हैं जो अपने धार्मिक समुदायों को व्यापारिक उद्यम और संस्थाऐं मानते हैं। साम्प्रदायिक व्यक्ति एक धार्मिक व्यक्ति नहीं होता है बल्कि वह ऐसा व्यक्ति होता है जो राजनीति खेलता है, राजनीति को धर्म से जोड़कर। ये सत्ताधारी राजनीतिज्ञ अच्छे हिन्दु या अच्छे मुसलमान या अच्छे सिक्ख या अच्छे ईसाई या पारसी या अच्छे बौद्ध नहीं होते। उन्हें

राजनीतिक कचरा कहा जा सकता है उनके लिए भगवान और धर्म उपकरण मात्र हैं जिनका उपयोग वे समाज के शाही पराश्रयी (King Parasites) के रूप में विलासमय जीवन बिताने और अपने राजनैतिक लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए करते हैं।

**परिभाषा -**

रेण्डम हाऊस डिक्शनरी के अनुसार :- "साम्प्रदायिकता अपने ही जातीय समूह के प्रति न. कि समग्र समाज के प्रति तीव्र निष्ठा की भावना है।"

**स्मिथ के अनुसार :-** "एक साम्प्रदायिक व्यक्ति अथवा समूह वह है जो अपने धार्मिक या भाषा-भाषी समूह को एक ऐसी पृथक राजनीतिक तथा सामाजिक इकाई के रूप में देखता है जिसके हित अन्य समूहों से पृथक होते हैं और जो अक्सर उनके विरोधी भी हो सकते हैं।"

**श्रीकृष्ण दत्त भट्ट के अनुसार :-** "सम्प्रदायवाद का अर्थ है मेरा सम्प्रदाय, मेरा पन्थ, मेरा मत ही सबसे अच्छा है। उसी का महत्व सर्वोपरि होना चाहिए। मेरे सम्प्रदाय की ही तूती बोलनी चाहिए उसकी की सत्ता मानी जानी चाहिए या यदि वे भी तो मातहत होकर रहे। मेरे आदेशों का सतत पालन करें। मेरी मर्जी पर आश्रित रहें।" वे पुन: लिखते हैं, "अपने धार्मिक सम्प्रदाय से भिन्न अन्य सम्प्रदाय अथवा सम्प्रदायों के प्रति उदासीनता उपेक्षा, दयादृष्टि, घृणा, विरोध और आक्रमण की भावना 'साम्प्रदायिकता' है जिसका आधार यह वास्तविकता या काल्पनिक भय या आशंका है कि उक्त सम्प्रदाय हमारे अपने सम्प्रदाय और संस्कृतिको नष्ट कर देने या हमें जान-माल की क्षति पहुंचाने के लिए कटिबद्ध है।"

### 15.4.1 उपर्युक्त परिभाषाओं से साम्प्रदायिकता की निम्नांकित विशेषताएँ प्रकट होती है

1. साम्प्रदायिकता का सम्बन्ध धार्मिक समूहों से है अर्थात एक धर्म के व्यक्ति अपने को एक सम्प्रदाय से सम्बन्धित मानते हैं। किन्तु जहाँ एक धर्म में ही विभिन्न मत-मतान्तर हैं वही साम्प्रदायिकता का सम्बन्ध एक धर्म में ही विभिन्न छोटे-छोटे सम्प्रदायों से होता है, जैसे इस्लाम धर्म में ही शिया और सुन्नी तथा हिन्दुओं में शैव, वैष्णव, कबीर, रैदास, आदि अलग-अलग धार्मिक सम्प्रदाय हैं।
2. साम्प्रदायिकता में यह भाव विद्यमान होते हैं कि अपना ही धर्म श्रेष्ठ है, अपनी ही भाषा एवं संस्कृति श्रेष्ठ है।
3. "साम्प्रदायिकता में अन्य धर्मों भाषाओं एवं संस्कृतिके प्रति घृणा, तिरस्कार एवं उपेक्षा के भाव पाये जाते हैं ये विरोधी भाव ही साम्प्रदायिक तनाव एवं संघर्ष पैदा करते है।
4. साम्प्रदायिकता साम्प्रदायिक स्नेह एवं सहयोग के स्थान पर सामाजिक एवं राजनीतिक अलगाव पैदा करती है।
5. साम्प्रदायिकता का अधार लोगों में उत्पन्न यह वास्तविकता या काल्पनिक भय है कि अन्य धार्मिक समूह उनके सम्प्रदाय और संस्कृति को नष्ट कर देंगे और जान माल की क्षति पहुंचायेंगे।

संक्षेप में साम्प्रदायिकता वह संकीर्ण मनोवृति है जो एक धर्म अथवा सम्प्रदाय के लोगों में अपने आर्थिक एवं राजनीतिक स्वार्थों की पूर्ति के लिए पायी जाती है और उसके परिणामस्वरूप विभिन्न धार्मिक समूहों में तनाव एवं संघर्ष पैदा होते हैं।

## 15.5 साम्प्रदायिकत के आयामा

टी.के.ऊमन (1989) ने साम्प्रदायिकता के निम्नांकित छह आयामों के आधार पर निम्न प्रकार का उल्लेख किया है :-

1. आत्मासांतीकरणवादी :- जिसमें छोटे धार्मिक समूहों का बड़े धार्मिक समूहों का बड़े धार्मिक समूह में समावेश/एकीकरण कर लिया जाता है। इस प्रकार की साम्प्रदायिकता यह दावा करती है कि सब जनजातियाँ हिन्दु हैं और जैन, सिक्ख, बौद्ध, हिन्दु विवाह अधिनियम 1955 के अन्तर्गत आते हैं।
2. कल्याणकारी साम्प्रदायिकता - इसके अन्तर्गत किसी विशेष समूह के लिए कल्याणकारी कार्य किए जाते है जैसे-जीवन स्तर को सुधारना और शिक्षा व स्वास्थ्य का प्रबन्ध करना, उदाहरणार्थ, इसाई संस्थाएँ इसाईयों की उन्नति के लिए काम करती है या पारसी संस्थाएं पारसियों के उत्थान में कार्यरत रहती है। इस तरह के सामुदायिक संगठन का उद्देश्य केवल अपने समुदाय के सदस्यों के हित में कार्य करना होता है।
3. पलायनवादी साम्प्रदायिकता - इसमें एक छोटा धार्मिक समुदाय स्वयं को राजनीति से अलग रखता है जैसे बहाई समुदाय जिसने अपने सदस्यों के लिए राजनीति में भाग लेना अवैध घोषित किया हुआ है1
4. प्रतिशोधपूर्ण साम्प्रदायिकता :- दूसरे धार्मिक समुदायों के सदस्यों को हानि पहुँचाना इसके अन्तर्गत आता है।
5. पृथकतावादी या अलगाववादी साम्प्रदायिकता :- इसमें एक धार्मिक समुदाय अपनी संस्कृतिकी विशेषता बनाये रखना चाहता है और देश में अलग राज्य की मांग करता है, उदाहरणार्थ, उत्तरपूर्व भारत में कुछ मिजो और नागाओं की मांग, असम में बोडो की मांग और बिहार में झारखण्ड की जनजातियों की मांग।
6. पार्थक्यवादी साम्प्रदायिकता :- एक धार्मिक समुदाय अपनी अलग राजनीतिक पहचान चाहता है और एक स्वतंत्र देश की मांग करता है। खालिस्तान की मांग कर रहा सिखों का एक बहुत ही छोटा उग्रवादी (Militant) भाग इस प्रकार की साम्प्रदायिकता को अपना रहा है। इन छः प्रकारों की साम्प्रदायिकता में से पिछले तीन रूप समस्याएं खड़ी करते हैं और जिनके कारण आन्दोलन, साम्प्रदायिक झगड़े, आतंकवाद और बगावत उत्पन्न होते हैं।

## 15.6 साम्पद्रायिक तनावों व उपद्रवों के प्रमुख कारण

1. गौवध:- जब भी किसी गाय की हत्या की जाती है तो हिन्दुओं में मुसलमानों के प्रति विद्रोह भड़क उठता है और दंगे शुरू हो जाते हैं क्योंकि हिन्दु गाय को आदर एवं सम्मान की दृष्टि से देखते हैं, उसके साथ उनका भावात्मक लगाव है और वे उसे गौ-माता के रूप में पूजते हैं।

2. मस्जिद के सामने गाने एवं बजाने के कारण भी साम्प्रदायिक दंगे हुए हैं।
3. किसी हिन्दु द्वारा होली के अवसर पर मुसलमान पर रंग छिड़क देने पर भी साम्प्रदायिक दंगे हुए हैं।
4. मुसलमानों द्वारा मन्दिरों में तोड-फोड करने या मूर्ति नश्ट करने अथवा हिन्दुओं द्वारा मस्जिदों में तोड़-फोड़ करने के कारण भी उपद्रव हुए है।
5. हिन्दुओं के जुलूस पर पथराव करने अथवा मुसलमानों के धार्मिक जुलूस या मोहर्रम के समय पथराव की घटना के कारण भी सम्प्रदायिक तनाव भड़क उठते है।
6. साम्प्रदायिक तनाव का एक कारण मुसलमानों की देशभक्ति में अन्ध विश्वास किया जाना है।
7. हिन्दु व मुसलमानों का एक दूसरे के प्रति सन्देह, भय एवं पूर्वाग्रह भी तनाव पैदा करते रहे हैं।
8. दोनों में आर्थिक प्रतिस्पर्धा एवं आर्थिक हितों की सुरक्षा को लेकर भी उपद्रव हुए हैं।
9. कई साम्प्रदायिक उपद्रव तो केवल झूठी अफवाहें फैलाने के कारण हुए हैं।
10. कुछ अराजक तत्वों ने भी इस प्रकार के दंगे भडकाये हैं क्योंकि दंगों के समय उन्हें लूट-पाट करने एवं अपनी वासनाओं को तृप्त करने का अवसर मिलता है।
11. संकीर्ण राजनीति, जातिवाद, भाषावाद, भाई-भतीजावाद एवं पक्षपात, आदि के कारण भी कई साम्प्रदायिक उपद्रव हुए है।

राऊर केला, काशी, अयोध्या एवं गोधरा आदि स्थानों पर हुए दंगों का अध्ययन करने पर ज्ञात हुआ कि इन उपद्रवों का कारण प्रतिरोध, अफवाह, प्रशासन की ढिलाई, साम्प्रदायिक तनाव, उत्तेजनापूर्ण वातावरण, राजनीतिक दलों एवं समाचार पत्रों द्वारा पैदा की गयी उत्तेजना आदि हैं

## 15.7 साम्प्रदायिक हिंसा की अवधारणा, हिंसा के उत्तरदायी कारक व तत्व

### 15.7.1 अवधारणा

अवधारणा के स्तर पर हमें साम्प्रदायिक हिंसा और आंदोलनों और आतंकवाद और राज्य प्रतिरोध और विद्रोह में अन्तर करना चाहिए। यह अन्तर छः स्तरों पर देखा गया है। जन संग्रहण और हिंसा की मात्रा, सम्बद्धता की मात्रा, आक्रमण का लक्ष्य दंगों का यकायक भडक उठना, नेतृत्व व दंगों से पीडित व्यक्ति और उसके परिणामों के अनुभव।

आन्दोलनों में जनसंग्रह जुलूसों, प्रदर्शनों और घेरावों के रूप में विरोध प्रकट करने और शिकायतों एवं मांगों को प्रस्तुत करने के लिए किया जाता है। साम्प्रदायिक हिंसा में व्यक्तियों का संग्रहण दूसरे समुदाय के विरूद्ध किया जाता है। इसमें आन्दोलनों के बारे में पहले से जानकारी नहीं मिलती, वे अनियंत्रित होते हैं और इनमें एक भावनात्मक रोष और हिंसात्मक अभिव्यक्ति होती है जो दंगों का रूप धारण कर लेती है।

हिंसा की मात्रा और हिंसा करने के तरीके भी आन्दोलनों और साम्प्रदायिक दगों में भिन्न होते हैं। आतंकवाद में जनसमर्थन निष्क्रिय, अप्रंकट और गुप्त होता है। यह मान कर कि राज्य विद्रोह असंभव है, कुछ ही ऐसे सक्रिय, सशस्त्र उग्रवादी गुट होते हैं जो योजनाबद्ध तरीके से हिंसा का प्रयोग करते हैं। राज्य विद्रोह में जनसमर्थन राज्य व्यवस्था में परिवर्तन लाने के लिए संगठित किया जाता है। इसके विपरीत साम्प्रदायिक हिंसा में जन समर्थन सामाजिक व्यवस्था के प्रति रोष व्यक्त करने के लिए संगठित किया जाता है। राज्य विद्रोह में प्रशिक्षित गुट भाग लेते हैं। जबकि साम्प्रदायिक दंगों में अप्रशिक्षित लोग लिप्त होते हैं। राज्य विद्रोह में जनता में प्रचार शासन के विरूद्ध होता है। जबकि साम्प्रदायिक दंगों में वह सामाजिक पक्षपात सामाजिक उपेक्षा और सामाजिक एवं धार्मिक शोषण के विरूद्ध होता है।

सम्बद्धता की मात्रा भी साम्प्रदायिक हिंसा, आन्दोलन, आतंकवाद और राज्य विद्रोह के भिन्न भिन्न होती हैं। साम्प्रदायिक दंगे की स्थिति में सम्बद्धता की ऊँची मात्रा, तनाव और जनसंख्या के ध्रुवीकरण के कारण होती है। आतंकवाद में वह स्वार्थ के युक्तीकरण पर आधारित है, जनता में यह इसकी तुलना में कम होती है।

राज्य विद्रोह और आतंकवाद में आक्रमण का लक्ष्य सरकार होती है और साम्प्रदायिक हिंसा में "शत्रु" समुदाय के सदस्य उसके लक्ष्य होते हैं। कभी कभी आंदोलनों और साम्प्रदायिक दंगों में हिंसा का प्रयोग सरकारी सम्पत्ति को लूटने और जलाने में किया जाता है। असामाजिक तत्वों को आन्दोलनों और साम्प्रदायिक दंगों में खुली छूट मिल जाती है, परन्तु आतंकवाद और राज्य विद्रोह में ऐसा नहीं होता हैं। राज्यविद्रोह व आतंकवाद में जिन शस्त्रों का उपयोग किया जाता है, वे आन्दोलनों और साम्प्रदायिक झगड़ो में किये जाने वाले शस्त्रों से अधिक आधुनिक और परिष्त होते हैं।

साम्प्रदायिक दंगों का यकायक भड़क उठना विशेष सामाजिक ढांचे तक सीमित रहता है। जबकि राज्य विद्रोह और आतंकवाद में यह अनियत और अनिश्चित होता है। आन्दोलनों में उपद्रव किन्ही विशेष ढांवो को लेकर नहीं होते, अपितु विदित वचना ओर व्यक्तियों के संगठन पर आधारित होते है।

आतंकवाद राज्य विद्रोह और आन्दोलन में नेतृत्व आसानी से पहचाना जा सकता है परन्तु साम्प्रदायिक दंगों में सदैव नहीं। साम्प्रदायिक दंगों में ऐसा कोई नेतृत्व नहीं होता जो दंगे की स्थिति को नियंत्रित कर सके अथवा उसे रोक सके। दूसरी और आन्दोलनों आतंकवाद और राज्यविद्रोह के अनुरूप होता है। और स्थिति पर उसका प्रभावी नियंत्रण रहता है।

### 15.7.2 साम्प्रदायिक हिंसा के उत्तरदायीकारक तत्व

#### 15.7.2.1 परम्परागत शत्रुता

मध्यकालीन भारत के इतिहास को पढ़ने के बाद एक ही निष्कर्ष पर पहुंचता है कि भारत आर्यों का देश था और यवनी ने आकर यही पर साम्राज्य स्थापित किया। इन लोगों ने अपने धर्म का विस्तार करने के लिए कुछ लोगों को जबरन मुसलमान बनाया उनकी स्त्रियों से विवाह किया, उनके मन्दिरों को तोडा और उनकी संस्कृति को नष्ट करने का भरसक प्रयत्न किया। इस प्रकार का विचार रखने वाले व्यक्ति अपनी दलील देने में महमूद गजनी, महुम्मद

गौरी, औरंगजेब तथा अन्य छोटे-छोटे बादशाहों तथा नवाबों का नाम गिनाते हैं जिन्होनें हिन्दुओं पर अनेकानेक अमानवीय प्रकार के अत्याचार किए और उन्हें बडे ही क्रूर ढंग से सताया। सामान्य हिन्दू जब इन घटनाओं को सुनता है तो उसका खून खोलने लगता है और वह यह सोचने को मजबूर हो जाता है कि मुसलमान उसके दुश्मन है उनके पूर्वजों ने हिन्दुओं के पूर्वजों पर अत्याचार किए हैं और ये वे लोग हैं जिनके उपर कभी विश्वास नहीं किया जा सकता है। इस प्रकार का ऐतिहासिक वर्णन पूर्णतया सही नहीं है। मुसलमान नवाबों की श्रृंखला में हुमायू अकबर, जहाँगीर तथा शाहजहाँ का नाम उन नवाबों में लिया जा सकता है जिन्होनें हिन्दु मुस्लिम एकता को बढ़ाने के लिए अनेक सराहनीय प्रयत्न किए और हिन्दुओं की धार्मिक भावनाओं को पर्याप्त सम्मान दिया। साम्प्रदायिकता की आग भड़काने वाले कुछ ब्रिटिश इतिहासकारों ने जानबूझकर ऐतिहासिक घटनाओं को तोड-मरोड कर प्रस्तुत किया और पक्षपात पूर्ण शोधग्रंथ लिखे। मध्यकालीन भारत के इतिहास पर लिखी गई बहुत सी पुस्तकें साम्प्रदायिकता की भावना को बढ़ाने में एक महत्वपूर्ण भूमिका अदा करती है।

यह बात सही है कि अंग्रेजों ने हिन्दुओं तथा मुसलमानों के बीच के सम्बन्धों को बिगाड़ने का सदैव प्रयत्न किया। अंग्रेज यह जानते थे कि अगर अविभाजित हिन्दुस्तान के हिन्दु तथा मुसलमान एक हो गए तो उन पर राज्य कर पाना मुश्किल हो जाएगा। इसी कारण से अंग्रेजों ने सदैव वे चाले खेली जिनसे कि हिन्दू तथा मुसलमान दोनों एक दूसरे से लड़ते रहे। उन्होंने देश के लोगों को बांटकर उन पर शासन करने का सिद्धान्त अपनाया। यहाँ तक कि राजपाट छोड़ते समय अंग्रेजों ने हिन्दुस्तान को दो हिस्सों में बांटकर ही अपना पैर देश से बाहर निकाला। इसके पहले अफगानिस्तान, वर्मा, श्रीलंका आदि को अलग कर ही चुके थे। धर्म के आधार पर देश के विभाजन का विचार जिन्ना साहब का नहीं था मूलत: यह विचार अंग्रेजों ने जिन्ना के मन में जान बूझकर पैदा किया था क्योंकि वे जानते थे कि जिन्ना जैसा पदलोभी एवं महत्वाकांक्षी व्यक्ति गद्दी पाने के लालच में देश को धर्म के आधार पर बंटवाने पर सरलता से राजी हो जाएगा। अंग्रेज अपनी चाल में सफल हो गये और देश धर्म के नाम पर बंट गया। इस बंटवारे में हुए खून खराबे का यह फल हुआ कि जो मुसलमान भारत में रह गये तथा जो हिन्दू पाकिस्तान में बस गए वे सभी शंका की दृष्टि से देखे जाने लगे। कुछ लोग यह सोचने लगे कि भारत में रहने का अधिकार केवल हिन्दुओं को है और मुसलमान पाकिस्तान के प्रति सहानुभूति रखते हैं। अत: उन्हें यहाँ रहने का अधिकार नहीं होना चाहिए। उनका देश पाकिस्तान है अत: उन्हें पाकिस्तान चले जाना चाहिए।

भारत की हिन्दु राष्ट्र की संज्ञा प्रदान करने वाले लोगों में राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के पूर्व प्रमुख गुरू गोलवकर का नाम प्रमुख रूप से लिया जाता है। उन्होनें अपने एक भाषण में यह कहा कि वेदों तथा 28 हजार पुस्तकों को पढ़ने के उपरांत वह इस निष्कर्ष पर पहुंचे कि भारत हिन्दुओं की मातृभूमि है और हिन्दु ही इसे मातृभूमि की सेवा करने तथा इसका लाभ उठाने के हकदार है। उन्होनें सन् 1939 में लिखा अगर हम खुली आंखो से ऐतिहासिक सत्य को देखे तो हमें यह कहना पड़ेगा कि इस मातृभूमि के बच्चे केवल हिन्दू ही हैं। उन्होंने हिन्दुओं को भारत का सच्चा पुत्र माना और कहा कि विशेषकर मुसलमान तथा ईसाई जो हिन्दु धर्म के अलावा दूसरे धर्मों को मानते हैं इस देश को प्यार करने के लायक नहीं है। उनमें देशभक्ति की

क्षमता का अभाव है। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद कुछ वर्षों तक इसी प्रकार के भाषण कुछ हिन्दु नेताओं ने दिए और अधिकांश हिन्दुओं के मन में मुसलमानों के प्रति घृणा का भाव पैदा किया। भारत व पाकिस्तान के होने वाले युद्धों ने हिन्दु मुस्लिम एकता को बहुत बडा धक्का पहुंचाया। साधारण नागरिकों को युद्ध के दिनों में कुछ राजनीतिक दलों के लोगों ने भडकाया कि भारत में रहने वाले सभी मुसलमान रात को या छिपकर पाकिस्तान रेडियों सुनते हैं। यहाँ की खबरे दुश्मन को पहुंचाते हैं और इस कोशिश में लगे रहते हैं कि पाकिस्तान की विजय हो जाये। इस प्रकार के झूठे प्रचार से हिन्दुओं तथा मुसलमानों में संगठन के स्थान पर विघटन के बीज बोए गए। इसी बीज से आज की साम्प्रदायिकता का बरगद पैदा हुआ है और निरन्तर इसकी शाखाएं बढती ही जा रही है। देश के इतिहास का यह परिप्रेक्ष्य हिन्दुओं तथा मुसलमानों के बीच में पायी जाने वाली परम्परागत शत्रुता का परिचायक है।

**धार्मिक कारण** - यह सत्य है कि विश्व के विभिन्न प्रमुख धर्मों में एक मौलिक एकता है और इनमें से कोई भी धर्म दूसरे धर्म या उसके अनुयायी के प्रति घृणा, देष तथा हिंसा की सीख नहीं देता है परन्तु बहुधा यह देखने में आया है कि विभिन्न पंथो के अनुयायी (विशेषत: हिन्दू तथा मुसलमान) एक दुसरे के धर्म की आलोचना तथा उसके उपासकों की निन्दा करने के प्रयत्न जानबूझकर आपस में झगड़ा कराने के लिए करते आये हैं। भारत तथा पाकिस्तान जैसे देशों के धार्मिक नेता, पुजारी, महात्मा, मौलवी, मौलाना तथा काजी इस बात को भलीभांति जानते हैं कि इन दोनों देशों में गरीबी, असमानता, शोषण तथा सामाजिक आर्थिक दासता के माहौल के विरूद्ध लोगों को आवाज उठाने के लिए सरलता से प्रेरित अवश्य नहीं किया जा सकता है, परन्तु उन्हें धर्म की हानि, धर्म को निन्दा, मस्जिद तथा मन्दिर को अपवित्र करना तथा धर्म ग्रन्थों की आलोचना करने के छोटे मोटे मामलों या सही गलत प्रचार के आधार पर सरलता से उत्तेजित किया जा सकता है, उन्हें एक दूसरे के प्रति हथियार उठाने के लिए तैयार किया जा सकता है और उनसे वह खून खराबा कराया जा सकता है जिसकी स्वीति इन दोनों धर्मों के प्रमुख ग्रन्थों (कुरान तथा रामायण - वेदों) में नहीं वर्णित की गई है। अशिक्षा तथा धार्मिक अन्धविश्वास से ग्रस्त हिन्दू तथा मुसलमानों का बहुत बड़ा वर्ग धर्म के स्वार्थों और ढोंगी प्रचारकों के चंगुल में फंसा होने के कारण उनके हर गलत या सही वाक्य मानता है और उन्हीं के आदेशों पर अपना खून बहाने को तैयार रहता है।

मुसलमानों के बीच में पाये जाने वाले मुल्ला तथा मौलवी जब भी इस्लाम खतरे में हैं का नारा बुलन्द करते हैं और कहते हैं हिन्दू काफिर हैं तो साधारण वर्ग का अशिक्षित मुसलमान हिन्दुओं के पुजारी, पण्डित, धर्मगुरू तथा प्रचारक मुसलमानों को म्लेच्छ सिद्ध करने का प्रयत्न करते हैं और गाय को मारकर गोश्त खाने वाला हैवान कहते हैं। साधारण अशिक्षित हिन्दु मुसलमानों को अपना धार्मिक शत्रु मानने के लिए इसलिए भी तैयार रहता है कि उसके मन में बाल्यकाल से ही यह बात बैठा दी गयी है कि मुसलमान धर्म में सभी बाते हिन्दू सनातन धर्म के खिलाफ हैं और हिन्दू सनातन धर्म को अगर खतरा किसी से है तो वह मुसलमानों से है। धार्मिक अविश्वास की इसी पृष्ठभूमि में छोटे मोटे धार्मिक उत्पातों तथा ज्यादतियों पर बड़े बड़े साम्प्रदायिक दंगे भारत में स्वतंत्रता प्राप्ति के पूर्व तथा स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् पचास वर्षों में होते आये हैं। जिन साधारण घटनाओं को लेकर साम्प्रदायिक हिंसा की ज्वाला धधकती है

उन्हें निष्पक्ष रूप से देखने के बाद ऐसा लगता है कि तिल का ताड़ बनाया जाता है। मन्दिर तथा मस्जिद पर ईटे फेकना, मन्दिर की मूर्ति तोडना या उसे चुरा लेना, हिन्दू लड़की से शादी करना, गाय को मारना, गाय का गोश्त बाजार या सार्वजनिक स्थान पर फेंक देना आदि जैसी छोटी-मोटी घटनाओं को लेकर बड़े-बड़े साम्प्रदायिक दंगे हो जाते हैं। इन दंगों में कोई यह पता लगाने की कोशिश नहीं करता है कि पत्थर फेंकने वाला मूर्ति तोडने वाला तथा गाय को मार डालने वाला हिन्दू था या मुसलमान। इन घटनाओं की चर्चा उर्दू तथा हिन्दी के समाचार पत्रों में अपनी-अपनी साम्प्रदायिक सम्बद्धता के आधार पर बढ़ा चढ़ाकर की जाती है। दोनों धर्मों के असामाजिक तथा साम्प्रदायिक तत्व हिंसा की चिंगारी को शोले में परिवर्तित करते हैं और इतने व्यापक स्तर के दंगे करवा देते हैं जिनमें बहुतों की जाने जाती हैं और हजारो लोग बेघरबार हो जाते हैं। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि धर्म की दुहाई देकर भारत में साम्प्रदायिकता की भावना जागृत की जाती है और मन्दिरों तथा मस्जिदों के ठेकेदार पंथ के ठेकेदार भी बन जाते हैं। इन साम्प्रदायिक द्वेष की साम्प्रदायिक हिंसा में परिवर्तित कर देते हैं।

साम्प्रदायिक राजनीति में विश्वास रखने वाले राजनीतिक दल एवं सामाजिक सांसतिक संस्थाऐ :- देश के विभाजन के समय राजनीति का जो स्वरूप उभर कर सामने आया और जिसके कारण गांधी तथा मौलाना आजाद के बाद भी देश सम्प्रदाय के आधार पर दो दुकड़ो में बंट गया वह राजनीति मूलत: साम्प्रदायिकता की राजनीति थी, जिसका आधार था साम्प्रदायिक उन्माद। सन् 1906 में ऑल इण्डिया मुस्लिम लीग की स्थापना से साम्प्रदायिक राजनीति का प्रारम्भ हुआ। सन् 1937 में मुस्लिम लीग ने मुसलमानों को एकत्रित करके उनके वोट प्राप्त करने का प्रयत्न किया। हिन्दू राजनीतिज्ञों ने भी धर्म को अपनी राजनीति का एक सशक्त अस्त्र बनाया और हिन्दू महासभा की स्थापना की। मुस्लिम लीग तथा हिन्दू महासभा के नेताओं ने हिन्दुस्तान के हिन्दुओं तथा मुसलमानों का जनसंख्या के आधार पर ऐसे परस्पर विरोधी दो दलों में बांट दिया जो अपने अपने धर्म के लोगों के हितों के बारे में ही सोच पाते थे। हिन्दू महासभा के नेताओं ने दो बातों को लेकर साम्प्रदायिकता की आग भडकायी।

यह सिद्ध करना कि कांग्रेस मुसलमानों को खुश करने के लालच में हिन्दू समुदाय के लोगो के हितों की ओर जानबूझकर ध्यान नहीं दे रही है।

यह सिद्ध करना कि मुसलमान भारत के लिए विदेशी व्यक्ति की भांति हैं और जिन्होनें भूतकाल में हिन्दुओं को सताया तथा उनका शोषण किया है।

हिन्दू साम्प्रदायिकता का बीज बोने वाले सभी प्रमुख नेता इतिहास की घटनाओं को तोड़-मरोड़कर जनता के सम्मुख प्रस्तुत करते हैं और उन्हें बरगलाते हैं। इन नेताओं का सबसे बड़ा अस्त्र है मुस्लिम लुटेरों के द्वारा की गयी सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक तथा सांस्कृतिक ज्यादतियाँ लूटमार तथा खून खराबा। इस प्रकार के उत्तेजक भाषण देने वाले लोगों ने उन अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त इतिहासकारों की पुस्तकें को या तो ठीक से नहीं पढ़ा है और यदि पढ़ा भी है तो ठीक से समझा नहीं है।

मुस्लिम साम्प्रदायिकता को बढ़ाने के लिए लोग या कुछ सामाजिक, सांस्कृतिक तथा राजनीतिक दल या संस्थाएँ उसी प्रकार से कार्यशील है जिस प्रकार से हिन्दू साम्प्रदायिक को बढ़ाने वाले लोग। जमाते इस्लामी के नेता मौलाना मौद्दी के लेखों में उतना ही साम्प्रदायिकता

का जहर भरा हुआ प्रतीत होता है जितना कि गोलवकर तथा बलराज मधोक के लेखों तथा भाषणों मैं। जमाते इस्लामी ने मुसलमानों को यह नारा सिखाया कि मुसलमान उसी राज्य के प्रति वफादार हो सकते है जो अल्लाह हकूमतें इलाहिया में विश्वास रखते हों। जो राज्य अल्लाह में विश्वास नहीं रखता उसे मुसलमानों को अपवित्र राज्य मानना चाहिए। मौलाना मौद्दी सन् 1947 के बाद पाकिस्तान में जाकर बस गये परन्तु उनके लेखों तथा भाषणों की छाप जमाते इस्लामी, मुस्लिम मजलिस, मजलिसे मुशावरत तथा मुस्लिम लीग के सदस्यों एवं स्वतंत्र भारत के हजारों मुसलमानों के मन पर पूरी तरह से पड़ गयी। मौलाना साहब ने पाकिस्तान में बैठे-बैठे अनेक ऐसे भाषण दे डाले जिनका सीधा मतलब भारत के मुसलमानों को हिन्दुओं के विरूद्ध भड़काना था। सन् 1965 के भारत व पाकिस्तान के युद्ध के दिनों में मौलाना ने मुसलमानों को भारत के विरूद्ध धर्म युद्ध छेड़ने का एक फतवा जारी किया जो 27 अगस्त के जमाते इस्लामी को दिल्ली दिल्ली, शाखा के द्वारा प्रकाशित "दावत" नामक समाचार पत्र में छापा गया।

साम्प्रदायिकता की जिस राजनीति का प्रसार भारत में स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद हुआ उसका फायदा हिन्दु तथा मुसलमान राजनीतिक नेताओं ने बराबर-बराबर उठाया। कांग्रेस पार्टी जिसने करीब 45 वर्ष तक एक छत्र केन्द्र में शासन चलाया। सदैव ही मुस्लिम लीग जैसे साम्प्रदायिक राजनीतिक दल के साथ निर्वाचन में गठबन्धन करके मुसलमानों के वोट खिंचती रही। कांग्रेस ने सदैव ही यह प्रचार किया कि यदि हिन्दू महासभा तथा जनसंघ का शासन कभी आ गया तो मुसलमान भारत में बेदीन हो जायेगा और उनका राजनीतिक स्तर दास से भी कम हो जायेगा। कांग्रेस ने सदैव ही मुसलमानों को जनसंघ का भूत दिखाया और उनके मन में एक विचित्र प्रकार का डर उत्पन्न किया। यह सब करने का केवल एक ही तात्पर्य था मुसलमानों को अपनी गिरत में रखना और उनके पूरे वोटों को खींचकर शासन करना। जो मुसलमान नेता सत्ताधारी कांग्रेस में बड़े-बड़े पदों पर बैठ गए उनमें से अधिकांश लोग ऐसे थे जिनके ऊपर साधारण मुसलमान का विश्वास नहीं बचा था। कांग्रेस ने राजनीति की शतरंज में जिन गोटियों को चलाया उनमें हिन्दू-मुसलमानों के बीच समय-समय पर विद्वेष बढ़ाना एक साधारण सी बात थी। कांग्रेस दल साम्प्रदायिकता की समस्या को उत्पन्न करने में उतना ही उत्तरदायी है जितना कि जनसंघ, अकाली दल, शिवसेना तथा हिन्दू महासभा। इन दलों ने भारत की राजनीति में हिन्दू साम्प्रदायिकता को एक प्रतिक्रिया के रूप में बढ़ावा दिया। यह प्रतिक्रिया कांग्रेस के द्वारा प्रोत्साहित की गयी। यह प्रक्रिया मुस्लिम साम्प्रदायिकता की प्रक्रिया का एक सीधा-सादा फल माना जा सकता हे। इन राजनैतिक दलों ने भी वही सब काम किये जो कांग्रेस ने मुसलमानों के मत पाने के लिए किए थे। यह दल प्रमुखत: हिन्दुओं के हितों को बचाने के लिए मशहूर हो और उन्होंने यह अफवाह फैलाने का प्रयत्न किया कि भारत का मुसलमान परिवार नियोजन इसलिए नहीं कराना चाहता है क्योंकि वह बहुत बड़ी संख्या में बच्चे पैदा कर बीस साल बाद भारत को पाकिस्तान बनाने का सपना देखता है। साधारण हिन्दू इस बात को सरलता से स्वीकार कर गया और मुसलमानों की बढ़ती हुई आबादी से एक खतरा महसूस करने लगा। इन दलों ने भी हिन्दुओं को मुसलमानों से दूर रखने तथा एक दूसरे से घृणा एवं द्वेष रखने के लिए चुनाव के दिनों में साम्प्रदायिक दंगे करवाये और हिन्दुओं के मत खींचे। वोट खींचने की

दौड़ में राजनीतिज्ञों ने भारत के हिन्दुओं तथा मुसलमानों को दो परस्पर विरोधी धर्मों, वर्गों तथा समुदायों में बाँटकर रख दिया है।

### 15.7.2.4 सामाजिक आर्थिक तथा प्रषासनिक कारण

साम्प्रदायिकता की समस्या केवल धार्मिक-राजनीतिक कारकों का प्रतिफल मात्र न होकर वह सामाजिक आर्थिक समस्या है जिसके कारणों की सम्पूर्ण व्याख्या इन सामाजिक-आर्थिक दशाओं के विश्लेषण के अभाव में नहीं हो सकती है, जो भारत के करोड़ों गरीबी-ग्रस्त लोगों को अज्ञान, अंधविश्वास, सामाजिक, आर्थिक दासता तथा शोषण का पात्र बना देते हैं। इस समस्या का विश्लेषण करते समय हमें यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि सामाजिक-आर्थिक प्रकृति के हैं और जिनकी व्याख्या एक समाजशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य में ही की जा सकती है। सन् 1960 तथा सन् 1992 के बीच बडे-बड़े साम्प्रदायिक दंगे हुए उनके परिस्थिति शास्त्रीय अध्ययनों से निम्न निष्कर्ष निकले -

1. अधिकांश साम्प्रदायिक दंगे नगरों तथा कस्बों में होते हैं। इस प्रकार के सभी दंगे नगरों के उन क्षेत्रों में होते हैं जिन्हें पिछड़ा इलाका या गन्दी बस्ती कहा जाता है।
2. साम्प्रदायिक दंगा करने वाले तथा इनके कोप भाजन बनने वाले व्यक्ति अधिकांशत: गरीब वर्ग के लोग हैं।
3. साम्प्रदायिक दंगे नगरों के उन क्षेत्रों में होते हैं, जहाँ अज्ञान अंधविश्वास, गन्दगी, बेरोजगारी, गरीबी और बीमारी का बोलबाला रहता है।
4. साम्प्रदायिक दंगे नगर के उन क्षेत्रों में होते हैं जहाँ नागरिक-जीवन अस्त-व्यस्त होता है और जहाँ कानून और व्यवस्था के स्थान पर असामाजिक, अवैधानिक एवं अव्यवस्था का साम्राजय होता है।

**प्रशासनिक कारण -** सांप्रदायिक दंगों तथा अन्य सांप्रदायिक हिंसा की घटनाओं की जांच समितियों की रिपोर्ट के आधार पर यहां स्पष्ट हो गया है कि जब-जब और जहाँ-जहाँ सांप्रदायिक हिंसा की आग जली है वहाँ प्रशासन अधिकारी सुला काहिल असतर्क तथा अकर्तव्य परायण थे। यह प्रशासनिक अधिकारी अपने सोते रहने की स्थिति में यह जान नहीं पाते है कि शहर के किस क्षेत्र में सांप्रदायिकता को आग भड़कायी जा रही है और कहाँ साम्प्रदायिक हिंसा की घटनाएँ घटित हो सकती हैं। उन्हें इस बात की सूचना उस समय मिलती है जबकि आग पूरी तरह से जल उठती है। उस स्थिति में वे कर भी क्या सकते हैं? कुछ नगरों में अधिकारी राजनैतिक नेताओं के जोर दबाव में आकर उन असमाजिक तत्वों को पकड़ने तथा उनके विरूद्ध कार्यवाही में ढील देते पाये गये हैं जिनका साम्प्रदायिक दंगे कराने में प्रत्यक्ष एवं सशक्त योगदान रहता है। पुलिस की निष्क्रियता से साम्प्रदायिक दंगे घटित हो जाते हैं और लोगों के जानमाल की रक्षा नहीं हो पाती है। सन् व 1969 में हुए गुजरात के भीषण सांप्रदायिक दंगों पर की गयी जांच की वृहद रिपोर्ट में जांच समिति के सदस्यों ने पुलिस की अकर्मण्यता निष्क्रियता तथा ढील-ढाल को दंगे फैलाने का एक प्रमुख कारण माना है।

## 15.8 साम्प्रदायिकता के कारण राष्ट्रीय एकता में बाधा

अनेकवादी, च्सनतंसपेजपबद्ध समाज में केवल धार्मिक समुदाय ही नहीं हैं जैसे, हिन्दु (82.63%) मुसलमान (11.36%) ईसाई (2.43%) सिख (1.96%) बौद्ध (0.71%) जैन (0.48%) आदि। हिन्दू कई संप्रदायों में बटे हुए है जैसे आर्य समाजी, शैव, सनातनी और वैष्णव इस प्रकार जहाँ एक ओर मुसलमान शिया और सुन्नी में बंटे हुए हैं वहाँ दूसरी ओर उनमें अशरफ (कुली Aristocrat) अजलफ (जुलाहे, कसाई, खाती, तेतल) और अरजल भी सम्मिलित हैं। हिन्दुओं और मुसलमानों के पारस्परिक संबंध एक लंबे अंतराल से तनावपूर्ण रहे है जबकि हिन्दुओं और सिखों ने एक-दूसरों को कुछ वर्षों के लिए (विशेष कर सन् 1984 से 1990 के बीच) संदेह की दृष्टि से देखना शुरू किया था यद्यपि दक्षिण भारत के एक राज्य में हिन्दुओं और ईसाईयों और मुसलमानों और ईसाईयों में और अब गुजरात और दक्षिण में दो राज्यों में हिन्दुओं और ईसाइयों के झगड़ों के बारे में सुना जाता है, परन्तु सब मिलाकर भारत में ईसाई यह नहीं सोचते कि दूसरे समुदाय उनका बचना (Deprivation) या शोषण करते हैं। मुसलमानों में शिया और सुन्नी आवश्यक एक-दूसरे के प्रति द्वेष की भावना रखते हैं। एक लम्बे समय से भारत में साम्प्रदायिकता फलती-फूलती रही है। इसके कारण अनेक बार सम्पूर्ण राष्ट्र को कई प्रकार की हानियां उठानी पड़ी हैं। यह राष्ट्रीय एकीकरण में बाधा उत्पन्न करती रही है। साम्प्रदायिकता ने राष्ट्रीय एकीकरण में निम्नांकित प्रकार से बाधा उत्पन्न की है-

**देशव्यापी दुष्प्रभाव -** साम्प्रदायिकता सदैव ही राष्ट्रीय एकता के मार्ग में बाधक रही है। विभिन्न सम्प्रदाय के लोगों में अलगाव के भाव पाये जाते हैं, अत: वे कभी भी सारे देश को एक बनाने एवं राष्ट्रीय उत्थान की बात नहीं सोचते। साम्प्रदायिकता ने भावात्मक एकता के लिए भी खतरा उत्पन्न किया है और हिन्दू व मुसलमानों गे परस्पर मनमुटाव एवं विरोधी भाव पैदा किये है। जब-जब भी साम्प्रदायी नेताओं ने विषवमन किया है उसकी लहरें देश के कोने-कोने तक पहुंची हैं, लोगों में तनाव एवं संघर्ष पैदा हुए है। विभाजन, घृणा एवं अविश्वास की भावनाएं तीव्र हुई हैं और विभिन्न सम्प्रदाय के लोगों में परस्पर सहयोग एवं सहिष्णुता पैदा नहीं हो सकी और सम्पूर्ण देश एक राष्ट्रीय चरित्र के रूप मे नहीं उभर सका तथा राष्ट्रीय जीवन में असुरक्षा उत्पन्न हुई।

**तनाव एवं संघर्ष -** साम्प्रदायिकता के कारण किसी भी सम्प्रदाय का विकास तो नहीं हुआ किन्तु उसके कारण विभिन्न सम्प्रदायों के बीच अविश्वास, घृणा, पूर्वाग्रह एवं संघर्ष अवश्य पैदा हुए जिसके परिणामस्वरूप देश में आन्तरिक कलह हुए, प्रशासन एवं न्याय व्यवस्था के लिए एक चुनौती पैदा हुई, लोगों ने एक-दूसरे के प्रति झूठे एवं घृणित प्रचार किये, जिससे उत्तेजना एवं हिंसा की आग भड़की और कई लोगों को आत्महुति देनी पड़ी।

**जन धन की हानि** - साम्प्रदायिक दंगों एवं उपद्रवों के कारण हजारों लोगों जाने गयी हैं। अनेक के साथ मारपीट एवं अनैतिक व्यवहार हुए हैं। मकान, दुकानें, सरकारी कार्यालय, स्कूल, भवन, रेल, डाकतार कार्यालयों में आग लगा दी जाती है जिसके कारण अरबों की सम्पत्ति नष्ट हो जाती है और आर्थिक विकास अवरूद्ध हो जाता है।

**राजनीतिक दुष्परिणाम** - साम्प्रदायिकता के कारण देश में राजनीतिक अस्थिरता उत्पन्न होती है, लोगों का प्रशासन एवं सरकार के प्रति विश्वास उठ जाता है। राजनीतिक दलों को सरकार की आलोचना करने का मौका मिलता है। वे अपनी आलोचनाओं के द्वारा अधिक तनावों को जन्म देते हैं, शांति स्थापित करने के लिए न्याय एवं व्यवस्था की समस्या पैदा हो जाती है लोगों का जीवन खतरे में पड़ जाता है और उनमें असुरक्षा के भाव पैदा हो जाते हैं। इससे राष्ट्रीय एकता में बाधा उत्पन्न होती है।

**आर्थिक विकास में बाधक -** साम्प्रदायिकता के कारण समाज की आर्थिक प्रगति अवरूद्ध हुई है। उपद्रवों के समय कई कारखानों एवं उद्योगों में तोड़-फोड़ एवं आगजनी की घटनाओं से निर्माण कार्य बन्द हो जाता है। ऐसे क्षेत्रों में पूंजीपति पूंजी नहीं लगाना चाहते जहाँ साम्प्रदायिक तनाव पैदा होते रहते हैं। इससे उस क्षेत्र का विकास रूक जाता है एवं नवीन उद्योगों की स्थापना न होने के कारण बेकारी एवं निर्धनता की समस्या पैदा होती है, राष्ट्रीय उत्पादन घटता है और लाभांश भी कम हो जाता है।

**असामाजिक तत्वों में वृद्धि -** साम्प्रदायिक संघर्षों एवं उपद्रवों के समय असामाजिक तत्वों को खुलकर खेलने का मौका मिलता है, प्रशासन की ढिलाई का वे पूरा-पूरा लाभ उठाते हैं और वे इस प्रकार के अवसर की ताक में रहते है जब साम्प्रदायिकता की आग भड़के जिससे कि वे लूट-पाट कर सके, पैसा एकत्रित कर सकें और जिन लोगों से उनकी व्यक्तिगत दुश्मनी है उनसे बदला ले सकें।

**सामाजिक सांस्कृतिक विघटन -** विभिन्न धर्मों सम्प्रदायों एवं संस्कृतियों के लोग परस्पर मिल नहीं पाते, अत: एकीकरण की प्रक्रिया अवरूद्ध हो जाती है प्रथकता के भाव बने रहते हैं। जब-जब साम्प्रदायिक संघर्ष होते हे तो भूतकाल में हुए सामाजिक व सांस्कृतिक एकता के लिए किए गये प्रयास मिट्टी में मिल जाते हैं और समाज में पुन: अविश्वास, भय, शंका तथा घृणा का वातावरण पैदा हो जाता है।

साम्प्रदायिक उपद्रवों की लहर केवल भारत तक ही सीमित नहीं रहती वरन् यह पड़ोसी देशों एवं पाकिस्तान में भी अपना प्रभाव छोड़ती है और वहाँ पर भी अल्पसंख्यक सम्प्रदायों के साथ दुर्व्यवहार किया जाता है उन्हें भी जन-धन की हानि उठानी पड़ती है और सम्पूर्ण सामुदायिक जीवन दूषित हो जाता है। अत: साम्प्रदायिकता की समस्या का निराकरण के प्रयत्न एवं सुझाव दिये गये है।

### 15.9.2 साम्प्रदायिकता की समस्या के निवारण हेतु सुझाव व साम्प्रदायिक संघर्षों पर नियंत्रण के उपाय

साम्प्रदायिकता मानव मात्र के लिए गम्भीर अभिशाप है। साम्प्रदायिकता को दूर करने के लिए समय-समय पर अनेक सुझाव प्रस्तुत किये हैं, जो निम्नलिखित हैं -

सर्वत्त इस भावना को प्रोत्साहन दिया जाये कि सब धर्मों के लोग मिलजुलकर रोज मौन प्रार्थना करें। सार्वजनिक अथवा व्यक्तिगत स्थानों पर जहाँ प्रार्थना आदि के कार्यक्रम होते हैं ऐसा वातावरण बनाया जाए।

शिक्षण में आध्यात्मिक मूल्यों का समावेश किया जाये। साम्प्रदायिक या मजहबी क्रिया-कर्म भिन्न चीज है।

किसी भी सार्वजनिक क्षेत्र में बहुमत के आधार पर कोई प्रवृत्ति पैदा न की जाए। सारा कार्य ऐसे ढंग से हो कि अल्पसंख्यकों को अपने अल्पसंख्यक होने का भान ही न रहे। हर क्षेत्र में जो वास्तव में अल्पसवंख्यक है उन्हें तलाशा जाये।

धर्म विशेष से सम्बन्ध न रखने वाले (सेक्यूलर) व्यक्तिगत और सार्वजनिक उत्सव-प्रसंगों में सब

मिलजुलकर सहयोग करें।

विभिन्न धार्मिक तथा सांस्कृतिक उत्सवों में सब धर्मों के लोगों को सम्मिलित किया जाये। आपस में विचारों का आदान-प्रदान किया जाये और इस प्रकार एक-दूसरे के प्रति भय के वातावरण को दूर किया जाये।

विभिन्न धर्म वालों को विचार वालों को और विशेषत: मुसलमानों को अध्ययन मण्डल या विचार गोष्ठियां चलानी चाहिएं और उनमें विभिन्न धर्मों के उसूलों का अध्ययन-चिन्तन हो।

ग्रामदान, शांति सेना तथा खादी सम्बन्धी जो त्रिविध कार्यक्रम बना है, वह सारे देश में बिना किसी भेदभाव के फैलाया जाये।

साम्प्रदायिकता की समस्या परआयोजित साम्प्रदायिकता विरोधी सम्मेलनों तथा राष्ट्रीय एकता समितियों की बैठकों में इस समस्या को दूर करने के लिए अनेक सुझाव दिये गये हैं। इन समस्त सुझावों का वर्णन निम्न प्रकार से प्रस्तुत किया जा सकता है-

भारत की धर्मनिरपेक्षता की नीति में आस्था व विश्वास रखने वाले मुसलमान तथा हिन्दू बुद्धिजीवियों, राजनीतिज्ञों तथा अभिजात वर्ग के अन्य प्रबुद्ध नागरिकों को सम्मिलित रूप से इस समस्या के विरूद्ध युद्ध स्तर पर एक सामाजिक आन्दोलन चलाना पड़ेगा।

उन सामाजिक, सांस्कृतिक धार्मिक तथा राजनीतिक शक्तियों तथा तत्वों की गतिविधियों पर सरकार तथा समाज के प्रबुद्ध नागरिकों की कड़ी निगरानी रहनी चाहिए जो द्वेष, घृणा, हिंसा, रूढ़िवादी तथा प्रतिक्रियावादी प्रवृत्तियों को छिपे या खुले रूप में प्रोत्साहन प्रदान करना चाहिए।

साम्प्रदायिक तनाव तथा हिंसा को उत्पन्न करने वाले व्यक्तियों, संगठनों एवं संस्थानों को कठोर दण्ड देना जिससे कि इसी प्रकार के अन्य लोगों को कठोर दण्ड दिया जाये जो अफवाहें फैलाते हैं या समाचार पत्रों के माध्यम से साम्प्रदायिकता की आग भड़काने वाली खबरे छापते हैं।

साम्प्रदायिक एकता को बढ़ाने के लिए धर्मनिरपेक्ष शैक्षिक संस्थानों को प्रोत्साहित करने की आवश्यकता इसलिए अधिक महत्वपूर्ण प्रतीत होती है कि बहुत सी शिक्षण संस्थाएं जातीय तथा धार्मिक समूहों तथा समुदायों के द्वारा चलायी जाती रही है और इनमें शिक्षा प्राप्त करने वाले विद्यार्थियों को दूसरे धर्मों के बार में बड़ी ही भ्रांतिपूर्ण शिक्षा प्रदान की जाती है। उनके पाठ्यक्रम में ऐसी पुस्तकें निर्धारित की जाती हैं जिनमें दूसरे धर्मों की निन्दा या आलोचना की गयी है। केन्द्रीय सरकार के शिक्षा मंत्रालय का यह कर्त्तव्य होना चाहिए कि वह देश के विभिन्न विद्यालयों में पढ़ायी जाने वाली उन पुस्तकों पर प्रतिबन्ध लगा दे जिनमें एक विशिष्ट

धर्म की प्रशंसा करने के इरादे से अन्य धर्मों की निन्दा की गयी है। इन पुस्तकों के स्थान पर उन पुस्तकों को पढ़ाया जाना चाहिये जिनमें गाँधी जी के द्वारा बतायी गयी राम-रहीम की भावना का प्रचार होता हो तथा जिनमें विभिन्न धर्मों के प्रबुद्ध प्रचारकों, जो सभी धर्मा की समानता में विश्वास रखते हैं के विचार हो तथा शिक्षाविदों से यह अनुरोध करने की बात कही गयी है कि वे दैनिक समाचार पत्रों में ऐसे लेख प्रकाशित करें जिनमें धर्म को सही परिप्रेक्ष्य में प्रस्तुत किया जाये और धार्मिक अन्धविश्वास को दूर करने का प्रयत्न किया जाए।

सरकार को चाहिए कि साम्प्रदायिक दंगों की पिछली जांच समितियों की रिपोर्ट को प्रकाशित कर दें जिससे कि जनता को पता चल जाये कि साम्प्रदायिक हिंसा किन कारणोवश किन व्यक्तियों के द्वारा तथा किन तत्वों के सक्रिय योगदान से घटित होती है जब तक यह रिपोर्ट गोपनीय है जनता सत्य को नहीं देख पाती है और अज्ञान के अंधकार में रहती है।

हिंदी, उर्दू अंग्रेजी तथा अन्य प्रांतीय भाषाओं में प्रकाशित किये जाने वाले उन दैनिक समाचार पत्रों और साप्ताहिक तथा मासिक पत्रिकाओं पर कड़ी निगरानी जो साम्प्रदायिकता को बढ़ावा देने वाली घटनाओं को नमक-मिर्च लगाकर बढ़ा-चढ़ाकर छापते हैं और अपने पाठकों की धार्मिक भावनाओं को भुनाते हुए उन्हें पढ़ने के लिए वह सामग्री उपलब्ध कराते हैं जिससे उनके मन में दूसरे धर्म के प्रति घृणा तथा द्वेष का भाव उत्पन्न होता है। उन अखबारों व पत्रिकाओं के छपने पर प्रतिबन्ध यदि नहीं लगाया जा सकता है तो इतना अवश्य किया जा सकता है कि उन्हें यह आदेश दे दिया जाये कि यदि उन्होंने प्रत्यक्ष एवं परोक्ष रूप से साम्प्रदायिकता की समस्या का बढ़ावा दिया तो उनका रजिस्ट्रेशन रद्द कर दिया जायेगा।

साम्प्रदायिक घटनाओं को सफलतापूर्वक नियंत्रित करने के लिए प्रशासन के निम्नलिखित कर्त्तव्य होने चाहिए -

सभी शहरों के उन क्षेत्रों को ढूँढना जहाँ पर साम्प्रदायिक दंगे हो सकते हैं।

राज्य के गुप्तचर विभाग को यह दायित्व प्रदान करना कि वह साम्प्रदायिकता को भड़काने वाले तत्वों की गतिविधियों की जानकारी रखें।

साम्प्रदायिक दंगों की पूरी जिम्मेदारी जिला प्रशासन के प्रमुख अधिकारियों पर रखी जानी चाहिए और अकर्मण्यता के लिए उन्हें दण्ड दिया जाना चाहिए।

साम्प्रदायिक हिंसा की घटनाओं को आपातकालीन स्थिति समझकर उनको दूर करने के लिए हर प्रकार की कड़ाई की जाने की व्यवस्था होनी चाहिए।

जिला अधिकारियों को यह अधिकार प्राप्त होना चाहिए कि वे अपने विवेक का सही प्रयोग करके आवश्यकतानुसार तुरन्त कार्यवाही कर सकें।

पुलिस की जिम्मेदारी होनी चाहिए कि यदि उन्होंने हिंसा की घटनाओं को रोक पाने में ढील-ढाल की तो उनके विरूद्ध दण्डात्मक कार्यवाही की जायेगी।

प्रत्येक नगर के मोहल्ले में राष्ट्रीय एकता समितियों का गठन किया जाना चाहिए और जिनमें हिन्दू तथा मुसलमान एवं अन्य धर्मों के प्रबुद्ध नागरिक बराबर-बराबर संख्या में सदस्य हो और जिनका काम अपने-अपने क्षेत्र में शांति बनाए रखना हो।

साम्प्रदायिकता को प्रोत्साहित करने वाली विदेशी शक्तियों की गतिविधियों पर कड़ी निगरानी करने की आवश्यकता इसलिए उत्पन्न हुई है क्योंकि अनेक साम्प्रदायिक दंगों को

भड़काने में कुछ विदेशी शक्तियों का हाथ पाया गया है। पाकिस्तान तथा चीन देश की ऐसी सरकारें है जो इस देश की एकता को भंग करने का स्वप्न देख सकती हैं और कुछ ऐसा प्रयत्न कर सकती है कि हिन्दू मुसलमान आपस में लड़ते रहें।

साम्प्रदायिक संघर्षों पर नियंत्रण के सरकारी प्रयास - जून, 1962 में राष्ट्रीय एकता परिषद की स्थापना की गई थी जिसने क्षेत्रवाद और साम्प्रदायिकतावाद निवारण के लिए दो समितियां नियुक्त की थीं। परन्तु चीन के आक्रमण ने जिस राष्ट्रीय एकता को बढ़ावा दिया था उसने राष्ट्रीय एकता परिषद के कार्य को सीमित कर दिया। परन्तु यह एकता एक अल्पकालिक घटना थी और जल्द ही साम्प्रदयिक हिंसा ने पुन: जोर पकड़ा जिस कारण 1968 में राष्ट्रीय एकता परिषद की पुनर्रचना की गयी। इस बार साम्प्रदायिकतावाद क्षेत्रवाद व शिक्षण सम्बन्धी, समस्याओं के लिए तीन कमेटियां बनाई गयीं। इसके अतिरिक्त एक स्थायी कमेटी भी बनाई गयी थी। इन कमेटियों ने यद्यपि दिशानिर्देश देने तथा कानून निर्माण व प्रशासनिक व कार्यक्रम सम्बन्धी अच्छे सुझाव दिये थे, परन्तु सन् 1970 तक ये कमेटियां निरूपयोगी हो गयी थी। सितम्बर, 1986 में पांच व्यक्तियों की एक उप समिति बनाकर अल्पसंख्यकों के हितों की रक्षा करने तथा साम्प्रदायिक सद्भाव को बढ़ाने की चेष्टा की गयी। 1990 में एक बार फिर राष्ट्रीय एकता परिषद की मीटिंग करके पंजाब, कश्मीर और अयोध्या मसले पर चर्चा करने के लिए एकता परिषद की मीटिंग बुलायी गयी। दूसरी मीटिंग दिसम्बर, 1991 में कश्मीर और पंजाब के मसले पर की गयी। फिर जुलाई 18, 1993 को मीटिंग रखी पर ये सब निष्फल रही अभी तक साम्प्रदायिक सद्भाव की समस्या का राष्ट्रीय परिषद कोई हल नहीं ढूंढ पायी है।

## 15.10 सारांश

सम्प्रदायवाद एक जटिल समस्या है इसको बढ़ाने में विभिन्न धार्मिक संगठनों एवं राजनीतिक दलों का प्रमुख योगदान रहा है। प्रमुखत: यह समस्या हिन्दु और मुसलमानों के बीच द्वेष, तनाव तथा संघर्ष के रूप में उत्पन्न होता है। समय-समय पर देश के नगरों व गाँवों में हिन्दू-मुस्लिम दंगे होते रहते हैं। इन दंगों का परिणाम यह होता है कि दोनों में तनाव व संघर्ष के कारण जन-धन की हानि होती है देश में निर्धनता व बेकारी की समस्या पैदा होती है राष्ट्रीय उत्पादन घटता है। सम्पूर्ण सामुदायिक जीवन दूषित हो जाता है। राजनीतिक दलों में भी फूट, तनाव. संघर्ष और घृणा साम्प्रदायिकता का ही दुष्परिणाम हैं। देश में राजनीतिक अव्यवस्था और अविश्वास भी साम्प्रदायिकता के कारण उत्पन्न हुए है। इससे औद्योगिक विकास में भी बाधा आती है और सामाजिक सांस्कृतिक विघटन होने लगता है। यह समस्या उन हिन्दुओं व मुसलमानों के सम्पूर्ण सामूहिक एवं सामुदायिक जीवन की है जिन्हें राजनीतिक तथा धार्मिक दल के नेता उनकी गरीबी, अशिक्षा, बेरोजगारी तथा साम्प्रदायिक अन्धविश्वास के कारण अपनी साम्प्रदायिक राजनीति के शतरंज का मोहरा बना लेते है। सामाजिक वैज्ञानिकों, समाज सुधारकों और बुद्धिजीवियों को गंभीरता से विचार करना चाहिए कि इस समस्या से कैसे निजात पाया जा सकता है जिससे लोग जाति, धर्म, भाषा, प्रान्त के संकीर्ण मापदण्डों के आधार पर पृथक-पृथक वर्गों व समुदायों में बट जाते है।

## 15.11 शब्दावली

| | | |
|---|---|---|
| 1 | सम्प्रदायवाद | – दो समुदायों में विद्यमान विद्वेष अथवा तनाव संदेह, संघर्ष के भाव को व्यक्त करना होता है। |
| 2 | समुदाय | – व्यक्तियों के एक ऐसे संकलन अथवा संग्रह को समुदाय कहते हैं जिसके सदस्य अपनी प्रतिदिन की क्रियाओं के सम्पादन हेतु एक सामान्य भू-भाग को सहभागियों के रूप में प्रयोग करते हैं तथा जिनमें हमारी भावना प्रबल होती है। |
| 3 | सहानुभूति | – दूसरे व्यक्तियों की अनुभूतियों तथा प्रेरकों के प्रति इस प्रकार प्रतिक्रिया प्रकट करना जैसे व स्वयं की सहानुभूति कहलाती है। |
| 4 | पार्थवन्य या प्रथृकतावादी | – कुछ व्यक्तियों या समूहों को अलग-अलग कर उनके साथ बहुत कम अथवा बिल्कुल भी अन्तक्रिया नहीं की जाती हैं। संस्कृति, धर्म भाषा, राष्ट्रीयता, जाति, प्रजाति के कुछ आधार हैं जो अपने को एक समूह में बांधते हैं। |
| 5 | आत्मसातकरण | - एक संस्कृति द्वारा अपने से भिन्न दूसरी संस्कृति को अपने में घुलामिला लेने की प्रक्रिया को आत्मसातकरण कहते हैं। |

## 15.12 अभ्यासार्थ प्रश्न

**निम्न प्रश्नों के उत्तर 500 शब्दों में दीजिए।**

1. साम्प्रदायिकतावाद से आप क्या समझते हैं? टी.के. ऊमन द्वारा बताये गये साम्प्रदायिकता के आयामों को स्पष्ट कीजिए
2. साम्प्रदायिक हिंसा से आप क्या समझते हैं? इसके उत्तरदायी कारको को स्पष्ट कीजिए।

**निम्न प्रश्नों के उत्तर 150 शब्दों में दीजिए।**

1. साम्प्रदायिकता के कारण राष्ट्रीय एकता में बाधा के तत्वों को स्पष्ट कीजिए।
2. साम्प्रदायिकता की समस्या के निवारण के लिए कोई 5 सुझाव बताइये।
3. साम्प्रदायिकता का अर्थ व परिभाषा

## 15.13 सन्दर्भ ग्रंथ


1. राम आहूजा : सामाजिक समस्याएँ
2. ब्रजमोहन : इण्डियन सोशियल प्रोबलम्स
3. सतीश चन्द्रा : हिन्दू कम्यूनिस्म,

# इकाई - 16

# लैंगिक असमानता

**इकाई की रूपरेखा**

16.0 उद्देश्य
16.1 प्रस्तावना
16.2 अवधारणा
16.3 लैंगिक असमानता के सामाजिक संदर्भ
16.4 पारिवारिक क्षेत्र
16.5 कार्य क्षेत्र
16.6 महिला एवं श्रम
16.7 राजकीय सेवा एवं लैंगिक असमानता
16.8 राजनैतिक समाजीकरण
16.9 शिक्षा
16.10 सम्पत्ति एवं लैंगिक असमानता.
16.11 अन्य क्षेत्र - स्वास्थ्य, पोषाहार, पर्यावरण
16.12 लैंगिक असमानता - उत्तरदायी कारक
16.13 हमारा समाज - लैंगिक समानता की ओर
16.14 सारांश
16.15 अभ्यासार्थ प्रश्न
16.16 संदर्भ ग्रन्थ

## 16.0 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई से हमें यह जानने का प्रयत्न करेंगे कि -

- लैंगिक असमानता की अवधारणा क्या है?
- लैंगिक असमानता का पारिवारिक क्षेत्र में क्या रूप है?
- शैक्षिणक और पोषण में इसका स्वरूप कैसा है?
- महिलाओं के अधिकार, प्रजनन, कार्य क्षेत्र एवं अन्य क्षेत्रों में असमानता
- इस असमानता के कारण
- इसे दूर करने के प्रयत्न

## 16.1 प्रस्तावना

प्राचीनकाल से ही भारत पुरुष प्रधान समाज रहा है। हमारे देश में पितृसत्तात्मकता एवं रूढ़िवादिता होने के कारण महिलाओं के साथ प्रत्येक क्षेत्र में असमानतापूर्ण व्यवहार किया जाता है। उनका कार्य, वेतन, अध्ययन एवं प्रस्थिति के क्षेत्र में निम्न स्थान प्राप्त है। अनेक

अध्ययनों, यथा- जी. पार्थसारथी एवं एम.एल. दॉतेवाला से यह तथ्य सामने आये हैं कि विकास के सम्बन्ध में बनायी गयी अनेक नीतियाँ ग्रामीण क्षेत्रों में बेकार साबित हो जाती हैं क्योंकि ये पितृसत्तात्मक समाज को हिला देती हैं अथवा पुराने रीति-रिवाजों में परिवर्तन चाहती है। इन परिस्थितियों में यदि महिलाओं के पास कोई शक्ति नहीं है तो उनके आर्थिक लाभ के लिये चलायी जा रही योजनायें, यथा - आई.आर.डी.पी., ट्राइसेम, द्वाकरा, एन.आर.ई.पी. सभी असफल हो जाती है। महिलाओं के इस प्रकार के सीमान्तीकरण के कारण देश का विकास प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष दोनों रूपों में अवरुद्ध हुआ है।

## 16.2 अवधारणा

बालक और बालिका का जन्म बिना किसी असमानता के आधार पर होता है दोनों की जन्मदात्री मां होती है परन्तु नारी के शरीर को अमूर्त, सार्वभौमिक एवं सारत्व (Essentialism) के रूप में माना गया है। इसके अन्तर्गत उसके प्राणिशास्त्रीय आयामों को दर्शाने का प्रयास किया गया है। इसके विपरीत नारी शरीर को साँस्कृतिक अर्थ प्रदान कर दिये जाते हैं। उसके शरीर को साँस्कृतिक वस्तु के रूप में रखा जाता है, जिसमें कभी-कभी विरोधाभासी अर्थ, नियन्त्रण एवं अधिकार निर्मित होते हैं। उसके शरीर का एक अर्थ नहीं लगाया जाता। बालिका के शरीर एवं किशोरी के शरीर के अर्थ में अन्तर किया जाता है। विवाहित नारी के भिन्न-भिन्न अर्थ लगाये जाते हैं। नारी के शरीर को नियन्त्रित किया जाता है। परन्तु लड़के या पुरुष के लिये इस प्रकार विचार नहीं किया जाता। वह स्वंछन्द प्राणी है। लैंगिक केन्द्रीयता (Phallocentrism) समाज की व्यवस्था का अंग है। इसके द्वारा नारी के शरीर को एक वस्तु बना दिया गया है, ऐसी वस्तु जिसका उपयोग एवं उपभोग समाज अपनी इच्छानुसार कर सकता है।

नारी वस्तु है अथवा व्यक्ति यह एक ऐसा प्रश्न है जिसका हल ढूँढने का प्रयास करने की आवश्यकता है। लैंगिक का सामाजिक एवं साँस्कृतिक भेद संस्थागत होता है और यह सार्वभौमिक है। इस भेद को प्रगट करने के तरीके देश एवं काल में भिन्न-भिन्न होते हैं, लेकिन प्रत्येक समाज में केवल महिलाओं ने ही इन दुष्परिणामों को भोगा है। अगर कोई महिला अपने पुरूष साथी की अपेक्षा ज्यादा काम करती है, तब भी उसे परिवार एवं समाज में वह स्थान प्राप्त नहीं हो पाता, जिसकी वह अधिकारिणी है। देश में आज भी कुछ ऐसी जातियाँ एवं जनजातियाँ हैं जिनमें पुरुष तो आराम करते हैं और महिलायें सारे दिन घर गृहस्थी संभालने के अतिरिक्त खेतों एवं अन्य आर्थिक कार्यों में लगी रहती है।

**लैंगिक एवं जीव विज्ञान -** लैंगिकों (पुरुषों अथवा स्त्रियों) के बीच शारीरिक एवं जैविक अन्तर सार्वभौमिक है। इन्हीं अन्तरों का लाभ उठाकर जोड़-तोड़ की प्रक्रिया से नारी का शोषण किया जाता है, जिसकी परिणति असमानता, असुरक्षा की भावना एवं शक्ति को पुरुष तक ही केन्द्रित करने की वृत्तियों से स्पष्ट होती है।

## 16.3. लैंगिक असमानता के सामाजिक संदर्भ

लैंगिक-सम्बन्धित विकास सूचक इस औसत उपलब्धि में पुरुषों एवं स्त्रियों में असमानता को दर्शाता है। जिन तीन आयामों का प्रयोग इसके लिए किया जाता है, वे हैं - (i) स्त्रियों में जन्म पर जीवन-प्रत्याशा, (ii) स्त्री-बालिग साक्षरता एवं कुल नामांकन अनुपात और (iii) स्त्री प्रति व्यक्ति आय। यदि लैंगिक असमानता विद्यमान न हो तो मानवीय विकास सूचक और लैंगिक सम्बन्धित विकास सूचक बराबर होंगे और यदि लैंगिक असमानता (Gender Inequality) विद्यमान है तो लैंगिक सम्बन्धित विकास सूचक मानवीय विकास सूचक से कम होगा। इन दोनों में जितना अधिक अन्तर होगा, उतनी ही अधिक लैंगिक-असमानता होगी। आकड़ों के निरीक्षण से पता चलता है कि लगभग लैंगिक-समानता जिन देशों में विद्यमान है, वे हैं- नार्वे, कनाडा, संयुक्त राज्य अमेरिका. संयुक्त राज्य, जापान, मैक्सिको, रूसी फेडरेशन, मलेशिया, वेनेजुएला, फिलीपिंस, श्रीलंका, चीन, वियतनाम और इंडोनेशिया। जिन देशों में अधिक लैंगिक असमानता है, वे हैं - सऊदी अरब, ईरान, भारत, मिस्र और नाइजीरिया। विश्व में अब लैंगिक-असमानता के बारे में कहीं अधिक जागरूकता विद्यमान है और लैंगिक असमानता को कम करने के लिए स्त्रियों की शिक्षा और परिवार में उनको बेहतर स्थान उपलब्ध कराने के लिए प्रयास चल रहे हैं। कुछ देश स्त्रियों के प्रति सांस्कृतिक पूर्वागृह होने के कारण पिछड़ गए हैं किन्तु इनमें भी नारी आन्दोलन द्वारा लैंगिक-समानता लाने के लक्ष्य को प्रोन्नत किया जा रहा है।

आधुनिक युग में ये स्वीकार किया जाता है कि महिलायें पुरुषों से कमजोर नहीं है परन्तु व्यवहारिक पक्ष अलग है परिवार के क्षेत्र से लेकर जिन-जिन क्षेत्रों में महिला की भागीदारी है वहाँ उसे असमानता का सामना करना पड़ता है हम यहा विभिन्न क्षेत्रों में इसे देखने का प्रयत्न करेंगे-

## 16.4 पारिवारिक क्षेत्र

भारत में सन् 2001 की जनगणना के अनुसार 53.13 करोड़ पुरुष एवं 49.47 करोड़ महिलायें थी। स्त्री-पुरुष अनुपात - 1991 में 1000 : 927 और 2001 में 1000 : 933 रहा अर्थात देश में महिलाओं की संख्या पुरुषों के अनुपात में अधिक नहीं बढ़ रही है क्योंकि भारत में अभी भी पुत्री के जन्म को उचित नहीं माना जाता है केरल राज्य इसका अपवाद है

महिलाओं के पारिवारिक काम और उनकी पारम्परिक भूमिका को पुरुषों द्वारा किए गए काम से कम मनाने की वजह से आज भी सामाजिक तौर पर पुरुषों के मुकाबले महिलाओं को श्रेष्ठ प्राणी माना जाता है हर स्तर पर घर के अन्दर व घर के बाहर भी स्त्री और पुरूष में भेद-भाव बरता जाता है। ज्यादातर महिलाओं की इच्छा होती है उनकी सन्तान लड़का हो। जनवरी, 1991 में आप्रेशन रिसर्च ग्रुप द्वारा किए गए सर्वेक्षण के आधार पर लोगों को बेटे इतने प्रिय हैं कि दम्पतियों की अच्छी खासी संख्या दूसरे बेटे के लिए अनगिनत बेटियाँ पैदा करने को तैयार हैं। ऐसे पति-पत्नी 7.2% हैं, इस सर्वेक्षण के नतीजों के मुताबिक 2.2% जोड़े दूसरे बेटे की आशा में पाँच बेटियाँ, 4.6% जोड़े चार बेटियाँ, और 15.6% तीन बेटियाँ पैदा

करने का मन बनाए हैं। सर्वेक्षण में शामिल किए गए जोड़ी में से 19,103 शहरी और 25,815 ग्रामीण इलाकों के है, ये सभी 15 से 44 साल के बीच के थे। इन सबके लिए आदर्श परिवार में दो बेटों और एक बेटी के लिए जगह थी।

इक्कीसवी सदी के द्वारा पर खड़े हुऐ इस देश में इस सदी की अपनी तमाम विशेषताओं के बावजूद भी यह कहा जा सकता है कि विज्ञान एवं टेक्नोलोजी ने महिलाओं की समस्या को बढ़ाया है कन्या भ्रूण हत्या को इस परिप्रेक्ष्य और संदर्भ में देखा जा सकता है कि हरियाणा में यह लैंगिकानुपात 1000 : 861 तक है। दरअसल महिलाओं में भेदभाव का सिलसिला घर में नन्हीं सी बच्ची या कन्या के जन्म से ही आरम्भ हो जाता है। यही कारण है कि महाराष्ट्र में गर्भ में पल रहे शिशु का लैंगिक का पता लगाने वाले पर प्रतिबन्ध लगा दिया गया है। केन्द्र में कानून बन गया है, इसकी वजह यह है कि दहेज के दानव से बचने के लिए गरीब माँ-बाप जन्म से पहले ही कन्या के जीवन का अन्त कर देते हैं। वैज्ञानिक उपलब्धियों ने लड़कियों के पैदा होने के अधिकार पर भी सवालिया निशान लगा दिया है।

यदि लड़की हो गई तो उस की सीढ़ियाँ चढ़ने के साथ-साथ उसके प्रति भेदभाव भी बढ़ता जाता है। इसी पक्षपात के चलते पाँच साल की दहलीज पार करने के पहले ही लड़की की तुलना में करीब दुगनी लड़कियाँ काल के गाल में समा जाती हैं। क्योंकि न तो उन्हें लड़की के खुराक के बराबर खुराक मिल रहती है, न ही उनके स्वास्थ्य की कोई परवाह ही की जाती है। आकड़े बताते हैं कि हमारे देश में माताएँ कन्याओं की अपेक्षा बालकों को ज्यादा अरसे तक दूध पिलाती हैं और रात-दिन उनकी सेहत का ध्यान रखती हैं, क्योंकि लड़का लड़का है और लड़की बस लड़की ही है। बचपन से कमजोर लड़की का स्वास्थ्य कभी न पनप नहीं पाता है क्योंकि उम्र के बढ़ने के साथ-साथ बढ़ी हुई खुराक उसे कभी नसीब नहीं होती है। इसी कारण जब ये लड़कियाँ माँ बन जाती हैं तो कुपोषण के कारण खून की कमी की शिकार हो जाती हैं। खून की कमी एक ऐसी बीमारी है जो जानलेवा भी साबित हो सकती है। इस समय खून की कमी की इस बीमारी की चपेट में तीसरी दुनियाँ की 25 करोड़ महिलाएँ हैं जिसमें से अधिकाँश गर्भवती महिलाएँ हैं। बहुत सी दम तोड़ देती है।

**पत्नि के रूप में :** लैंगिक असमानता के सन्दर्भ में चार पहलुओं का विस्तृत अध्ययन किया गया है

(i) उत्पादन

(ii) प्रजनन

(iii) लैंगिकता

(iv) बच्चों का सामाजीकरण

भारतीय सन्दर्भ में इन चारों पहलुओं में पुरुषों का प्राधान्य है जबकि इन्हीं क्षेत्रों में महिलाओं का मुख्य उत्तरदायित्व है।

उत्पादन का तात्पर्य है किसी वस्तु का निर्माण करना तथा प्रजनन का तात्पर्य सजीव को जन्म देना। अधिकतर मशीनों द्वारा अनेक अनगिनत चीजों का निर्माण प्रतिदिन किया जाता है, जहाँ प्रमुख रूप से पुरुष मजदूर ही होते हैं। यद्यपि महिला मजदूर भी होती हैं, लेकिन

इनकी संख्या नगण्य होती है अथवा संख्या अधिक होने पर भी इनको किसी प्रकार का कोई अधिकार प्राप्त नहीं होता। इस प्रकार समाज में नयी चीज को लाने का श्रेय पुरुष वर्ग को जाता है, लेकिन जीव विज्ञान ने केवल महिलाओं को ही प्रजनन का सुख दिया है अर्थात् केवल एक महिला ही माँ बन सकती है। इसके कारण (सजीव को जन्म देने के कारण) महिलाओं में शुरू से ही प्यार, ममता, दया, सामाजिक जुड़ाव आदि गुण विद्यमान होते हैं जो कि समाज में अत्यन्त आवश्यक हैं जबकि पुरुष निर्जीव आकृतियों का निर्माण करता है, जिससे उनमें ये गुण विकसित ही नहीं हो पाते हैं। यह हक पुरूषों में स्वयं के पास रख रखा है अर्थात् भ्रूण परीक्षण द्वारा भ्रूण को जन्म ही नहीं लेने देना। वह मासूम भ्रूण जो कि कल के समाज का रचनाकार था, बलिवेदी पर चढ़ा दिया जाता है और इस समय कभी भी उस महिला की स्वीकृति लेने की आवश्यकता नहीं समझी जाती। यदि कहीं हस्ताक्षर के लिये महिला की स्वीकृति की आवश्यकता होती है तो उसे हर तरह से प्रताडित करके यह कार्य करवा लिया जाता है। उस समय यह नहीं सोचा जाता है कि महिला की शारीरिक एवं मानसिक स्थिति पर इसका क्या प्रभाव पड़ेगा? यह हमारे देश की लैंगिक सम्बन्धी तस्वीर है जिससे यह साफ जाहिर हो जाता है कि महिला एवं पुरुष सम्बन्धी भेद किस हद तक व्याप्त है तथा इससे कोई भी क्षेत्र अछूता नहीं है।

## 16.5 कार्य क्षेत्र

सन् 1981 की जनगणना के मुताबिक महिलाओं की पूरी आबादी के सिर्फ 19 6 प्रतिशत हिस्से के हाथों में रोजगार था। सन् 1991 की गणना के मुताबिक कामकाजी महिलाओं का प्रतिशत बढ़कर 2304 हो गया है। कामकाजी महिलाओं की संख्या तो बढ़ी हैं लेकिन किसी भी उद्योग या प्रतिष्ठान में उनकी निर्णायक भूमिका नहीं के बराबर है। उत्तर-पूर्वी राज्यों में एक तिहाई परिवार की मुखिया महिलाएँ हैं जबकि अन्य राज्यों में सिर्फ 10% परिवारों में महिलाएँ निर्णायक भूमिका में हैं। उद्योग तथा सरकारी नौकरियों के मामले में भारत एशियाई देशों में सबसे पीछे है, इस मामले में भारत की रफ्तार भी काफी कम है, सन् 1991 में प्रति एक हजार पुरुष पर 489 औरतें कार्यरत हैं। ट्रेड यूनियनों में महिलाओं का प्रतिशत 9.3 था वहाँ भी घट कर 8.6 प्रतिशत हो गया है।

लैंगिक समानता पर हाल ही में चतरसिंह मेहता द्वारा प्रकाशित लेख 'मानव विकास और महिलायें' महत्त्वपूर्ण है। आपके अनुसार, "विश्व की लगभग आधी आबादी महिलाओं की है परउन्हें पुरुषों के समान अवसर प्राप्त नहीं हैं। विश्व के गरीबों में 70% और निरक्षरों में दो तिहाई महिलाये ही है, वे केवल 14% प्रशासनिक पदों पर है और 10% संसद-विधानसभा सदस्य हैं। कानूनी दृष्टि से यह असमानता है। उन्हें पुरुषों से अधिक समय काम करना पड़ता है तथा उनके अधिकांश कार्य की कोई कीमत ही नहीं आँकी जाती।" समाज में महिलाओं को पुरुषों के बराबर अवसर प्राप्त नहीं हैं। महिला-पुरुष में प्रकृति द्वारा ज्ञान, व्यवहार, प्रकृति आदि आवश्यक स्थितियों में अन्तर होता है। पुरुष लैंगिक असमानता में मुख्य भूमिका अदा करता है। लगभग सभी समाजों में पुरुष जीवन के हर पहलू में अपना निर्णय सर्वोपरि रखता है। पुरुष को यह जिम्मेदारी महिला को भी सौंपनी चाहिये कि महिला पुरुष जीवनसाथी के रूप में निजी एवं

सार्वजनिक जीवन में एक समान ही ऐसा करने पर हो, लैंगिक समानता में सुधार होगा और परिवार एवं सामाजिक जीवन के आनन्द में वृद्धि होगी, लेकिन दुर्भाग्य यह है कि विश्व के सभी देशों में लैंगिक असमानता व्याप्त है।

हालांकि शिक्षा एवं स्वास्थ्य के क्षेत्र में सुविधाओं का विस्तार काफी तेजी से हुआ है, परन्तु आर्थिक एवं राजनीतिक क्षेत्र में प्रगति बहुत धीमी है। विश्व में 130 करोड़ लोग गरीबी की रेखा के नीचे जीवनयापन कर रहे हैं, जिनमें 70% महिलायें है। यह श्रम बाजार एवं परिवार में उनकी निम्न स्थिति को इंगित करता है। यद्यपि महिला साक्षरता दर में दो तिहाई वृद्धि हुई है, लेकिन श्रमिकों में इनकी वृद्धि केवल 4% ही हुई है। महिलायें बैंकों की ऋण सुविधा से भी पूरी तरह लाभान्वित नहीं हो पाती क्योंकि ऋणाधार के लिये उनके पास कोई सम्पत्ति नहीं होती। मजदूरी में भी इनके साथ भेदभाव किया जाता है। महिला एवं पुरुष मजदूरी में अन्तर रखा जाता है। महिलाओं को पुरुषों की अपेक्षा तीन चौथाई मजदूरी ही मिलती है। सभी स्थानों पर महिला बेरोजगारों की संख्या भी अधिक होती है। महिला मजदूरी के सन्दर्भ में 55 देशों का सर्वेक्षण करने पर उपर्युक्त तथ्य सामने आये हैं। इन 55 देशों में कोई महिला संसद सदस्य भी नहीं है और यदि हैं तो 5% से भी कम। इन देशों में गरीब एवं उच्च आय दोनों प्रकार के देश शामिल हैं। गरीब देश है: भूटान एवं इथियोपिया तथा उच्च आय वाले देश हैं; ग्रीस, कुवैत, कोरिया गणतन्त्र एवं सिंगापुर।

महिलाओं की आय की गणना ही नहीं की जाती। अनुमान लगाया गया है कि महिलाओं की आय 11 लाख करोड़ डॉलर का कम अंकन किया जाता है। इसके अनेक कारणों में से एक कारण तो यह है कि पुरुषों की तुलना में महिलाओं को अधिक समय काम करना पड़ता है। औद्योगिक देशों में पुरुष का 2/3 समय आय अर्जित करने वाले कार्यों में लगता है एवं 1/3 समय बिना आय वाले कार्यों में, जबकि महिलाओं की स्थिति इसके विपरीत होती है। विकासशील देशों में पुरुषों का 3/4 समय आय अर्जित करने वाले कामों में लगता है जबकि महिलाओं का अधिकांश या सारा ही समय घर के कार्यों एवं बच्चों के लालन-पालन में खर्च होता है, जिसका कोई मूल्य नहीं आँका जाता। यदि बिना मूल्य के कार्य को भी आय में परिवर्तित किया जाए तो महिलाओं की आय पुरुषों से ज्यादा अथवा समान तो होगी ही। इस प्रकार से महिलाएँ आर्थिक रूप से हाशिये पर हैं। उन्हें पुरुषों से अधिक समय काम करना पडता है, पुरुषों से कम मजदूरी प्राप्त होती है। सम्पत्ति पर भी उनके अधिकार सीमित ही है।

## 16.6 महिला एवं श्रम

महिलायें प्रारम्भ से ही किसी न किसी रूप में आर्थिक रूप में अपना योगदान देती रही हैं। शिकारी अवस्था में महिलायें शिकार करने नहीं जा सकती थीं, तो घर में अनेक आर्थिक धंधे, जैसे - बाँस की चीजें बनाना, अनाज साफ करना आदि कार्य किया करती थी। पशुपालन युग में पशु की देखभाल, दूध से अनेक वस्तुयें बनाना, कपड़ा बुनना इत्यादि कार्य महिलाओं द्वारा किये जाते थे। कृषि युग में भी महिलायें पूरुषों को कृषि कार्य में सहायता पहुँचाती रही हैं। औद्योगिक क्रान्ति के बाद महिलाओं को घर से बाहर धन्धे के अधिक अवसर मिलने लगे

हैं। अमेरिका में 33% जर्मन फेडरल रिपब्लिक में 36%, पोलैण्ड में 44.8%, रूस में 45% तथा भारत में 27% महिलाये किसी न किसी रूप में कार्यरत हैं।

श्रीमती पदिनी सेन गुप्ता ने अपनी पुस्तक 'वीमेन वर्कर्स ऑफ इंडिया' में अनेक प्रकार के महिला कार्यों का विवरण दिया है - (1) कारखाना, (2) खान, (3) बगीचे, (4) कृषि, (5) सार्वजनिक निर्माण विभाग, (6) गृहकार्य, (7) लघु व्यवसाय, (8) रिसेप्शनिस्ट, सहायक, टाइपिस्ट, टेलीफोन ऑपरेटर, (9) रेलवे, तथा विमान के कार्यरत, (10) ग्राम-सेविकाओं या सामाजिक कार्यकत्ताओं के रूप में, (11) शिक्षा के क्षेत्र में, (12) स्वास्थ्य के क्षेत्र में, (13) कला के क्षेत्र में, (14) वकालत के क्षेत्र में, (15) राज्यपाल, राजदूत या मंत्री पद के रूप में। महिलायें प्रत्येक धन्धे या व्यवसाय में किस अनुपात में हैं, इसका विवरण इस प्रकार है -

(1) जनगणना तथा अन्य आँकडों से स्पष्ट होता है कि अधिकांश महिलायें कृषि कार्य में ही संलग्न हैं। यहाँ भी वे अकुशल श्रमिक के रूप में ही कार्यरत दिखाई पड़ती हैं। महिलाओं की शिक्षा और प्रशिक्षण की मात्रा इतनी कम है कि उच्च पद की नौकरी बहुत कम महिलायें ही प्राप्त कर पाती हैं। अल्वा मिर्डल तथा वायोला क्लयान ने अपनी पुस्तक 'वीमेंस टू रोल्स' में लिखा है, "'प्रशिक्षण प्राप्त तथा व्यावसायिक धन्धों की परिधि में कार्य का विवरण लैंगिक आधार पर हुआ हो, ऐसा दिखाई पड़ता है। 'महिला स्वातन्त्रय' का केवल इतना प्रभाव दिखाई पड़ता है कि जो महिलाओं के क्षेत्र गिने जाते थे उसमें अकुशल के बदले कुशल एवं प्रशिक्षण प्राप्त महिलाओं को स्थान दिया जा रहा है। परम्परा से जो व्यवसाय पुरुषों के व्यवसाय के रूप में अलग माने जाते थे, उन्हें छेड़ने का कोई प्रयास नहीं किया गया है। यद्यपि इधर कुछ समय से परम्परागत पुरुष क्षेत्र में महिलाओं का छुटपुट अस्तित्व दिखाई पड़ता है।"

(2) भारत में व्यवसाय का बँटवारा जाति, धर्म एवं वर्ग के आधार पर भी देखा जा सकता है। मजदूरी या बेगारी आदिवासी महिलाओं द्वारा एवं शिक्षिका, टाइपिस्ट, नर्स आदि मध्यम वर्ग द्वारा किया जाता है। महिलाओं को असमान वेतन प्राप्त होता है। इसके उपरान्त अधिकांश व्यवसायों में सामाजिक सुविधाओं का अभाव ही दिखलाई पड़ता है। प्रसूतिकालीन अवकाश, शिशु पालनघर, उपयुक्त वातावरण, व्यवसाय में पेंशन इत्यादि - सुविधायें भारत में महिलाओं के लिये दिवास्वप्न ही है।

(3) भारत में इस सम्बन्ध में एक और तथ्य सामने आता है कि यही अधिकांश महिलायें घर में रहकर अपनी आर्थिक स्थिति को सुधारने का प्रयास करती हैं। इसके लिये यहाँ की परिस्थितियाँ ही जिम्मेदार हैं। एक तो गृहकार्य की सारी जिम्मेदारी महिलाओं की ही होती है और दूसरी ओर संयुक्त परिवार में रहने के कारण उन पर कार्यभार ज्यादा होता है।

इससे लगता है कि महिलाओं को श्रम सम्बन्धी समस्याओं का सामना करना पड़ता है जो निम्न हैं -

**(1) मजदूरी में असमानता -**

भारतीय संविधान में महिलाओं एवं पुरुषों को समान अधिकार दिये गये हैं। समान पारिश्रमिक अधिनियम, 1976 के अन्तर्गत महिला श्रमिकों को समान पारिश्रमिक के भुगतान

का प्रावधान है। इसमें विभेद करना दण्डनीय अपराध है, परन्तु व्यावहारिक रूप से इस अधिनियम का पालन कहीं नहीं किया जाता। यहाँ तक कि समान कार्य में महिला-महिला की मजदूरी में भी अन्तर पाया जाता है।

**(2) सुरक्षा का अभाव -**

लेबर ब्यूरो की रिपोर्ट (खदानों मे कामगार महिलाओं की सामाजिक आर्थिक दशा) के अनुसार, खदान कार्यों में लगी महिलाओं में से 56%' कामगार महिलायें अस्थायी तौर पर कार्य करती हैं और अस्थायी पुरुषों की संख्या 21% है। इन महिलाओं को कार्य, सुरक्षा आदि के प्रशिक्षण की भी व्यवस्था नहीं की जाती है, सुरक्षा किट आदि उपलब्ध नहीं कराये जाते। फिर भी ये महिलायें इनके बिना अपनी जान जोखिम में डालकर कार्य करती हैं। कभी-कभी महिला मजदूरों को काम की तलाश में खाली हाथ ही लौटना पड़ता है। इनको प्रत्येक दिन अलग-अलग स्थानों पर काम करने जाना पड़ता है, अत: वे अपने कार्य के बारे में निश्चितता नहीं ला पाती।

**(3) श्रम की असमानता एवं बेगार -**

कई कार्यों में महिलाओं के कार्य के घण्टे निश्चित नहीं होते हैं। श्रम कानून के अन्तर्गत किसी श्रमिक से 8 घण्टे काम लिया जा सकता है। यदि श्रमिक 8 घण्टे काम करता है तो वह मजदूरी कहलाती है, लेकिन 8 घण्टे से ज्यादा काम बिना अतिरिक्त पारिश्रमिक दिये लिया जाता है, तो वह शोषण है। 10 घण्टे से अधिक काम बिना अतिरिक्त पारिश्रमिक दिये लिया जाता है तो यह दोहन कहलाता है। हमारे देश में महिला श्रमिक वर्ग शोषण एवं दोहन दोनों का शिकार हैं।

(4) **सुविधाओं का अभाव** -

श्रमिक महिलाओं को अन्य प्रकार की सुविधायें नहीं मिलती हैं, जिनमें प्रसूति अवकाश, प्राथमिक चिकित्सा सुविधा बाल गृह, बोनस आदि प्रमुख हैं। इनके अभाव में इन्हें अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। इन सुविधाओं के अभाव में उसे शारीरिक और आर्थिक रूप से बहुत हानि पहुँचती है।

महिलाओं के लिये रोजगार उनकी समस्याओं को हल करने का रामबाण समाधान नहीं है। समाज के निम्न वर्गों में महिलायें अनेक कार्यों में रत हैं, फिर भी वे पुरुषों के शिकंजों में जकड़ी हुई हैं। आधुनिक भारत में महिलाओं की असमानता को समझने के लिये उनको शिक्षित-अशिक्षित, धनी-निर्धन और ग्रामीण बनाम शहरी वर्ग में बाँटने से उपयुक्त समझ नहीं मिलेगी। वास्तव में महिलाओं को पुरुषों से अलग रखकर नहीं समझा जा सकता। केवल परिवार ही महिलाओं को गुलाम बनाने वाली संस्था नहीं है, समाज की प्रकृति ही ऐसी है कि जिसमें महिलाओं के साथ अनुदार रूप में व्यवहार किया गया है। कार्य के प्रत्येक क्षेत्र में महिला को इस असमानता की समस्याओं से जूझना पडता है कहीं आधा वेतन पाकर, कहीं हिंसा, कहीं अश्लीलता, कहीं पुरुष के अंह से। लेओन ट्रॉटस्की के अनुसार, "पुरुषोचित अहंवाद की कोई सीमा नहीं है, संसार को समझने के लिये हमें इनको महिलाओं के चक्षुओं से देखना चाहिए।

## 16.7 राजकीय सेवा एवं लैंगिक असमानता

राजकीय सेवा में भी महिलाओं की भागीदारी न्यून रही है। सचिव स्तर के पुरुष अधिकारियों की संख्या जहाँ 75 है वहीं मात्रा एक महिला को इस स्तर पर पहुँचने का श्रेय मिला है। इसी प्रकार अतिरिक्त सचिव स्तर के 293 पुरुष अधिकारी हैं वही मात्रा 16 महिलाएँ ही इस स्तर पर पहुँची। संयुक्त सचिव के मामले में भी महिलाएँ काफी पिछड़ी हैं। जहाँ पुरुष संयुक्त सचिव 1,114 हुए हैं, वहीं 57 महिला संयुक्त सचिव हुई हैं। इन आकड़ों से स्पष्ट हो जाता है कि महिलाओं के प्रगति की गति केंचुए से भी धीमी है। सक्रिय राजनीति में सलंग्न महिलाओं की संख्या नगण्य है।

राजकीय सेवा में बढ़ती हिंसा ने राजनीति में महिलाओं की भागीदारी पर नाकाबन्दी सी कर दी है। महिलाएँ इसलिए भी चुनाव लड़ने से घबराती हैं क्योंकि उनके पुरुष प्रतिद्वन्द्वी चरित्र हनन के रामबाण को अपनाने से यदा-कदा ही चूकते है।

राजकीय सेवाओं में महिलाओं की जो थोड़ी बहुत उपस्थिति है उसको उनकी प्रगति का प्रमाण नहीं मान लेना चाहिएं आकड़ों से पता चल जाता है कि राजकीय सेवा में न केवल उन्हें उच्चतम पदों से लगभग वंचित रखा गया है, वरन् निर्णय लेने की प्रक्रिया के आसपास भी उन्हें फटकने नहीं दिया गया हैं उद्योग, राजस्व, रक्षा मन्त्रालय ऐसे महत्त्वपूर्ण विभागों में उन्हें हाशिए पर ही रखा गया है। पुरुषों के दिमाग में महिलाओं की जो तस्वीर है उसी के अनुसार विभागों के साथ महिलाओं को विशेष प्रकार से जोड़ दिया गया है। वे विभाग हैं- समाज कल्याण, स्वास्थ्य, शिक्षा आदि जहाँ रक्षा मन्त्रालय में वे संख्या में मात्रा 1.34 प्रतिशत हैं, वहाँ स्वास्थ मन्त्रालय में उनकी संख्या 23.09 प्रतिशत है।

**न्यायिक सेवाओं में महिलाओं का प्रतिनिधित्व -**

न्याय तन्त्रा में महिलाओं का प्रतिनिधित्व अन्य राजकीय सेवाओं की ही तरह है। उच्चतम न्यायालय के 21 न्यायाधीशों में से केवल एक महिला को ही ऐसा सम्मान मिला है। उच्च न्यायालय के 419 न्यायाधीशों में से महिलाओं की संख्या 41 है। अभी तक दिए गए तथ्यों को यदि ध्यान में रखा जाए तो दो निष्कर्ष साफ निकलते हैं- एक, राजनीति और राजकीय सेवा दोनों ही में महिलाओं के साथ गहरे भेदभाव का बर्ताव हो रहा है। उनकी प्रतिभा को नकार कर पुरुषों के मुकाबले में उन्हें दूसरे, तीसरे नहीं बल्कि चौथे दर्जे में रखा जा रहा हैं। वर्तमान स्थिति में परिवर्तन लाने के लिए आरक्षण अत्यन्त आवश्यक और एकमात्र उपाय है। राजनीति के क्षेत्र में आरक्षण से महिलाएँ किस तरह एक सार्थक भूमिका निभा सकती हैं। इसका कुछ अन्दाजा पंचायत के स्तर पर किए गए आरक्षण से लगाया जा सकता है। महाराष्ट्र के बिटरगाँव की सर्व महिला पंचायत ने सारा दायित्व कुशलता के साथ निभाकर पुरुषों को चकित कर दिया। अशिक्षित महिला सदस्यों के बिना झिझक स्थानीय विद्यालय के शिक्षकों से हिसाब-किताब रखना सीख लिया। उन्होंने जुएबाजी को खत्म किया और शराब के अड्डों पर कड़ी निगाह लगा दी।

## 16.8 राजनैतिक समाजीकरण

महिलाओं एवं पुरुषों की संख्या समाज में लगभग बराबर है, लेकिन महिलाओं का विकास पुरुषों की तुलना में अत्यधिक पीछे है। इस कारण महिलाओं का स्तर ऊँचा करने के लिये संविधान में उन्हें बहुत से अधिकार प्रदान किये गये हैं तथा उनके लिये विभिन्न कानूनों का निर्माण किया गया है, जिससे महिलायें धीरे-धीरे अच्छी स्थिति की तरफ बढ़ रही हैं। बीसवीं शताब्दी में दुनिया के देशों में प्रजातन्त्रा धीरे-धीरे मजबूत हुआ है, इसमें महिलाओं की भागीदारी भी उत्तरोत्तर बढ़ रही है। वर्ष 1945 में जहाँ विश्व के केवल 26 संसदें थी और उनमें महिला सांसदों की संख्या मात्रा 3% थी, वहीं वर्ष 1995 में सांसदों की संख्या बढ़कर 176 हो गयी, लेकिन महिला सांसदों की संख्या में वृद्धि नहीं हुई। विश्व की तमाम संसदों में महिला सांसदों की कुल संख्या 11.6% के आसपास थी। 1995 के बाद के वर्षों में विश्व की संसदों में 3% की और वृद्धि हुई है, किन्तु महिला सांसदों की संख्या में कोई परिवर्तन दर्ज नहीं हुआ।

बंगाल और महाराष्ट्र में मुख्य राजनीतिक दलों के पास अच्छी संख्या में महिला कार्यकर्ता हैं फिर भी लोकसभा और विधानसभाओं के द्वार उनके लिए लगभग बन्द से रहे हैं। ममता बनर्जी, उमा भारती, फूलन देवी ऐसे अपवादों को छोडकर जो भी महिलाएँ लोकसभा या विधानसभा तक पहुँच पाई हैं, वे सभी चोर दरवाजों से दाखिल हुई हैं, नेता-पति या नेता-पिता की मृत्यु के बाद उनकी पत्नी या पुत्री को उसके क्षेत्र से चुनाव के लिए खड़ा कर दिया जाता है। टिकट देने वाले दल का उद्देश्य किसी महिला को प्रतिनिधत्व का मौका नहीं अपितु नेता की मृत्यु के बाद जन्मी सहानुभूति की लहर का दलगत लाभ उठाना मात्रा होता हैं जो सहानुभूति की सीढ़ी पर चढकर नहीं पहुँचती हैं वे परिवार की प्रतिष्ठा और वैभव के बल पर पहुँचती हैं।

आकाँक्षा और क्षमता होने के बाद भी स्वतन्त्रा उम्मीदवार के रूप में चुनाव लड़ने का साहस महिलाएँ नहीं जुटा पाती हैं। उसके कुछ विशेष कारण हैं। दिन प्रतिदिन बढ़ती राजनीतिक हिंसा का सामना करने के साधन महिलाओं को उपलब्ध नहीं है। नागपुर की स्त्री अत्याचार विरोध परिषद द्वारा आयोजित सम्मेलन में स्थानीय संस्थाओं में प्रतिनिधत्व करने वाली जो 60 महिलाएँ एकत्रित हुई थी उनमें से 32 महिलाएँ खुद हिंसात्मक हमलों का शिकार हुई थीं। और 19 महिला उम्मीदवारों के कार्यकर्ताओं को विरोध पक्ष के गुण्डों ने गम्भीर रूप से घायल कर दिया था।

अत: ध्यान देने की आवश्यकता है कि संसदीय गणतन्त्रों की स्थापना से ही उनमें महिलाओं की भागीदारी को नहीं बढ़ाया जा सकता। भारत विश्व का सबसे बड़ा लोकतन्त्र होने का दावा करता है, किन्तु हमारी संसद एवं विधान सभाओं में महिलाओं की भागीदारी बहुत कम है। यह तो जीतने वाली महिलाओं की स्थिति है, चुनाव में हिस्सेदारी निभाने वाली महिलाओं का प्रतिशत और भी कम है। चुनावों में महिलाओं की हिस्सेदारी न केवल उम्मीदवार के तौर पर, बल्कि मतदाता के रूप में भी सीमित है।

महिला मत दाता के रूप में

**(1)** महिलायें स्वतन्त्र मतदाता नहीं हैं।

**(2)** ज्यादातर महिलायें निरक्षर हैं।

**(3)** अधिकतर महिलाओं का निर्णय अपने परिवार के पुरुष सदस्यों, यथा-पिता, पति, पुत्र आदि की राय पर निर्भर करता है।

**(4)** महिलाओं में सूचना एवं राजनीतिक जागरूकता का अभाव है।

इन्हीं कारणों से महिला आरक्षण की व्यवस्था आवश्यक है। भारत में महिलाओं की भागीदारी के लिये उठाया गया सबसे महत्त्वपूर्ण कदम 73 वाँ और 74 वाँ संविधान संशोधन अधिनियम था जिसके द्वारा पंचायती राज और शहरी निकाय की संस्थाओं में महिलाओं की एक तिहाई भागीदारी सुनिश्चित की गई।

6 मई2003 को संसद में महिला आरक्षण विधेयक के सम्बन्ध में जो स्थिति सामने आयी, उससे यह स्पष्ट जाहिर होता हैं कि भारतीय समाज आज भी पुरुष प्रधान है। इसके द्वारा महिलाओं को न्यायोचित अधिकार ही नहीं, बल्कि आरक्षण दिये जाने का भी विरोध किया जा रहा है। 14 वीं लोकसभा के चुनाव के बाद 2004 में सत्तासीन हुई 'संप्रग' सरकार ने महिला आरक्षण के प्रति अपनी प्रतिबद्धता प्रदर्शित की है। हाल ही में महिला आरक्षण विधेयक 8 मार्च, 2010 की राज्य सभा द्वारा पारित संसद के दिया है।

## 16.9 शिक्षा

भारत में साक्षरता का प्रतिशत कम है। स्त्रियों में तो यह प्रतिशत और भी निम्न है। वर्ष 1971 में महिलाओं में साक्षरता का प्रतिशत 21.97 व पुरुषों में 45.96 था जो वर्ष 2001 में बढ़कर क्रमश: 54.16 व 75.85 हो गया। यह भिन्नता अलग-अलग राज्यों में अलग-अलग है। केरल में साक्षरता का प्रतिशत सर्वाधिक है, जबकि राजस्थान, अरुणाचल, उत्तर प्रदेश, झारखण्ड व बिहार में काफी कम हैं राजस्थान में 2001 की जनगणना के अनुसार साक्षरता की दर 61.03 है। राजस्थान के ग्रामीण क्षेत्रों में तो स्त्रियों की साक्षरता का प्रतिशत काफी कम है। वर्ष 2001 की जनगणना के अनुसार देश में 18.95 करोड़ स्त्रियां निरक्षर हैं। भारत में नगरों की तुलना में गांवों में तो स्त्री साक्षरता बहुत कम है। डॉक्टरी, इन्जीनियरिंग, वकालत एवं अन्य तकनीकी शिक्षा प्राप्त करने वाली लड़कियों की संख्या तो और भी कम है। स्त्रियों को शिक्षा न दिलाने का कारण पर्दा-प्रथा और स्त्रियों की पुरुषों पर निर्भरता एवं उनका कार्य-क्षेत्र घर तक ही सीमित होना है। ग्रामीण लोग तो सामान्यत: यह कहते हैं कि लड़की तो पराया धन है, उसे पढ़ाकर हमें कोई राज नहीं करवाना है। लड़कियों को पढ़ाना अब भी कई ग्रामीण लोग उचित नहीं मानते। यही कारण है कि भारतीय स्त्रियां अशिक्षित हैं और अशिक्षा के कारण उत्पन्न समस्याओं का उन्हें शिकार होना पड़ता है।

## 16.10 सम्पत्ति एवं लैंगिक असमानता

सम्पत्ति के सम्बन्ध में महिलाओं के अधिकार के बारे में विविध जातियों तथा धर्मों में विविध प्रथायें प्रचलित थीं, किन्तु धीरे-धीरे महिलायें स्वयं सम्पत्ति समझी जाने लगीं, अत: सम्पत्ति में किसी प्रकार का कोई अधिकार नहीं दिया जाता था। समय की माँग एवं बदलती सामाजिक परिस्थितियों में पुन: महिलाओं को सम्पत्ति सम्बन्धी अधिकार देने की माँग बलवती होने लगी। अत: अंग्रेजी शासन काल में तथा आजादी के बाद इस सम्बन्ध में कानून बनाने का

प्रयास किया गया। प्राचीन काल में हिन्दू समाज में उत्तराधिकार की दो प्रणालियाँ थी- मिताक्षरा तथा दायभाग। मिताक्षरा प्रणाली में संयुक्त सम्पत्ति एवं निजी सम्पत्ति के उत्तराधिकार में भेद किया गया है जबकि दायभाग प्रणाली में ऐसा कोई भेद नहीं किया गया है। महिला को सम्पत्ति का अधिकारी माना ही नहीं गया था। केवल 'स्त्री धन' ही उसका निजी धन होता था, जिस पर उसका सम्पूर्ण अधिकार स्वीकार किया गया था। इस प्रकार जब महिला स्वयं व्यवसाय के क्षेत्र में आगे आयी और उसकी स्वयं के बारे में जागरूकता बढ़ी, तो सरकार ने भी उसकी तरफ ध्यान दिया और इस सम्बन्ध में कानूनों की रचना की।

## 16.11 अन्य क्षेत्र - स्वास्थय, पोषाहार, पर्यावरण

**स्वास्थ्य -**

देश के अधिकाँश घरों में लड़कियों के स्वास्थ्य के प्रति उपेक्षा भरा रवैया अपनाया जाता है। यह रवैया लड़कियों के मन में यह भाव करता है कि वे अवान्छित हैं। अपने भाइयों की तुलना में हेय या हीन है। उनका जन्म उनके अभिभावकों और परिवार के लिए संकट का कारण है। उनके कारण परिवार के सदस्यों को किसी दूसरे के सामने छोटा होना पड़ेगा। यह विचार उनके व्यक्तित्व के विकास को कुण्ठित करते हैं।

नई दिल्ली के सफदरजंग अस्पताल के एक सर्वेक्षण के अनुसार 35 प्रतिशत लड़कियाँ ही चिकित्सा के लिए पहुँच पाती हैं, अर्थात चिकित्सा के लिए आने वाली लड़कियों में से सिर्फ 35 प्रतिशत ही बीमार होने के कारण 24 घण्टों के अन्दर अस्पताल पहुँचती हैं। 5- 14 की आयु वर्ग में मृत्यु सम्बन्धी आकड़ों के विश्लेषण से इस तथ्य की पुष्टि हो जाती है कि बीमारी के समय लडके और लड़कियों की चिकित्सा और देख-भाल में भेद-भाव किया जाता है। लुधियाना के दो शैक्षणिक चिकित्सा संस्थानों के 1998 के बाह्य रोगी विभागों के सर्वेक्षण के अनुसार वहाँ आए 20,407 बच्चों में से 65.2 प्रतिशत लड़के और 34.8 प्रतिशत लड़कियाँ थीं। भर्ती होने वाले 3,773 बच्चों में से 83.5 प्रतिशत लड़के और 16.5 प्रतिशत लड़कियाँ थीं। भर्ती होने वाले बच्चों में से जिनकी मृत्यु हो गई उनमें लड़कियों की संख्या अधिक थी। हमारे देश में प्रति वर्ष 1.5 करोड़ लड़के व लड़कियाँ पैदा होती हैं। जिसमें एक चौथाई लड़कियाँ 15 वर्ष की उम्र भी पूरा नहीं पाती हैं। कुपोषण का शिकार होने के कारण काल के ग्रास में समा जाती हैं।

**पोषाहार -**

नेशनल न्यूट्रिशन मानटरिंग ब्यूरो ने देश भर में लोगों की खुराक के अध्ययन के लिए सर्वेक्षण किए। इससे पता चला कि केरल में 53%, तमिलनाडू में 48.8 प्रतिशत, गुजरात में 44.2 प्रतिशत और उत्तरप्रदेश में 52.2 प्रतिशत परिवारों की खुराक, कैलोरी, प्रोटीन या दोनों के ही लिहाज से नाकाफी थी। इस संस्था के अध्ययनों से यह बात भी सामने आई कि पाँच वर्ष से कम आयु के सिर्फ 15 प्रतिशत बच्चों को पोषण मिल पाता है। बाकी 85 प्रतिशत बच्चे किसी न किसी प्रकार के अल्प पोषण से ग्रस्त होते हैं। एक सरकारी रिपोर्ट के अनुसार ही कम से कम 30,000 बच्चे विटामिन 'ए' की कमी के कारण अन्धे हो जाते हैं।

बुलेटिन ऑफ न्यूट्रिशन फाउण्डेशन ऑफ इण्डिया जनवरी 1992 में प्रकाशित एक अध्ययन के अनुसार पंजाब के जिन गाँवों में विकास कार्यक्रम शुरू हुए थें वहाँ स्त्रियों के स्वास्थ्य सम्बन्धी स्थिति पहले से भी अधिक खराब हो गई है। जन्म के समय बच्चों का वजन अपेक्षाकृत कम रहने लगा। कारण? विकास के फलस्वरूप स्त्रियों के हिस्से में ज्यादा काम और मेहनत आ गई अब उन्हें गर्भावस्था के अन्तिम दिनों में भी अथक परिश्रम करना पड़ता है।

इसी तरह से आक्सफोर्ड विश्वविद्यालय के अर्थ-शास्त्री डॉ.आर अमर्त्य सेन और सुनील सेन गुप्ता ने पश्चिम बंगाल के एक विकसित और एक अविकसित गाँव का अध्ययन किया तो कुछ आश्चर्यजनक निष्कर्ष सामने आने लगे। उन्होंने दोनों गाँवों के 5 वर्ष से कम आयु के बच्चों में गम्भीर और विनाशकारी अल्प पोषण के प्रमाण मिले हैं इतना ही नहीं लड़कों की तुलना में लड़कियों में अल्प पोषण का अनुपात अधिक था। सबसे बड़ी बात तो यह है कि दोनों गाँवों मे से जिनमें भूमि-सुधार लागू करने से आर्थिक लाभ हुआ, उसका फायदा लड़कियों की तुलना में लड़कों को मिला।

**पर्यावरण -**

घरेलू पर्यावरण प्रदूषण के खतरे से अस्थमा, फेफड़े की बीमारियाँ, कैंसर, शिशु का कम वजन, अन्धता, हृदय की बीमारियाँ भी बढ़ रही हैं। विश्व स्वास्थ्य संगठन की रिपोर्ट के अनुसार 28 लाख मौत घरेलू हवा प्रदूषण से होती हैं। पर्यावरण के खतरों में सिगरेट जैसी वस्तुओं का खतरा भी शामिल है। विश्व स्वास्थ्य संगठन के मुताबिक विकसित देशों में 42 प्रतिशत महिलाएँ सिगरेट के नशे की आदी हैं। जबकि विकासशील देशों में महिलाओं की भागीदारी सिगरेट की तल में 7 प्रतिशत है और पुरुष 63 प्रतिशत सिगरेट के नशे के आदी है। सिगरेट व अन्य पर्यावरणीय खतरों के कारण 5 प्रतिशत छाती का कैंसर महिलाओं को होता है। विश्व स्वास्थ्य संगठन की रिपोर्ट के अनुसार पर्यावरण प्रदूषण के निम्नलिखित कारण है -

| | |
|---|---|
| **(1)** हवा, पानी और खान-पान के कारण | 5 प्रतिशत महिलाओं को स्तर कैंसर |
| **(2)** घरेलू खाना पकाने में इस्तेमाल ईधन के धुएँ के प्रदूषण से महिलाओं की औसत संख्या | 4,000 लाख महिलाएँ प्रभावित |
| **(3)** जलप्रदूषण से वर्ष 1996 में मौत विश्व स्तर पर | 25 लाख |
| **(4)** इण्डोर प्रदूषण | 28 लाख |

ओजोन परत का स्तर क्षीण होकर एक विशाल होल का आकार ले लेगा जिससे सूर्य की किरणें सीधे पृथ्वी पर आसानी से आ जाएँगी। इससे आम आदमी प्रभावित होगा ही, इसका सबसे पहले प्रभाव महिलाओं पर पड़ेगा। वैज्ञानिकों का कहना है कि कम तापमान पर भी स्त्रियों में स्तर कैंसर आदि जैसी बीमारियाँ होने की काफी अधिक सम्भावना बढ़ जाती है।

भारत जैसे गर्म देशों में महिलाओं की स्थिति पर पर्यावरण के कई सीधे प्रभाव भी पड़ते हैं। इसका सबसे बड़ा कारण यहाँ की लड़कियाँ 12-13 साल में बच्चा पैदा करने की स्थिति में हो जाती है।

परिणामस्वरूप भारत में जनसंख्या वृद्धि तो होती ही है, लेकिन, प्राकृतिक संसाधनों में जनसंख्या के समानान्तर बढ़ोत्तरी न होने के कारण कई प्रकार की समस्याएँ आ जाती हैं।

पर्यावरण असन्तुलन की मार सबसे ज्यादा ग्रामीण महिलाओं पर पड़ी है। ग्रामीण क्षेत्रों में महिलाओं का अधिक समय जलाने की लकड़ी लाने में ही व्यतीत हो जाता है। अनुमान है कि बहुत अधिक कटे हुए जंगलों से लकड़ी एकत्रा करने में महिलाओं को कम कटे हुए जंगलों से आठ गुना ज्यादा समय लगता है। एक दूसरे अनुमान के अनुसार हमारे देश के मैदानी भागों में अपने परिवार के लिए ईधन लाने के लिए एक महिला को कम से कम 1400 किलोमीटर वार्षिक दूरी तक करनी पड़ती है। यह दूरी कलकत्ता से दिल्ली तक की दूरी के बराबर है।

सन् 1990 में लागू किए गए। "स्ट्रक्चरल एडजस्मेंट प्रोग्राम" को लेकर महिला एवं पर्यावरण पर पड़े रहे उसके कुप्रभाव की चर्चा करते हुए विभूति पटेल लिखते है कि सन् 1991 -92 के बजट में पर्यावरण एवं वन विकास की मद में 18 प्रतिशत की कटौती की गई। बंजर जमीन रेगिस्तान के विकास एवं सामाजिक वानिकी में महिलाओं को बड़े स्तर पर स्थाई रोजगार मिल जाता। इन मदों से 23.5 प्रतिशत की कटौती की गई, धुएँ रहित चूल्हे, जो महिलाओं के स्वास्थ्य के लिए आवश्यक हैं, में 18.5 प्रतिशत की कटौती हुई। इसी प्रकार गोबर गैस तथा ऊर्जा के क्षेत्र में क्रमश: 26.3 तथा 25.4 प्रतिशत की कटौती की गई।

इसके अतिरिक्त सभी विकासशील देशों में पानी का प्रबन्ध करना महिलाओं की प्रारम्भिक जिम्मेदारी होती है। संसार में पानी की प्रति व्यक्ति आपूर्ति 1970 की तुलना में आज केवल एक तिहाई रह गई है। शहरों में पीने के शुद्ध पानी का अभाव तथा गाँवों में पानी की वास्तविक कमी महिलाओं की प्रतिदिन की समस्याओं में से एक है। एक अनुमान के अनुसार एशिया और अफ्रीका में 13-14 प्रतिशत और लैटिन अमेरिका में 8 प्रतिशत शहरी जनसंख्या प्रदूषित पानी पीती है जबकि एशिया, लैटिन अमेरिका और अफ्रीका की ग्रामीण आबादी का क्रमश: 32,45 प्रतिशत भाग पानी के अभाव में पीड़ित है।

कहने की जरूरत नहीं कि प्रकृति की भाँति ही महिला की परिवार में देखभाल करने वाले की भूमिका रही है। लगभग सभी परम्परागत समाजों के परिवारों में बच्चे-बूढ़ों और बीमार की देखभाल की जिम्मेदारी महिलाओं की रही है। परिवार के लिए दोनों समय की रोटी जुटाना उनका नैतिक कर्तव्य माना गया है। आज जब महिलाओं की स्थिति एवं भूमिका में कई बुनियादी परिवर्तन हो चुके हैं तथा निर्धारित भूमिकाओं के विरुद्ध आवाज उठ रही है, तब भी विभिन्न अध्ययनो में पाया गया है। कि महिलाएँ अपनी आमदनी का एक बड़ा हिस्सा बच्चों तथा परिवार के अन्य सदस्यों के लिए अच्छी सुविधाएँ जुटाने में खर्च करती है। ऐसे में पर्यावरण से होने वाली महिलाओं को किसी भी प्रकार की क्षतिये से बचाने के लिए सरकारी और गैर सरकारी संस्थाओं को एक जुट होकर आगे आना चाहिए।

## 16.12 लैंगिक असमानता - उत्तरदायी कारक

ईसा के 300 वर्ष पूर्व से स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पूर्व तक स्त्रियों की स्थिति में निम्नलिखित कारणों से गिरावट आती गयी.

**स्त्री-शिक्षा की उपेक्षा -** अनेक सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक कारणों से स्त्रियों को शिक्षा देना अनावश्यक समझा गया। यह माना जाने लगा कि स्त्रियों को नौकरी नहीं करनी है, अत: उन्हें शिक्षा दिलाने की कोई आवश्यकता नहीं है। शिक्षा के अभाव में स्त्रियां अपने

अधिकारों के प्रति जागरूक नहीं रह सकीं और एक-एक करके उनके सभी अधिकार छिनते गये। अशिक्षा के कारण वे अन्धविश्वासों, कुसंस्कारों और रूढ़ियों में इस प्रकार जकड़ गयी कि अब उनमें चेतना नाम की कोई वस्तु शेष नहीं रह गयी। परिणाम यह हुआ कि पुरुषों की तुलना में स्त्रियों की स्थिति काफी निम्न हो गयी।

**हिन्दू आदर्श एवं मूल्य -** हिन्दू विवाह से सम्बंधित कन्यादान के आदर्श ने भी स्त्रियों की स्थिति को निम्न करने में योग दिया। प्रारम्भ में ब्राह्य-विवाह के अन्तर्गत योग्य वर को ढूंढ कर पिता वस्त्रा और आभूषणों से सुसज्जित अपनी लड़की को दान के रूप में उसे देता था। उस समय कन्यादान का महत्व योग्य वर को ढूंढने से सम्बन्धित था। धीरे-धीरे स्मृतिकाल के बाद कन्यादन की धारणा के अन्तर्गत कन्या को एक वस्तु के रूप में समझ लिया गया। अब यह माना जाने लगा कि जो वस्तु दान में दी जा चुकी है, उसे न तो वापस लिया जा सकता है और न ही पुन: उसका दान किया जा सकता है। जिस व्यक्ति ने कन्यादान के रूप में उन्हें ग्रहण किया है, वह जैसा चाहे वैसा ही उसका उपयोग कर सकता है। इस प्रकार के विश्वासों का परिणाम यह हुआ कि स्त्रियों के अधिकार छिनते गये।

**वैवाहिक कुरीतियां -** स्मृतिकार बाल-विवाह के पक्ष में थे। जो हिन्दु समाज की कुरीति है। उन्होंने कम आयु में ही लड़की का विवाह कर देना माता-पिता का धार्मिक कर्तव्य माना। परिणाम यह हुआ कि लड़कियों के लिए विवाह संस्कार ने ही उपनयन संस्कार का स्थान ले लिया और लड़कियों के लिए शिक्षा की कोई व्यवस्था नहीं रही। ऐसी स्थिति में उन्हें अपने व्यक्तित्व के विकास का अवसर नहीं मिला। बाल विवाह के अतिरिक्त कुलीन विवाह, अन्तविवाह विधवा विवाह पर प्रतिबन्ध, दहेज प्रथा आदि का काफी योगदान रहा है।

**संयुक्त परिवार व्यवस्था** - संयुक्त परिवार प्रणाली ने स्त्रियों की स्थिति को गिराने में सक्रिय योग दिया है। संयुक्त परिवार में स्त्रियों को कोई स्वतन्त्रता नहीं होती और न ही उनके कोई आर्थिक अधिकार होते हैं। उन्हें तो पुरुषों की कृपा पर निर्भर रहने वाली आश्रित नारियों के रूप में जीवन बिताना पड़ता है। परिवार में वयोवृद्ध स्त्रीयों की आज्ञा का पालन और सभी सदस्यों की सेवा करना ही उनका प्रमुख धर्म माना गया। संयुक्त परिवार ने स्त्रियों को चेतना-शून्य बनाकर सब अधिकारों से वंचित कर दिया।

**पुरुषों पर आर्थिक निर्भरता -** पति ही पत्नी का भरण-पोषण करने वाला माना गया है और इसी कारण उसे 'भर्ता' कहा गया है। ऐसी स्थिति में पत्नी का अपने पति पर आश्रित होना स्वाभाविक ही है। उत्तर-वैदिक काल के बाद स्त्रियों के सम्पत्ति सम्बन्धी अधिकार समाप्त कर दिये गये। उन्हें अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए पुरुषों पर निर्भर रहना पड़ा। पति पर आर्थिक निर्भरता के कारण पत्नी किसी भी अवस्था में पति से सम्बन्ध विच्छेद करने या परिवार की सदस्यता छोड़ने की बात सोच भी नहीं सकती थी। पुरुषों पर इस आर्थिक निर्भरता का परिणाम यह हुआ कि स्त्रियों की स्थिति निम्न होती गयी।

**मुसलमानों के आक्रमण -** भारत में मुसलमानों के आक्रमण और राज्य स्थापना के पश्चात् स्त्रियों की स्थिति में तेजी से गिरावट आयी। मुस्लिम आक्रमणकारियों से हिन्दू धर्म की रक्षा हेतु ब्राह्मणों ने सामाजिक नियमों को कठोर बनाने और उन्हें कठोरता के साथ लागू करने

का प्रयत्न किया। मुसलमानों में स्त्रियों की कमी थी। अत: वे हिन्दू स्त्रियों और विधवाओं तक से विवाह करना चाहते थे। इस स्थिति से बचने के लिए हिन्दू स्त्रियों पर अनेक प्रतिबन्ध लगाये गये। बाल-विवाहों को प्रोत्साहित किया गया, विधवा-पुनर्विवाह पर नियन्त्रण लगाया गया, पर्दा-प्रथा लागू की गई और सतीत्व के आदर्श को काफी बढ़ा-चढ़ा कर प्रस्तुत किया गया। स्त्रियों को घर से बाहर नहीं निकलने दिया जाता था। ऐसी स्थिति में लड़कियों के शिक्षा प्राप्त करने की कोई सम्भावना नहीं रही। इन सब परिस्थितियों ने स्त्रियों की स्थिति को गिराने में योग दिया।

**अशिक्षा** - स्त्रियों में अशिक्षा के कारण भी समाज में उनकी स्थिति निम्न हो गयी। अशिक्षा के कारण वे रूढ़िवादी, धर्मान्ध एवं अन्धविश्वासी हो गयी और सामाजिक कुरीतियों में जकड़ गयी। उन्हें इस प्रकार के धार्मिक आदेश दिये गये जिससे वे ऊपर न उठ सकें, पति परमेश्वर, पतिव्रता, कन्यादान और सतीत्व के आदर्श उसे बचपन से ही सिखाये गये और स्त्री का जीवन घर की चहारदीवारी तक ही सीमित हो गया।

## 16.13 हमारा समाज - लैंगिक समानता की ओर

वास्तव में महिलाएँ हमारे समाज में अपेक्षाकृत कम शिक्षित व सक्रिय भागीदारी से वंचित रही, जिससे हमारी उन राष्ट्रीय प्रोन्नत योजनाओं के विस्तार को करारा झटका लगा जो एक लोकतान्त्रिक व विकसित राष्ट्र की श्रेणी में आने वाले देश के लिए आवश्यक होती है। कारण था रुढ़िवादिता, अशिक्षा और उनके मानवाधिकारों : का हनन। यदि गम्भीरता पूर्वक देखा जाए तो ये सारे मामले महिलाओं के मानवाधिकारों के हनन से सम्बन्धित है।

वह एक निश्चित अवधि (विश्व के औसत के बराबर या इससे अधिक) तक स्वस्थ और प्रसन्नचित होकर जीवित रहे।

वह शिक्षित, प्रशिक्षित होकर स्वावलम्बी बने।

राजनीतिक एवं प्रशासनिक मामलों में उसकी सक्रिय तथा भेदभाव रहित भागीदारी हो।

उसे शारीरिक और बौद्धिक रूप से, बिना किसी भेदभाव के, विकसित होने के अवसर मिलें।

एक सम्मान पूर्ण जीवन स्तर व्यतीत करने के लिए उसे आधारभूत स्वास्थ्य एवं स्वच्छ पर्यावरण तथा खान-पान की सुविधाएँ मिलें।

परिवार एवं समाज के आर्थिक संसाधनों पर पुरुषों के समकक्ष उसका भी स्वामित्व हो और उनके दोहन एवं उपभोग का उसे पूरा-पूरा अधिकार हो। घर-परिवार व सार्वजनिक स्थलों पर उसके सम्मान की रक्षा की जाए।

घर-परिवार और समाज में उसके विचारों को सम्मान एवं समान महत्व मिले तथा उसके ऊपर निर्णय थोपे न जाएँ वरन् उनकी सम्मति से लागू किए जाएँ।

महिलाओं के मानवाधिकारों के हनन के मामले में सर्वाधिक विडम्बनायुक्त तथ्य यह है कि धार्मिक और राजनीतिक कारणों से राज्य इसमें कोई हस्तक्षेप नहीं करता। राजनीतिक व्यवस्था के द्वारा निकट भविष्य में भी इन मुद्दों पर कोई कार्यनीति अपनाए जाने की सोच

नहीं दिखाई देती। भारत में आज महिला आरक्षण की बात कई राजनीतिक दलों द्वारा संसद में उठाई गई है - लेकिन उनको आरक्षण देने का प्रश्न जटिल बना दिया गया हैं।

अत: यदि पंचायतों में या संसद तथा विधानसभाओं में उनकी भागीदारी को राजनीतिक व्यवस्था के कर्ताधर्ता आवश्यक मानते हैं तो उनके मानवाधिकारों के रक्षार्थ एक कार्यनीति अपनायी जानी चाहिए। उसकी प्राथमिकताएँ निम्नलिखित हों -

- 14 वर्ष तक की बालिकाओं के लिए निःशुल्क तथा अनिवार्य शिक्षा।
- कार्य करने योग्य समस्त महिलाओं को व्यावसायिक प्रशिक्षण देकर उन्हें स्वावलम्बी बनाना।
- कानूनों की सैद्धान्तिक स्थिति तथा कार्यान्वयन स्थिति के बीच के चौड़े अन्तर को धीरे-धीरे कम करना।
- राजनीतिक एवं प्रशासनिक स्तर पर महिलाओं की बराबरी की भागीदारी हेतु आरक्षण व्यवस्था तत्परता से लागू करना।
- आर्थिक संसाधनों के स्वामित्व के मामले में महिलाओं को बराबरी का अधिकार प्रदान करना।
- मानवाधिकार को प्राथमिक स्तर से ही शैक्षिक पाठ्यक्रमों में शामिल करना।
- बालिकाओं तथा महिलाओं के प्रति सभी प्रकार के भेदमूलक प्रावधानों को समाप्त करना।
- घर में और घर के बाहर महिलाओं के उत्पीड़न को रोकने के लिए प्रभावी उपाय अपनाए जाना।
- निजत्व तथा स्वास्थ्य की रक्षा के लिए उपयुक्त आवास की व्यवस्था।
- उनके स्वास्थ्य की समुचित देखभाल और पोषण युक्त भोजन की व्यवस्था करना।

अत: इक्कीसवीं सदी में विकसित राष्ट्र बनने के सपने को साकार करने में अगर जनसंख्या का आधा प्रतिनिधित्व करने वाली महिलाओं की समस्याओं का सार्थक समाधान खोजकर उनको राजनीतिक व्यवस्था में भागीदार बनाया जाय तो महात्मा गाँधी की परिकल्पना को साकार किया जा सकेगा। इसी सन्दर्भ में उल्लेखनीय है कि नारी के विषय में गाँधी की जो विशिष्ट दृष्टि थी उस पर विचार जरूरी है। वे महिला शिक्षा को महत्व देते थे, पर इससे भी महत्वपूर्ण मानते थे नारी-जागरण को। वे कहते थे ऐसी जन-जागृति लानी होगी कि नारियाँ अन्धविश्वासों से बाहर आएँ, अपनी अस्मिता पहचानें और सामाजिक नवनिर्माण तथा राजनीतिक स्तर पर उनकी भागीदारी हो। गाँधी जी ने अपने चिन्तन में बार-बार पुरुष के मुकाबले महिलाओं को श्रेष्ठ सिद्ध किया। उनका कहना था कि हो सकता है कि महिलाएँ शारीरिक बल में पुरुषों से कमतर हों, लेकिन आत्मिक बल में वे श्रेष्ठ हैं। इसलिए जब तक हमारे समाज का समूचा वर्ग, इकाई, महिलाएँ और पुरुष समान रूप से अपने अधिकारों, कर्तव्यों तथा दायित्वों से परिचित न हो, तब तक गाँधीजी के सपने को साकार करना सम्भव न होगा।

## 16.14 सारांश

इस समस्त विश्लेषण से आपने यह जाना कि लैंगिक असमानता का जन्म कैसे हुआ तथा महिला को समाज में लैंगिक के आधार पर परिवार, कार्यक्षेत्र, राजकीय सेवा एवं शिक्षा के क्षेत्र में अलग रखा गया। आपने यह भी जाना कि हमारे समाज की प्रथाओं और परम्पराओं ने

महिला की उन्नति को रोका अच्छे स्वास्थ्य, पोषाहार से हम उन की शारिरिक कमजोरी को दूर कर सकते हैं और मानवीय अधिकारों के माध्यम से वर्तमान समाज में लैंगिक असमानता को दूर कर सकते हैं।

## 16.15 अभ्यासार्थ प्रश्न

1. लैंगिक असमानता को परिभाषित करिये तथा पारिवारिक क्षेत्र में इसको स्पष्ट करिये।
2. भारत में कार्य क्षेत्र में लैंगिक असमानता से जुड़ी समस्याओं की व्याख्या कीजिये।
3. भारतीय समाज में लैंगिक असमानता के उत्तरदायी कारकों की स्पष्ट करिये।
4. वर्तमान समाज में लैंगिक समानता की ओर किस प्रकार अग्रसर हो रहा है।
5. लैंगिक असमानता से जुड़ी असमानताओं से जुड़ी समस्याओं पर निबन्ध लिखिये।

## 16.16 संदर्भ ग्रंथ


1. जेन्डर इनइक्विलिटी - व्हाईट रिबन डे 1991, 16 डेज ऑफ ग्लोबल एकटीविजम अंगेनस्ट जेंडर इनइक्विलिटी इन साउथ अफ्रीका, यू.के एवं कनाडा
2. बिजिंग कानफ्रेन्स - 1995
3. केपटाउन - द रिसेंट ग्लोबल अविड फोरम
4. आहुजा, राम, राईटस ऑफ वॉमेन - ए फेमीनीस्ट परसपेक्टिव रावत पब्लीकेशन 1992
5. अलटेकर ए.एस., द पोसीशन ऑफ वॉमेन इन इण्डिया हिन्दू सिवीलाइजेशन मोती लाल बनारसी लाल, वाराणसी
6. वारबरा वार्ड, वॉमेन इन द न्यू एशिया, यूनेस्को 1963 चक्रोवर्ती के, द कनफ्रलीकटिंग वर्ल्डस ऑफ वर्कीग मदर्स, प्रोग्रेसिव पब्लीशर कलकत्ता 1978
7. देसाई, नीरा एण्ड पटेल, विभूमि, इंडियन वॉमेन - चेंज एंड चैलेंज इन द इनटरनेशनल डिकेड पोपूलर प्रकाशन बम्बई 1985
8. रामू जी.एन- वॉमेन, वर्क एंड मैरिज इन अरवन इंडिया, सेग प्रकाशन, नई दिल्ली

# इकाई - 17

# संस्कृति : अवधारणा, संरचना एवं स्वरूप (वैश्वीकरण एवं भारतीय समाज में परिवर्तन के सन्दर्भ में)

**इकाई की रूपरेखा**


17.1 उद्देश्य

17.2 प्रस्तावना

17.3 संस्कृति अर्थ व अवधारणा

17.4 संस्कृति की विशेषताएँ

17.5 संस्कृति की संरचना एवं स्वरूप

17.6 सांस्कृतिक विलम्बन

17.7 संस्कृति के मूल तत्व

17.8 भारतीय समाज में वैश्वीकरण एवं सांस्कृतिक परिवर्तन

17.9 सारांश

17.10 शब्दावली

17.11 अभ्यासार्थ प्रश्न

17.12 सन्दर्भ ग्रन्थ


## 17.1 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई का उद्देश्य संस्कृति के बारे में अध्ययन करना है। संस्कृति की सरंचना व इसके स्वरूप को समझकर हम भारतीय संस्कृति पर वैश्वीकरण के प्रभावों को समझ सकेंगे। मनुष्य को संस्कृति धारक पशु कहा गया है। संस्कृति विहीन मनुष्य पशु के समान है। इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् हमें निम्न बिन्दु स्पष्ट हो जायेंगे-

- संस्कृति का अर्थ स्पष्ट हो जायेगा।
- संस्कृति के विभिन्न तत्वों का स्पष्टीकरण
- वैश्वीकरण के बारे में जानकारी
- भारतीय समाज पर वैश्वीकरण का प्रभाव

## 17.2 प्रस्तावना

मनुष्य व पशु में भिन्नता का प्रमुख आधार संस्कृति ही है। मनुष्य शारीरिक दृष्टि से काई विशाल व शक्तिशाली प्राणी नहीं है। हाथी, घोड़े, शेर आदि उसमें कहीं अधिक शक्तिशाली है लेकिन मनुष्य के पास विकसित मस्तिष्क है। इस मस्तिष्क में मनुष्य सामाजिक धरोहर को समाहित करता चला जाता है। मनुष्य संस्कृति का धारक, निर्माता व संवर्धक है। संस्कृति के अभाव में मानव को पशु से श्रेष्ठ नहीं माना जा सकता। संस्कृति ही मनुष्य के श्रेष्ठतम धरोहर है जिसकी सहायता से मानव पीढ़ी दर पीढ़ी आगे बढ़ता जा रहा है। संस्कृति के अभाव में

मनुष्य पशुवत् प्राणी है। मनुष्य ही एक ऐसा प्राणी है जिसने अपनी शारीरिक व बौद्धिक विशेषताओं के द्वारा प्राकृतिक पर्यावरण से संस्कृति का निर्माण किया। मनुष्य ने भौतिक क्षेत्र में अनेक वस्तुओं को निर्मित किया है तो अभौतिक क्षेत्र में अनेक मूर्त एवं अमूर्त विचारों को अभिव्यक्त किया। मनुष्य में प्राणीशास्त्रीय दृष्टिकोण से पशुओं की तुलना में कुछ विशिष्ट क्षमताएँ हैं जिनके आधार पर वह संस्कृति का निर्माता बना।

ये विशेषताएँ है -

1. विकसित मस्तिष्क - मनुष्य का सबसे बड़ा हथियार उसका विकसित मस्तिष्क है। जिसके माध्यम से वह सोचना की प्रक्रिया को सशक्त रूप में प्रस्तुत करता है। इसी मस्तिष्क के आधार पर ज्ञान का निर्माण व अनेक प्रकार के अविष्कार व विकास करता है।
2. सीधे खड़े रहने की क्षमता- पशु को चलने के लिए चारों टांगों का उपयोग करना पड़ता है, जबकि मानव दो पैरों से चलता है व हाथों की सहायता से अन्य कार्य कर सकता है।
3. मनुष्य के हाथ - मनुष्य के हाथों की बनावट इस प्रकार की है कि वह वस्तुओं को उठाने व औजारों का उपयोग करने में सक्षम है। यही कारण है कि मानव अपने हाथों द्वारा अनोखे निर्माण कार्य कर सका है।

प्रकृति एक स्वाभाविक एवं स्वत: अभिव्यक्त विद्या है जिसमें अनेक प्रकार की विभक्तिकृत वस्तुएँ व प्राणी, स्वाभाविक व निरंतर रूप से निर्मित होते हैं। प्रकृति ने मनुष्य को बनाया है और मनुष्य ने संस्कृति का निर्माण किया है। मनुष्य में विकसित मस्तिष्क के कारण स्वयं निर्माण करने की क्षमता है, अत: संस्कृति मनुष्य के द्वारा भौतिक व अभौतिक, मूर्त एवं अमूर्त, वस्तुओं एवं विचारों की वह अभिव्यक्ति है जो पीढ़ी दर पीढ़ी सामाजिक स्तर पर हस्तान्तरित होती है। अत: संस्कृति द्वितीयक स्तर की सर्जना है। मनुष्य अपने जीवन की मूलभूत आवश्यकताओं की पूर्ति सांस्कृतिक तरीके से ही पूर्ण करता है। सामाजिक जीवन की क्रियाओं को मूल्य, मानदण्ड, नियम, विचार के माध्यम से पूर्ण करते हैं। मनुष्य का सबसे बड़ा सांस्कृतिक आविष्कार भाषा है। भाषा अभिव्यक्ति के स्तर में अमूर्तता लाती है और संचार व संबंधों के निर्माण का एक प्रमुख साधन बन जाती है।

## 17.3 संस्कृति : अर्थ एवं अवधारणा

संस्कृति की अवधारणा मानवशास्त्र व समाजशास्त्र में विशेष रूप से परिष्कृत हुई है। मानवशास्त्री संस्कृति को सदैव समूह वाचक संज्ञा की तरह प्रयुक्त करते हैं, मानवशास्त्र में संस्कृति की विशेष महत्व है क्योंकि मानवशास्त्रियों का मानना है कि मानव का व्यवहार संस्कृति द्वारा ही निर्धारित होता है। डी.एन. मजूमदार व टी.एन. मदान लोंगों के जीने के ढंग को ही संस्कृति मानते हैं।

**ई.बी.टायलर के अनुसार -** "संस्कृति वह जटिल समग्र है जिसमें ज्ञान, विश्वास, कला, आदर्श, कानून, प्रथाएँ व अन्य आदतें व क्षमताएँ है जिन्हें, मनुष्य ने समाज के सदस्य के रूप में ग्रहण किया है। "मेरिल व एल्ड्रिज ने टायलर की इस परिभाषा को संस्कृति की शास्त्रीय परिभाषा माना है क्योंकि इसमें सामूहिक जीवन के तत्वों के साथ-साथ भौतिक तत्वों का भी समावेश है जो हमारे जीवन में महत्वपूर्ण है।

**हर्षकोविट्स के अनुसार -** "संस्कृति पर्यावरण का मानव निर्मित भाग है।" अर्थात हर्षकोविट्स ने सम्पूर्ण पर्यावरण को संस्कृति नहीं माना वरन् इस पर्यावरण में से मनुष्य ने जो कुछ भौतिक-अभौतिक वस्तुएँ निर्मित की है वहीं संस्कृति है। जैसे पेन, पंखा, कुर्सी, टेबल, विश्वास रीति-रिवाज आदि।

**मेलिनोवस्की के अनुसार-** संस्कृति जीवन व्यतीत करने की एक सम्पूर्ण विधि है जो कि व्यक्ति की शारीरिक, मानसिक एवं अन्य आवश्यकताओं की पूर्ति करती है और उसे प्रकृति के बन्धनों से मुक्त करती है।

क्लोकहोन ने कहा है किसी भी समाज की समान जीवन शैली में विशिष्टता पाई जाती है। वे इसे परम्पराओं की ऐसी धरोहर मानते हैं जो पीढ़ी दर पीढ़ी हस्तान्तरित होती है।

**हॉबेल के अनुसार -** "संस्कृति सीखे हुए व्यवहार प्रतिमानों का कुल योग है जो किसी समाज के सदस्यों की विशेषता है जो प्राणीशास्त्रीय विरासत का परिणाम नहीं है। इस परिभाषा से स्पष्ट है कि संस्कृति सीखी जाती है। अत: इसे पीढ़ी दर पीढ़ी हस्तान्तरित किया जाता है। वे संस्कृति को मानवीय आवश्यकताओं की पूर्ति का साधन मानते है।

इस प्रकार मानवशास्त्री संस्कृति को हमेंशा 'समूह वाचक संज्ञा' की तरह प्रयुक्त करते हैं जिसके अन्तर्गत मानव समाज की सारी प्रतिकारात्मक एवं सीखी हुई चीजों के साथ-साथ गैर जैविक चीजें भी आ जाती है। मानवशास्त्री मानव व्यवहार का निर्धारक संस्कृति को ही मानते हैं। संस्कृति की तुलना में आनुवंशिक कारकों को कम महत्व देते हैं।

समाजशास्त्र में भी संस्कृति के अध्ययन का बहुत महत्व है। समाजशास्त्रीय अर्थ में संस्कृति की समाज की धरोहर या विरासत के रूप में परिभाषित किया गया है। समाजशास्त्रियों का उद्देश्य संस्कृति व समाज के बीच के संबंधों का अध्ययन करना है। प्रत्येक समाज में किसी न किसी प्रकार की संस्कृति अवश्य पाई जाती है और संस्कृति में समयानुसार परिवर्तन आते रहते हैं जिसका प्रभाव समाज पर प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से अवश्य पड़ता है। इसी कारण हम समाजशास्त्र में संस्कृति का अध्ययन करते हैं।

मानव संस्कृति के विभिन्न आयाम बचपन से सीखे जाते हैं। बच्चे वह सब सीखते हैं या बच्चों को वह सब सिखाया जाता है जिसे समाज के सदस्य सीखने योग्य मानते हैं। इस अर्थ में बालक समाज के 'सामान्य सहभागिता युक्त अनुभव' को आत्मसात करता है। हम शुरू से ही खाने, उठने-बैठने, कपड़े पहनने 'अवसर के अनुसार', अभिवादन आदि के प्रतिमानों को सीखते है। यह सब सीखकर ही व्यक्ति "समाजीकृत प्राणी" बनता है।

लैंडिस के अनुसार "संस्कृति वह संसार है जिसमें एक व्यक्ति जन्म से लेकर मृत्यु तक निवास करता है, चलता-फिरता है और अस्तित्व को बनाये रखता है।"

ब्रूम व सेल्जनिक "संस्कृति को सामाजिक विरासत के रूप में स्वीकार करते हैं।"

लेसले व्हारत ने संस्कृति के प्रतीकात्मक पक्ष पर जोर दिया है- उनके अनुसार "सांस्कृतिक प्रघटना की व्यवस्था है जिसमें क्रियाएँ, व्यवहार, प्रतिमान, वस्तुएँ, औजार, विश्वास, विचार, ज्ञान, भावनाएँ, दृष्टिकोण व मूल्य आते हैं और जो प्रतीकों के प्रयोग पर निर्भर हैं। व्हाइट के अनुसार "संस्कृति प्रतीकात्मक, निरन्तर, संचयी एवं विकासमान प्रक्रिया हैं।"

फेयर चाइल्ड के अनुसार "प्रतीकों द्वारा सामाजिक रूप से प्राप्त और संचारित सभी व्यवहार प्रतिमानों के लिए सामूहिक नाम संस्कृति है।"

व्यवहार प्रतिमानों को समझने के लिए भाषा का प्रयोग किया जाता है। भाषा प्रतीक होती है। हम यथार्थ को अमूर्त रूप दे देते हैं। यह अमूर्तिकरण ही प्रतीकात्मक है और संस्कृति का निर्माण करता है। हम जीवन में अनेक प्रतीकों को आत्मसात कर संस्कृति को आत्मसात करते हैं। जब हम किसी बच्चे द्वारा बड़े बुजुर्ग को प्रणाम करते देखते हैं तो समझ जाते है कि वह उनका सम्मान कर रहा है। प्रणाम करना हमारी संस्कृति में सम्मान का प्रतीक है। भाषा में संस्कृति का अभिन्न अंग है। भाषा मुखर प्रतीकों की एक व्यवस्था है। जिसके द्वारा संचार आसानी से होता है। हम समाज में रह कर भाषायी प्रतीकों को धीरे-धीरे सीख कर संस्कृति को ग्रहण करते है। भाषा के द्वारा हम शब्दों को अर्थ देते हैं।

## 17.4 संस्कृति की विशेषताएँ

संस्कृति की विशेषताओं को हम निम्नलिखित नौ बिन्दुओं के आधार पर समझ सकते हैं।

(1) संस्कृति सीखी जाती है- संस्कृति मनुष्य को वंशानुक्रमण के आधार पर प्राप्त नहीं होती वरन समाज में रहकर व्यक्ति समाजीकरण के द्वारा संस्कृति को सीखता है। संस्कृति को हम सीखकर ही प्राप्त करते है। यह कोई जैविक प्रक्रिया नहीं है। यह वस्तुत: सामाजिक एवं मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया है जिसके अन्तर्गत लोगों को विभिन्न बच्चे समाजीकरण द्वारा माता-पिता, पड़ोसी, मित्रों, शिक्षक या अन्य लोगों के सम्पर्क में रहकर 'सामान्य सहभागिता युक्त अनुभव' द्वारा संस्कृति को आत्मसात करते हैं।

(2) सांस्कृति हस्तांतरित होती है- बच्चा जन्म से लेकर संस्कृति का निर्माण नहीं करता वरन् समाज में रहकर समाजीकरण द्वारा संस्कृति सीखता है। अत: संस्कृति का हस्तांतरण पुरानी पीढ़ी द्वारा नयी पीढ़ी की ओर होता है। संस्कृति का हस्तांतरण एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को व एक समूह से दूसरे समूह को होता है। भाषा इस हस्तांतरण का सर्वाधिक सशक्त साधन है। भाषा, लेखन व संकेतों के माध्यम से नयी पीढ़ी को संस्कृति का हस्तांतरण होता है। इनके द्वारा ही संस्कृति का संचयन भी होता है। जिससे ज्ञान व संस्कृति का कोष दिनों-दिन बढ़ता जाता है।

(3) संस्कृति में सहभागिता होती है- कार्य को करने का वह तरीका जो सिर्फ व्यक्ति विशेष से जुड़ा हो संस्कृति नहीं है। वह व्यक्तिगत आदत हो सकती है। कोई भी व्यक्तिगत मानदंड संस्कृति का भाग तब तक नहीं हो सकता जब तक कि उसमें अन्य लोगों की भागीदारी न हो, उस मानदंड को समाज, समुदाय या समूह स्वीकार न कर ले। हाथ जोड़कर अभिवादन करना हमारी संस्कृति है, लेकिन अगर कोई दो मित्र अभिवादन करने के अपने कोई विशेष नए तरीके अपनाते है तो वह संस्कृति नहीं है। बीयरस्टेड ने कहा है कि संस्कृति एक सामाजिक विरासत है। यह किसी भी व्यक्ति की चीज नहीं है। इसका विकास एवं संरक्षण समस्त समाज के द्वारा होता है।

(4) संस्कृति में अनुकूलन की क्षमता होती है- संस्कृति जड़ वस्तु नहीं है। संस्कृति में लचीलापन होता है जिसके कारण वह मनुष्यों भौगोलिक व सामाजिक आवश्यकता के अनुसार बदलती

रहती है और नयी परिस्थितियों के अनुसार अपना अनुकूलन कर लेती है। संस्कृति एक विशिष्ट भौतिक व सामाजिक परिस्थिति में ही अनुकूलन करती है। एक भौगोलिक परिस्थिति के लिए जो संस्कृति अनुकूलनशील होती है, वह आवश्यक नहीं कि दूसरे भौगोलिक परिस्थिति के लिए भी हो। इसी कारण पहाड़ी भागों, मैदानों, रेगिस्तान एवं बर्फीले प्रदेशों में निवास करने वाले लोगों की संस्कृति में अन्तर पाये जाते है। इसका कारण है कि वहाँ की संस्कृति ने अपने आपको भौगोलिक परिस्थितियों के अनुरूप ढाला है।

(5) संस्कृति एक आदर्श के रूप में - प्रत्येक समाज में कुछ सांस्कृतिक आदर्श होते हैं जिसे समाज करने के लिए लोगों को प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से बाध्य करता है। समाज जिन चीजों को विशेष महत्व देता है उसके अनुसार व्यक्तियों के व्यवहार करने की अपेक्षा रखता है। वहीं संस्कृति का आदर्श माना जाता है। जैसे ब्राह्मणों द्वारा पूजा पाठ करना, जनेऊ पहनना, मुसलमानों में नमाज पढ़ना आदि।

(6) संस्कृति संगठित होती है- संस्कृति के विभिन्न प्रतिमान पृथक-पृथक नहीं वरन् एक दूसरे से जुड़े रहते है। संस्कृति की इकाइयाँ-संस्कृति तत्व, संस्कृति संकुल व संस्कृति प्रतिमान संगठित रूप में ही संस्कृति की व्यवस्था को बनाए रखते हैं। संस्कृति के अन्तर्गत एकीकरण का भाव पाया जाता है। भारत में क्षेत्रीय विभिन्नताओं के बावजूद संस्कृति के ये विभिन्न तत्व लोगों को जोड़ने व संगठित रखने का काम करते है। विभिन्नताओं के बावजूद हम एकता की बात इसलिए करते हैं कि सम्पूर्ण भारत की एक सामान्य संस्कृति है जो दुनियाँ की अन्य संस्कृतियों से भिन्न है।

(7) संस्कृति परिवर्तनशील होती है- संस्कृति परिवर्तनशील होती है। परिवर्तनशीलता के कारण ही संस्कृति संगठित रह जाती है और उसमें अनुकूलनशीलता रह पाती है। संस्कृति के एक पक्ष में परिवर्तन उसके अन्य भागों में परिवर्तन को आवश्यक बना देता हे। संस्कृति में परिवर्तन आदतों में परिवर्तन अथवा संस्कृति को अस्वीकार किए जाने के कारण उत्पन्न होता है। जब व्यवहार करने का कोई नया तरीका ज्यादातर लोगों द्वारा अपना लिया जाता है तो वहीं संस्कृति बन जाता है। इस प्रकार धीरे-धीरे संस्कृति में परिवर्तन आते रहते हैं।

(8) संस्कृति अधिवैयक्तिक व अधि सावयवी होती है- मानवशास्त्री क्रोबर ने संस्कृति के बारे में कहा है कि संस्कृति व्यक्ति एवं स्वयं से ऊपर है। संस्कृति स्वयं मनुष्यों द्वारा निर्मित होती है पर जब यह निर्मित हो जाती है तब यह व्यक्तियों से इस अर्थ में ऊपर हो जाती है कि व्यक्ति उसके अनुसार व्यवहार करने लगता है। संस्कृति अधिव्यापी इस अर्थ में है कि संस्कृति में कोई प्राण नहीं होते हैं। यह बिल्कुल स्वतंत्र, अमूर्त एवं स्पर्शगम्य है। इसके बावजूद यह इतनी जीवंत है कि वह समस्त समाज का संचालन करती है।

(9) संस्कृति आवश्यकता की पूर्ति का साधन है- मानव ने अपनी शारीरिक. मानसिक व भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए ही संस्कृति का विकास किया है। प्रकार्यवादी मैलिनॉवास्की का तो मत है कि संस्कृति का कोई तत्व बेकार नहीं होता है, संस्कृति मानव की विभिन्न आवश्यकताओं की पूर्ति करती है। किसी भी सांस्कृतिक तत्व का अस्तित्व तभी तक बना रहता है जब तक वह मानव की आवश्यकताओं की पूर्ति करता है। मानव की आवश्यकताओं

की पूर्ति के लिए ही समय-समय पर नये आविष्कार होते रहते हैं और वे समय के साथ संस्कृति के अंग बनते जाते है।

## 17.5 संस्कृति की संरचना एवं स्वरूप

संस्कृति जनरीतियों, रूढ़ियों, कानून आदि का सुव्यवस्थित स्वरूप है। समाज में मौजूद विभिन्न रीति रिवाज जब तक किसी क्रिया या व्यवहार की सार्थकता सिद्ध न करें, तब तक वे सांस्कृतिक नहीं हो सकते। भौतिक व अभौतिक दोनों संस्कृतियों में उनके विभिन्न भाग एक दूसरे से मिल-जुलकर क्रमबद्ध रूप से व्यवस्थित होकर उसे एक सम्पूर्णता प्रदान करते हैं। इसी को संस्कृति की संरचना कहते हैं। संस्कृति की संरचना का निर्माण करने वाले तत्व निम्न प्रकार से हैं-

(1) सांस्कृतिक तत्व- संस्कृति की सबसे छोटी इकाई को लिंटन ने सांस्कृतिक तत्व कहा है "संस्कृति की सबसे छोटी इकाई सांस्कृतिक तत्व है। संस्कृति की वह छोटी से छोटी इकाई जिसका और अधिक विभाजन नहीं किया जा सके, सांस्कृतिक तत्व कहलाता है। सांस्कृतिक तत्व के अविभाज्य होने का अर्थ है कि उसका विभाजन होने पर उसकी सार्थकता समाप्त हो जाती है। जैसे घड़ी का निर्माण कई तरह के पुर्जों से होता है लेकिन यदि इन पुर्जों को पृथक-पृथक कर दिया जाए तो वह अर्थपूर्ण नहीं रह जायेंगे। अभौतिक संस्कृति में प्रणाम करना, प्रार्थना करना आदि सांस्कृतिक तत्व है। अत: स्पष्ट है कि सांस्कृतिक तत्व मानव के काम आने की दृष्टि से सबसे सरल, छोटी और विभाजित न हो सकने वाली इकाई है।

(2) संस्कृति संकुल- सांस्कृतिक तत्वों के समूह को संस्कृति संकुल कहते हैं। जब बहुत से संबंधित तत्व को किसी क्रिया को पूर्णता प्रदान करते हैं। तो वह सांस्कृतिक संकुल का निर्माण करते हैं। अर्थात् जब सांस्कृतिक तत्व परस्पर अर्थपूर्ण ढंग से जुड़ जाते हैं और वे मानव आवश्यकताओं की पूर्ति करते हैं तो उसे हम संस्कृति संकुल कहते हैं। जैसे क्रिकेट के खेल में खेलने वाले खिलाड़ी, बल्ला, गेंद निर्णायक आदि उस खेल के तत्व है जो आपस में मिलकर क्रिकेट खेल का संकुल बनाते हैं। इस खेल में कई भौतिक व अभौतिक तत्व मिलकर इसे सार्थक बनाते हैं। भौतिक तत्वों में बल्ला, गेंद आदि व अभौतिक तत्वों में खेल में दक्षता, नियम, खेल भावना आदि तत्व आते है। ये सब तत्व मिलकर क्रिकेट खेल की संरचना बनाते हैं एक सांस्कृतिक संकुल का निर्माण करते हैं।

(3) संस्कृति प्रतिमान- संस्कृति प्रतिमान में संस्कृति तत्व एवं संकुल विशेष प्रकार से व्यवस्थित होते है। जब बहुत से तत्व व संकुल जो प्रकार्यात्मक रूप से संबंधित है मिलते हैं और किसी सार्थक उपादान का निर्माण करते है तो वे सांस्कृतिक प्रतिमान की रचना करते हैं। यह संस्कृति प्रतिमान किसी संस्कृति की बहुत महत्वपूर्ण इकाई होती है। समाज में बच्चा सांस्कृतिक प्रतिमानों को ही सीखता है। कई संस्कृति प्रतिमानों को व्यवस्थित संगठन से एक सम्पूर्ण संस्कृति निर्मित होती है।

रूथ बेनेडिक्ट ने गेस्टाल्ट मनोविज्ञान व मेलिनोवास्की के 'संस्कृति सिद्धान्त' से प्रेरित होकर अपनी पुस्तक 'पैटर्नस ऑफ कल्चर' में संस्कृति की अंतरंग संरचना के विश्लेषण के लिए संस्कृति प्रतिगमन की अवधारणा का प्रयोग बेनेडिक्ट के अनुसार संस्कृति का एकीकृत

स्वरूप एक स्थाई अथवा अर्द्ध स्थाई जीवन शैली को प्रकट करता है। जिसकी रचना संस्कृति की अंतर्वस्तु अर्थात संस्कृति के लक्षणों एवं संकुलों के संयोजन से होती है। रूथ बेनेडिक्ट ने संस्कृति के लक्षणों एवं संकुलों द्वारा निर्मित इस विशिष्ट जीवन शैली या जीवन पद्धति को ही संस्कृति प्रतिमान की संज्ञा दी है। हर्षस्कोविट्स ने इसे संस्कृति लक्षणों का रूपांकन कहा है। प्रत्येक संस्कृति का अपना एक विशेष प्रतिमान होता है जो उसे अन्य संस्कृतियों से पृथक करता है।

(4) संस्कृति क्षेत्र- विभिन्न भौगोलिक क्षेत्रों की संस्कृति में भी भिन्नता देखने को मिलती है। प्रत्येक संस्कृति का विस्तार एक निश्चित भौगोलिक क्षेत्र तक होता है। इसलिए जो क्षेत्र भौगोलिक दृष्टि से समीप होते है उनकी संस्कृति में समानता देखने को मिलती है जबकि जो क्षेत्र भौगोलिक दृष्टि से दूर होते है उनकी संस्कृति में पृथकता व भिन्नता देखने को मिलती है। अत: स्पष्ट है कि सांस्कृतिक तत्वों, संकुलों एवं प्रतिमानों का प्रसार एक निश्चित भौगोलिक क्षेत्र तक होता है जिसे जब हम सांस्कृतिक क्षेत्र कहते हैं। सांस्कृतिक क्षेत्र की अवधारणा सांस्कृतिक समानताओं के भौगोलिक क्षेत्र को प्रकट करती है जिसके आधार पर विभिन्न संस्कृतियों की तुलना की जा सकती है।

## 17.6 सांस्कृतिक विलंम्बन

अमेरिकन समाजशास्त्री ऑगबर्न ने संस्कृति को दो भागों में विभाजित किया है-

(1) भौतिक संस्कृति

(2) अभौतिक संस्कृति

(1) भौतिक संस्कृति- भौतिक संस्कृति के अन्तर्गत मानव द्वारा निर्मित सभी भौतिक एवं मूर्त वस्तुओं को सम्मिलित किया जाता है, जिन्हें हम देख सकते हैं, छू सकते हैं और इन्द्रियों द्वारा जिनकों महसूस कर सकते हैं। भौतिक संस्कृति के अन्तर्गत समाज की भौतिक, उपलब्धियों को रखते हैं। ये मूर्त होती है, इन्हें हम देख सकते हैं एवं स्पर्श कर सकते हैं। ये मनुष्य व मशीनों के द्वारा निर्मित होती है। जैसे मकान, पंखा, टेलीविजन आदि। मनुष्य ने अपनी आवश्यकताओं के अनुसार अनेक औजारों और उपादनों का आविष्कार किया। ये सभी उपलब्धियाँ भौतिक संस्कृति की श्रेणी में आती है।

(2) अभौतिक संस्कृति- सम्पूर्ण संस्कृति का वह भाग जो अमूर्त तथा भौतिक तत्व से रहित होता है, अभौतिक संस्कृति कहलाती है। अभौतिक संस्कृति वह है जिसे हम स्पर्श नहीं कर सकते व देख नहीं सकते। अभौतिक संस्कृति अमूर्त होती है, जिसका कोई माप तौल, आकार व रंग रूप नहीं होता वह हमारे विचारों एवं कार्यों में निहित है। सामान्यत: अभौतिक संस्कृति में हम सामाजिक विरासत में प्राप्त विचार, विश्वास, प्रथा, मानदण्ड, रीति-रिवाज, कानून आदि को सम्मिलित करते हैं। प्रत्येक समाज के कुछ आदर्श होते हैं जिनकी ओर समाज अग्रसर होने का सदैव प्रयास करता है। सामाजिक नियम व मान्यताएँ भी अभौतिक संस्कृति के अन्तर्गत ही रखी जा सकती है।

समाजशास्त्रियों में भौतिक व अभौतिक संस्कृति को लेकर मतभेद है। कुछ समाजशास्त्री मनुष्य की अभौतिक व अमूर्त उपलब्धियों को ही संस्कृति के अन्तर्गत सम्मिलित करते हैं।

विशेषकर वे उपलब्धियों जिसे समाज के अधिकांश लोग स्वीकार करते हैं या फिर उसके अनुसार वे व्यवहार करते है। मैकाइवर व पेज ने संस्कृति के अभौतिक स्वरूप को ही संस्कृति माना है। जिसे ऑगबर्न ने भौतिक संस्कृति कहते हैं उसे मैकाइवर व पेज ने सभ्यता कहा है। जॉनसन ने भी संस्कृति के अभौतिक पक्ष को ही संस्कृति माना है भौतिक पक्ष को नहीं। भौतिक वस्तु समय के साथ पुरानी होकर समाप्त हो जाती है। जबकि कुछ समाजशास्त्रियों भौतिक वस्तु को भी संस्कृति का अंग माना है। ऑगबर्न ने जिसे भौतिक संस्कृति की संज्ञा दी है उसे समाजशास्त्री सोरोकिन इन्द्रिय परक संस्कृति के नाम से जानते है।

यह पूर्व में ही स्पष्ट किया जा चुका है कि संस्कृति स्थिर नहीं वरन् परिवर्तनशील होती है। संस्कृति के भौतिक व अभौतिक पक्ष में परिवर्तन निरन्तर आता रहता है। ऑगबर्न के अनुसार संस्कृति के इन दोनों पक्षों में परिवर्तन समान गति से नहीं होता। संस्कृति के भौतिक पक्ष में अभौतिक पक्ष की अपेक्षा तीव्र गति से परिवर्तन होता है। परिणामत: परिवर्तन की दौड़ में संस्कृति का अभौतिक पक्ष भौतिक पक्ष से पिछड़ जाता है। इन दोनों संस्कृतियों के बीच उत्पन्न इस पिछड़न की स्थिति को ही ऑगबर्न ने "सांस्कृतिक विलम्बना" या "सांस्कृतिक पिछड़न" का नाम दिया है। जब भौतिक सांस्कृतिक अभौतिक संस्कृति की तुलना में आगे बढ़ जाती है तो यह स्थिति सांस्कृतिक विलम्बन की स्थिति होती है। भौतिक वस्तुओं में सीमित विकास की संभावना है इसलिए उसमें हमेंशा कुछ ना कुछ परिवर्तन होता रहता है। आधुनिक युग में जिस प्रकार से प्रौद्योगिकी के क्षेत्र में विकास हुआ है, उस रफ्तार से परिवार, परम्परा आदि में विकास नहीं हुआ है। प्रौद्योगिकी के विकास की तुलना में अभौतिक संस्कृति बहुत पीछे रह गई है यही सांस्कृतिक विलम्बन की स्थिति है।

ऑगबर्न का मत है कि जब हम विलम्बन शब्द का प्रयोग करते हैं तब इसका अभिप्राय किसी वस्तु के आगे बढ़ने में होने वाली देरी से है। अत: जब संस्कृति के दोनों संबंधित पक्षों में तनाव उत्पन्न होने के कारण उनमें असमान गति से परिवर्तन होता है, तब हम इसे उस अंग की विलम्बना या पिछड़न कहते हैं जो मन्द गति से परिवर्तित हो रहा है क्योंकि इसमें एक अंग दूसरे अंग से पीछे रह जाता है।

## 17.7 संस्कृति के मूल तत्व

कुछ सांस्कृतिक तत्व ऐसे होते हैं जो विश्व की सभी संस्कृतियों में विद्यमान होते हैं। प्रत्येक संस्कृति में कुछ ऐसे आधारभूत तत्व होते है जो सभी संस्कृतियों में पाये जाते हैं। ये तत्व इस प्रकार से है-

**(1)** भाषा- मानव का सबसे बड़ा सांस्कृतिक आविष्कार भाषा को माना जाता है। भाषा संचार के लिए अति आवश्यक है। आवाज करने की क्षमता सभी प्राणियों को प्रकृति से प्राप्त होती है, लेकिन अपनी उस क्षमता को मनुष्य शब्दों, वाक्यों, उच्चारण के विशिष्ट स्वरूपों के माध्यम से अभिव्यक्त करता है, तो वह भाषा बन जाती है। भाषा अभिव्यक्ति के स्तर पर अमूर्तता लाती है और संचार व संबंधों के निर्माण का प्रमुख साधन बन जाती है। सभी बातचीत, लेखन, शिष्टाचार, प्रोद्योगिकी व विकास को भाषा के माध्यम से ही समझाया जा सकता है।

**(2)** भौतिक तत्व व वस्तुएँ- विश्व की सभी संस्कृतियों में भौतिक तत्व व वस्तुएँ जो मानव निर्मित होती है व जिन्हें देखा जा सकता है विद्यमान होती है। जैसे भोजन, कपड़ा, मकान, रोजमर्रा के जीवन से जुड़ी वस्तुएँ जैसे बर्तन, खिलौने, किताबें आदि। किसी समाज में विद्यमान होने मात्र से ही ये वस्तुएँ उस संस्कृति का अंग नहीं बन जाती जब तक कि वही के लोगों को उसके उपयोग की जानकारी ना हो। जैसे किसी जनजातीय इलाके में हम टेलीविजन रखकर आ जायें तो वह जनजातीय संस्कृति का अंग नहीं हो जाता क्योंकि उस जनजाति के लोगों को उस टेलीविजन का उपयोग करना नहीं आता । अत: संस्कृति का अंग होने के लिए आवश्यक है कि उस संस्कृति के अनुयायियों को उसके निर्माण, उपयोग, सुधारने की तकनीक आदि प्रक्रियाओं का ज्ञान होना चाहिए ।

**(3)** मूल्य व आदर्श- प्रत्येक संस्कृति में कुछ ऐसे स्वीकृत मूल्य व आदर्श होते हैं, जिन्हें उस समाज में रहने वाले सभी लोग स्वीकार करते हैं । इन मूल्यों व आदर्शों की रक्षा के लिए लोग मर मिटते हैं तथा समाजीकरण द्वारा इन्हें पीढ़ी दर पीढ़ी हस्तांतरित करते हैं । जैसे ईमानदार रहो, चोरी मत करो, सदा सत्य बोलो आदि ।

**(4)** सामंजस्य प्रतिमान- व्यक्ति के समक्ष हमेंशा परिस्थितियाँ परिवर्तित होती रहती है । इन परिस्थितियों में व्यक्ति का व्यवहार एक समान नहीं होता, उसके व्यवहार में परिस्थितियों के अनुरूप परिवर्तन आता रहता है । संस्कृति प्रत्येक परिवर्तित परिस्थिति में व्यवहार के तरीके प्रस्तुत करती है । व्यवहार के ये तरीके इस प्रकार से है-

**(1)** बाध्यता मूलक प्रतिमान- ऐसे प्रतिमान जो व्यक्ति को किसी विशिष्ट परिस्थिति में निश्चित व्यवहार को करने को बाध्य करता है । इसके लिए व्यक्ति पर समूह का दबाव होता है । जैसे- भारतीय समाज में बहुएँ, ससुर के समक्ष सिर को साड़ी से ढकती है या घूंघट निकालती है ।

**(2)** जिनमें बाध्यता नहीं है- प्रत्येक संस्कृति में व्यवहार के कुछ ऐसे तरीके होते है जिन्हें अपनाने के लिए व्यक्ति बाध्य नहीं होता । जैसे भोजन जमीन पर बैठकर भी कर सकते हैं व डाइनिग टेबल पर भी कर सकते है । जो तरीका व्यक्ति को पसंद हो उसे वह अपना सकता है ।

**(3)** संगठनात्मक बाध्यता- इसमें व्यक्ति को किसी संगठन के नियमों के अनुसार कार्य करना होता है । व्यक्ति अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति व कार्य संगठन के द्वारा निर्देशित तरीकों से ही करता है ।

**(4)** प्रकार्यो की परस्पर निर्भरता- व्यक्ति संस्कृति द्वारा निर्देशित कार्यों को अकेले ही नहीं करता वरन् उसके साथ कई व्यक्ति होते हैं जो आपस में मिलकर उस कार्य को सम्पूर्णता प्रदान करते हैं । अत: संस्कृति द्वारा निर्देशित कार्यों में विभिन्न व्यक्तियों में पारस्परिक निर्भरता पाई जाती है । जैसे-शिक्षक अध्यापक के लिए छात्रों पर निर्भर है तो छात्र शिक्षक के प्रति निर्भर है ।

## 17.8 भारतीय समाज में वैश्वीकरण व सांस्कृतिक परिवर्तन

वैश्वीकरण को यद्यपि एक आर्थिक योग से जुड़ी हुई प्रक्रिया माना जाता है लेकिन वैश्वीकरण एक सांस्कृतिक प्रक्रिया भी है। वैश्वीकरण का प्रारम्भ तो विभिन्न देशों के मध्य आर्थिक संबंधों (सुपर मार्केट) के परिणाम स्वरूप हुआ। लेकिन इस प्रक्रिया ने दुनिया के विभिन्न देशों के संस्कृति को भी प्रभावित किया है। भारत भी इस प्रक्रिया से अछूता नही रहा है। वैश्वीकरण का सिद्धान्त वैश्वीय सांस्कृतिक व्यवस्था के बारे में विवेचना करता है। जो वैश्वीय संस्कृति वर्तमान में सम्पूर्ण विश्व में विद्यमान है इसे लाने में कई प्रकार के सामाजिक व सांस्कृतिक कारकों का योगदान है।

एन्थोनी गिडेन्स ने अपनी कृति 'द कान्सीक्वेन्सेज ऑफ में वैश्वीकरण को परिभाषित करते हुए कहा है- विभिन्न लोगों या दुनियाँ के विभिन्न क्षेत्रों के बीच में बढ़ती हुई अन्योन्याश्रतता या पारस्परिकता ही वैश्वीकरण है। यह पारस्परिकता सामाजिक और आर्थिक संबन्धों में होती है। इसमें समय और सीन सिमट जाते है ।"

वर्तमान समय में आर्थिक व राजनीतिक वैश्वीकरण का तीव्र गति से प्रसार हो रहा है। वैश्वीकरण का सीधा संबंध पूंजीवादी अर्थव्यवस्था का बहुत बड़ा प्रभाव संस्कृति पर पड़ा है। अब जब आर्थिक गतिविधियों का वैश्वीकरण हो रहा है, तो सांस्कृतिक रूपान्तरण भी इसी के साथ हो रहा है। विभिन्न संस्कृतियों का मिलन हो रहा है । दुनिया भर के लोगों की जीवन पद्धति एक जैसी हो गयी है। सभी लोग राष्ट्र राज्यों की सीमाओं को पार कर एक जैसी संस्कृति को अपनाने लगे है। वैश्वीकरण ने एक साझा संस्कृति को उत्पन्न किया है जो विश्वव्यापी है।

एक सिद्धान्त के रूप में वैश्वीकरण एक वैश्वीय सांस्कृतिक व्यवस्था के उद्भव की विवेचना है। वैश्वीकरण के अनुसार वैश्वीय संस्कृति अनेक विभिन्न सामाजिक एवं सांस्कृतिक विधाओं का परिणाम है। इसका प्रभाव विभिन्न देशों की स्थानीय, सामाजिक, सांस्कृतिक, धार्मिक एवं खेलकुद या मोनोरंज्न की परिस्थितियों पर भी देखने को मिलता है। वैश्वीकरण ने जीवन के प्रत्येक पहलू को प्रभावित किया है। परिवार में जहाँ सामूहिक मूल्यों, परम्पराओं परिपाटियों के आधार पर निर्णय लिये जाते थे, विवाह के संबंध पवित्र व स्थाई होते थे। वहाँ आज इन सभी में व्यक्तिवादी दृष्टिकोण तथा स्वार्थ एवं उपभोक्तावादी विचारों ने परिवार एवं विवाह की संस्थाओं को कमजोर किया है। वैश्वीकरण ने व्यक्तिवादिता की भावना को बढ़ावा देने व व्यक्ति को आत्मकेन्द्रित बनाने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है ।

**भारत में वैश्वीकरण**

भारत में वैश्वीकरण का प्रारम्भ वर्ष 1991 में हुआ था । यहीं से भारत में नये आर्थिक युग का सूत्रपात हुआ । भारत की अर्थव्यवस्था संघीय बाजार अर्थ व्यवस्था बन गई । भारत की अर्थ व्यवस्था में उदारीकरण व निजीकरण भी आ गये । अर्थव्यवस्था के साथ ही वैश्वीकरण ने भारत की सांस्कृतिक व्यवस्था को भी प्रभावित किया है । संचार के साधनों ने वैश्वीकरण को ओर अधिक बढ़ावा दिया है । इंटरनेट, मोबाईल, कम्प्यूटर, टेलीविजन, समाचार पत्रों के जरिए वैश्वीकरण ओर अधिक बढ़ रहा है । भारत में वैश्वीकरण का प्रारम्भ आधुनिकीकरण के परिणाम स्वरूप हुआ । समाज में आर्थिक, राजनैतिक एवं सांस्कृतिक क्षेत्रों में

जो भी वैश्वीकरण से बदलाव आ रहे हैं उनका क्षेत्रीय एवं स्थानीय लोगों ने कोई विरोध नहीं किया है । पूर्व में वैश्वीकरण की परिस्थितियाँ ऐसी बनी कि अब स्थानीय व क्षेत्रीय संस्कृतियों ने अपने आपको पुननिर्मित किया है कि उनकी पहचान भी बने व उन्हें विश्व के अन्य क्षेत्रों से पृथक भी नहीं रहना पड़े । गाँवों में नये मध्यवर्गों का अभ्युदय जो कि पूर्व में प्रभुतासम्पन्न कृषक जाति के रूप में विद्यमान थे अब वैश्वीकरण के प्रभाव में आ चुके हैं । वे उपभोक्ता संस्कृति के रंग में रंग चुके हैं तथा उन्हें अधिकांश वस्तुएँ विदेशी उत्पादों को ही पसंद आने लगी है । विदेशी वस्तुएँ आज हर छोटे बड़े गाँव, कस्बे व नगर में आसानी से मिल सकती है । लोगों की विदेशी वस्तुओं में रूचि बढ़ रही है । स्थानीय स्तर पर तैयार वस्तुओं को विदेशों में विक्रय के लिए भेजा जाता है । इन आयात निर्यात की प्रक्रियाओं में संस्कृति का भी सम्मिश्रण होता है । भारत में भी इस आधार पर सांस्कृतिक परिवर्तन नजर आ रहा है । यहाँ की लड़कियाँ साड़ी या सलवार सूट के स्थान पर जींस, टॉप, शर्ट, स्कर्ट आदि पहनने लगी है । लड़के सैलून जाने लगे है । कॉस्मेटिक सामान जो विदेशी है आज भारत में भी मिलने लगे है । यहाँ विदेशी त्यौहारों जैसे- वैलेंटाइन डे, फ्रेंडशिप डे, पेरेंटस डे आदि को मनाया जाने लगा है । विश्व के किसी भी क्षेत्र में फैशन के संदर्भ में जो भी परिवर्तन आता है उसका प्रभाव भारतीय समाज पर भी शीघ्र ही नजर आता है।

भारत में वैश्वीकरण को बढ़ावा देने में 'पर्यटन' की भी महत्वपूर्ण भूमिका है । पर्यटन के लिए जो विदेशी पर्यटक भारत आते है वे भी यहाँ की संस्कृति को प्रभावित कर रहे हैं । वे अपनी विदेशी संस्कृति में यहाँ के लोगों पर प्रभाव छोड़ कर जाते हैं । भारत में विदेशी पर्यटकों की संख्या में वृद्धि के परिणामस्वरूप होटलों की संख्या में भी वृद्धि हुई है । इसके परिणामस्वरूप भारत में देर रात तक चलने वाले डिस्कों क्लब, पब, बार आदि का भी प्रचलन बहुत अधिक हो गया है । इन सबकी ओर युवक युवतियाँ बड़ी संख्या में आकर्षित होते नजर आने लगे हैं ।

वैश्वीकरण ने धर्म निरपेक्षता एवं प्रजातंत्रीय मूल्यों को संसार के प्रत्येक देश में पहुंचाने में एवं उन्हें संस्थापित करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है । किन्तु धार्मिकता एवं आध्यामिकता के प्रतिमानों को निजी तौर पर पुनर्जीवित करने एवं लोगों को अपने-अपने सम्प्रदायों के प्रति अधिक सचेत बनाने में भी वैश्वीकरण का ही हाथ है ।

वैश्वीकरण ने वर्तमान समय में अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर संस्कृति का वाणिज्यीकरण कर दिया है । अब संस्कृति बाजार में विकृति है । उसकी बोलियाँ लगती हैं । जो जितना अधिक धन देता है उसके सामने सांस्कृतिक प्रदर्शन उसी स्तर के प्रस्तुत किये जाते हैं । स्थानीय एवं क्षेत्रीय कलाओं में पारंगत कलाकारों को ऊंची रकम देकर ही अन्तर्राष्ट्रीय सांस्कृतिक मेले एवं प्रदर्शनियाँ में अपनी कला के प्रदर्शन हेतु ले जाया जाता है । योगेन्द्र सिंह ने इसे वैश्वीकरण को अप्रकट प्रकार्य बताते हुए कहा है कि इसमें स्थानीय एवं क्षेत्रीय सांस्कृतिक पहचानों में मजबूती या सुदष्टीकरण आया है उनमें अपनी पहचानों के प्रति आत्म चेतना में वृद्धि हुई है । अब अपनी विशेष पहचान को बनाये रखने हेतु अधिक प्रयास होने लगे हैं ।

इस प्रकार वैश्वीकरण ने भारतीय संस्कृति को भी प्रभावित किया है । यहाँ की स्थानीय संस्कृति में बहुत से परिवर्तन देखने को मिल रहे हैं । 'लिव इन रिलेशनशिप' का प्रचलन भी

बढ़ने लगा है, जिसमें लड़का-लड़की बिना विवाह किये साथ-साथ पति-पत्नी की तरह रहते हैं । इसी तरह विवाह संस्था में भी परिवर्तन देखने को मिल रहा है । तलाक की संख्या में बढ़ोतरी हो रही है । व्यक्ति वादिता की भावना परिवार में बढ़ रही है । वेशभूषा में परिवर्तन आने लगा है । भारतीय संस्कृति में उपभोक्तावाद बढ़ रहा है । लोग उपभोग की संस्कृति की ओर अधिक आकृष्ट हो रहे हैं ।

## 17.9 सारांश

संस्कृति में हमारे जीवन को जीने के ढंग की झलक मिलती है । संस्कृति हमारे रहन-सहन तथा सोचने समझने की शैली में, हमारे प्रतिदिन की बातचीत में, कला, साहित्य धर्म, मनोरंजन तथा आमोद-प्रमोद में हमारे स्वभाव की अभिव्यक्ति है । संस्कृति जन्म-जात नहीं होती वरन् लिखी जाती है, जो पीढ़ी दर पीढ़ी हस्तान्तरित होती रहती है । संक्षेप में संस्कृति उन सभी व्यवहार प्रतिमानों के लिए प्रयुक्त किया जाने वाला एक सामूहिक शब्द है जो सामाजिक रूप में अर्जित तथा सामाजिक रूप से हस्तान्तरित किये जाते है । संस्कृति का हस्तांतरण या संचरण औपचारिक व अनौपचारिक सीखने अथवा प्रशिक्षण की प्रक्रियाओं द्वारा होता है ।

संस्कृति स्थिर नहीं होकर परिवर्तनशील होती हैं । यह कई कारकों के द्वारा प्रभावित होती है । भारत की संस्कृति भी विश्व भर में चल रही आर्थिक व सांस्कृति प्रक्रिया वैश्वीकरण के द्वारा प्रभावित हो रही है । वैश्वीकरण के प्रभाव स्वरूप यहाँ की संस्थाओं परिवार, विवाह, जाति आदि में परिवर्तन दृष्टिगत हो रहे हैं । इन परिवर्तनों में वैश्वीकरण को और अधिक प्रसारित करने में संचार साधनों (इंटरनेट, मोबाईल, कम्प्यूटर, टेलीविजन आदि) का महत्वपूर्ण योगदान रहा है । अब सम्पूर्ण विश्व की संस्कृतियाँ पृथक-पृथक न रहकर एक नयी संस्कृति के रूप में उभर रही है जिसे हम वैश्विक संस्कृति कहते है । वैश्वीकरण के परिणामस्वरूप संस्कृति एक पण्य वस्तु बनी रह गयी है लेकिन साथ ही स्थानीय व क्षेत्रीय संस्कृति की पहचान उभरकर सामने भी आई है । इस प्रकार वैश्वीकरण ने भारतीय संस्कृति को प्रभावित किया है ।

## 17.10 शब्दावली

1. संस्कृति – गयतर के अनुसार "संस्कृति वह जटिल समग्र है जिसमें ज्ञान, विश्वास, कला, आदर्श, कानून, प्रथाएँ व अन्य आदतें व क्षमताएँ हैंजिन्हें मनुष्य ने समाज के सदस्य के रूप में ग्रहण किया है" ।
2. सांस्कृतिक तत्व – संस्कृति की वह छोटी से छोटी इकाई जिसका और अधिक विभाजन नहीं किया जा सके सांस्कृतिक तत्व कहलाता है ।
3. संस्कृति संकुल – जब बहुत से सांस्कृतिक तत्व परस्पर अर्थपूर्ण ढंग से जुड़ जाते हैं और वे मानव की आवश्यकताओं की पूर्ति करते हैं तो उसे हम - संस्कृति संकुल कहते हैं
4. संस्कृति प्रतिमान – जब बहुत से सांस्कृतिक तत्व व संकुल जो प्रकार्यात्मक रूप से संबंधित है मिलते है और किसी सार्थक उपादान का निर्माण करते है तो वे

सांस्कृतिक प्रतिमान की रचना करते है ।

5. वैश्वीकरण – सामाजिक आर्थिक संबंधों का सम्पूर्ण विश्व तक विस्तार वैश्वीकरण है।

## 17.11 अभ्यासार्थ प्रश्न

1. संस्कृति को परिभाषित करते हुए इसकी संरचना को स्पष्ट कीजिए ।
2. सांस्कृतिक विलम्बन के सिद्धान्त को समझाइये ।
3. वैश्वीकरण की प्रक्रिया का भारतीय संस्कृति पर क्या-क्या प्रभाव पड़ा? स्पष्ट करें ।
4. भौतिक व अभौतिक संस्कृति में अन्तर को स्पष्ट कीजिए ।

## 17.12 संदर्भ ग्रन्थ


1. सिंह, जे.पी., समाजशास्त्र : अवधारणाएँ एवं सिद्धान्त, प्रेंटिस हॉल ऑफ इण्डिया, नई दिल्ली, 2003
2. दोषी, एस.एल., आधुनिकता, उत्तर आधुनिकता एवं नव समाजशास्त्रीय सिद्धान्त, रावत पब्लिकेशन्स, जयपुर, 2002
3. रावत, हरिकृष्ण, समाजशास्त्र विश्वकोष, रावत पब्लिकेशन्स, जयपुर 1998 ।
4. सिंधी, एन.के., एवं गोस्वामी, वसुधाकर, समाजशास्त्र विवेचन, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर, 2007 ।
5. शर्मा, सी.एल. समकालीन समाजशास्त्रीय सिद्धान्त, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर 2008 ।
6. दोषी, एस.एल. समकालीन मानवशास्त्र, रावत पब्लिकेशन्स, जयपुर 2009 ।

# इकाई - 18

# वैश्वीकरण : भारतीय समाज में परिवर्तन के संदर्भ में

**इकाई की रूपरेखा**


18.0 उद्देश्य

18.1 प्रस्तावना

18.2 वैश्वीकरण एतिहासिक दृष्टिकोण

18.3 वैश्वीकरण की अवधारणा

18.4 वैश्वीकरण के सिद्धान्त

18.4.1 आधुनिकता एवं वैश्वीकरण

18.4.2 विश्व व्यवस्था का सिद्धान्त

18.4.3 वैश्वीकरण का सामाजिक एवं सांस्कृतिक उपागम

18.5 भारत में वैश्वीकरण

18.5.1 वैश्वीकरण एवं भारतीय समाज में परिवर्तन

18.5.2 वैश्वीकरण वरदान स्वरूप

18.5.3 वैश्वीकरण के संकट

18.5.4 बाजार, व्यापार एवं वित्त

18.5.5 वैश्वीकरण के नये संस्थानीकरण परिवर्तन

18.5.6 मिडिया एवं संचार

18.5.7 विज्ञान एवं तकनीकी

18.5.8 प्रवजन तथा अन्तर सांस्कृतिक आदान-प्रदान

18.5.9 एकीकरण और पहचान की समस्या

18.6 उपसंहार

18.7 महत्वपूर्ण अवधारणाऐं

18.8 अभ्यासार्थ प्रश्न

18.9 संदर्भ ग्रन्थ


## 18.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् आप निम्न के बारे में जानकारी हासिल कर सकेंगे -

- वैश्वीकरण का ऐतिहासिक दृष्टिकोण
- वैश्वीकरण की अवधारणा
- भारत में वैश्वीकरण का प्रभाव ।

## 18.1 प्रस्तावना

21वी शताब्दि में सामाजिक परिवर्तन पर कोई चर्चा, वैश्वीकरण के संदर्भ पर कुछ विचार किए बिना हो ही नहीं सकती । आज वैश्वीकरण या भूमण्डलीकरण शब्द उसी तरह प्रचलित है, जैसे कि 20वी शताब्दि में आधुनिकीकरण तथा विकास की प्रक्रियाओं में सामाजिक परिवर्तन के लिए प्रयोग किया जाता था । एक समय संसार को विश्व गाँव की कल्पना दिन में सपना देखने की तरह थी, लेकिन 20वी शताब्दि के अन्त में यह कल्पना वास्तविकता में बदल गयी । एक तरफ उदाहरण के तौर पर फैक्स मशीन एवं इन्टरनेट की सुविधाऐं उपलब्ध हो गई, जिनके बारे में कभी सोचा ही नहीं था । तीन दशक पूर्व भारत में ऐसा हुआ भी नहीं था । आज वैश्वीकरण ने हर क्षेत्र में मानवीय क्रियाओं को प्रभावित किया है ।

दूसरी ओर वैश्वीकरण की प्रक्रिया ने एक सार्वभौमिक निराशा भी दी है । यह निराशा न केवल विकसित होने वाले देशों की है, अपितु विकसित देशों की भी है, जो इससे वे कम खुश हैं । अत: निराशा के मुख्य कारणों का विश्लेषण करना आवश्यक है ।

## 18.2 वैश्वीकरण का ऐतिहासिक दृष्टिकोण

आधुनिकता के सार्वभौमिक तर्क का परिणाम ही वैश्वीकरण है । वैश्वीकरण का इतिहास पश्चिम के इतिहास से प्रारम्भ होता है, जो पूर्णतया स्पष्ट नहीं है, फिर भी समय के अनुसार इसके दृष्टिकोण को निम्नलिखित तालिका में दर्शाया गया है -

**तालिका संख्या - 1**

**वैश्वीकरण का समय**

| **क्रं.सं.** | **लेखक** | **समय** | **दृष्टिकोण** |
|---|---|---|---|
| .1 | मार्क्स | 1500 | आधुनिक पूंजीवाद |
| .2 | वालरस्टेन | 1500 | आधुनिक विश्व व्यवस्था |
| .3 | राबर्टसन | 1920-1870 | बहू आयामी |
| .4 | गीडन्स | 1900 | आधुनिकता |
| 5 | टामिप्रसन | 1960 | सांस्कृतिक बाहुल्यता |

**स्त्रोत :** नेदरवीन पीएटर्से (1995) 'ग्लोबलाइजेशन एण्ड हाइब्रिडाइजेशन' इन एम.फिरदस्टोन इत्यादि की पुस्तक ग्लोबल मॉडर्निटी ।

इस प्रकार 19वीं शताब्दि के प्रारम्भ में वैश्वीकरण की ऐतिहासिक प्रक्रिया का पश्चिमी यूरोप के देशों से पूँजीवाद के रूप में आविर्भाव हुआ । शुरुआत में इसका विकास उपनिवेशवाद के साथ हुआ तथा शताब्दि के अन्त में साम्राज्यवाद के रूप में इसका विस्तार हुआ । भारत में वैश्वीकरण का प्रारम्भ जुलाई 1991 में नई आर्थिक नीति के साथ हुआ, जिससे बैंकिंग व्यवस्था, संचार की तकनिकी इत्यादि में इसकी प्रगति हुई ।

## 18.3 वैश्वीकरण की अवधारणा

वैश्वीकरण और भूमण्डलीकरण वस्तुत: पर्यावादी पद हैं । दोनों का अर्थ एक ही है । हमने वैश्वीकरण के प्रयोग को पसन्द किया है, इस पद की व्याख्या करना कठिन है । कहीं भी सर्वसम्मति नहीं है । कुछ विचारक इसे -एक आर्थिक अवधारणा मात्र समझते हैं । उनके लिए वैश्वीकरण उदारीकरण है, नीजिकरण है और निवेश है । यह सब बाजार की स्थिति में होता है । कुछ विचारक वैश्वीकरण का अर्थ सांस्कृतिक आदान-प्रदान के संदर्भ में निकालते हैं और स्वयं की दृष्टि में वैश्वीकरण वह वहद् सामाजिक प्रक्रिया है, जो सम्पूर्ण मानव जीवन को अपने अन्दर समा लेती है । कुछ मार्क्सवादी इस प्रक्रिया को मुक्ति देने वाली प्रक्रिया मानते हैं । सच्चाई यह है कि उत्तर-आधुनिकता की परिभाषा में थोड़ी बहुत स्पष्टता तो आई है, लेकिन अभी वैश्वीकरण की अवधारणा में तो धूंधलापन अधिक है । परिभाषा में कठिनाइयाँ तो बहुत हैं, लेकिन यह नहीं है कि इसे समझने की कोशिश ही नहीं की गई हो । यहाँ हम वैश्वीकरण को खुलासे से समझने के लिए कुछ विद्वानों के सिद्धान्तों की चर्चा करेंगे ।

## 18.4 वैश्वीकरण के सिद्धान्त

यहाँ पर वैश्वीकरण के तीन सिद्धान्तों (उपागमों) की व्याख्या करेंगे । वे इस प्रकार हैं -

1. आधुनिकता एवं वैश्वीकरण
2. विश्व व्यवस्था का सिद्धान्त
3. वैश्वीकरण का सामाजिक एवं सांस्कृतिक उपागम ।

### 18.4.1 आधुनिकता एवं वैश्वीकरण का सिद्धान्त

वैश्वीकरण के सैद्धान्तिकरण में एन्थोनी गिडेन्स (Anthony Giddens) का योगदान महत्वपूर्ण है । उन्होंने अपनी पुस्तक दि कान्सीक्वेन्सेज ऑफ माडर्निटी (The consequences of Modernity,1990) में वैश्वीकरण की व्याख्या विस्तारपूर्वक की है । उनका कहना है **कि आधुनिकता का बहुत बड़ा परिणाम वैश्वीकरण है । यह इसलिए कि वैश्वीकरण में समय (Time) और स्थान क्रंमबद्ध को सामाजिक जीवन में नये सिरे से परिभाषित किया गया है । गिडेन्स इसे समय, स्थान एवं दूरी कहते हैं ।** अपनी इस अवधारणा के स्पष्टीकरण में वे कहते हैं कि आज दुनियाँ में संचार और उत्पादन तथा विनिमय की जो जटिल व्यवस्था बनी है, उसने सम्पूर्ण स्थानीयता को कमजोर कर दिया है । उदाहरण के लिए खनिज पदार्थों का विश्व में भाव है, वह स्थानीय खदान श्रमिकों को अधिक मजदूरी दिलवा सकता है या उन्हें बेरोज़गार भी कर सकता है ।

गिडेन्स की वैश्वीकरण की परिभाषा इस तरह है -

**"विभिन्न लोगों और दुनिया के विभिन्न क्षेत्रों के बीच में बढ़ती हुई अन्योन्याश्रतता या पारस्परिकता ही वैश्वीकरण है । यह पारस्परिकता सामाजिक और आर्थिक सम्बन्धों में होती है। इसमें समय और स्थान सिमट जाते हैं ।"**

गिडेन्स की उपरोक्त परिभाषा का थोड़ा और विश्लेषण करना चाहिए । वे एक अन्य स्थान पर कहते हैं कि केवल अन्योन्याश्रता ही वैश्वीकरण नहीं है, इसमें कुछ और लक्षण भी सम्मिलित हैं । उदाहरण के लिए हम टेलिफोन पर सामने वाले व्यक्ति से बात करते हैं । इस स्थिति में बात करने वाला व्यक्ति तो उपस्थित है, यानी वह स्थानीय है, जिससे वह बात करता है, वह टेलिफोन पर तो है, पर अनुपस्थित है । उसके साथ जो सम्बन्ध किया जाता है, वह **दूरी का सम्बन्ध** है । अत: वैश्वीकरण में समय और स्थान महत्वपूर्ण कारक हैं । यह दूरीकरण की अवधारणा है ।

जहाँ गिडेन्स वैश्वीकरण की व्याख्या अन्योन्याश्रयता या व्यक्तियों, दोनों और के देशों की पारस्परिकता के संदर्भ तथा समय और स्थान के आधार पर करते हैं । वहाँ वेलरस्टेन इस अवधारणा की परिभाषा पूँजीवाद के माध्यम से करते हैं ।

### 18.4.2 विश्व-व्यवस्था का सिद्धान्त

विश्व व्यवस्था सिद्धान्त के दृष्टिकोण से वैश्वीकरण की अवधारणा इमान्यूअल वेलरस्टेन से सम्बन्धित है । उनका विश्व-व्यवस्था सिद्धान्त मुख्यतया पूँजीवादी विश्व अर्थव्यवस्था है ।

समाजशास्त्री इ. वेलरस्टेन; एससमतेजंपद ए अपनी पुस्तक हिस्टोरिकल केपिटलिज्म (Historical Capitalism) में इस प्रबन्ध को रखा है कि पूँजीवाद में एक खास प्रकार की ऐतिहासिकता है, जिसमें यह अपने उत्पादन को समय और स्थान के साथ में बाँध लेता है । वे कहते हैं कि पूँजीवाद अनिवार्य रूप से वैश्वीय है । दूसरा उद्गम 16वीं शताब्दि में हुआ और तब से आज तक इसने अपना विस्तार वैश्वीय स्तर पर ही किया है । वेलरस्टेन यह स्थापित करते हैं कि अपनी वैश्वीय प्रकृति के कारण पूँजीवाद कभी भी किसी स्थान विशेष में जुड़ा - नहीं रहा है । यह हमेशा सार्वभौमिक रहता है । अपना विश्लेषण प्रस्तुत करते हुए वेलरस्टेन लिखते हैं-

**वैश्वीकरण को आगे ठेलने वाली शक्ति और इसमें निहित जो तर्क है, वह पूँजीवाद विश्व अर्थव्यवस्था है ।**

वेलरस्टेन की पूँजीवाद की व्याख्या जो उन्होंने अपनी पुस्तक में रखी है, इसके अनुसार वैश्वीकरण वह प्रक्रिया है, जिसका कारण पूँजीवाद का विस्तार और उसकी समृद्धि है । बहुत सामान्य शब्दों में वैश्वीकरण की वेलरस्टेन की परिभाषा गिडेन्स से भिन्न है । अगर समय और स्थान का दूरीकरण हुआ है, तो इसका कारण पूँजीवाद की विश्व अर्थव्यवस्था है । आज वैश्वीकरण का जनक पूँजीवाद है ।

### 18.4.3 वैश्वीकरण का सामाजिक एवं सांस्कृतिक उपागम

वैश्वीकरण के आर्थिक पहलु की अपेक्षा इसके सामाजिक-सांस्कृतिक पहलू अधिक जटिल और पेचीदा है । यह इसलिए कि इसके अन्तर्गत हम लगभग सम्पूर्ण मानव जीवन को सम्मिलित करते हैं । समाज वैज्ञानिकों के परिवार में सबसे पहले समाजशास्त्रीयों ने वैश्वीकरण की व्याख्या एक नपे-तुले रूप में करने का प्रयास किया है । इन समाज वैज्ञानिकों में

समाजशास्त्री अग्रणी हैं । समाजशास्त्रीयों में गिडेन्स, राबर्टसन और मिलटन अग्रणीय विश्लेषक हैं, जिन्होंने वैश्वीकरण को इसकी प्रारम्भिक अवस्था में ही परिभाषित किया । यह परिभाषा गैर-आर्थिक पहलुओं की थी, यानी समाजशास्त्रीय थी । गिडेन्स ने कहा कि **वैश्वीकरण एक प्रकार से दुनिया भर के लोगों का सामाजिक सम्बन्धों का एक ताना-बाना है** । दूर-दराज क्षेत्रों में रहने वाले लोगों के व्यवहार पर दुनिया भर का प्रभाव देखने को मिलता है । राबर्टसन जहाँ यह कहते हैं कि वैश्वीकरण में समय और स्थान सिमट गये है, वहीं वे कहते हैं कि अब दुनिया भर के लोगों में यह चेतना आ गई है कि वे एक विशाल संसार के भागीदार हैं । यह व्यक्तिनिष्ठ चेतना वैश्वीकरण की बहुत बड़ी उपलब्धि है । राबर्टसन कहते हैं -

*एक प्रक्रिया के रुप में वैश्वीकरण की अवधारणा का सम्बन्ध संसार का सिमट जाना है और यह दुनिया एक है इसकी चेतना का गहरा जाना है। वैश्वीकरण अपने आप में सम्पूर्ण विश्व की चेतना है।*

1966 में मिल्टन ने वैश्वीकरण को संस्कृति के दृष्टिकोण से समझाया है । उनके अनुसार **वैश्वीकरण में संसार के बारे में सोचना, महसूस करना तथा जानना सभी सम्मिलित है।** मिल्टन वैश्वीकरण को एक सांस्कृतिक प्रघटना मानती है । इस संदर्भ में वैश्वीकरण एक दोहरी व्यवस्था है, जिसमें न केवल संसार में होने वाली घटनाऐं सम्मिलित हैं, बल्कि सांस्कृतिक रूपान्तरण के द्वारा विश्व को देखना एवं समझना है । अत: वाटर्स (Waters,1998) वैश्वीकरण को एक सामाजिक प्रक्रिया कहते हैं । उनका 'सामाजिक' पद इतना विशाल है कि वे इसके अन्तर्गत राजनीतिक, सांस्कृतिक और आर्थिक लक्षण भी सम्मिलित करते हैं ।

हमने ऊपर गिडेन्स वेलरस्टेन, राबर्टसन, मिल्टन तथा वाटर्स के विचारों को वैश्वीकरण की परिभाषा के लिए उद्धयत किया है । ये सभी विचारक वैश्वीकरण की व्याख्या अपने-अपने ढंग से करते हैं । इनकी व्याख्या के केन्द्रीय चर पूँजीवाद का विकास है । इधर वैश्वीकरण के कतिपय अन्य सिद्धान्तवेत्ताओं ने वैश्वीकरण को एकीकृत रूप में समझने की कोशिश की है । इन विचारकों में गिडेन्स विशेष रूप से उल्लेखनीय है ।

गिडेन्स ने वैश्वीकरण का विश्लेषण किसी एक चर या कारण की अपेक्षा बहुकारकों द्वारा किया है । मुख्य रूप से इसकी परिभाषा में चार कारकों द्वारा करते हैं - (1) पूँजीवाद, (2) अन्तर्राज्य व्यवस्था, (3) सैन्यवाद, (4) उद्योगवाद । वास्तव में गिडेन्स के अनुसार वैश्वीकरण का विस्तार इन चार तत्त्वों से जुड़ा हुआ है । देखा जाये तो ये चार तत्त्व आधुनिकता के तत्त्व हैं और इसलिए वैश्वीकरण स्वयं आधुनिकता में निहीत है ।

राबर्टसन वैश्वीकरण के सिद्धान्त निर्माण में गिडेन्स से सहमत नहीं है । उनका उपागम दूसरा है । वे "पूँजीवाद, अन्तर्राज्य सम्बन्धों, सैन्यवाद और उद्योगवाद के पारस्परिक सम्बन्धों को वैश्वीकरण की व्याख्या में सम्मिलित नहीं करते । वे कहते हैं कि हमें वैश्वीकरण में जो सार्वभौमिकता और स्थानीयता दिखाई देती है । उन दोनों का विश्लेषण करना होगा । अगर हम वैश्वीकरण की परिभाषा को सैद्धान्तिक स्तर पर देंखे तो हमें दो सम्प्रदाय स्पष्ट रूप से देखाई देते हैं । एक सम्प्रदाय उन विचारकों का है, जो वैश्वीकरण की व्याख्या किसी एक कारक या कारण के माध्यम से करता है । दूसरा सम्प्रदाय उन विचारकों का है जो वैश्वीकरण को बहु-

कारकों के उपादान द्वारा देखता है । महत्वपूर्ण बात यह है कि वैश्वीकरण एक जटिल प्रक्रिया है और समाजशास्त्री बराबर दूसरी व्याख्या में जुटे हुए हैं ।

अत: वैश्वीकरण एक ऐसी प्रक्रिया है जो अनिवार्य रूप से बहुलवादी हैं । वैश्वीकरण केवल आर्थिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक प्रक्रिया ही नहीं है, यह बहुआयामी है । विकासशील देशों के लोग वैश्वीकरण को आर्थिक और साम्राज्यवादी प्रक्रिया के रूप में देखते हैं । इसके विरोध में आन्दोलन हो रहे हैं । इस सबके बावजूद हम सब इस तथ्य से सहमत हैं कि वैश्वीकरण हमारी रुचि का प्रश्न नहीं है, यह तो स्वीकृत वास्तविकता है, जिसके सकारात्मक एवं नकारात्मक प्रभाव दोनों तरह के ही हैं, जिनके बारे में भारतीय संदर्भ में हम यहाँ चर्चा करेंगे ।

## 18.5 भारत में वैश्वीकरण

भारत मे वैश्वीकरण का प्रारम्भ 1991 ई. में हुआ । जब नरसिम्हाराव भारत के प्रधानमंत्री थे और मनमोहन सिंह वित्त मंत्री । यह आर्थिक नये-युग का सूत्रपात था । इस अर्थव्यवस्था की विशेषता यह है कि यह अपने नये अवतार में संघीय बाजार अर्थव्यवस्था बन गई । इसमें राज्यों को यह अधिकार मिल गया कि केन्द्रीय योजना अर्थव्यवस्था के अन्तर्गत वे अपनी वित्तीय स्थिति में परिवर्तन कर सकें । इस व्यवस्था में सुधार आता है या नहीं। इसके लिए राज्य ही उत्तरदायी है । यह नई व्यवस्था इस भाँति नियन्त्रण अर्थव्यवस्था से संघीय अर्थव्यवस्था में बदल गई । आर्थिक वैश्वीकरण का यह सूत्रपात सरकारी स्तर पर 1991 ई. में हुआ ।

जवाहर लाल नेहरू के समय में हमारी अर्थव्यवस्था नियन्त्रित यानी कमाण्ड अर्थव्यवस्था थी । यह 1960 का दबाव था । पंचवर्षीय योजनाऐं पूरी ताकत से चलाई जा रही हैं । देश के विकास का एक जुनून था । आयोजना आयोग के अध्यक्ष के नाते नेहरू जी चाहते थे कि भारत में ओद्योगिक आधुनिकीकरण को सफलता से ला सके । उन्हें आधुनिक भारत का प्रणेता समझा जाता था । नेहरू जी ने बड़े-बड़े बाँधों को देखा, उन्हें नये तीर्थो की तरह प्रस्तुत किया । उनके जाने के बाद केन्द्रीय आयोजन का विचार धूमिल होने लगा । अब वैश्वीय अर्थव्यवस्था आ गई । इस अर्थव्यवस्था के पीछे कुछ कारण हैं, जिनका हम यहाँ उल्लेख करेंगे।

### 18.5.1 वैश्वीकरण एवं भारतीय समाज में परिवर्तन

भारत में भी दुनिया के अन्य देशों की भाँति सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रिया बहुत तेज हो गई है और सभी देशों के लोग एक ऐसी जटिल और आर्थिक कड़ी में बंध गऐ हैं कि इन्हें अलग नहीं समझा जा सकता है । आज हमारे देश में दुनियाभर की वस्तुऐं खरीदने को मिलेंगी। यह सम्भव है कि यहाँ आपको डेनमार्क के सेब दिखाई दे, इजरायल के अंगूर खरीदने को मिले और दुनिया भर की कॉस्मेटिक वस्तुऐं पर्याप्त मात्रा में सजी-सजाई बिक्री हेतु प्राप्त हों । इसी प्रकार अन्य देशों में हमारे देश के विभिन्न अंचलों की वस्तुऐं भी पर्याप्त मात्रा में बिक्री के लिए अटी पड़ी हैं । देखा जाये तो आज तक हम जिस दुनिया में रह रहे हैं, इसमें अन्योन्यामितता बढ़ गई है । पहले दुनिया के देश या एक ही देश के लोग एक-दूसरे की आवश्यकता पूर्ति के लिए इतने अधिक अन्तर्निभर नहीं थे । यहाँ तो एक गाँव ही अपने आप में अलग दुनिया थी ।

इतिहास में यह पहली बार हुआ है कि स्थानीय और वैश्वीय लोग एक कड़ी में बंध गये हैं । यह सब कुछ पिछले बीस-तीस वर्षा में ही हुआ है और दूसरा कारण **संचार साधनों में वृद्धि, सूचना तकनिक और आवागमन के साधन हैं ।** अन्तर्राष्ट्रीय संबंधों को जोड़ने का काम बड़े-बड़े जेट हवाई जहाज करते हैं, तीव्र गति से चलने वाले जहाज करते हैं । देखते ही देखते एक जगह का उत्पादन दूसरी जगह पहुँच जाता है । पिछले तीस वर्षा में सेटेलाइट संचार व्यवस्था का विकास इस भाँति हुआ कि दुनिया के लोग एक दूसरे के साथ आराम से सम्पर्क कर सकते हैं । **इन सब प्रक्रियाओं को दुनिया भर के सामाजिक सम्बन्धों को गहरा और घनिष्ठ कर रही है, समाजशास्त्री इसे वैश्वीकरण कहते हैं ।**

हमें वैश्वीकरण को केवल दुनिया को जोड़ने वाले एक नेटवर्क की तरह ही नहीं देखना चाहिए, पर इससे आगे वैश्वीकरण हमारे स्थानीय दिन-प्रति-दिन के जीवन को भी प्रभावित करता है । यह भी समझना चाहिए कि जहाँ वैश्वीकरण लोगों को एक-दूसरे के निकट लाता है, वहीं उनमें तनाव भी पैदा करता है । स्थानीय संस्कृति और बाजार को वैश्वीय संस्कृति का भय बराबर बना रहता है । यह लगता है कि वैश्वीय संगीत कहीं हमारे स्थानीय संगीत - राजस्थानी, भोजपुरी नाच-गाने, गुजराती गरबे, पंजाब का भंगड़ा और महाराष्ट्र के तमासो को न गटक जाये। आर्थिक क्षेत्र में भी यह भय बना रहता है । इस भाँति वैश्वीकरण से जुड़े ऐसे कई मुद्दे हैं, जो भारतीय समाज को प्रभावित कर रहे हैं ।

सैद्धान्तिक तौर पर कई ऐसे बहु-स्तर हैं, जिनसे वैश्वीकरण एवं स्थानीय संस्कृति का विश्लेषण किया जा सकता है । संचार के साधनों के द्वारा राष्ट्र-राज्य के विचार और आर्थिक नीतियाँ क्षेत्रीय सीमाओं को लांघ कर बाहर जा रही हैं तथा साथ-साथ में स्थानीय संस्कृति के विभिन्न स्वरूपों जैसे परिवार, पड़ौस, समुदाय इत्यादि को भी प्रभावित कर रही है तथा एक प्रकार की सामाजिक मानक शून्यता ला रही है । आर्थिक बाजारीकरण से किसान एवं मजदूर ही नहीं प्रभावित हो रहे हैं, बल्कि वैश्वीय संस्कृति से परम्परागत संस्कृति यानि लोक संस्कृति एवं लोक समाज भी नष्ट हो रहा है । दूसरी ओर अन्य देशों में इनका विस्तार भी हो रहा है । इसी परिप्रेक्ष्य से भारत में होने वाले सकारात्मक और नकारात्मक सामाजिक परिवर्तन की चर्चा हम यहाँ करेंगे ।

### 18.5.2 वैश्वीकरण वरदान स्वरूप

भारत में वैश्वीकरण का आरम्भ आर्थिक सुधार के रूप में हुआ । वैश्वीकरण 1991 की नई आर्थिक नीति से भारत में प्रगति हुई । वैश्वीकरण की उदारीकरण की नीति ने प्रतिस्पर्धा की भावना उत्पन्न की । बहुराष्ट्रीय उद्यम और अन्त:राष्ट्रीय निगम तथा नई तकनिकी जैसे कम्प्यूटर एवं दूरसंचार सुविधाऐं वैश्वीकरण के आधार स्तम्भ हैं । वैश्वीकरण की सुविधाओं से भारत में मुख्यतया निम्न सकारात्मक परिवर्तन हुए -

- राष्ट्रीय आय में वृद्धि तथा निजी क्षेत्रों में रोजगार ।
- विश्व संचार से पारम्परिक संस्कृति का अन्य देशों में फैलाव एवं अन्य देशों की संस्कृतियों के समागम से मनुष्यों की अन्तःक्रियाओं में वृद्धि ।

- प्रतिस्पर्धा की भावना पैदा हुई तथा जीवन स्तर में वृद्धि हुई । वैश्वीय नेटवर्क तथा वैश्वीय चेतना में वृद्धि ।
- विभिन्न व्यक्तियों के विचारों और कल्पनाओं का आदान-प्रदान ।
- अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों के द्वारा वैश्वीय मानकों एवं मूल्यों का विकास जैसे मानव अधिकार, अन्तर्राष्ट्रीय अदालतें, वैश्वीय अभिशासन आदि का उद्गम ।
- गरीबी एवं अमीरी असमानता में कमी । वे देश गरीब हो रहें हैं जो विश्व स्पर्धा में सम्मिलित नहीं हैं । वैश्वीकरण की प्रक्रिया से सकारात्मक सामाजिक परिवर्तनों के साथ-साथ कुछ नकारात्मक परिवर्तन भी हुए हैं, वे निम्न प्रकार से हैं

### 18.5.3 वैश्वीकरण के संकट

वैश्वीकरण की प्रक्रिया अपने आप में अकेली नहीं है । इस आर्थिक प्रक्रिया के तीन महत्वपूर्ण पहलू हैं - निजीकरण, उदारीकरण और बौद्धिक सम्पत्ति के अधिकार । संयुक्त राष्ट्र विकास कार्यक्रम की रिपोर्ट ने कई महत्वपूर्ण निष्कर्ष रखे हैं । उदाहरण के लिए हथियारों की गैर-कानूनी आवाजाही सम्पूर्ण संसार में हो रही है । कुछ असामाजिक तत्वों ने तो इसे एक व्यवसाय बना दिया है । इसी तरह आतंकवाद देश की सीमाओं को लांघकर दूसरे देशों की सीमाओं पर पहुँच गया है । एड्स की बीमारी अफ्रीका से यूरोप और यूरोप से भारत तक पहुँच गई है । अन्तर्राष्ट्रीय पर्यावरण क्षरण विश्व की समस्या बन गई है । तीसरी दुनिया के बच्चों का शोषण अपनी पराकष्ठा पर पहुँच गया है । ऐसा ही कुछ प्रभाव स्त्रियों पर पड़ा है । भारतीय संदर्भ में ए.आर. बागची (A,R,Bagchi,1999) का कहना है कि वैश्वीकरण ने सम्पूर्ण मेक्रोइकोनोमिक्स (Macro-economics) के संतुलन को बिगाड़ दिया है । इनके अलावा कुछ अन्य मुद्दे हैं, जिनके कारण वैश्वीकरण का प्रतिरोध किया जाता है, वे निम्न हैं -

(1) आर्थिक वैश्वीकरण ने गैर-बराबरी को इतना व्यापक बना दिया है कि गरीबों को सांस लेना कठिन हो गया है ।

(2) पूँजीवाद में अत्यधिक वृद्धि हुई । वैश्वीकरण ने एक प्रकार के नये आर्थिक और सांस्कृतिक साम्राज्यवाद को पैदा किया है ।

(3) वैश्वीकरण ने उपभोक्ता समाज तैयार किया है, जिनकी वृद्धि बहुराष्ट्रीय निगमों का परिणाम है।

(4) वैश्वीय संस्कृति स्थानीय संस्कृति को प्रभावित कर रही है ।

(5) पश्चिमी विचारों को गलत तरीके से सार्वभौमिक बनाया जा रहा है, जो स्थानीय परम्पराओं को नष्ट कर रहे हैं, जो सांस्कृतिक साम्राज्यवाद का निर्माण कर रहे हैं ।

(6) वैश्वीकरण ने भ्रष्टाचार की संस्कृति को फैलाया है ।

### 18.5.4 बाजार, व्यापार एवं वित्त

आज बाजार, व्यापार एवं वित्त अन्तर्राष्ट्रीय हो गये हैं । आर्थिक वैश्वीकरण का बुनियादी आधार पर व्यापार है । वैश्वीकरण की बहुत बड़ी उपलब्धि उसका अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार

है । परम्परागत रूप से भारत में बाजार एवं व्यापार की बड़ी विकसित व्यवस्था रही है, जो आज तक भी स्थानीय संस्कृति से जुड़ी रही, लेकिन वैश्वीकरण से यह व्यवस्था अन्तर्राष्ट्रीय निगमों के हाथ में आ गयी और इससे स्थानीय व्यापारी संकट में आ गये । इसमें कोई संदेह नहीं कि व्यापार, निवेश और वित्त वैश्वीकरण के बुनियादी आधार हैं । ऐसा नहीं है कि इन तत्त्वों का विकास समान रूप से भारत में हुआ है । कहीं व्यापार घटा है तो कहीं निवेश बढ़ा है।

वैश्वीकरण और आर्थिक उदारीकरण ने स्थानीय धंधों को और स्वदेशी उत्पादन को बड़ी ठेस पहुँचाई है । हमारे यहाँ उत्तर-आधुनिक समाज का सूजना समाज अभी ठीक से विकसित नहीं हुआ है, तकनिकी तंत्र का ज्ञान भी अभी बहुत पिछड़ा हुआ है । हम दुनिया के विकसित देशों के बाजार में ठीक से प्रतियोगिता नहीं कर सकते । परिणामस्वरूप स्थानीय बाजार कमजोर हो रहा है ।

### 18.5.5 वैश्वीकरण के नये संस्थानीकरण परिवर्तन

वैश्वीकरण से भारत में निम्न पहलुओं के आधार पर एकीकृत रूप में सामाजिक परिवर्तन से नये संस्थानीकरण हुए हैं -

(1) बाजार, व्यापार एवं वित्त

(2) मीडिया एवं संचार

(3) विज्ञान एवं तकनिकी

(4) प्रव्रजन तथा अन्तर सांस्कृतिक आदान-प्रदान

(5) एकीकरण और पहचान की समस्या ।

संरचनात्मक रूप से वैश्वीकरण एक ऐतिहासिक प्रक्रिया है जो सामाजिक परिवर्तन के दौर में पहले कृषक समाज से औद्योगिक एवं उत्तर औद्योगिक तथा अन्त में मीडिया समाज से गुजर रही है । आज वैश्वीकरण के युग में सभी व्यक्ति विश्व बाजार में खरीददार और बेचने के लिए असमान शर्तो से जुड़े हुए हैं । इसी दृष्टिकोण से हम नये संस्थानीकरण परिवर्तनों की चर्चा करेंगे ।

### 18.5.6 मीडिया एवं संचार

कई शताब्दियों तक भारत एक मौखिक समाज था । बड़े-बड़े व्यापार मौखिक होते थे । आज मौखिक समाज से मीडिया समाज बन गया है । वैश्वीकरण ने यह सब पिछले दस वर्षों में क्रान्तिकारी रूप से बदला दिया । समाचार पत्रों के अतिरिक्त दूरसंचार सुविधाऐं भी हैं, जिनमें रेडियो, टेलिविजन, फिल्म, टेलिफोन, मोबाइल फोन, ई-मेल, फैक्स, इन्टरनेट आदि सम्मिलित हैं । कम्प्यूटर सेवाओं की वृद्धि हुई है । इन सब दूरसंचार सुविधाओं ने आर्थिक विकास, व्यापार तथा बौद्धिक व्यवहार में क्रान्तिकारी परिवर्तन ला दिये हैं ।

### 18.5.7 विज्ञान एवं तकनिकी

आज विज्ञान ने नई-नई तकनीकियाँ प्रदान कर दी हैं, जिसमें साधारण तकनिकी से अति-तकनिकी ने आर्थिक साधनों में वृद्धि की है । आज हम बहुराष्ट्रीय कम्पनियों के द्वारा विश्व उत्पादन का उपभोग कर रहे हैं । इससे उपभोग की संस्कृति का आर्विभाव हो गया है । आज विज्ञान एवं तकनिकी व्यक्ति एवं समाज को सम्पूर्ण रूप से प्रभावित कर रही है ।

### 18.5.8 प्रव्रजन तथा अन्तर सांस्कृतिक आदान-प्रदान

वैश्वीकरण की प्रक्रिया ने प्रव्रजन, पर्यटन एवं यात्रा में काफी वृद्धि की है । इससे सामाजिक एवं सांस्कृतिक समरूपता आने लगी थी तथा बाहुल्यता एवं सांस्कृतिक विभिन्नताओं का समावेश हुआ । भारत में पर्यटन पहले केवल धार्मिक यात्रा के रूप में था जो आज अवकाश में देश-विदेश की यात्रा का हिस्सा बन गया है । समय के अन्तराल में पर्यटन ने त्यौहारों, धार्मिक समूहों के विभिन्न कार्यों को सुदृढ़ किया है ।

वैश्वीकरण और सूचना प्रोद्यौगिकी के कारण स्थानान्तरण, पर्यटन और यात्रा में वृद्धि हुई है । सजातीयकरण के प्रभाव पर्यटन के कारण बढ़ते दिखाई देते है । दूसरे देशों में जो प्रवासी भारतीय हैं, वे अपनी सांस्कृतिक पहचान को बनाये रखने का प्रयास करते हैं । घरेलू पर्यटन में भी आवागमन की सुविधाओं के कारण वृद्धि हुई है ।

### 18.5.9 एकीकरण और पहचान की समस्या

वैश्वीकरण का सांस्कृतिक प्रभाव हुआ है । वास्तव में वैश्वीकरण स्थानीयता के साथ जुड़ा होता है । यह सही है कि बाजार अर्थव्यवस्था, मीडिया की शक्ति तथा सूचना तकनिकी तंत्र ने स्थानीय संस्कृति के सामने पहचान की बहुत बड़ी समस्या पैदा कर दी है । यही कारण है कि सांस्कृतिक आधुनिकीकरण, वैश्वीकरण के माध्यम से स्थानीय लोगों की संस्कृति पर आघात करता है, लेकिन इसी वैश्वीकरण और आधुनिकीकरण ने स्थानीयता को तोड़ने की अपेक्षा सुदृढ़ किया है ।

## 18.6 उपसंहार

इस इकाई के प्रस्तुत भाग में हमने यह तर्क दिया कि वैश्वीकरण की व्याख्या किसी एक कारक द्वारा नहीं की जा सकती । कुछ विचारकों का तर्क है कि यह प्रक्रिया परस्पर विरोधी तत्वों को पैदा करती है । सजातीयता जाती है और विशिष्टता को भी पनपाती है । कुछ अन्य लेखकों ने वैश्वीकरण को आर्थिक वैश्वीकरण तथा सामाजिक/सांस्कृतिक वैश्वीकरण की प्रक्रिया के रूप में देखा है ।

भारत में वैश्वीकरण की मुख्य रूप से दो चुनौतियाँ हैं -

(1) आर्थिक विकास

(2) पहचान की समस्या

ये दोनों ही चुनौतियाँ वैश्वीय चेतनाओं का परिणाम है । बहुल्यक सामाजिक संरचना और संस्कृति तथा विकास के प्रजातांत्रिक साधनों के द्वारा वैश्वीकरण की चुनौतियों का सामना करने की हमारी क्षमता है तथा सफलता की पूर्ण आशा है ।

## 18.7 महत्वपूर्ण अवधारणाऐं

1. वैश्वीकरण
2. आधुनिकीकरण
3. विश्व व्यवस्था
4. प्रव्रजन
5. विज्ञान एवं तकनिकी
6. पहचान

## 18.8 अभ्यासार्थ प्रश्न

1. वैश्वीकरण की परिभाषा दीजिए तथा इसके ऐतिहासिक दृष्टिकोण की व्याख्या कीजिए ।
2. वैश्वीकरण की अवधारणा क्या है? तथा इसके विभिन्न उपागमों की व्याख्या कीजिए ।
3. भारत में वैश्वीकरण के द्वारा कौन से सामाजिक परिवर्तन हुए हैं? विस्तार से बताइये ।
4. वैश्वीकरण के सकारात्मक एवं नकारात्मक परिवर्तनों की व्याख्या कीजिए ।
5. वैश्वीकरण के नये संस्थानीकरण परिवर्तनों की व्याख्या कीजिए ।

## 18.9 संदर्भ ग्रन्थ


1. दोषी, एस.एल. (2002) : आधुनिकता, उत्तर- आधुनिकता एवं नव-समाजशास्त्रीय सिद्धान्त जयपुर; रावत पब्लिकेशन्स
2. नागला बी.के. ग्लोबलाइजेशन एण्ड इट्स इम्पेक्ट ऑन कल्चर (अप्रकाशित लेख)
3. फीदर स्टोन, एम. (एडिटेड) (1990) : ग्लोबल कल्चर लन्दन; सेज पब्लिकेशन्स
4. योगेन्द्र सिंह (2000) कल्चर चेंज इन इंण्डिया जयपुर; रावत पब्लिकेशन्स
5. राबर्टसन, आर. (1992) : ग्लोबलाइजेशन् लन्दन; सेज पब्लिकेशन्स

# इकाई-19

# नागरीकीय समाज

**इकाई की रूपरेखा**

19.0 उद्देश्य
19.1 प्रस्तावना
19.2 नागरीकीय समाज की आवश्यकता
19.3 अवधारणा एवं सैद्धान्तिक विवेचना
19.4 नागरीकीय समाज की परिभाषा एवं सम्बंधित शब्द
19.5 नागरीकीय समाज की विशेषताएँ
19.6 नागरीकीय समाज का परिप्रेक्ष्य
19.7 भारत में विकास का स्वरूप एवं नागरीकीय समाज
19.8 वैश्विक नागरीकीय समाज
19.9 वैश्विक संस्कृति एवं नागरीकीय समाज
19.10 वैश्विक नागरीकीय समाज की चुनौतियां
19.11 सारांश
19.12 अभ्यासार्थ प्रश्न
19.13 संदर्भ ग्रंथ

## 19.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् आप -

- नागरीकीय समाज की अवधारणा क्या है?
- नागरीकीय समाज के उद्देश्य क्या हैं ?
- नागरीकीय समाज के स्वरूपों की जानकारी
- आधुनिक समाज में नागरीकीय समाज की भूमिका
- वैश्विक नगरीय समाज और प्रजातंत्रीय समाज का निर्माण
- नागरीकीय समाज के समक्ष चुनौतियां

## 19.1 प्रस्तावना

आधुनिक काल में सामाजिक विज्ञानों ने नागरीकीय समाज की अवधारणा सम-सामायिक विषय बनता जा रहा है क्योंकि विश्व के विभिन्न देशों मे प्रजातंत्रीय शासन व्यवस्था की स्थापना हो रही है । इससे एक नयी राजनैतिक संस्कृति का पोषण हो रहा है जो निश्चित रूप से सरकारी तंत्र को प्रभावित करती है । प्रजातंत्रीय मूल्यों को मजबूत बनाने और संघर्ष और तनाव को कम करने के लिये इस प्रकार के समाज की अहम भूमिका है ।

## 19.2 नागरीकीय समाज की आवश्यकता

नागरीकीय समाज एक नयी अवधारणा नहीं है इसका प्रयोग 18 वीं एवं 19 वीं दोनों शताब्दियों में रहा है परन्तु इसके बाद इसका प्रयोग लगभग बंद सा हो गया है या ऐसा कहा जा सकता है कि अभी तक सामाजिक वैज्ञानिक समाज को दो भागों में बांट रहे थे एक वह समाज जो अर्थव्यवस्था या बाजार व्यवस्था के साथ जुड़ा है दूसरा वह समाज जो राज्य या सरकार के साथ जुडा है । सामाजिक वैज्ञानिकों की सोच बाजार और राज्य जैसी जटिल संस्थाओं के सम्बन्धों को समझने में ही सीमित हो गई और वास्तविक समाज की अवहेलना की गई । यह तीसरा समाज केवल दार्शनिकों और समाजशास्त्रियों की सोच का विषय रह गया । अन्य सामाजिक वैज्ञानिकों का ध्यान इस तीसरे क्षेत्र की ओर नहीं था । इसमें कोई संदेह नहीं है कि स्वयं सेवी एवं ऐच्छिक सामाजिक संस्थाएं, गैर सरकारी संगठन धर्माथ संस्थाओं जैसी संस्थाओं का इन दो क्षेत्रों (राज्य एवं बाजार व्यवस्था) में कहीं उपयुक्त स्थान नहीं है । सामाजिक वैज्ञानिकों ने इनकी भूमिका को चाहे पूर्ण रूप से न नकारा हो पर इनकी अवहेलना की है अर्थात् इन संस्थाओं ने समाज को बनाये रखने में जो भूमिका निभायी है उसको विशेष महत्त्व नहीं दिया गया । सामाजिक निर्माण में केवल राज्य एवं बाजार व्यवस्था की भूमिका को महत्त्व देना एक संकीर्ण विचारधारा है । इसी सोच के कारण सोवियत संघ टूटा । इस तरह की टूटने के कारण सामाजिक वैज्ञानिक इस तीसरे क्षेत्र की ओर आकर्षित हुए और नागरीकीय समाज के लिये नागरिक समूहों और गैर सरकारी ऐच्छिक संस्थाओं की भूमिका को महत्त्वपूर्ण स्थान दिया गया इसी कारण इनकी आवश्यकता हुई । हालांकि इस परिप्रेक्ष्य में हमारे सम्मुख कई प्रश्न हैं -

(1) नागरिक समाजों के लिये इनकी भूमिका क्या होगी?

(2) ऐच्छिक संस्थाओं पर इसका क्या प्रभाव होगा?

(3) क्या यह प्रजातंत्रीय समाज के निर्माण में सहायक होंगे?

## 19.3 अवधारणा एवं सैद्धान्तिक विवेचना

नागरीकीय समाज ऐच्छिक नागरिक संस्थाओं तथा सामाजिक संगठनों एवं संस्थाओं द्वारा निर्मित ऐसी सम्पूर्णता है जो समाज की प्रकार्यात्मक इकाई का आधार बनते हैं यह न तो राज्य द्वारा बाध्य संरचना है जो राज्य की राजनैतिक व्यवस्था द्वारा संचालित होती है और न ही बाजार व्यवस्था की व्यापारिक संस्थाओं से सम्बधिंत होते हैं । हालांकि इस अवधारणा के संदर्भ में अभी बहुत स्पष्ट विचार नहीं हैं परन्तु फिर भी निम्न आधार पर इसे समझा जा सकता हैं ।

**लंदन स्कूल ऑफ इकोनोमिक्स सेन्टर फॉर सिविल सोसाईटी के अनुसार -**

"नागरीकीय समाज एक ऐसा रंगमंच है जहाँ इस प्रकार के सामूहिक प्रयत्न होते हैं जहाँ सिद्धान्ततः सामूहिक मूल्य, हित एवं उद्देश्य इस तरह से प्रेरित होते है जो राज्य, परिवार और बाजार व्यवस्था से अलग होते हैं परन्तु व्यवहारिक रूप से राज्य, नागरिक समाज, परिवार एवं बाजार व्यवस्था एक दूसरे से जुडे होते हैं । "पार्ससं ने इसे समाज के समुदाय का हिस्सा माना

है अर्थात् यह राजनैतिक व्यवस्था का सैद्धान्तिक रूप से हिस्सा नहीं है । यह राजनैतिक व्यवस्था की आधार शिला है व्यवहारिक रूप में नागरीकीय समाज और राज्य एवं दूसरे से जुड़े हुए है

नागरीकीय समाज वास्तव में विविधताओं का एक पुंज है जहाँ विविध प्रकार की संस्थाऐं एवं कार्य कर्त्ता हैं जिनमें सत्ता, शक्ति औपचारिकता एवं स्वनिर्णय की मात्रा भी विविध होती है ।

नागरीकीय समाज में साधारणत: पंजीकृत स्वेच्छी संस्थाओं, गैर सरकारी स्वयं सेवी संस्थान, मजदूर संघ व्यापारिक संघ, प्रशिक्षित व्यवसायिक संघ, विरोधी एवं समर्थनकारी समूहों का समावेश होता है ।

**पूर्व आधुनिक काल में नागरीकीय समाज की अवधारणा -**

इस पूर्व आधुनिक गणतंत्रीय अवधारणा का जन्म अठारहवीं शताब्दी में पुर्नजागरण के समय हुआ । प्रारम्भ में शास्त्रीय दर्शनकारों ने इस अवधारणा को एक राजनैतिक समिति के रूप में लिया है जो ऐसे नियमों की व्यवस्था करता है जिससे सामाजिक संघर्ष को कम किया जा सके तथा नागरिक एक दूसरे को नुकसान न पहुंचाये और समाज का संचालन सुचारू रूप से हो सके।

सुकरात ने नागरीकीय समाज को ऐसा समाज माना है जहाँ व्यक्ति ईमानदारी और सच्चाई से एक दूसरे के हितों की रक्षा कर सकें और कल्याणकारी समाज के लिये अन्तक्रिया करें।

प्लेटो ने नागरीकीय समाज, ऐसे समाज को माना है जहाँ नियम और उद्देश्यों का निर्माण समाज के सामान्य हित के लिये होता है ।

अरस्तु ने इसे आदान प्रदान के रूप में देखा है अर्थात् नागरीकीय समाज की अन्तक्रिया का आधार सामाजिक कल्याण होना चाहिये ।

सिसरो ने इसका प्रयोग रोमन समाज के संदर्भ में किया है जिसमें उसने 'अच्छी नागरिकता' (Good Citizenship) पर जोर दिया है ।

**मध्य युग -**

यह युग युद्धों का युग था इस युग में अच्छी नागरिकता या नागरीकीय समाज की अवधारणा लुप्त सी हो गई । सामंतवाद बढ़ता गया । समाज का शोषण हुआ । और सम्प्रभु राज्य की अवधारणा का जन्म हुआ ।

जिसमें एकतंत्रा पनपा और राजाओं ने प्रजा का प्रत्यक्ष रूप से नियंत्रण किया ।

हॉबस का मत है कि प्रत्येक व्यक्ति का एक निहित स्वार्थ होता है जो साधारण तथा दूसरे से विरोधाभासी होता है जिससे जंगल राज का खतरा होता है ऐसे में व्यक्ति अकेला हो जाता है और तानाशाही का खतरा उत्पन्न हो जाता है उसे किसी ऐसे तंत्रा की आवश्यकता होती है जो उसकी सुरक्षा करे इससे राज्य का जन्म हुआ जिसे वह लेविआथान (Leviathan) कहता है इसके दो प्रकार बताये गये हैं -

(i) लम्बवत् - राज्य से जनता का नियंत्रण अर्थात इसमें जनता ने स्वयं को राज्य को सर्मपित किया इससे राज्य का निर्माण हुआ ।

(ii) क्षैतिजिय - सामाजिक नियमों द्वारा समाज कल्याण के लिये व्यक्ति के नैसर्गिक अधिकारों को सीमित करना । जिससे समाज को हानि न हो और इससे नागरीकीय समाज का जन्म हुआ ।

हॉबस का कहना है कि नागरिकोचित समाज (Civility in Society) के लिये सशक्त राज्य की आवश्यकता है जो उचित नियमों के द्वारा समाज का सुसंचालन कर सके ।

**आधुनिक काल -**

वर्तमान संदर्भ में समाजशास्त्र में कई नयी अवधारणाएँ आयी हैं नागरीकीय समाज भी उनमें से एक है कुछ विचारक इसे पूंजीवाद एवं राज्य का परिणाम मानते हैं अन्य कुछ इसे सार्वभौमिक समूहवाद के रूप में मानते हैं कई इसे राज्य के विरोध में देखते हैं कुछ इसे प्रजातन्त्र के लिये चुनौती मानते हैं अन्य इसे आधुनिक प्रजातंत्रीय समितियों का परिणाम मानते हैं । इसके विपरित अन्य इसे व्यक्ति की स्वतन्त्रता का द्योतक (guarntee) मानते हैं ।

कुछ विचारक यह प्रश्न उठाते हैं कि क्या यह समाज का ही 'अंश' है क्या यह समाज का विशेष प्रकार है यह कोई समाज की 'वास्तविकता' का रंगमंच है या चह तीनों का मिश्रण है।

मार्क सुलीवाम ने द प्रीसाईज डेफीनेशन ऑफ सिविल सोसाईटी (The precise definition ऑफ civil society) में विभिन्न विद्वानों के विचार प्रकट किये हैं -

(1) चार्ल्स डाइबेर ने इस संदर्भ में तीन प्रश्न उठाये हैं -

(i) क्या यह साधारण सामान्य समुदाय का निर्माण करती है?

(ii) इसकी नैतिकता की प्रकृति क्या है?

(iii) इसकी रक्षा किस प्रकार हो?

इन तीनों के आधार पर यह मानता है कि नागरीकीय समाज की अवधारणा भ्रमित करने वाली अवधारणा है प्रत्येक इसका अर्थ अलग-अलग लगाता है

(2) हेराल्ड पीटर सन - का मानना है कि इस अवधारणा के द्वारा हम यह प्रयत्न कर रहे हैं कि एक अच्छे समाज की स्थापना की जा सके ।

(3) प्रोफेसर केय श्लजिंमैन का मत है कि बहुत अधिक स्वतन्त्र समाज कभी भी सुरक्षित नहीं होता है इसलिये यह कहना बड़ा कठिन है कि नागरीकीय समाज की सीमाएं क्या हों?

(4) Habermas ने इसे निम्न चित्र के द्वारा समझाने का प्रयत्न किया है

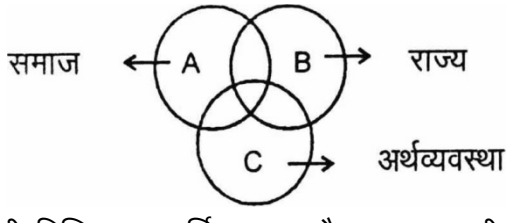


प्रत्येक चक्र अपनी विशिष्टता प्रदर्शित करता है परन्तु यह तीनों चक्र निजी, सार्वजनिक एवं संस्थात्मक जीवन से सम्बंधित हैं जो एक दूसरे के साथ घनिष्ठ रूप से जुड़े हुए हैं । और प्रत्येक का विशिष्ट क्षेत्र है जो निम्न है-

(a) सामाजिक समूहों का निर्माण अथवा समाज

(b) राजनैतिक शक्ति एवं सत्ता अथवा राज्य

(c) वस्तुओं एवं सेवाओं का उत्पादन एवं वितरण - अथवा अर्थव्यवस्था

हेबरमास का कहना है कि जब सरकार कमजोर होती है तो समाज राजनैतिक गतिविधियों पर अधिक आश्रित होता है परन्तु जब सरकार मजबूत होती है तो समाज स्वतन्त्र होता है और राजनैतिक सत्ता उसे प्रभावित नहीं करती है । इस प्रकार हम 178 के अमेरिका के नागरीकीय समाज (जो मजबूत था) एवं रूस के नागरीकीय समाज में (जार से संघर्षरत) अन्तर को देख सकते है एक शताब्दी बाद यूरोप में जिस नागरीकीय समाज का जन्म हुआ इस तथ्य को इंगित करता है कि यह एक बुर्जुआ समाज था जो राज्य जैसी संस्था से स्वतंत्र था तथा श्रम और वस्तु बाजार पर किसी की बाध्यता नहीं थी ।

जॉन लॉक ने इंग्लैंड की क्रांति के समय अपने विचार प्रस्तुत किये । इस समय राजा के देवीय और संसद के अधिकारों में विरोधाभास था जॉन लॉक ने भी राज्य और व्यक्ति के बीच समझौतावादी सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है । मानव को प्रकृति से संघर्ष करना पड़ा । और अपने जीवन को शांतिमय विधि से जीने के लिये उसे इस तरह की सामान्य शक्ति की आवश्यकता हुई जिसके अधीन वह कार्य कर सके तथा दूसरी ओर वह शक्ति या राज्य प्रजा के पालन पोषण का दायित्व उठाये तथा राज्य की शक्ति भी नियंत्रित हो जिससे राज्य से मानवधिकारों की रक्षा हो सके । स्वतंत्रता, जीने और सम्पत्ति के अधिकार को लॉक मानव के मुख्य अधिकारों में सम्मिलित करता है जिनकी रक्षा करना राज्य का कर्त्तव्य है । जॉन लॉक ने हॉबस और लॉक दोनों में राज्य और नागरीकीय समाज को अलग नहीं माना । वास्तव में हॉबस और लॉक उस समय क विद्वान थे जब राजा को देवीय शक्ति का रूप माना जाता था रूसो और कांत ने भी इनके विचारों का समर्थन दिया और यह माना कि मानव अपनी आवश्यकता के अनुरूप राज्य की व्यवस्था को बदल सकता है ।

- हीगल ने नागरीकीय समाज का अर्थ ही बदल दिया । उसने इसे "आवश्यकताओं की व्यवस्था" के रूप में देखा जो व्यक्ति को संतुष्ट करती है उनके अनुसार पूंजीवादी युग में बुर्जवा समाज का जन्म ही नागरीकीय समाज है और इस युग में राज्य का नैतिक कर्त्तव्य हो जाता है कि वह पूंजीवादी शोषण से इसे बचाये ।

  टोक्यावली ने निरंकुश फ्रांस और प्रजातंत्रीय अमेरिका की तुलना करते हुअे बताया है कि उदारवादी व्यक्तिवाद और सत्ता के केन्द्रीयकरण के बीच संतुलन होना चाहिये टोक्यावली राजनैतिक और नागरीकीय समाज के बीच अंतर मानता है ।
- मार्क्स राज्य को आधार नहीं मानता वह राज्य को निष्पक्ष भी नहीं मानता । इसलिये नागरीयकीय समाज का रक्षक भी नहीं हो सकता ।
- एनटिनियों ग्रामसी मार्क्स के विपरित नागरीकीय समाज को राज्य का सामाजिक आर्थिक आधार न मानकर इसे राजनैतिक अधोसंरचना मानता है वह मार्क्स की तरह इसे समस्या का केन्द्र न मानकर समस्या समाधान का केन्द्र मानता है जो व्यक्ति की राज्य से रक्षा करता है ।

**उत्तर आधुनिक काल-**

सर्वप्रथम 1980 में नागरीकीय समाज का अविर्भाव पूर्वी यूरोप के सोवियत खंड में हुआ। इसके, बाद से राजनैतिक समाज के स्थान पर नागरीकीय समाज शब्द का प्रयोग होने लगा 1990 से गैरसरकारी स्वयं सेवी संस्थाओं तथा नव सामाजिक आन्दोलनों के अविर्भाव से नागरीकीय समाज को तीसरे क्षेत्र (Third Sector) की तरह देखा जाने लगा । 1990 के बाद गरीब-देशों के विकास के लिये विश्व बैंक और अर्न्तराष्ट्रीय मुद्रा कोष ऋण की सुविधा देने लगा। हल्मे और एडवर्ड का कहना है कि लोग इसे विकास के लिये 'जादू की छड़ी' की तरह देखने लगे । व्हाऐत का कहना है कि नीति निर्धारक भी इसके खतरों को पहचाने नहीं पा रहा थे और इसका राजनीतिकरण होने लगा ।

1990 के बाद इसका प्रयोग वैश्वीकरण के विरोध में और बहुत से देशों में प्रजातंत्र के विकास में होने लगा । परन्तु अब इसका प्रयोग निष्पक्ष रूप में किया जाने लगा । आज नागरीकीय समाज को राज्य का विरोधी न मानकर पूरक के रूप में जाने लगा है व्हाऐत का तो मानना है कि नागरीकीय समाज का मूल आधार राज्य ही है

प्रजातंत्र के विकास में इस समाज की अहम् भूमिका है जिसे टोक्यावली ने पहले ही कहा है गैबरीयल ऐलमंड एवं सिडनी वर्बा ने राजनैतिक संस्कृति के विकास में इसकी अहम् भूमिका मानी है ।

रॉबर्ट पुटनाम का मानना है नागरीकीय समाज की गैर राजनैतिक संस्थाऐं भी प्रजातंत्र के विकास में सहायक है क्योंकि यह व्यक्ति को मताधिकार, स्वनिर्णय और सरकार के प्रति जागरूक करवाती हैं ।

## 19.4 नागरीकीय समाज की परिभाषा एवं सम्बंधित शब्द

**परिभाषा-** नागरीकीय समाज तथा इससे सम्बंधित अन्य अवधारणाओं जैसे सामाजिक पूंजी, नागरिक संस्कृति आदि को शैक्षणिक दृष्टि से परिभाषित नहीं किया गया है परन्तु ब्रिटिश लाईब्रेरी ने नागरीकीय समाज की कुछ विशेषताओं के आधार पर इसको परिभाषित करने का प्रयास किया है । इसके अनुसार नागरीकीय समाज एक ऐसा समाज है जिसमें औसत नागरिकों की स्वेच्छी सहभागिता पायी जाती है जो राज्य द्वारा बाध्यकारी नहीं होती । कुछ विचारक यह मानते हैं कि इसमें केवल उन राजनैतिक गतिविधियों को सम्मिलित किया जा सकता है जो लाभ के उद्देश्य से प्रेरित नहीं होती हैं बल्कि यह स्वंयसेवी गैर सरकारी संगठनों के द्वारा किया जाता है । इसमें निजी सार्वजनिक सभी प्रकार की संस्थाओं की सहभागिता होती है ।

नागरीकीय समाज की अवधारणा में तीन शब्द महत्वपूर्ण है (i) नागरिक समाज संगठन (CSO'S), (ii) नागरिक संस्कृति (Civic Culture) एवं (iii) सामाजिक पूंजी (मानव का आर्थिक उपयोग) (Social Capital)

**परिभाषा -** नागरीकीय समाज का तात्पर्य कुछ विद्वानों के अनुसार यह आधार भूत रूप से समाज में राजनीति को कम करती है जिससे समाज में व्यक्तिगत स्वतन्त्रता एवं उदारता तथा एक स्वतन्त्रता बाजार का विकास होता है या हम ऐसे कह सकते हैं कि यह सत्तात्मक राज्य और शोषक बाजार व्यवस्था का विकल्प है ।

कुछ इस प्रजातंत्र की खोई कड़ी मानते हैं कुछ इसे सामाजिक विज्ञानों का 'चिकरा सूप' मानते हैं

जेरेभी रिफकिन अपनी पुस्तक "आवर लास्ट बेस्ट हॉप" में लिखते हैं नागरीकीय समाज पुराने समाजों की व्यवस्था के रहस्यात्मक पक्ष को विशलेषणात्मक चाबी के माध्यम से खोलने का प्रयास करेंगे ।

एडम सालीगमैन यू.एन. ओ. एवं विश्व बैंक ने इसे इस प्रकार देखा है - यह गरीबी की वृद्धि को कम करने वाला सुशासन है क्योंकि सरकारी और गैर सरकारी ऐच्छिक संस्थाएं तीसरी दुनिया के समाज के कल्याण और उत्पादन को ही प्राथमिकता देती हैं ।

आधुनिक काल में नागरीकीय समाज का स्वरूप स्पष्ट होता जा रहा है राजनैतिक, समानता और शांतिपूर्ण सहअस्तित्व जैसे मूल्यों को महत्व दिया जाने लगा है इनके लिये विभिन्न सामाजिक संस्थाओं और संगठनों में सहयोग की आवश्यकता है । आधुनिक दार्शनिकों ने इस विचारधारा को और अधिक विस्तृत रूप दिया है जहाँ नागरिक अपनी समस्याओं पर तर्क वितर्क कर सकें दार्शिनिकों ने इसे 'सामान्य या जनहित के रूप में' देखा है जो आज के समाज की विशेषता है ।

नागरीकीय समाज की पश्चिमी अवधारणा - टॉमस ए. मेटजगर ने चीन के इतिहास के संदर्भ में (western concept of the civil society in the context of Chinese History) नागरीकीय समाज को विभिन्न विद्वानों के माध्यम से समझाने का प्रयत्न किया है जो निम्न है -

डेविड हेल्ड (David Held) - नागरिक समाज की एक विशिष्ट विशेषता यह है कि यह सामाजिक जीवन के कई पक्षों से मिलकर बनी है इसमें पारिवारिक, आर्थिक एवं सांस्कृतिक गतिविधिया तथा राजनैतिक अन्तक्रिया स्वैच्छिक या नीजि संस्थाओं द्वारा इस प्रकार संगठित होती है कि यह राज्य के प्रत्यक्ष नियंत्रण से परे व्यक्ति एवं समूह के बीच कार्य करती है हालांकि इसमें राजनैतिक अन्तक्रिया को बिल्कुल खत्म नहीं किया जा सकता है ।

**राजनैतिक दृष्टिकोण -** यह समाज शास्त्रीय दृष्टिकोण से मिलता जुलता है अर्थात् राज्य के खर्च पर जन-स्थिति को शक्तिशाली बनाना । यह दृष्टिकोण रूढ़िवादी या वामवादी हो सकता है क्योंकि यह समतावादी दृष्टिकोण पर बल देता है ।

आधुनिक संदर्भ में नागरिकता की आवधारणा में आर्थिक आधुनिकीकरण, अन्य समाजों के अर्न्तसम्बन्ध एवं सम्पर्क, स्वतन्त्र उद्यमिता और वैश्विक अर्थव्यवस्था को जोड़ा गया है । जोन दन (John Dunn) ने इसे आधुनिक संविधानात्मक प्रतिनिघात्मक प्रजातंत्रीय गणतंत्र (the modern constitutional representative democratic republic) कहा है । इस तरह के आधुनिक प्रजातंत्रीय राज्य की एक विशेष प्रकार की संस्कृति या व्यक्तित्व की विशेषताएं होती हैं जिसे कई समाजशास्त्रियों ने महत्व दिया है जैसे सुनिल खिलनानी हटिंगटन, इंकल्स फ्रेड्रिक हयाक आदि । इन सब के विचारों के आधार पर नागरीकीय समाज की विशेषताएँ संक्षिप्त में इस प्रकार हैं -

## 19.5 नागरीकीय समाज की विशेषताएँ

(1) सांस्कृतिक एकरूपता

(2) नागरिकों में सद्भाव

(3) राष्ट्रीयता की भावना

(4) नैतिक मूल्य

(5) सरकार का नागरिकों के प्रति उत्तरदायित्व

(6) नागरिकों की आवश्यकताओं को न्यायपूर्वक तरीके से पूर्ण करना

## 19.6 नागरीकीय समाज का परिप्रेक्ष्य

प्राचीन काल से नागरीकीय समाज किसी न किसी रूप में रहा है जहाँ मानवीय अधिकारों का संघर्ष प्रच्छन्न और मानव कल्याण के रूप में प्रकट रहा है । भारत में स्वतन्त्रता पूर्व ब्रिटिश शासन काल में यह भावना गांधीजी एवं अन्य समाज सुधारकों के माध्यम से अभिव्यक्ति हुई ।

भारत में स्वतन्त्रता पश्चात् 1960 तक इनकी गति मंद रही परन्तु 1980 के दशक से इनका विकास तीव्र गति से हुआ और नागरीकीय समाज का क्षेत्र चर्चित रहा । इनका प्रमुख उद्देश्य निर्वहन विकास (Sustainable development) रहा जिससे गरीबी को दूर किया जा सके । इस संदर्भ में हमें तीन सम्प्रदाय (विचार धाराएं) दृष्टिगत होते हैं -

**(1) नागरीकीय समाज समितीय जीवन के रूप में -**

यह निम्न बिन्दुओं पर आधारित है - यह स्वैच्छिक समितियों की भूमिका पर जोर देती हैं यह समितियों में सहिष्णुता सहयोग और प्रजातंत्रीय मूल्यों पर जोर देती है जो परिवार एवं स्कूल में समाजीकरण की प्रक्रिया के माध्यम से अन्तरीकृत किये जाते हैं क्योंकि ऐच्छिक संस्थाओं की अपेक्षा व्यक्ति अपना अधिकांश समय, परिवार एवं अन्य प्राथमिक संस्थाओं में व्यतीत करता है ।

समाज सुधार और राजनैतिक एकमतता के लिये जिस आधारभूत ढांचे की आवश्यकता है वह इन ऐच्छिक संस्थाओं के माध्यम से प्राप्त नहीं की जा सकती है क्योंकि इन गैर सरकारी और ऐच्छिक संस्थाओं की विचार धारा में मतैक्य नहीं होता है । इनके विषय, समस्याएं एवं स्थानीय विविधता होती हैं ।

जॉन कीन (John Kean) यह एक कूट प्रश्न है जो प्रजातंत्रवादियों एवं प्रजापीड़कों दोनों को समान स्वतन्त्रता देता है जो कई बार खतरनाक सिद्ध हो सकती है ।

**(2) नागरीकीय समाज आदर्श समाज के रूप में**

यदि सम्पूर्ण समाज आदर्श बन जायेगा तो अच्छे बुरे का अंतर कैसे हो सकता है । इस प्रकार का समाज लिंग एवं धार्मिक असमानता को दूर करता है और ऐच्छिक समितियों की कमजोरियों का दूर करता है इसका उद्देश्य मुनाफा न होकर समाज का हित होता है

**(3) नागरीकीय समाज जन मंडल के रूप में**

इसका तात्पर्य है कि हम नागरीकीय समाज उस समाज को मान रहे हैं जहाँ प्रजातन्त्रीय मूल्यों को महत्व दिया जाता है और जनसमूह का पालन पोषण इन मूल्यों जैसे स्वतन्त्रता, अवसर की समानता, बन्धुत्व की भावना तथा सामाजिक आर्थिक और राजनैतिक न्याय आदि के आधार पर किया जाता है । अर्थात् नागरीकीय समाज जन समूह के लिये प्रतिबद्ध है ।

## 19.7 भारत में विकास का स्वरूप एवं नागरीकीय समाज

भारत में नागरीकीय समाज की अवधारणा नयी नहीं है स्वतंत्रता के पहले कई समाज सुधारकों ने अंग्रेजी शासन में व्याप्त उन समस्याओं पर आवाज उठायी जो मानवीयता के विरूद्ध थीं । 1947 के पूर्व ही इस तरह के कार्यों के प्रति मान सम्मान था गांधी जी ने इस तरह की गतिविधियों को बढ़ावा दिया और बाद में गांधी जी ने यह प्रस्ताव भी रखा था कि भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस दल को लोक सेवक संघ में परिवर्तित किया जाय जिससे यह राजनीति की जगह मानव सेवा से जुड़े पर उस समय यह प्रस्ताव ठुकरा दिया गया । बाद में गाँधी जी की राह पर चलकर उनके शिष्यों ने स्वयं सेवी संस्थाओं के माध्यम से लोक हित में कई कार्य किये जो आज भी सतत् प्रयास रत है । इस प्रकार की संस्थाओं निश्चित रूप से उन कार्यों को करती हैं जो सरकार नहीं करती । इस प्रकार इन संस्थाओं को एक तरह से 'रिक्त स्थान की पूर्ति' (fill in the blanks) के रूप में देखा जा सकता है । भारत में नागरीकीय समाज 1980 से अधिक प्रचलित हुआ । छठी पंचवर्षीय योजना में इस समाज ने कुछ क्षेत्र रखे जो निम्न हैं-

(1) संसाधनों का विकास

(2) परिवार कल्याण, शिक्षा एवं पोषाहार

(3) स्वास्थ्य सबके लिये

(4) जल एवं मृदा प्रबंधन, परिस्थितिकी

(5) न्यूनतम पोषण प्रोग्राम

(6) कमजोर वर्ग एवं सामाजिक कल्याण

(7) आपात प्रबन्ध सम्बन्धी कार्यक्रम

(8) परिस्थितिकी एवं जनजातीय समाज की समस्याएं

(9) पर्यावरण संरक्षण

(10) घरेलू कुटीर उद्योग धंधे, हाथ करघा, दुग्ध पालन मतस्य पालन एवं सहकारी समितियों का निर्माण

इन कार्यक्रमों को सातवीं एवं आठवीं पंचवर्षीय योजनाओं में भी गैर सरकारी संस्थाओं के द्वारा संचालित किया गया ।

भारत में आज गैर सरकारी स्वयं सेवी संस्था 25 से 30 हजार हैं 1969 में इनकी संख्या केवल 1213 थी । 1976 में विदेश अनुदान अधिनियम (Foriegn Contribution Regulating Act (FCRA) 1976) बना जिसमें एन.जी.ओ को विदेशों से वित्तिय सहायता के लिये मार्ग प्रशस्त किया गया ।

सामान्यतः तीन प्रकार के N.G.O दृष्टिगत होते हैं

**(1)** ग्रामीण क्षेत्र:

(i) ग्रामीण क्षेत्र में जाकर शैक्षणिक गतिविधियां प्रारम्भ करना

(ii) सामाजिक कुरीतियों जैसे बाल विवाह, दहेज, बेमेल विवाह, मृत्यु भोज के प्रति चेतना जागृत करना

(iii) कृषि सम्बन्धी नई तकनीकों से अवगत करवाना

(iv) ऋण योजनाओं तथा बैंक सम्बन्धी कार्यक्रमों का विवरण देना

(v) स्वास्थय एवं सफाई से सम्बंधित सुविधाओं का प्रचार करना ।

(vi) जनसंख्या वृद्धि की समस्या तथा बाबा आमटे के जन कल्याण सम्बन्धी कार्यक्रम इसी प्रकार के है।

**(2)** अनुसंधान के क्षेत्र में

मानव की मूलभुत आवश्यकताओं से सम्बंधित वस्तुओं में मिलावट एवं उपलब्धता से सम्बंधित अनुसंधान करना । सेन्टर फॉर सांईस एवं एनवायरमेंट इसी तरह के जनहित के कार्यक्रमों से सम्बंधित है जैसे जल के नमूने एकत्रित करना उनमें हानिकारक रसायनों को दूर करके पेय योग्य बनाना । पर्यावरण के शुद्धिकरण के उपाय बताना ।

**(3) न्यायिक सक्रिय समूह** -

यह स्वयं को न्यायिक सक्रियता से जोड़ते हैं पत्रकार मीडिया प्रशासन की कमियों को उजागर करता है नर्मदा बचाओ आंदोलन इसी तरह का आंदोलन था जिससे कई लोग जुड़े जैसे अरून्धति रॉय जेल गयी । मेधापाटकर ने उस जनजातीय समाज के लिये आंदोलन किया जो इस बांध के कारण विस्थापित हो रहे थे जिन्हें उस प्राकृतिक पर्यावरण में रहने की आदत थी ।

हालांकि तीन प्रकार के N.G.O की चर्चा पत्रलेखा चर्टजी ने की है पर उनका मानना है कि जब कभी कोई बड़ी समस्या सामने आती है तो तीनों प्रकार के एन.जी.ओ एकजुट हो जाते हैं और राजनेताओं को जवाब देह बताते हैं और जन समूह के कल्याण के कार्य करते हैं

भारतीय प्रजातंत्र प्रतिनिधित्व पूर्ण प्रजातंत्र है यहां सहभागिय प्रजातंत्र नहीं हैं राजनेता चुनाव के बाद अपने उत्तरदायित्व को भूल जाते हैं भारत में स्वीटजरलैंड की तरह नेताओं को (referendum) नहीं दिया जाता है न ही उन्हें प्रमाण पुरुष की तरह कार्य करना होता है ।

विभिन्न N.G.O का भारतीय समाज पर बहुत अधिक प्रभाव पड़ा है इस की सशक्त भूमिका के कारण ही भारतीय समाज में परिवर्तन आया है यह परिवर्तन समाज को अच्छी दिशा, समृद्धि और खुशहाली की ओर ले जा रहा है इनका प्रयत्न है कि आर्थिक और सामाजिक दृष्टि से पिछड़े और निर्धन वर्ग को समतल पर लाकर समानाधिकार दिलाने का प्रयत्न किया जाय जिसका प्रमुख उद्देश्य प्रजातंत्रीय समाज की स्थापना करना है ।

साधारणतय: विश्व की सभी गैर सरकारी स्वयं सेवी संस्थाऐं (N.G.O) इस उद्देश्य को लेकर प्रयत्नशील रहती हैं कि निर्वहन अर्थव्यवस्था स्थापित करके जनकल्याण एवं विकास सम्बन्धी कार्य किये गये ।

निर्धनता निदान क्षेत्र - इस क्षेत्र में कई एन. जी. ओ समूह काम कर रहे हैं उदाहरण के लिये (Give India) 'गिव इंडिया' नामक संस्था गरीबतम नागरिक के हित में कई कार्यक्रम

करती है उनके लिये धन एकत्रित करके कई योजनाऐं कार्यान्वित होती हैं जैसे शिक्षा स्वास्थय, बिजली, पानी, मकान, रोजगार, स्वच्छ पर्यावरण आदि । इस प्रकार के एन.जी.ओ. का यह प्रयत्न रहता है कि निर्वहन अर्थ व्यवस्था की स्थापना हो सके । व्यक्ति की मूल भूत आवश्यकताएं पूर्ण की जा सके । अंनजानी फाउंडेशन भी इसी उद्देश्य को लेकर कार्यरत है ।

**शिक्षा के क्षेत्र में -**

इस क्षेत्र में निम्न कार्यक्रम आयोजित किये गये हैं

(1) सर्व शिक्षा अभियान - इसका उद्देश्य शिक्षा का सविभौमिकरण करना है कि "प्रत्येक, प्रत्येक को पढ़ाये" इसे पूरे भारत में प्रचारित किया गया है ।

(2) नन्ही कली - मुम्बई स्थित यह संस्थान पिछड़े वर्ग की बालिकाओं के लिये शिक्षा के साथ अन्य सुविधाएं भी प्रदान करता है ।

(3) नन्ही फाउंडेशन एंड महीन्द्रा एजुकेशन ट्रस्ट - यह भी शिक्षा के क्षेत्र में कार्यरत है ।

**बाल एवं महिला सशक्तीकरण -**

(1) प्रोजेक्ट क्रेयैन (CRAYON) - अनाथ बच्चों के लिये मुंबई में कार्यरत है यहां से नवजात बच्चे गोद भी दिये जाते हैं ।

(2) निश्चय गर्ल्स स्कूल - 2004 से गरीब निर्धन लड़कियों के लिये प्रथम से आठवीं तक, निशुल्क रोजगारोन्मुख शिक्षा प्रदान करना इसमें आधुनिक रोजगारों का प्रशिक्षण दिया जाता हैं

(3) इनकेयर - यह राष्ट्रीय स्तर का स्वयं सेवी संस्थान है जो कमजोर वर्ग के बहु मुखी विकास के लिये प्रयासरत हैं इसमें निम्न जाति एवं वर्ग दोनों के लिये ही कार्य किये जाते हैं

(4) सार्ड सोसाईटी (SAARD) - अल्पसंख्यकों के उत्थान के लिये विशेषरूप से सर्मपित है ।

(5) दीपालय - आर्थिक और सामाजिक रूप से पिछड़े बच्चों के लिये कार्यरत है इसे बेस्ट अवार्ड भी मिल चूका है ।

(6) सेव द चिल्डरन - यह बाल एवं महिलाओं के विकास से सम्बंधित है ।

(7) आकाक्षां फाउंडेशन - मुंबई और पूना के गरीब बच्चों के साथ जुड़ी है ।

(8) स्माईल इंटरनेशनल - यह यूनेस्को द्वारा संचालित बाल विकास से सम्बंधित है जिसमें बाल श्रम जैसी समस्याओं और उनकी शिक्षा को भी देखा जाता है ।

(9) राष्ट्रीय सहारा - महिला उत्पीड़न एवं इनके विरूद्ध हिंसा के लिये कार्यरत हैं इसके अतिरिक्त अन्य कई गैर सरकारी संगठन इसके विरूद्ध कार्य कर रहे हैं ।

स्वास्थ्य का क्षेत्र - इसमें दो प्रकार के एन. जी. ओ कार्यरत हैं

(i) जो स्वास्थय के प्रतिरोधात्मक पक्ष से प्रेरित हैं जैसे निशुल्क टीके और स्वास्थ्य जागरूकता शिविरों की व्यवस्था करना, रक्त दान, मोतिया बिन्द ऑपरेशन, मधुमेह आदि से सम्बंधित शिविरों का आयोजन किया जाता है ।

(ii) निदानात्मक क्षेत्र - टी. बी., केन्सर, ऐडस जैसी भंयकर बिमारियों एवं अन्य महामारियों के लिये कार्यरत हैं यह महानगरों में इस प्रकार की सुविधाएं उपलब्ध करवाते हैं, यहां छोटी

जगह के नागरिक भी सुविधा प्राप्त करते है मानसिक स्वास्थय एवं विक्षिप्त बच्चों के लिये भी इस प्रकार के प्रोजेक्ट चलते रहते हैं ।

पर्यावरण के क्षेत्र में - वन्य जीव एवं पर्यावरण संरक्षण के संदर्भ में टाईगर प्रोजेक्ट, वृक्षारोपण, स्वच्छता, गन्दी बस्ती की समस्याएं आदि विभिन्न क्षेत्रों में यह कार्य करती हैं यह राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय पर्यावरण सम्बन्धी कार्यक्रमों से जुड़े रहते हैं ।

आपात स्थिति - भूकम्प, बाढ़, अकाल या अन्य महामारी के समय यह नागरीकीय समाज तत्परता से लोगों को सहायता पहुचाने का कार्य करता है

जनजातीय संदर्भ में: जनजातीय समाज हमारी धरोहर है कई (N.G.O) गैर सरकारी स्वयं सेवी संस्थाएं इनकी कला, भाषा, वेशभूषा आदि के संरक्षण से जुड़ी हैं तथा औद्योगिकरण आदि से उत्पन्न इस समाज के विस्थापन की समस्याओं से भी यह संस्थाए जुड़ी हैं । दक्षिणायन प्रोजेक्ट इसी तरह का कार्यक्रम है ।

**प्रेरक कारक एवं चुनौतियाँ -** समाज में धन का अभाव, जनता में गरीबी से जुड़ी करूणीय समस्याएं एवं चेतनता का अभाव और इनके प्रति नेताओं की उदासीनता ऐसे कई कारक हैं जो नागरीकीय समाज को इन समस्याओं के प्रति जागरूक एवं आकर्षित करते हैं यह ऐसे क्षेत्रों में कार्य करते हैं जहाँ सरकार नहीं आना चाहती है । प्रतिनिधी नेता भी जातीय संस्तरण और समीकरण में काई बाधा उत्पन्न करना नहीं चाहते यह उनका वोट बैंक है । केरल में शास्त्रा साहित्य परिषद ने शत प्रतिशत साक्षरता लाने का संकल्प किया है । सह शिक्षा में लड़कियों के माता पिता पढ़ाने को तैयार नहीं होते हैं घरेलू काम करने वाली लड़कियों भी पढ़ाने को तैयार नहीं होती पर इस एन.जी.ओ ने इसे पूर्ण करने का संकल्प लिया है ।

ऐसी ही कई ज्वलंत समस्याएं हैं जिनके प्रति नागरीकीय समाज आगे आता है और समाज के प्रति एक नैतिक दायित्व मानकर कार्य करता है ।

## 19.8 वैश्विक नागरीकीय समाज

वैश्विक नागरीकीय समाज की वास्तविकता इस तथ्य पर निर्भर है कि विश्व को समृद्ध बनाया जाय और सबको समानता के आधार पर अधिकार मिलें और वसुधैव कुटुम्बक की भावना पर विश्व में परस्पर देशों में प्रेम एवं सहयोग की भावना को बढ़ाया जाय तथा विभिन्न समस्याओं का निदान किया जाय ।

यह अवधारणा कार्ल मार्क्स के संघर्षवाद पर आधारित न होकर दुखीर्भ के सहयोगवाद पर आधारित है । जिसमें समाज का महत्त्व व्यक्ति से ज्यादा है दुर्खीम के अनुसार इसमें चार तथ्य महत्वपूर्ण हैं (1) सामाजिक मानदण्ड एवं कानून (2) संस्थाएं (3) प्रतीक एवं रीति रिवाज तथा (4) श्रम का विभाजन । यह चारों व्यक्ति की समाज पर निर्भरता को बढ़ाते हैं । दुर्खीम राज्य को कार्य संचालन का एक भाग मानता है जो इन पर नियंत्रण करता है ।

जोआना मैसी (Joanna Macy) वैश्विक नागरीकीय समाज को आधुनिक समाज का नया मोड़ (Turning Point) मानती है जिसने तीन तथ्यों को जोड़ा है

(1) विश्व व्यापार संगठन के ध्वस के प्रति विरोध यह विश्व नागरीकीय समाज को वैश्विक स्तर पर संगठित करता है ।

(2) इसी संदर्भ में नयी आर्थिक एवं सामाजिक संस्कृति का निर्माण हो

(3) आध्यात्मिक पुर्नजागरण - यह सब धार्मिक सम्प्रदायों से अलग वैश्विक मानवता से जुडी है।

वैश्विक नागरीकीय समाज के क्षेत्र - यह समुदाय विश्व की उन समस्याओं से जुड़ा है जो विश्व में संघर्ष हिंसा एवं तनाव को कम करें ।

आर्थिक क्षेत्र - वित्तिय अस्थिरता एवं आर्थिक शोषण को दूर करने के लिये विश्व बैंक, संयुक्त राष्ट्र संघ के विभिन्न अंग इसमें संलग्न है ।

आंतकवाद एवं सैन्यबल - इस समस्या से समस्त विश्व ग्रसित है और शक्तिशाली राष्ट्रों को भी ऐसा प्रतीत होने लगा है कि अकेले उनकी शक्ति इस समस्या का समाधान नहीं ढूंढ सकती और इस समस्या को वैश्विक नागरीकीय समाज विकसित और विकासशील देशों के बीच सहयोग और अर्न्तनिर्भरता के आधार पर ही सुलझा सकता है । जिससे अन्तर्राष्ट्रीय शांति की स्थापना हो सके ।

पर्यावरण सम्बन्धी - आज विश्व समक्ष पर्यावरण संरक्षण एक गम्भीर समस्या है । वैश्विक उष्मीकरण (Global Warming) पर्यावरण से खिलवाड़ प्राकृतिक आपदाओं की अधिकता एवं मौसम सम्बन्धी अनावश्यक खराबियों ने विषय को चिन्ताजनक स्थिति में डाल दिया है विकसित देशों ने पर्यावरण प्रदुषण में अधिक योगदान दिया है क्योंकि उद्योगों का विकास और अनुसंधान के क्षेत्र वहाँ अधिक विकसित हैं ।

## 19.9 वैश्विक संस्कृति एवं नागरीकीय समाज

**वैश्विक नागरीकीय समाज के उद्देश्य -**

वसुद्धैव कुदुम्बक की भावना : विश्व के लिये ऐसी नीतियों का निर्माण करना जो प्रत्येक देश के लिये कल्याण कारी हो । इस समाज का उद्देश्य नयी सत्ता स्थापित करना या किसी देश की सीमा का अतिक्रमण करना नहीं बल्कि विभिन्न देशों के परस्पर सहयोग से एक दूसरे की समस्याओं को उचित तरीके से सुलझाना

सार्वभौमिक मूल्यों की स्थापना : यह समाज उन मूल्यों की स्थापना की ओर प्रेरित होता है जो सर्वमान्य हों सत्य पर आधारित हो जो मानवीयता से ओत प्रोत हों जैसे स्वतन्त्रता, बन्धुत्व, सामाजिक न्याय, अहिंसा एवं नागरिकों में जागरूकता एवं सक्रियता आदि ।

**वैश्विक संस्कृति की स्थापना -**

(1) इस तरह की संस्कृति का विकास करना जिससे राजतंत्रा या एकतंत्रीय शासन खत्म हो अर्थात् विकसित राष्ट्रों की एकतंत्रीय आर्थिक लोलुपता पर नियंत्रण पाया जा सके ।

(2) सम्प्रभुता की रक्षा -विभिन्न राष्ट्रों और समुदायों की ऐसे खतरों से रक्षा करना जिससे राजनैतिक,आर्थिक, सैन्य और सांस्कृतिक हमलों से बचा जा सके जिससे सभी राष्ट्रों की सम्प्रभुता की रक्षा हो सके ।

(3) वैश्विक प्रजातन्त्र की स्थापना - ऐसे स्थानीय सहयोग और मैत्री का विकास करना जिसमें सब व्यक्तियों और समुदायों को समान अवसर प्राप्त हों जिससे प्रजातंत्रीय समाज की स्थापना हो सके ।

(4) अनुसंधान और नवीनीकरण के क्षेत्र में वैज्ञानिक सामाजिक, आर्थिक एवं सांस्कृतिक क्षेत्र में अनुसंधान और नवीनीकरण में वैश्विक सहयोग को बढ़ावा देना जिससे विकासशील देशों को नयी तकनीकी का ज्ञान हो उदाहरण के लिये आर्थ समिट (Earth Summit) जो पृथ्वी के संरक्षण से जुड़ा है ।

(5) वैश्वीकरण की बुराईयों को दूर करना ।

(6) विश्व में निर्वहन आर्थिक व्यवस्था को स्थापित करना जिससे विश्व में प्रत्येक व्यक्ति खुशहाली का जीवन व्यतीत करे ।

(7) विश्व में व्याप्त बुराईयों को दूर करना जैसे लैंगिक असमानता, मानवीय अधिकार, पर्यावरण संरक्षण

(8) विश्व में एक राष्ट्र से दूसरे राष्ट्र के बीच आत्मीय सहयोग को प्रोत्साहित करना ।

(9) लोक अभिमुख कार्यों को बढ़ावा देना ।

(10) प्रोद्योगिकी के क्षेत्र में लेन देन को बढ़ावा देना।

(11) बौद्धिक सम्पदा का संरक्षण करना और स्थानीय वस्तुओं के पेटेंट अधिकार के अन्तर्गत संरक्षित करना ।

(12) नागरीकीय समाज और कार्यरत संगठनों में सहयोग की भावना विकसित करना ।

(13) बाल अधिकारों को सुरक्षित रखना

(14) क्षेत्रीय प्रजातंत्र (Regional Democracy) राष्ट्रीय प्रजातंत्र (National Democracy) और अंतराष्ट्रीय प्रजातंत्र (International Democracy) को बढ़ावा देना जिससे राष्ट्रीय आधार पर अच्छी प्रजातंत्रीय सरकारों का निर्माण हो और अन्तर्राष्ट्रीय आधार पर सब राष्ट्रों को समान अवसर प्राप्त हो

## 19.10 वैश्विक नागरीकीय समाज की चुनौतियां

नागरीकीय समाज द्वारा विभिन्न क्षेत्रों में सामाजिक आर्थिक समानता प्रदान करवाना निश्चित रूप से प्रजातंत्र की ओर एक अच्छा कदम है अपने एक लेख में योगेन्द्र सिंह भारत के राजनीतिक नेतृत्व की चर्चा करते है । उनका कहना है कि नेतृत्व कहीं भी हो, राजनेता का उद्देश्य शक्ति को प्राप्त करके लोगों के सामूहिक हित में लगाना चाहिये । इसलिये नेतृत्व जहाँ आदर्शात्मक होता है वहीं उद्देश्यपरक भी । इस दृष्टि से देखा जाये तो आज वैश्विक स्तर पर नेतृत्व का संकट है । अब दुनिया भर में यह सोचा जाने लगा है हमारे राजनैतिक मूल्य कैसे होने चाहिये और इसी अनुपात में राजनीतिक संस्थाएं कैसी होनी चाहिये । हम गंभीरता से यह विचारने लगें कि नागरिक समाज (Civil Society) को किस तरह संगठित होकर राज्य (State) और राजनीति (Politics) का मुकाबला करना चाहिये ।

योगेन्द्र सिंह का विश्लेषण है कि आज देश में राजनीतिक दलों का पतन हो गया है, राष्ट्र-राज्य की प्रशासनिक क्षमता कमजोर हो गई है । अब हमें नई आर्थिक व्यवस्था में ऐसे प्रशासन चाहिये जो किसी भी प्रबन्ध के मैनेजर की तरह काम कर सके । उन नेताओं की आवश्यकता नहीं है जो चिकनी-चुपड़ी बात करके लोगों को बहला सकें । प्रजातंत्र हमारे देश में ही संकट में हो, ऐसा नहीं है । अमेरिका और इंग्लैण्ड में भी अब यह समझा जाने लगा है कि

प्रजातंत्र को कारगर रूप से चलाने के लिये नागरिक समाज को सुदृढ़ करना होगा । नागरीकीय समाज के समक्ष निम्न चुनौतियां हैं -

**प्रजातंत्रीय समाज का निर्माण -**

नागरीकीय समाज का प्रमुख उद्देश्य समानता को स्थापित करना है ।

यूरोप और अमेरिका की तरह यहां राजनीतिक स्थिति में संकट है । प्रजातंत्र, राजनीतिक दल, बाजार और वैश्विय स्तर के उत्पादन और संचार तकनीकी में परिवर्तन के कारण सम्पूर्ण सामाजिक और सांस्कृतिक ढ़ांचा चरमरा गया है । अब व्यवस्था में कई दोष आ गये हैं ऐसा लगता है कि आधुनिक समाज की कार्य प्रणाली विदेशों में होने वाले परिवर्तन के साथ अपना परिवर्तन नहीं कर पाई है । इस कारण जहाँ विदेशों में उत्तर-आधुनिक समाज ने आधुनिक समाज को उखाड़ फेंका है वैसे ही भारतीय समाज में भी व्यवस्था का संकट आ जायेगा ।

**आर्थिक विकास -**

आर्थिक सुधार के क्षेत्र में हमारे यहां का इतिहास कुछ असामान्य रहा है । गाँधीजी और नेहरूजी अर्थव्यवस्था को अलग-अलग तरह से देखते थे । गांधीजी की दृष्टि में व्यक्ति स्वायत्त था और उसकी यह स्वतन्त्रता राज्य के ऊपर भी थी । नेहरूजी के विचार दूसरे थे । उनके विचार में आमूल-चूल परिवर्तन लाने में राज्य की भूमिका बहुत बड़ी थी । उनके समय में योजना आयोग का प्रभुत्व केन्द्र और राज्य दोनों पर था । नेहरूजी का बाजार पर विश्वास नहीं था । उद्योगपति कभी भी जनहित कार्यों के लिये अपना लाभ वितरित करने को तैयार हो सकते थे । इस कारण नेहरूजी की रणनीति थी कि राज्य ही समाज में सामाजिक और आर्थिक रूपान्तरण ला सकता है । लेकिन अब तक का अनुभव बताता है और इसके लिये हमारे पास प्रमाण हैं राज्य अपेक्षित परिवर्तन को लाने में असमर्थ रहा है । नेहरूजी ने एक मध्यम मार्ग (Middle Path) चुना था । यह मार्ग सार्वजनिक क्षेत्र (Public Sector) का था । सार्वजनिक क्षेत्र राज्य और उद्योगपति दोनों के बीच का है । लेकिन अनुभव ने यह भी सिद्ध कर दिया है कि यह सार्वजनिक अपने लक्ष्य में सफल नहीं रहा । यह क्षेत्र अब शीघ्रता से निजी हाथों में जा रहा है ।

आर्थिक संकट के दबाव में आकर ई. 1991 में देश ने ढांचागत परिवर्तन (Structural Adjustment) की नीति को अपनाया और इसके कारण इस देश में वैश्वीकरण, उदारीकरण और निजीकरण आये । अब वित्तीय नियन्त्रण के केन्द्र राज्य में स्थापित हो गया । मुख्यमंत्री अपने स्तर पर विदेशी निवेश के लिये समझौता करते हैं । वित्तीय स्थिति का केन्द्र से राज्य में रूपान्तरण होना एक क्रांतिकारी घटना है और यह घटना ई. 1991 में घटी । अब आयात-निर्यात के नियन्त्रण हट गये या ढीले पड़ गये ।

वैश्वीकरण, उदारीकरण और इन दोनों के कारण निजीकरण इस देश में आया है वह एक नई आर्थिक क्रांति का परिचायक है । इस क्रांति ने बहु राष्ट्रीय कोरपोरेशन (Multi-national Corporations,MNC) के निवेश का रास्ता खोल दिया है । अब सूचना समाज का सूत्रपात हो गया है । साफ दिखाई देता है क्षितीज के उस ओर उत्तर-आधुनिक समाज खड़ा है ।

ऐसी स्थिति में स्थानीय और वैश्विक नागरीकीय समाज की भूमिका और अधिक महत्त्वपूर्ण होती जा रही हैं ।

वर्तमान में राज्य और सरकार का घटता हुआ प्रभुत्व है । आज अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति में वैचारिकी के क्षेत्र में बहुत बड़ा परिवर्तन आया है । एक समय था जब पूंजीवाद और समाजवाद भारतीय समाज के परिवर्तन के पेराडिम थे । कांग्रेस पार्टी ने अवाड़ी के विशेष सम्मेलन में यह घोषित किया कि वह भारत को समाजवादी समाज का स्वरूप देगी । संविधान में ऐसा संशोधन भी कर दिया । अब भारत एक प्रजातांत्रिक, धर्मनिरपेक्ष और समाजवादी समाज बन गया । लेकिन अब यह समाज-उदारीकरण और निजीकरण की गिरफ्त में आ गया । स्पष्ट है कि राज्य का प्रभाव कमजोर हो गया और वैश्वीकरण शक्तिशाली बन गया । भारत को ऐसी स्थिति में वैश्विक चुनौती स्वीकार करके नागरीकीय समाज को संगठित करना होगा ।

अब राज्य का सोच बदल गया है । पूंजीवाद इसका मार्गदर्शक मुहावरा है सोवियत रूस के विघटन ने इस मुहावरे को हमारे यहां राज्य की भूमिका को बदल दिया हैं अब राज्य पर ऐसे दबाव बढ़ने लगे हैं कि वह धीरे-धीरे लेकिन निश्चित रूप से राष्ट्रीय जीवन के कई क्षेत्रों से अपने आपको खींच रहा हैं मानव अधिकारों की चर्चा तो पूरे जोर के साथ की जाती है लेकिन नागरिकों के बुनियादी अधिकारों और उनकी सुरक्षा पर चुप्पी साध ली जाती है । जैसा यूरोप और अमेरिका में हो रहा है, हमारे यहां भी राज्य जन कल्याणकारी कार्यो से अपना हाथ खींच रहा है आम लोग राज्य पर दबाव डालने में अपने आपको कमजोर पा रहे हैं ।

इस तरह आधुनिक समाज जनहित समाज नहीं कहा जा सकता । इस समाज पर तो बाजार का कब्जा है । कुछ विचारक जो आज के बाजार के बढ़ते हुए प्रभाव के समर्थक है, यहां तक कहते हैं कि अब राज्य की स्वायत्तता (autonomy) का अंत हो गया है । अब बाजार स्वायत्त है । सच्चाई यह है कि भारत का बाजार अब विश्व बाजार की चपेट में आ गया है । विश्व बाजार से हट कर इसकी कोई निजी पहचान नहीं । और वे लोग जो यह कहते हैं कि आज की अर्थव्यवस्था में मुक्त बाजार (Free Market) सर्वोपरि है, वास्तव में एक भयंकर मिथक के शिकार हैं । मुक्त जैसी कोई वास्तविकता नहीं हैं । यह मुक्ता बाजार वस्तुतः धनवान पूंजीवादी देशों का पिट्ठू है । मुक्त बाजार के क्रियाकलापों में इन पूंजीवादी देशों का हस्तक्षेप सबसे ज्यादा है । ये देश ही तकनीकी के स्थानान्तरण और व्यापार में दखल देते हैं ।

**उपभोक्ता समाज-**

राष्ट्रीय जीवन के कुछ क्षेत्र ऐसे हैं जिनका आधुनिक समाज से मोह भंग हो गया है । हाल में जो सर्वेक्षण हुए हैं उनसे ज्ञात होता है कि इस देश में एक उपभोक्ता समाज (Consumer Society) शीघ्रता से उभर रहा है । अब लोग उपभोग के हो रहे हैं । एक नया मध्यम वर्ग हमारे सामने है । और योगेन्द्र सिंह का अनुमान है की यह वर्ग कोई दो करोंड़ लोगों का है जिसकी मांगें बराबर बढ़ती ही जाती हैं । यह वर्ग शहरों तक ही सीमित हो, ऐसा नहीं है । ई. 1970 के दशक में देश में हरित क्रांति आई । और इसके बाद श्वेत क्रांति का अनुभव हुआ । इन दोनों क्रांतियों ने ग्रामीण वर्ग में उपभोक्तावाद को बढ़ावा दिया । अब बाजार का नाना रूपकरण सम्पूर्ण में देखने को मिलता है । मध्यम वर्ग का विकास हमारे यहां उपभोक्तावादी समाज से जुड़ा हुआ है । इस नई प्रवृत्ति पर टीक करते हुये योगेन्द्र सिंह कहते

हैं "आंचलिकता और एकीकरण की पहचान" के रूप में दृष्टिगत होती हैं जिसका विवरण निम्न है -

**आंचलिक पहचान**

बाजार की विविधता के प्रभावों को कृषि, उद्योग और सेवा क्षेत्रों में देखने के बाद, मध्यम वर्ग जहाँ उपभोक्ता वर्ग बन रहा है, वहीं इस वर्ग की बचत में भी वृद्धि हो रही है । एक ओर जहाँ संस्कृति और आंचलिक क्षेत्रों में अपनी पहचान की चेतना आ रही है, वहीं दूसरी ओर कई अन्य क्षेत्रों में लोगों में एकीकरण की भावना जागृत हो रही है । योगेन्द्रसिंह ने उपभोक्ता समाज के बारे में जो निष्कर्ष रखे हैं उनका आधार भारत के लोग (People of India) हैं । यह विशाल प्रोजेक्ट था जिसे भारतीय मानव विज्ञान सर्वेक्षण ने ई. 1985 में लागू किया था । इसकी प्राप्तियों को कुल 43 खण्डों में प्रकाशित करने की योजना है । हाल में उपलब्ध जो तथ्य हमारे पास हैं उनके आधार पर यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि इस देश में पिछले कुछ दशकों में जो विकास हुआ है उसमें लोगों की जीवनशैली में तो बहुत परिवर्तन आया है लेकिन हानिकारक बात यह हुई है कि गैरबराबरी में पहिले से कहीं अधिक वृद्धि हुई है । अब दलित वर्ग का इस आधुनिक समाज से मोह भंग हो गया है । अब यह पिछड़ा वर्ग इस उच्च और मध्यम वर्ग से अपने आपको ठगा हुआ मानने लगा है । इस समय दो प्रक्रियाएं इसमें एक साथ चल रही है । एक तो आद्योगीकरण और वैश्वीकरण की प्रक्रिया राष्ट्र निर्माण को अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर जोड़ने में लगी है और दूसरी ओर क्षेत्रीय या आंचलिक एकता सुदृढ़ हो रही है । अब स्थानीय पहिचान जाति, जनजाति और धर्म के साथ जुड़ गई है । लोगों का राष्ट्रव्यापी संस्थाओं जैसे प्रजातंत्रा, शिक्षा, राजनीतिक दल आदि से भरोसा हट गया है। ऐसी स्थिति में नागरीकीय समाज की चुनौतिया बढ सकती हैं ।

**बहुलवादी समाज**

उत्तर-औद्योगीकरण तथा उत्तर-आधुनिकता दोनों ही बहुलवादी हैं । जब लोग उत्तर-आधुनिक युग में प्रवेश करते हैं तब इसकी बहुत बड़ी विशेषता बुद्धिसंगतता का अभाव होता है । लोग खण्डित रूप में रहना पसन्द करते है और उनके बहुल सांस्कृतिक परम्पराएं आ जाती हैं । इस समाज में अनेक एथनिसिटिज काम करती हैं । भाषाएं अनेक हो जाती हैं, और इसी तरह कला की अभिव्यक्ति भी बहुत आयामी हो जाती है ।

ऐसी अवस्था में प्रत्येक स्थानीयता अपनी पहचान बनाने में लगी रहती है । स्थानीय बाजार, मेले, तीर्थ-त्यौहार, महान-पुरुष इतिहास, इस युग में प्रासंगिक हो जाते हैं । बहुल एथनिकवाद, बहुल संस्कृति, बहुल भाषा, बहुल धर्म, सभी उत्तर-औद्योगिक और उत्तर-आधुनिक काल की पहचान बन जाते है ।

क्षेत्रीय एकता समकालीन भारत की सबसे बड़ी पहचान है । यह बहुलता के कारण ही है कि पिछले दिनों में यहां नये प्रकार के सामाजिक आन्दोलन हमें दिखाई देते हैं । छत्तीसगढ़ मुक्ति मोर्चा, मजदूर किसान शक्ति संगठन जैसे आन्दोलन हैं जो आये दिन होने वाले औद्योगिक आन्दोलनों को समाप्त करना चाहते हैं । यह मांग बराबर गांव और शहर में बढ़ रही है कि लोगों को सूचना का अधिकार (Right to information) मिलना चाहिये । सरकारी

और गैर-सरकारी क्षेत्र के काम-काज में पारदर्शिता होनी चाहिये । आरक्षण की नीति ने दलित वर्ग को एक अति-संविदेनशील समूह बना दिया है । आज कम से कम समूह की चेतना के आधार पर दलित समूह अपने आपको शक्तिशाली समझने लगे हैं । यह पहली बार है कि अनुसूचित जातियों और जनजातियों ने डरबन के अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन में उनके साथ भारत में हो रहे भेद भाव को ताकत के साथ प्रस्तुत किया । वे असफल अवश्य रहे लेकिन एक बार तो उन्होंने सरकार को कटघरे में खड़ा कर ही दिया ।

सांराश रूप से यह कहां जा सकता है कि नागरीकीय समाज की चुनौतियां बहुत हैं और कार्य का क्षेत्र भी व्यापक है । उत्तर प्रदेश में नेशनल हाईवे कनस्ट्रकशन प्राधिकरण के विरोध में दूबे ने जो अभियान चलाया उनको जीवन से हाथ धोना पड़ा मंजू नाथ के साथ भी यही हुआ। सूचना के अधिकार ने व्यक्ति को स्वतन्त्रता दी परन्तु यह भी संघर्ष के द्वारा ही प्राप्त होता है नागरीकीय समाज राज्य व्यवस्था एवं बाजार व्यवस्था से मुक्त होकर संगठित हो सके तो कम से कम निर्वहन विकास के आधार पर समाज को आगे बढ़ाया जा सकता है ।

## 19.11 सारांश

प्रस्तुत ईकाई के अध्ययन से आपने यह जाना कि -

- नागरीकीय समाज का अर्थ विभिन्न कालों! में अलग-अलग रहा ।
- नागरीकीय समाज की सैद्धान्तिक विवेचना एवं इसका विकास शास्त्रीय से आधुनिक काल तक चला आ रहा है ।
- नागरीकीय समाज की अवधारणा अलग-अलग विद्वानों ने अलग-अलग रूप से प्रयुक्त की है
- नागरीकीय समाज, समाज को संगठित करता है ।
- आधुनिक समाज में क्या भूमिका है इसकी आवश्यकता पहले की अपेक्षा अब क्यों पड़ी ।
- वैश्विक नागरीकीय समाज किस प्रकार निर्वहन विकास के लिये प्रयासरत है और उसके समक्ष कई चुनौतियां है परन्तु यह समाज आज नागरीकीय समाज के माध्यम से प्रजातंत्रीय समाज का विकास करना चहती है ।

## 19.12 अभ्यासार्थ प्रश्न

1 नागरीकीय समाज को परिभाषित करते हुए इसकी अवधारणा को स्पष्ट कीजिये ।

2 नागरीकीय समाज का परिप्रेक्ष्य स्पष्ट कीजिये ।

3 नागरीकीय समाज के संदर्भ में भारत में विकास के स्वरूप को स्पष्ट करिये ।

4 वैश्विक नागरीकीय समाज क्या है? इसकी भूमिका का मूल्यांकन करिये ।

5 वैश्विक नागरीकीय समाज की चुनौतियों की व्याख्या कीजिये ।

## 19.13 सन्दर्भ ग्रन्थ

1 गुप्ता, वी.एस. कमयूनीकेशन डेवलपमेंट एंड सिविल सोसाईटी, ऐसेज ऑन सोशल डेवलपमेंट एंड सिविल सोसाईटी, इन्क शिपिंर्ग 2004

2 एडवर्ड, मिचेल - सिविल सोसाईटी - थ्योरी एंड प्रेक्टीस द एनसाइक्लोपिडिया ऑफ इनफोरमल एजूकेशन

3 स्कोपोल, थेडा - डिमिनिशड डेमोक्रेसी, फ्रोम मेम्बरशिप दू मेनेजेमेंट इन अमेरिकन सिविल लाईफ, नारमन ओकलाहोमा, यूनीवर्सीटी ऑफ ओक्लाहोमा प्रेस -2003
4 सेन्टर फोर सिविल सोसाईटी - लंदन स्कूल ऑफ इकनोमिक्स
5 पावेल - जालेस्की - टोक्यावली ऑन सिविल सोसाईटी - 2008
6 पावेल-जालेस्की - ग्लोबल नॉन गर्वमेंटल एडमीनीसट्रेटिव सिस्टम - आई एफ आई एस पब्लीकेशन 2006
7 एलमंड, वर्बा - द सिविल कल्चर, पॉलिटिकल, एटीटयूड एंड डेमोक्रेसी इन फाईव नेशनस सेग 1989
8 पुनमैन, लियोनार्डी, नानेती - मेकिंग डेमोक्रेसी वर्क: सिविक ट्रेडीशन इन मार्डन इटली, प्रिन्सटन यूनीवर्सीटी प्रेस, 1994
9 जॉन, एगन्यू - डेमोक्रेसी एंड हयूमन राईटस, 2002
10 ग्राहम, पॉलोक - सिविल सोसाईटी थ्योरी एंड यूरो-नेशनलिज्म 2001
11 अलान व्हातेस - एन. जी. ओ, सिविल सोसाईटी एंड द स्टेअ, ऑकसफोर्ड 1998
12 अलगप्पा, मुतियाह - सिविल सोसाईटी एण्ड पोलीटिकल चेन्ज इन एशिया स्टेनफोर्ड यूनीवर्सीटी प्रेस 2004
13 पेरलास निकोलस - शेपिंग ग्लोबलाइजेशन-सिविल सोसाइटी, कलचरल पावर एण्ड थ्री फोल्डींग
14 वाइकेपिडिया - इनटरनेट
15 मेटजर थोमस - वैर्स्टन कनस्पट ऑफ सिविल सोसाईटी इन द कॉनटेक्सट ऑफ चाईनीज हिस्ट्री
16 सलीवाम, मार्क - प्रीसाईज डेफीनेशन ऑफ सिविल सोसाईटी

# इकाई - 20

# आर्थिक प्रणाली (वैश्वीकरण एवं भारतीय समाज के संदर्भ में)

**इकाई की रूपरेखा**


20.0 उद्देश्य

20.1 प्रस्तावना

20.2 आर्थिक प्रणाली से अभिप्राय

20.3 आर्थिक प्रणाली के मुख्य लक्षण

20.4 भारत में आर्थिक विकास और औद्योगीकरण

20.5 औद्योगीकरण का समाज पर प्रभाव

20.6 बाजार अर्थ प्रणाली के सामाजिक परिणाम

20.61 बाजार प्रणाली

20.6.2 सामाजिक परिणाम

20.7 वैश्वीकरण के संदर्भ में भारतीय समाज एवं अर्थप्रणाली

20.7.1 वैश्वीकरण के सामाजिक आर्थिक पक्ष

20.8 सारांश

20.9 शब्दावली

20.10 अभ्यासार्थ प्रश्न

20.11 संदर्भ ग्रन्थ


## 20.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् आप -

- आर्थिक प्रणाली के संबोध को समझ पायेंगे ।
- भारत में औद्योगिक विकास एवं औद्योगीकरण के कारण आर्थिक प्रणाली में हो रहे परिवर्तनों से परिचित हो सकेंगे ।
- औद्योगीकरण की प्रक्रिया किस भाँति भारतीय अर्थव्यवस्था को प्रभावित कर रही है?
- वैश्वीकरण, निजीकरण और उदारीकरण की प्रक्रिया को समझना ।
- इन प्रक्रियाओं से भारतीय समाज में हो रहे परिवर्तन को समझना ।

## 20.1 प्रस्तावना

मानव समाज की प्रगति में आर्थिक प्रणाली का अपना महत्त्वपूर्ण स्थान है । एक विचारधारा की यह मान्यता है कि सामाजिक जीवन तथा सामाजिक परिवर्तन को प्रभावित करने वाला सर्वाधिक प्रबल कारक आर्थिक है । इस कारक की अभिव्यक्ति उत्पादन तथा वितरण के लिए आवश्यक जमीन, प्रौद्योगिकी, सम्पत्ति तथा सामाजिक सम्बन्धों जैसे कारकों में होती है । इन्हीं के आधार पर आर्थिक प्रणाली विकसित होती है । समाज की सभी अवस्थाओं में मनुष्य भोजन, वस्त्र, आवास तथा सुरक्षा की आवश्यकता महसूस करता रहा है । समाज में आर्थिक क्रियाएँ और आवश्यकताएँ मूलभूत हैं । मानव अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति इच्छानुसार नहीं

कर सकता है । समाज के सदस्य के रूप में अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति वह परम्पराओं, नियमों तथा कार्य प्रणालियों के अनुरूप करता है । इसी प्रकार आर्थिक क्रियाओं व आवश्यकताओं से सम्बन्धित परम्परा, नियमों और कार्य पद्धति आर्थिक प्रणाली को विकसित करते हैं । आर्थिक आवश्यकताओं के प्रबन्ध और आपूर्ति से संबंधित कार्यों को आर्थिक प्रणाली कहते हैं।

आदिम, कृषक तथा औद्योगिक समाजों में उत्पादन, वितरण, उपभोग, सम्पत्ति, श्रम विभाजन से संबंधित परम्पराएँ, नियम तथा कार्य प्रणालियाँ पायी जाती है । समाजशास्त्र में आर्थिक प्रणाली का अध्ययन समाजशास्त्रीय संदर्श से किया जाता है ।

आर्थिक प्रणाली समय व काल के साथ-साथ संशोधित होती रहती है, उसमें आंशिक परिवर्तन निरन्तर रूप से होते रहते हैं । जैसी आर्थिक प्रणाली आदिम समाजों में है वैसी ही औद्योगिक समाजों में नहीं है । आर्थिक प्रणाली को अनेक तत्व प्रभावित करते हैं, जैसे औद्योगीकरण, नगरीकरण, पश्चिमीकरण वैसे ही वैश्वीकरण, उदारीकरण व निजीकरण की प्रक्रियाएँ भी प्रभावित कर रही है ।

विश्व के सभी समाज विकास के समान स्तर पर नहीं है । कोई समाज विकसित है तो कोई अविकसित और विकासशील । भारतीय समाज अभी भी विकासशील समाज की श्रेणी में आता है । पूर्ण विकसित होने में अभी काफी समय लगेगा, लेकिन यह स्पष्ट है कि वैश्वीकरण की प्रक्रिया ने न केवल भारतीय सामाजिक संरचना को प्रभावित किया है अपितु आर्थिक व्यवस्था में नवीन परिवर्तन लाने के लिए प्रेरित किया है । इस इकाई में हम आर्थिक प्रणाली के संदर्भ में वैश्वीकरण और भारतीय समाज के अन्तर्सम्बन्धों के परस्पर प्रभावों की व्याख्या करेंगे ।

## 20.2 आर्थिक प्रणाली से अभिप्राय

समाजशास्त्र मुख्य रूप से उत्पादन, वितरण और उपभोग में मानवीय अन्तर्क्रिया के अध्ययन पर जोर देता है । समाजशास्त्री, अर्थशास्त्रियों की भाँति उत्पादित वस्तु पर ध्यान नहीं देते हैं, बल्कि उत्पादन की प्रक्रिया में विकसित सामाजिक सम्बन्ध जैसे विभेदीकरण, सहयोग, प्रतियोगिता, संघर्ष, एकीकरण व अनुकूलन आदि विषयों के अध्ययन पर अपना ध्यान केन्द्रित करते हैं । इमाइल दुर्खीम ने व्यवस्थित रूप से अपनी पुस्तक "डिविजन ऑफ लेबर" में आदिम और सभ्य समाज की आर्थिक प्रणाली की व्याख्या की है । समाजशास्त्रियों की रूचि श्रम विभाजन और व्यावसायिक विशिष्टीकरण, सम्पत्ति व्यवस्था, आर्थिक एवं संरचनात्मक परिवर्तन के अध्ययन में रही है ।

'प्रणाली' से हमारा अभिप्राय यह है जिसमें निश्चित उद्देश्य होते है, मानदण्ड, मूल्य, नियम और उप-नियम होते हैं और अपने लक्ष्यों की प्राप्ति में प्रणाली निरन्तर अपने आपका अनुकूलन करती रहती है । इसकी विशेषता यह है कि यह बदल कर भी अपनी निरन्तरता को बनाये रखती है । इस अर्थ के संदर्भ में आर्थिक प्रणाली का तात्पर्य उत्पादन, वितरण और उपभोग के नियमों, कार्य प्रणाली और प्रतिमान से लगाया जाता है । ऑगबर्न एवं निमकॉफ ने

कहा कि आर्थिक संस्था का अर्थ धन की प्राप्ति और व्यय की पद्धति से है । अत: आर्थिक क्रियाएँ वस्तुत: सामाजिक क्रियाएँ हैं । इनमें जीविका, अधिभौतिक सत्ता सम्बन्धी विचार, प्रतिष्ठा और प्रस्थिति, सामुदायिक कल्याण और अनौपचारिक सामाजिक दबाव की प्रक्रिया परस्पर रूप से जुड़ी होती है । आर्थिक संस्थाओं की उत्पत्ति, शिकार और खाद्य संग्राहक अवस्था में हुई है । इस अवस्था में लोगों के जीविकोपार्जन के साधन बहुत सीमित थे । सामान्यतया शिकार करना और जंगल के कंदमूल को संग्रह करना, उनके जीवित रहने के साधन थे । युवा शिकार करते थे तो स्त्रियाँ घरेलू कामकाज तथा कंदमूल संग्रह करती थी । इस युग में भी लिंग के आधार पर समाज में श्रम विभाजन मौजूद था । इस आदिम अवस्था से प्रारंभ होकर आर्थिक प्रणाली कृषक, औद्योगिक और पूँजीवादी स्तर तक आ गयी । इन बदलती हुई आर्थिक प्रणालियों ने सामाजिक संरचना अर्थात् समाज के सदस्यों के पारस्परिक सम्बन्धों में बहुत बड़ा परिवर्तन ला दिया ।

## 20.3 आर्थिक प्रणाली के मुख्य लक्षण

आर्थिक प्रणाली का मूल सम्बन्ध आर्थिक उत्पादन से है । लेकिन आर्थिक उत्पादन का परिणाम और गैर-आर्थिक संरचनाओं में भी देखने को मिलता है । जब हम आर्थिक प्रणाली का समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से विश्लेषण करते हैं तो हमारा तर्क है कि जहाँ आर्थिक प्रणाली और गैर-आर्थिक क्रियाओं को प्रभावित करती है, वहीं गैर-आर्थिक क्रियाएँ भी आर्थिक क्रिया को प्रभावित करती है । यह दोहरी पारस्परिकता है । यहाँ हम आर्थिक प्रणाली के कुछ मुख्य लक्षणों को प्रस्तुत करेंगे :

1. जीविकोपार्जन या व्यक्तिगत और सामाजिक आवश्यकताओं के लिए आर्थिक गतिविधियाँ आवश्यक है । इन्हीं आवश्यकताओं की पूर्ति जब समाज के सभी सदस्य करते है तब एक आर्थिक प्रणाली विकसित होती है ।
2. उत्पादन, वितरण, विनिमय और उपभोग से सम्बन्धित की जाने वाली क्रियाएँ आर्थिक प्रणाली का भाग होती है ।
3. समाज द्वारा स्वीकृत रीति रिवाज, परम्पराएँ, निश्चित कार्य प्रणाली और प्रतिमानों के अनुरूप आर्थिक क्रियाएँ की जाती है, इसी से एक तार्किक आर्थिक प्रणाली विकसित होती है।
4. आर्थिक प्रणाली के अन्तर्गत सहयोग, संघर्ष, प्रतियोगिता और समायोजन जैसी गैर-आर्थिक क्रियाएँ भी जुड़ी होती है ।
5. आर्थिक प्रणाली में श्रम विभाजन, अलगाव, अमानवीयकरण और गैर-बराबरी पायी जाती है ।
6. आर्थिक प्रणाली का संचालन औपचारिक और अनौपचारिक संगठन द्वारा किया जाता है ।
7. आर्थिक प्रणाली में सामान्य लक्ष्य पाये जाते हैं ।
8. सामान्य हित की भावना समाज के सदस्यों में पायी जाती है, उसी के आधार पर आर्थिक प्रणाली विकसित होती है ।

## 20.4 भारत में आर्थिक विकास एवं औद्योगीकरण

स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद हमारी राष्ट्रीय सरकार ने अपनी उद्योग नीति को पंचवर्षीय योजनाओं में रखा है । यह प्राय: कहा जाता है कि जवाहरलाल नेहरू आधुनिक भारत के निर्माता थे । वे कहते थे कि हमारे बड़े-बड़े बाँध व कारखाने- जमशेदपुर और राउरकेला आधुनिक भारत के तीर्थ हैं । गुन्नार मिर्डल ने तीसरी दुनिया के देशों का विकास की दृष्टि से सर्वेक्षण किया है । उनका निष्कर्ष है कि एशिया के सभी देश आधुनिकीकरण को अपना राष्ट्रीय लक्ष्य समझते हैं । इसका मतलब हुआ कि ये सभी देश अपने आपको एक औद्योगिक समाज बनाना चाहते हैं । जब उद्योगों का विकास होता है तब इसके परिणाम दूरगामी होते हैं । विशाल उत्पादन के कारण बाजार अन्तर्राष्ट्रीय बन जाता है । दूसरी ओर स्थानीय उद्योग धन्धे जो आदमी के श्रम से चलते हैं, कमजोर हो जाते हैं । कारीगरों को पूरा वर्ग देखते-देखते लुप्त हो जाता है । औद्योगिक समाज का एक और परिणाम नगरों का विकास होता है । औद्योगीकरण और नगरीकरण एक ही सिक्के के दो पहलू हैं । औद्योगीकरण का एक और परिणाम यह भी होता है कि गाँव के लोग रोजगार के लिये शहरों में आते हैं । इधर शहरों में गन्दी बस्तियों का निर्माण हो जाता है । वैश्वीकरण और उदारीकरण या विदेशी पूँजी के अत्यधिक निवेश की यह दौड़ आज इतनी तीव्र हो गयी है कि भारत को औद्योगिक समाज होने से कोई भी रोक नहीं सकता ।

औद्योगिक समाज का एक और आयाम पूँजीवाद है । सोवियत रूस के विघटन के पहले दुनिया के लोगों को यह आशा थी कि देर-सवेर समाजवादी राज्य व्यवस्था आएगी । लेकिन जब सोवियत रूस में यह प्रयोग असफल हो गया तब हमें लगा कि अब दुनिया में पूँजीवाद के अतिरिक्त हमारे सामने कोई अन्य विकल्प नहीं बचा है । सोवियत रूस के पतन ने जहाँ एक ओर सार्वजनिक क्षेत्रों के विकास को कमजोर कर दिया वहीं दूसरी ओर निजीकरण को मनमाना व्यापार करने की सुविधा दे दी । हमारी राष्ट्रीय नीति जो संविधान में निहित है, एक समाजवादी समाज का निर्माण करना था । इस नीति में संविधान में तो कोई संशोधन नहीं किया गया है, लेकिन सरकार की नीतियों से तो यह बहुत स्पष्ट है कि हम उदारवाद को लाना चाहते हैं । उदारवाद का सामान्य अर्थ है, आयात और निर्यात के नियमों में ढील बरतना । उदारीकरण चाहता है कि विदेशी सम्पत्ति का निवेश इस देश में अधिक-से-अधिक हो । यह सारी प्रक्रिया भारत को एक औद्योगिक समाज बनाने की ओर ले जाती है । यहाँ एक बात और स्पष्ट हो जानी चाहिये कि इस देश में कृषि व्यवसाय समाप्त हो जाये लेकिन यह हम अवश्य चाहते हैं कि अधिक-से-अधिक उद्योगों का चलन सारे देश में हो जाये । इसका मतलब यह हुआ कि यह देश कृषि प्रधान तो रहेगा ही, औद्योगिक समाज भी बनेगा ।

समाजशास्त्र के सिद्धान्तों के अनुसार औद्योगिक समाज वह है जिसमें समाज की संस्थाओं और संस्कृतियों का निर्धारण औद्योगिक उत्पादन की प्रक्रिया द्वारा निर्धारित होता है। इसे कई बार प्रौद्योगिकीय निर्धारणवाद भी कहते है । यदि भारत पर इस सिद्धान्त को लागू किया जाये तो इसका मतलब हुआ भारतीय समाज की सामाजिक संरचना, उसकी राष्ट्रीय एथनिसिटी का निर्धारण, यहाँ की औद्योगिक प्रक्रियाओं द्वारा होगा । यह सब निर्धारण इस

बात पर निर्भर करता है कि राज्य की राजनीतिक अर्थव्यवस्था कैसी है । जब हम यह देखना चाहते हैं कि भारत में औद्योगीकरण का कौन सा मार्ग अपनाया है तो इससे बहुत स्पष्ट है कि हम राज्य अर्थनीति को देखना चाहते हैं । संविधान ने राज्य की अर्थनीति के बारे में एक रास्ता रखा है । इसमें कहा गया है कि हम एक ऐसा राष्ट्र बनाना चाहते हैं जो प्रजातान्त्रिक होगा, धर्मनिरपेक्ष होगा, समाजवादी होगा । संविधान के नियमों के अनुसार हमने एक लम्बी अवधि तक मिश्रित अर्थव्यवस्था को अपनाया । इसका मतलब हुआ कि हम निजी अर्थव्यवस्था के साथ-साथ सार्वजनिक अर्थव्यवस्था को भी विकसित करना चाहते हैं । इस नीति के अनुसार एक तरफ तो हमने पूँजीपतियों को यह अवसर दिया कि वे अपने आर्थिक विकास को जैसे भी करना चाहे कर सकते हैं । लेकिन उन पर राज्य ने अंकुश अवश्य रखा । आयकर का प्रतिशत एक सीमा के बाद बढ़ा दिया गया । इसका मतलब है कि पूँजीवाद इतना विकसित होयें कि वह सम्पत्ति के बँटवारे के सामाजिक न्याय को न लाँघ जाये । इस भाँति भारतीय औद्योगिक समाज के विकास का एक मार्ग तो निजी क्षेत्र के विकास का है ।

औद्योगिक समाज को बनाने के लिये सरकार ने अलग राजनीतिक अर्थव्यवस्था को विकसित किया है । इसके अनुसार सार्वजनिक क्षेत्रों का निर्माण किया है । भारत में एक विकासमान सार्वजनिक क्षेत्र है । हमारे यहाँ सार्वजनिक उद्यमों को तीन श्रेणियों में बाँटा गया है- (1) विभागीय संगठन, (2) सरकारी कम्पनी, और (3) सार्वजनिक निगम । विभागीय संगठन वह है जिसमें सरकार स्वयं किसी उद्योग को चलाती है । सरकार ही इसका नियन्त्रण रखती है । इसका अच्छा उदाहरण भारतीय रेल है । दूसरा सार्वजनिक क्षेत्र सरकारी कम्पनी का है । निजी क्षेत्र की किसी भी संयुक्त कम्पनी की भाँति इसका पंजीयन कम्पनी अधिनियम के तहत किया जाता है । सार्वजनिक संयुक्त पूँजी कम्पनी में सरकार काफी संख्या में इसके शेयर खरीद सकती है (51 प्रतिशत या इससे अधिक) । उदाहरण के रूप में हम हिन्दुस्तान मशीन टूल्स लिमिटेड को ले सकते हैं । कम्पनी अधिनियम के अन्तर्गत सरकार तथा कम्पनी में शक्ति का पृथक्करण होता है । निदेशक बोर्ड के अधिकांश निदेशकों को शेयर की हैसियत के मुताबिक सरकार मनोनीत करती है लेकिन रोजमर्रा के कामों में निदेशक मण्डल स्वतन्त्र होता है।

सार्वजनिक क्षेत्र का तीसरा क्षेत्र सार्वजनिक निगम है । सार्वजनिक क्षेत्र में सार्वजनिक निगम व्यावसायिक संगठन के सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण अंग हैं । इसकी स्थापना किसी विशेष प्राप्त अधिनियम द्वारा की जाती है । इसको संविधिक निगम के नाम से भी जाना जाता है । इस निगम के रोजमर्रा के कार्यों में पूरी स्वतन्त्रता होती है । परन्तु यह अधिनियम विधायिका के प्रति उत्तरदायी होता है । भारतीय रिजर्व बैंक, भारतीय जीवन बीमा निगम तथा भारतीय वायु सेवा आदि सार्वजनिक निगमों के कुछ उदाहरण है ।

निजी तथा सार्वजनिक क्षेत्र के अलावा हमारे देश में एक और बहुत बड़ा क्षेत्र, सहकारी क्षेत्र है । इस उद्यम का संचालन इसके सदस्यों द्वारा किया जाता है । सहकारिता का सिद्धान्त यह है कि जो काम व्यक्ति अलग-अलग रहते हुए अपनी निजी हैसियत में सम्पादित नहीं कर सकते हैं उसे वे मिल-जुलकर आपसी सहयोग से बड़ी ही सरलता से पूरा कर सकते हैं । सहकारी उपभोक्ता भण्डारों की स्थापना करके मूलतः ये समितियाँ बिचौलियों को समाप्त कर

देती हैं और उपभोक्ताओं से सीधे सम्पर्क स्थापित करती है । इन वस्तुओं को 'बिना लाभ-हानि' के आधार पर बेचा जाता है ।

ऊपर हमने निजी, सार्वजनिक और सहकारी क्षेत्रों का उल्लेख किया है । इन संगठनों का निर्माण मिश्रित अर्थव्यवस्था की सरकार की नीति के अनुसार है । सरकार चाहती है कि भारत एक समाजवादी समाज का निर्माण करें । समाजवादी समाज में उद्यम से जो लाभ मिलता है वह सरकार के हिस्से में जाता है । जब सरकार को लाभ होगा तब परिणामस्वरूप जनकल्याणकारी कार्यक्रमों में वृद्धि होगी और इस भाँति लम्बी अवधि में चलकर समाजवादी समाज का लक्ष्य प्राप्त होगा । सहकारी उद्योग भी समाजवाद लाने का एक तरीका है । इसमें भी लाभ सहकारी सदस्यों को मिलता है, निजी क्षेत्र में नहीं जाता । केवल निजी क्षेत्र ही ऐसा है जो पूँजीवाद को बढ़ाता है । सरकार के इस मिश्रित अर्थव्यवस्था के कारण ऐसा लगता है कि हम एक औद्योगिक समाज का निर्माण कर सकेंगे ।

**औद्योगीकरण के मार्ग में बदलाव -**

यद्यपि संविधान ने जिस समाजवादी समाज के लक्ष्य को निर्धारित किया है, उसमें कोई परिवर्तन नहीं किया गया है लेकिन सरकार की नीति में परिवर्तन अवश्य आया है । पिछले एक दशक में सरकार ने औद्योगिक समाज की प्राप्ति के लिये एक नई नीति को अपनाया है । यह नीति वैश्वीकरण, उदारीकरण और निजीकरण की है । आम लोगों में यह धारणा शीघ्रता से घर कर रही है कि सरकार जब किसी उद्योग को अपने हाथों में लेती है तो इसमें हानि होना निश्चित हो जाता है । यही धारणा सार्वजनिक क्षेत्रों पर भी लागू होती है । हमारे यहाँ सैंकड़ों सार्वजनिक क्षेत्र ऐसे हैं जिन्हें बीमार सार्वजनिक क्षेत्र कहते हैं । ये सार्वजनिक क्षेत्र तेजी से घाटे में जा रहे हैं और सरकार एक-एक करके इन उद्यमों को निजी क्षेत्रों के हाथ बेच रही है । अब एक नई प्रवृत्ति देखने को मिल रही ।

सार्वजनिक जीवन के कई कामों को अब सरकार स्वयं नहीं पूरा करती । इसे निजी क्षेत्र को ठेके पर दे देती है । औद्योगिक समाज के निर्माण का यह नया मार्ग है । इस मार्ग को उदारीकरण और निजीकरण द्वारा देखा जा सकता है ।

## 20.5 औद्योगीकरण का समाज पर प्रभाव

अब हम यह देखेंगे कि जहाँ समाज यानी जाति, नातेदारी और धर्म उद्यमिता को प्रभावित करते हैं, वहीं उद्यमिता भी समाज को प्रभावित करती है । सामान्यतया यह माना जाता है कि जहाँ औद्योगीकरण आता है, वहाँ संयुक्त परिवार टूटने लगते हैं । इस धारणा को मिल्टन सिंगर ने अपने एक अध्ययन से तोड़ा है । वे कहते हैं कि चैन्नई के उद्योगपतियों में व्यवसाय के कारण निवास, शिक्षा और सामाजिक गतिशीलता में बहुत परिवर्तन आया है । लेकिन मजेदार तथ्य यह है कि औद्योगीकरण ने चैन्नई के व्यवसाइयों में संयुक्त परिवार को नहीं तोड़ा है । सिंगर इस बात पर जोर देते हैं कि व्यावसायिक आधुनिकीकरण से प्रभावित होने वाले औद्योगिक परिवारों में कुछ ऐसे तरीके अपनाये हैं कि उनका संयुक्त परिवार टूटता नहीं है।

कुछ समाजशास्त्रियों ने औद्योगीकरण के प्रभावों को आदिवासियों में भी देखा है । उदाहरण के लिए एल.पी. विद्यार्थी ने राँची के आदिवासियों पर औद्योगीकरण का प्रभाव देखा है। विद्यार्थी ने ढेर सारे आर्थिक तथ्यों और जनांकिकीय कारकों पर यह स्थापित किया है कि इन आदिवासियों की सामाजिक संरचना में उद्योगों के कारण दूरगामी परिणाम आये हैं । के.एम. कपाड़िया और देवीदास पिल्लई ने औद्योगीकरण के प्रभाव को ग्रामीण अर्थव्यवस्था, विवाह, परिवार और स्त्रियों की सामाजिक प्रस्थिति पर देखा है । इन्हीं समाजशास्त्रियों ने सूरत के दक्षिणी भाग में औद्योगीकरण के प्रभाव का मूल्यांकन किया है ।

जब से सरकार ने विकास कार्यक्रमों को लागू किया है आधुनिकीकरण तथा मिश्रित अर्थव्यवरथा को स्वीकार किया है, भारतीय परम्परागत व्यवसायों में विविधता आयी है । कुछ जातियों ने तो अपने परम्परागत व्यवसायों में उद्यमिता का समावेश किया है, कुछ ने इन व्यवसायों को छोड़कर नये सिक्यूलर व्यवसायों को अपनाया है । यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि अब इस देश में व्यवसायों को न तो जाति विशेष के साथ जोड़ा जाता है और न किसी धर्म के साथ । व्यवसाय अब सिक्यूलर हो गये हैं- जाति और धर्म से मुक्त और यही उनकी विविधता है ।

## 20.6 बाजार अर्थ प्रणाली के सामाजिक परिणाम

सामान्यतया एक ऐसी जगह जहाँ बेचने और खरीदने वाले मिलते हैं, बाजार है । लेकिन बाजार का यह अर्थ वह है जिसे आम आदमी लेता है । अर्थशास्त्र में इसका तकनीकी अर्थ लिया जाता है । आज जब वैश्वीकरण एक प्रभावी प्रक्रिया की तरह हमारे देश में काम कर रही है विनिमय के क्षेत्र में बाजार का स्थान महत्त्वपूर्ण हो गया है । बाजार वह है जहाँ वस्तुओं का मोल-भाव निर्धारित होता है । किसी भी वस्तु का आयात-निर्यात वस्तु के भाव पर निर्भर रहता है और वह भाव बाज़ार पक्का करता है । "बाजार का अस्तित्व वस्तुओं के एक से अधिक विक्रेताओं के अस्तित्व पर निर्भर है । औद्योगिक पूँजीवादी व्यवस्था में बाजार की कार्य पद्धति मुक्त बाजार और खुली प्रतिस्पर्द्धा पर आधारित है । खरीदने वाले तथा बेचने वालों में आपसी प्रतिस्पर्द्धा तथा मोल-भाव के कारण दाम, वस्तुओं के गुण तथा संविदा के बीच सन्तुलन बना रहता है ।"

आधुनिक अर्थव्यवस्था में बाजार की जो भूमिका हम देखते हैं, उसका प्रारंभ बहुत पुराना नहीं है । दुनियाभर में इस व्यवस्था का सम्बन्ध उत्पादन की प्रक्रिया से जुड़ा हुआ है । प्रारंभ में बाजार जैसी कोई व्यवस्था नहीं थी । लोग सामूहिक सम्बन्धों के आधार पर वस्तु विनिमय कर लिया करते थे । अभी कुछ समय पहले तक हमारे यहाँ गाँवों और आदिवासियों में वस्तु-विनिमय प्रथा प्रचलित थी । यह अर्थव्यवस्था ऐसी थी जिसे जीविकोपार्जन अर्थव्यवस्था कहे हैं । जो कुछ खेत में पैदा होता था, इससे लोग अपना जीवन चला लेते थे । आवश्यकता पड़ने पर अपने उपार्जन को विनिमय द्वारा दूसरों को दे देते थे और इस तरह समुदाय पीढ़ी-दर-पीढ़ी चलते रहते थे । कुछ समुदाय के जीवन में ऐसी अवस्था भी आयी जब उपभोग के अतिरिक्त वस्तुओं का उत्पादन होने लगा । इस अतिरिक्त उत्पादन को बेचने के लिए बाजार की आवश्यकता हुई और इस तरह सामूहिक या व्यक्तिगत विनिमय का स्थान बाजार ने ले

लिया । इस अर्थ में बाजार अर्थव्यवस्था वह है जहाँ जीविकोपार्जन से अतिरिक्त उत्पादन को बेचा जा सके और उपभोग की अन्य वस्तुओं का विक्रय हो सके । इस अर्थव्यवस्था ने सम्पूर्ण उत्पादन प्रक्रिया को ही बदल दिया है । स्थिति यहाँ तक पहुँच गयी है कि किसान जो कुछ उत्पादन करता है, वह बाजार के लिए ही होता है, किसान उन्हीं खाद्यान्नों की पैदावार करता है। आज इस भाँति बाजार सम्पूर्ण उत्पादन प्रक्रिया को बदल देते हैं । बाजार का यह क्षेत्र स्थानीयता से आगे बढ़कर राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर आ जाता है । आज तो इलेक्ट्रोनिक तथा युद्ध के हथियारों का भी अन्तर्राष्ट्रीय बाजार बन गया है ।

### 20.6.1 बाजार प्रणाली

अर्थशास्त्री बाजार को विनिमय का माध्यम मानते हैं, समाजशास्त्र में इसे एक सामाजिक व्यवस्था के रूप में देखा जाता है । बाजार को हम एक व्यवस्था इसलिए कहते हैं कि इसमें क्रेता यानी खरीददार और विक्रेता अर्थात् बेचने वाला दोनों ही मिलते है । इसी कारण बाजार क्रेता और विक्रेताओं की गतिविधियों का केन्द्र है । जॉनसन का कहना है कि बाजार का अर्थ इसके संकुचित और व्यापक रूप में लिया जाता है । अपने संकुचित अर्थ में यह आवश्यक है कि विनिमय की शर्तों के बारे में स्पष्ट सौदेबाजी हो और विनिमय प्रक्रिया के दोनों ही पक्षों में स्पष्ट रूप से प्रतियोगिता हो अर्थात् व्यापारियों तथा खरीददारों के बीच में प्रतियोगिता ।

उद्योगों के आने से पहले भारत में सामन्तवादी अर्थव्यवस्था थी । इस व्यवस्था में किसान से बिना किसी भुगतान के श्रम करवाया जाता था । एक प्रकार से ऐसा श्रम गैर-बराबरी का विनिमय था । किसानों के अतिरिक्त पूर्व औद्योगिक आर्थिक व्यवस्था में व्यापार और व्यवसाय का विकास भी पर्याप्त नहीं हो पाता था । इस व्यवस्था में किसानों के हितों के मुकाबले आम आदमी को उत्पादन करने की कोई प्रेरणा नहीं थी ।

भारत में जब औद्योगीकरण आया तब इसके परिणामस्वरूप बाजार अर्थव्यवस्था का उदय हुआ । इस उदय के विकास की कहानी वस्तुत: पूँजीवाद के विकास की कहानी है । अब वस्तु विनिमय समाप्त हो गया, दूर-दराज के क्षेत्रों में भी मुद्रा का चलन हो गया । उद्योग में जब माल का निर्माण होता है तब इसे बेचने के लिए बाजार की आवश्यकता पड़ती है और जैसे लोग वैसे बाजार । वैश्वीकरण, उदारीकरण और विकास कार्यक्रमों के परिणामस्वरूप देश में बाजार का बेतहाशा विस्तार हुआ है । जहाँ बड़े बाजार हैं वहीं छोटे बाजार भी हैं । बाजारों के भी प्रकार होते हैं कुछ बाजार निम्न वर्ग के लोगों के लिए होते हैं । इन बाजारों में केवल वही वस्तुएँ खरीदी या बेची जाती है जिनका ताल्लुक निम्न वर्ग और जातियों के लिए होता है । इनसे ऊँचे अधिक विकसित बाजार होते हैं जहाँ उच्च वर्ग और जाति के लोगों का बाजार है । दूसरी ओर चाँदनी चौक का बाजार मध्यम और निम्न वर्ग के लोगों के लिए है । गाँवों में बाजार और किस्म के होते हैं । यहाँ के बाजार में विशिष्टीकरण नहीं होता । एक ही दुकान से खाद भी मिल जाता है और चाय भी । ये बाजार हरफनमौला होते है ।

वैश्वीकरण ने बहुराष्ट्रीय कम्पनियों को हमारे देश में स्थापित किया है । इन व्यापारिक संगठनों ने उपभोक्तावाद को नई हवा दी है । यह इन्हीं संगठनों के माध्यम से हैं कि हमारे यहाँ विदेशी बाजार की वस्तुएँ आम आदमी तक पहुँच गई है । मेकडॉनल्ड और कोकाकोला ऐसे ही पदार्थ हैं जो उपभोक्तावाद को बढ़ाते हैं । बाजार के भाव अत्यधिक रूप से प्रतियोगी हो गये

हैं । जब यह कहा जाता है कि वैश्वीकरण ने दूर-दराज के गाँव को भी अपने आगोश में ले लिया है, तो इसका मतलब है बाजार का विस्तार दूर के गाँवों तक हो गया है । इस बाजार की बहुत बड़ी विशेषता यह है कि यह अपना काम-काज बैंकिग प्रणाली से करता है और भरपूर साख देता है । कार, मोटर बाइक, फ्रीज, सी.डी. आदि ऐसे आइटम हैं जो आधुनिक बाजार द्वारा सुलभ किश्तों से मध्यम वर्ग के लोगों तक पहुँचाये जा रहे हैं । बाजार के इन प्रकारों व काम करने की पद्धति पर हम और अधिक विस्तार से वैश्वीकरण तथा उदारीकरण के विवरण में देखेंगे । यहाँ तो केवल यही कहना है कि आज हमारे देश में जो भी बाजार है उसने सरकार के किसी भी हस्तक्षेप को कमजोर कर दिया है । सरकार ने जिस आर्थिक नीति को अपनाया है वह संरचनात्मक अर्थशास्त्र पर आधारित है और इसे पूँजीवाद को अपने लेन-देन का आधार बना लिया है । अब राजनीतिक अर्थनीति केवल बाजार द्वारा ही चलायी जाती है । इसी कारण हम कहते है कि आज की अर्थव्यवस्था में बाजार बहुत शक्तिशाली है ।

### 20.6.2 सामाजिक परिणाम

हमारे देश में बाजार का विकास कई कारकों के साथ जुड़ा हुआ है । देखा जाये तो बाजार की अवधारणा जिस अर्थ में हम आज इसे समझते हैं, एकदम आधुनिक है । बाजार तो दो बातों पर विकसित होता है । एक तो यह कि खेतों का उत्पादन परिवार के उपभोग की आवश्यकता से अधिक हो और कारीगर तथा दस्तकार स्थानीय आवश्यकताओं को पूरा करने के बाद अपनी वस्तुओं को बाजार में लाये । बाजार की दूसरी विशेषता विनिमय होता है । इस विनिमय के कारण बाजार का अस्तित्व सामान्य अर्थव्यवस्था वाले समाजों में भी रहा है । आज का बाजार वस्तुत: राष्ट्रीय बाजार ही नहीं अन्तर्राष्ट्रीय बाजार है । दिल्ली का सदर बाजार या मुम्बई का बाजार अन्तर्राष्ट्रीय बाजार के दृष्टान्त हैं । हम इस तथ्य को दोहरायेंगे कि बाजार केवल विनिमय के स्थान ही नहीं हैं, उनके माध्यम से सांस्कृतिक विनिमय भी होता है । देखा जाए तो बाजार का घनिष्ठ सम्बन्ध वर्ग व्यवस्था, धर्म, परिवार, एथनिसिटी आदि से भी जुड़ा हुआ है । यहाँ हम बाजार के प्रभाव जो समाज पर पड़ते हैं, उनका सिलसिले से विश्लेषण करेंगे:

**1. बढ़ता हुआ उपभोक्तावाद -**

आज के बाजार का एक बहुत अच्छा मुहावरा इस तरह है - "यह बहुत अच्छा होगा कि तुम तैरना सीख जाओ या एक पत्थर की तरह तुम डूब जाओगे ।" यह मुहावरा बाजार की एक चुनौती है जो ग्राहकों को बराबर कहती है कि उपभोग की वस्तुओं का पूरा उपभोग कीजिए । इस तरह की चुनौतियाँ आज लोगों को अधिक-से-अधिक उपभोक्तावादी बना देती है । खाने-पीने की वे वस्तुएँ - आटा-दाल जो घर में तैयार की जाती थी, बाजार में लक-झक करते टिनों और पॉलीतीन थैलों में मिलने लगी है । ये वस्तुएँ जिन्हें लोगों ने देखा नहीं था आज बिक्री काउण्टर पर आग्रहपूर्वक दी जाने लगी है । बाजार का शायद बहुत बड़ा सामाजिक परिणाम दिन-प्रति-दिन विकसित होता उपभोक्तावाद है ।

**2. मध्यम वर्ग का विकास -**

मध्यम वर्ग पहले भी थे लेकिन इनके विकास की गति बहुत धीमी थी । देखा जाए तो सरकारी नौकरियों, बहुराष्ट्रीय कम्पनियों और बढ़ते हुए बाजार ने मध्यम वर्ग के विकास को एक ऐतिहासिक अवसर प्रदान किया है । मध्यम वर्ग के साथ-साथ राजनीति और शिक्षा ने एक नये अभिजात वर्ग को भी पैदा कर दिया है । मध्यम वर्ग और अभिजात वर्ग की आवश्यकताएँ कभी पूरी नहीं होती, उनका विस्तार होता ही रहता है । इसका परिणाम यह होता है कि समाज में नियमहीनता आ जाती है । मध्यम वर्ग का आदमी गैर-नियमित आय करने के लिए तत्पर रहता है । इसके परिणामस्वरूप एक समानान्तर अर्थव्यवस्था पैदा हो जाती है ।

**3. नपुंसक होता राज्य -**

वैश्वीकरण तथा खुले बाजार की व्यवस्था ने सरकार को पंगु बना दिया है । यह अवश्य है कि राज्य अर्थनीति का निर्धारण करता है लेकिन यह अर्थनीति बाजार में आकर बेदम हो जाती है, उसकी साँस फूलने लगती है । अर्थनीति में यह बराबर कहा जाता है कि गृह उद्योग और स्वदेशी वस्तुओं के उत्पादन को राज्य बढ़ावा देगी लेकिन बाजार में विदेशी वस्तुएँ सस्ते दामों में धड़ल्ले से बिकती है । बाजार के काम-काज में राज्य का हस्तक्षेप न्यूनतम होता है ।

**4. गला काटने वाली प्रतियोगिता -**

पहले गाँवों में बाजार प्रतियोगिता से दूर थे । यहाँ के स्थानीय हाट में ग्राहक को जो उपलब्ध हो जाता था, ले लेता था । अब बाजार प्रतियोगी हो गये हैं । इस प्रतियोगिता ने आम खरीददार को अधिक-से-अधिक वस्तुएँ खरीदने के लिए प्रोत्साहित किया है । प्रतियोगिता कुछ ऐसी चल पड़ी है कि दो वस्तुएँ खरीदो और एक वस्तु मुफ्त में ले जाओ । चुकाने को दाम न हो, तो किश्तों पर ले जाओ । बाजार का यह व्यवहार कई आर्थिक प्रक्रियाओं के कारण है ।

**5. नबीन उद्यमिता**

अब बाजार परम्परागत नहीं रहे, उनमें उद्यमिता आ गयी है । परम्परागत बाजार में व्यापारी एक रूढ़िवादी व्यवस्था पर अपना काम-काज चलता था । उसके ग्राहक उसके आसामी थे । अब यह स्थिति बदल गयी है । जाति और परम्परा पर आधारित व्यापारी अब अपने धन्धे को उद्यमिता के रूप में देखते हैं । बाजार में बैठने वाले ये लोग हर तरह की जोखिम लेने के लिए तैयार रहते हैं । इसका अर्थ यह निकला कि अब बाजार का कारोबार रूढ़िवादी और परम्परागत ढँग से नहीं होता । अब इसमें नवीनता आ गयी है, उद्यमिता का प्रवेश हो गया है।

**6. विशिष्टीकरण और बदलती हुई वर्ग व्यवस्था -**

योगेन्द्र सिंह कहते हैं कि आधुनिक बाजार व्यवस्था ने वर्ग व्यवस्था को एक नया पोषण दिया है । जो व्यापारी जोख्मिा लेते हैं, रातों-रात करोड़पति बन जाते हैं । यह ठीक है कि निम्न वर्गों का जितना विकास होना चाहिए था, पिछले 50 वर्षों में नहीं हुआ है । यह सब होते हुए भी बाजार ने वर्ग व्यवस्था को समाज में अधिक मुखर कर दिया है । यह बाजार के कारण ही है कि गाँवों में भी वर्ग व्यवस्था ने सामाजिक संरचना को अत्यधिक जटिल बना दिया है । अब गाँव का बाजार भी धीरे-धीरे विशिष्ट बाजार होने लगा हे । पहले बाजार सभी लोगों के लिए होते थे, अब गाँव और शहर दोनों में बाजारों का विशिष्टीकरण होने लगा है ।

**7. बाजार के माध्यम से सांस्कृतिक साम्राज्यवाद -**

बाजार का विश्लेषण जब समाजशास्त्री करता है तो वह उसे केवल आर्थिक विनिमय का केन्द्र ही नहीं मानता । हमारा अनुभव बताता है कि बाजार नई संस्कृति को भी पनपाता है । जब मेकडॉनल्ड दिल्ली या चण्डीगढ़ के बाजार में आता है तो वह केवल पीजा ही नहीं बेचता, अमेरिका की संस्कृति और वही के व्यवहारों को भी बेचता है । वहाँ काम करने वाली महिला वेटर भारतीय लड़कियों में एक नई संस्कृति के प्रति उत्सुकता पैदा करती है । बाजार के माध्यम से एक ऐसी कोस्मोपोलिटन और विदेशी संस्कृति का बोम्बार्डमेण्ट होता है कि स्थानीय संस्कृति आहत हो जाती है ।

## 20.7 वैश्वीकरण के संदर्भ में भारतीय समाज एवं अर्थ प्रणाली

सन् 1991 में सरकार ने कुछ आर्थिक सुधार किये थे । इन आर्थिक सुधारों के अन्तर्गत हम निजीकरण, उदारीकरण और वैश्वीकरण को सम्मिलित करते हैं । ये सभी अवधारणाएँ तकनीकी अवधारणाएँ हैं और इनका सरोकार, हमारी राजनीतिक अर्थनीति और अर्थशास्त्र के साथ है । हम इन सुधारों का यही खुलासा करें इससे पहले हमें यह समझाना होगा कि ऐसी कौन सी आवश्यकता आई जिसने सरकार को आर्थिक सुधार करने के लिए बाध्य किया। सन् 1991 से पहले के 10 वर्ष देश के लिए भयंकर रूप से संकटपूर्ण थे । देश पर विदेशी कर्जे का भार बहुत बढ़ गया था । इस कर्जे की किश्तें चुकाना हमारे लिए भारी पड़ रहा था । सरकार ने देश में ही विविध स्रोतों से जो कर्जा लिया था उसका चुकता भी नहीं हो पा रहा था । हमारे वार्षिक बजट बराबर घाटे के बनते थे । इधर सार्वजनिक क्षेत्र, एक के बाद एक घाटे में जा रहे थे । हमारे सामने कर्ज चुकाने के लिए कोड़ी भी नहीं थी । ये सब हमारी सन् 1980 के दशक की कठिनाइयाँ थी । आम आदमी इसे नहीं समझ सकता था । वह तो अपने ही चूल्हे से उलझा हुआ था । अर्थशास्त्र की तकनीकी उसकी समझ के बाहर थी ।

सच्चाई यह है कि इस दशक में जो हमारी आर्थिक कठिनाइयाँ थी उसका बोध एक समान नहीं था । सरकार समझती थी कि यह सार्वजनिक कर्जा बहुत महत्वपूर्ण है । देश के लोग कैसे भी आर्थिक संकट में क्यों न हो, सरकार को तो अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष और विश्व बैंक को किश्तें चुकानी थी । मगर आम नागरिक का बोध कुछ दूसरा था । वह तो यह अनुभव कर रहा था कि उसके रोजगार के अवसर सिमट गये हैं । मध्यम वर्ग की समस्या कुछ और तरह की थी । वह तो चाहता था कि विदेशी पूँजी का निवेश इस देश में होवे और इससे दुपहिया वाहन, मोटरकार, वातानुकूलित यंत्र आदि देश में उपलब्ध हो सके, मध्यम वर्ग तो अधिक-से-अधिक विदेशी पूँजी का देश में निवेश चाहता था । आपने देखा कि सन् 1980 के दशक में जो आर्थिक बीमारी इस देश में थी, उसके बोध जुदा-जुदा थे । आम आदमी बेरोजगारी के लिए हो रहा था, मध्यम वर्ग वातानुकूलित मोटरकार के लिए तरस रहा था और सरकार को यह पड़ी थी कि वह अन्तर्राष्ट्रीय बाजार में देश की साख को रख सके ।

आर्थिक कठिनाइयों के भयंकर संकट में सन् 1991 में सरकार ने अपनी राजनीतिक अर्थनीति को बदला । उसमें सुधार किया और इसके फलस्वरूप आर्थिक उदारीकरण और निजीकरण आये ।

**आर्थिक सुधार -**

भारत सरकार ने उदारीकरण की जिस अर्थनीति को अपनाया है उसका बहुत बड़ा सम्बन्ध प्रजातंत्र की राजनीति से है । उदारीकरण के अन्तर्गत बाजार को स्वतंत्रता दी गई है और इसके पीछे जो प्रजातंत्र की राजनीति है वह यह है कि बाजार में अमीर लोगों का प्रभाव बढ़ जायेगा । अपनी धन शक्ति के कारण वे राजनीतिक सत्ता को खरीद लेंगे और इस तरह मुक्त बाजार प्रजातंत्र की राजनीति को भी चलायेगा । सन् 1991 के बाद जब सरकार ने नये आर्थिक कार्यक्रम को अपनाया तब इसके परिणामस्वरूप बाजार एक तरह से सरकार के हस्तक्षेप से मुक्त हो गया । सामान्यतया गैर-तकनीकी शब्दों में उदारीकरण वह कार्यक्रम है जिसमें आयात और निर्यात के नियम बहुत ढीले होते हैं और सरकार का इसमें हस्तक्षेप नगण्य हो जाता है ।

### 20.7.1 वैश्वीकरण के सामाजिक-आर्थिक पक्ष

वैश्वीकरण की प्रक्रिया हमारे यही और अन्यत्र भी आर्थिक सुधारों के साथ जुड़ी हुई है । अमित भादुड़ी और दीपक नैय्यर कहते हैं कि भारत सरकार ने जिस उदारीकरण की नीति को अपनाया है वह अपने आप में एक रूढिवादी व्यवस्था है । इस नीति के कारण वैश्वीकरण हाल में नये आयामों को पहुँच रहा है । इन अर्थशास्त्रियों के अनुसार वैश्वीकरण के तीन महत्त्वपूर्ण आर्थिक पहलू हैं । पहला तो पहलू यह है कि इससे यानी वैश्वीकरण से अन्तराष्ट्रीय बाजार खुल गया है । अब कोई भी व्यक्ति देश के किसी भी कोने से दूसरे देश के किसी भी कोने के साथ व्यापार कर सकता है । वैश्वीकरण का दूसरा पहलू यह है कि अब अन्तर्राष्ट्रीय निवेश सरलता से किया जा सकता है । किसी भी देश का व्यक्ति हमारे यही उद्योग चलाने के लिए, कारखाना खोलने के लिए पूँजी लगा सकता है । एक तीसरा पहलू और है और वह यह कि अर्थव्यवस्था में अन्तर्राष्ट्रीय वित्तीय सहायता को काम में लिया जा सकता है । इस भाँति अगर हम आर्थिक संदर्श में देखें तो वैश्वीकरण ने भारत के अर्थ बाजार में तीन नयी प्रक्रियाएँ प्रारंभ कर दी है :

1. खुला अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार
2. अन्तर्राष्ट्रीय निवेश
3. अन्तर्राष्ट्रीय वित्त

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष और विश्व बैंक ने जिस कार्य पद्धति को आर्थिक सुधारों के तत्वावधान में चलाया है इसके कई परिणाम हमें देखने को मिले हैं । अब आये दिन नई तकनीकी इस देश में आ रही है, सूचना का एक पूरा नेटवर्क देश में फैल गया है और आर्थिक सेवाओं ने सम्पूर्ण देश को अपने में समेट लिया है । यहाँ यह अवश्य कहना चाहिए कि वैश्वीकरण ने सांस्कृतिक क्षेत्र में भी कई नये आयाम प्रस्तुत किये हैं । लेकिन अभी हम वैश्वीकरण के आर्थिक परिणामों को भी देखेंगे । अब बहुराष्ट्रीय कम्पनियाँ हमारे देश में स्थापित हो गयी है । इसके परिणामस्वरूप तेजी से नये उत्पादन बाहर आ रहे हैं । देश में उपभोक्तावाद निरन्तर बढ़ रहा है । जो भी बहुराष्ट्रीय कम्पनियाँ देश में काम कर रही हैं स्पष्ट रूप से उनका उद्देश्य मुनाफा कमाना है । वे यह इरादा नहीं रखती है कि विकासशील देशों को विकसित किया जाये । इस अर्थ में देश में जो भी विदेशी निवेश हो रहा है उसका उद्देश्य स्थानीय बाजार को अपने हाथ में ले लेना है । सरकार ने देशी और विदेशी निवेश के लिए कर का एक ही टेरिफ

लागू किया है । यह समानता वर्ल्ड बैंक और अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के आग्रह से लायी गई है । सरकार ने उदारीकरण के नाम पर इसे लागू कर दिया है । वास्तव में इसका लाभ विदेशी निवेशक लेते हैं और यह सब धन बाहर चला जाता है । बात यह है कि उदारीकरण और निजीकरण की नीति के अन्तर्गत हमने स्थानीय निवेश को प्रोत्साहित नहीं किया है और परिणामस्वरूप इसका लाभ विदेशी निवेशकों को मिलता है । हमारी निजीकरण सकी नीति में एक और दोष है । हम पूँजी के निवेश को देशी और विदेशी दोनों के लाभ के लिए समझते हैं । हमें जोर यह देना चाहिए कि निजी निवेश का उद्देश्य विकास होना चाहिए, मुनाफा नहीं । इस भाँति वैश्वीकरण का बहुत सशक्त आधार आर्थिक है और इसलिए वैश्वीकरण उत्पादन का विदेशी निवेश है और इसी तरह वैश्वीकरण वित्तीय समायोजन का एक साधन है।

लेकिन वैश्वीकरण अन्तर्राष्ट्रीय बाजार ही नहीं है, अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार ही नहीं है, अन्तर्राष्ट्रीय निवेश ही नहीं है, यह एक ताकतवर सांस्कृतिक प्रक्रिया भी है । इस पहलू के आलोचक कहते हैं कि वैश्वीकरण और कुछ न होकर अमेरिका और यूरोप का सांस्कृतिक साम्राज्यवाद है । अब हम इसके सांस्कृतिक और सामाजिक पक्ष को देखेंगे ।

इन्टरनेशनल सोशियोलॉजी अन्तर्राष्ट्रीय समाजशास्त्रीय समुदाय का एक मुख्य पत्र है । इसने अपने खण्ड 15, जून, 2001 के अंक में वैश्वीकरण की एक बहुत बड़ी व्याख्या की है । यह अंक विशेषांक है और इसका थीम वैश्वीकरण ही है । इसके सम्पादकीय में गोरन थेरबोर्न ने एक सशक्त टिप्पणी वैश्वीकरण पर लिखी है । वे कहते हैं कि इक्कीसवीं सदी की बहुत नजदीकी धरोहर जो समाजविज्ञानों को है, वह वैश्वीकरण की है । इसका प्रारंभ सन् 1930 के मध्य से है । अगर हम सन् 1980 के अंग्रेजी, फ्रेन्च, स्पेनिश और जर्मन शब्द कोषों को देखें तो हमें इनमें वैश्वीकरण नाम का कोई शब्द नहीं मिलेगा । यह अवश्य है कि अरब भाषा में चार शब्द ऐसे हैं जिनका अर्थ यदि खींच-खीचकर लगाया जाये तो वैश्वीकरण से निकलता है । जापान के व्यवसाय में इस शब्द का प्रयोग सन् 1980 के आस-पास हुआ है । चीन में तो इसका प्रयोग सन् 1990 के दशक में हुआ है । ये सब उल्लेख बताते है कि वैश्वीकरण एकदम नयी प्रक्रिया है जिसके विकास का प्रारंभ सन् 1990 से है । अन्तर्राष्ट्रीय समाजशास्त्र के सम्पादक एक और सूचना देते हैं । वे कहते हैं कि स्वीडन की सरकार ने सन् 1990 में एक समिति बनायी थी जिसका उद्देश्य दुनियाभर में आधुनिकता की जो संस्थाएँ हैं उनकी पड़ताल करना था । इस समिति में कुछ पत्र आमंत्रित किये गये थे, उन्हीं को इस विशेषांक में रखा गया है । यह अंक बड़ी खूबी के साथ बताता है कि समाजशास्त्री वैश्वीकरण का क्या अर्थ लगाते हैं और इसका किस भाँति प्रयोग करते हैं ।

यदि आर्थिक पहलुओं को छोड़ दें तो वैश्वीकरण एक ऐसी प्रक्रिया है जो सांस्कृतिक फैलाव की चर्चा करता है । यह एक तरह का सांस्कृतिक पेराडिम या ऐजेण्डा है । वैश्वीकरण के अन्तर्गत जहाँ दुनियाभर की विभिन्नताओं को पहचाना जाता है वहीं दुनिया की सजातीयता को भी समझा जाता है । वैश्वीकरण दो तथ्यों पर बराबर जोर देता है । यह सारे संसार की बात करता है और आकाशीय तत्वों की चर्चा करता है । जब सन् 1990 में वैश्वीकरण आया तब इसके समर्थकों ने परम्परागत समाजशास्त्र की यह कहकर आलोचना की कि समाजशास्त्र केवल राष्ट्रीय-राज्यों तक ही सीमित है । समाजशास्त्र यह नहीं देखता कि यह दुनिया वास्तव में कई

समाजों की एक व्यवस्था है । वैश्वीकरण समाज के सभी क्षेत्रों का अध्ययन करता है और ऐसा करने में वह यह देखता है कि दुनियाभर में विभिन्नताएँ कितनी हैं और उनको जोड़ने वाली कितनी इकाइयाँ हैं । जब वैश्वीकरण सांस्कृतिक पहलुओं का विश्लेषण करता है तब आग्रह करता है कि संसार के कुछ ऐसे तत्व हैं जिनमें आदान-प्रदान होना चाहिए । इस दृष्टि से वैश्वीकरण एक सांस्कृतिक प्रक्रिया है । यह सामाजिक परिवर्तन को बताती है और सम्पूर्ण विश्व को अपने में बाँध लेना चाहती है ।

भारत जैसे देश में जहाँ वैश्वीकरण की प्रक्रियाएँ हमें देखने को मिलती है, राष्ट्रीय और स्थानीय संस्कृति पर इसका बहुत बड़ा प्रभाव पड़ा है । इस प्रभाव के कारण ऐसा लगता है कि कहीं विदेशी संस्कृति का प्रभाव हमारी स्थानीय संस्कृति की पहचान को न समाप्त कर दे । योगेन्द्र सिंह ने इन दोनों संस्कृतियों के आदान-प्रदान का विश्लेषण किया है । उन्हें लगता है कि वैश्वीय संस्कृति के कुछ तत्वों को अपनाकर भी भारतीय स्थानीय संस्कृति अपनी मौलिक पहचान को अवश्य बनाये रखेगी ।

## 20.8 सारांश

इस इकाई में आर्थिक प्रणाली की अवधारणात्मक व्याख्या की गयी है । न केवल आर्थिक प्रणाली के संबोध को स्पष्टता प्रदान की गयी है बल्कि भारतीय समाज के संदर्भ में आर्थिक प्रणाली के कारण हो रहे परिवर्तनों की व्याख्या को प्रस्तुत किया गया है । सन् 1991 से भारतीय समाज में वैश्वीकरण की प्रक्रिया का प्रभाव प्रारंभ हुआ । इस कारण भारतीय अर्थव्यवस्था में व्यापक परिवर्तन हुए । अर्थव्यवस्था मुक्त होने लगी, लाल फीताशाही का प्रभाव क्षीण होने लगा । नौकरशाही द्वारा पैदा की जाने वाली रूकावटों को कम किया गया । इस कारण भारतीय अर्थव्यवस्था संरचना में परिवर्तन हुए । परिवार, विवाह, नातेदारी, धर्म इत्यादि के बारे में परम्परागत विचारों में परिवर्तन आने प्रारंभ हुए । नई अर्थ प्रणाली ने लोगों के विचारों में परिवर्तन ला दिया । विकास की तीव्र गति ने समाज के सभी वर्गों को प्रभावित किया । आर्थिक आधारों में परिवर्तन के कारण ग्रामीण व नगरीय व्यावसायिक संरचना पर व्यापक प्रभाव पड़ा और इस प्रभाव से अनेक सकारात्मक व नकारात्मक परिणाम भी सामने आये ।

## 20.9 शब्दावली

1. आर्थिक प्रणाली – उत्पादन, उपभोग, वितरण व विनिमय के नियमों और उपनियमों, कार्य प्रणाली और प्रतिमान हैं ।
2. वैश्वीकरण – सामाजिक-आर्थिक सम्बन्धों का सम्पूर्ण विश्व तक विस्तार ।
3. उदारीकरण – दुनियाँ के विभिन्न देशों के बीच में जो व्यापारिक आदान-प्रदान होता है या आर्थिक क्षेत्र में जो आयात-निर्यात होता है, उस पर राज्य का नियंत्रण न्यूनतम हो जाता है ।
4. निजीकरण – आर्थिक क्रियाओं के दायित्वों का राज्य से निजी क्षेत्र के हस्तांतरण की प्रक्रिया को निजीकरण कहते है।

## 20.10 अभ्यासार्थ प्रश्न

1. आर्थिक प्रणाली की अवधारणा को स्पष्ट कीजिए ।
2. आर्थिक प्रणाली के मुख्य लक्षणों को प्रस्तुत कीजिए ।
3. भारतीय समाज पर औद्योगीकरण के प्रभावों की व्याख्या कीजिए ।
4. वैश्वीकरण की प्रक्रिया से भारतीय समाज किस प्रकार प्रभावित हुआ? समझाइये ।

## 20.11 सन्दर्भ ग्रन्थ


1. Bhaduri, Amit and Nayar, Deepak, The Intelligent Person's Guide to Liberalization, Penguin Books, New Delhi, 1996.
2. International Sociology, June, 2000, Vol. 15(2).
3. Pathak, Avijit, Indian Modernity, Gyan Publishing House, New Delhi, 1998.
4. Bottomore, Tom, Theories of Modern Capitalism, 1985.

**ISBN No. : 13/978-81-8496-352-6**